प्रकृति और काव्य



Prakṛti aura Kāvya
(Hindī Madhya-yuga)
2nd. edn.

Raghuvansha

National Pub. House,
Delhi, 1960.

(प्रकृति और काव्य)

(हिन्दी मध्य-युग)



[शोध-प्रबन्ध का परिवर्धित संस्करण]



रघुवंश

प्रकाशक
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
९६, दरियागंज, दिल्ली

द्वितीय संस्करण : १९६०

मूल्य
बारह रुपये

मुद्रक
बालकृष्ण, एम० ए०
युगान्तर प्रेस, डफ़रिन पुल, दिल्ली

समर्पण :

स्वर्गीय पूज्य पिता के चरणों
में
जिनका आशीर्वाद सदा
मेरे साथ रहा है

अपनी बात

अपने खोज-कार्य को पुस्तक-रूप में प्रकाशित होते देखकर, मेरे मन में अनेक स्मृतियाँ जाग्रत हो रही हैं। आज उन सबकी याद मुझे आ रही है जिनका किंचित सहारा, प्रोत्साहन तथा स्नेह और जिनका पुण्य आशीर्वाद मुझे मेरे जीवन में पग-पग बढ़ा सका है। और जब मैं मुड़कर गत जीवन की ओर देखता हूँ तो लगता है मुझको लेकर मेरे पास अपना जैसा कुछ नहीं है। यदि मेरे जीवन से वह सब कुछ निकाल दिया जाय जो दूसरों के स्नेह और आशीर्वाद का है, तो लगता है मैं शून्य को घेरे हुए परिधि मात्र रह जाऊँगा।

आज मुझे सबसे अधिक उन गुरुजनों का स्मरण आ रहा है जिन्होंने मेरे विद्यार्थी-जीवन के पग-पग पर मुझे सहारा दिया है। उनका स्नेह-पूर्ण प्रोत्साहन ही था जो मेरी विवश निराशाओं में भी मुझे आशा और आश्वासन देता रहा है। परीक्षाओं में जब-जब अपनी विवशता और दूसरों के अन्याय के कारण मेरा प्राप्य मुझे नहीं मिला, मेरे उन गुरुजनों ने ममत्वपूर्ण स्नेह के स्वर में यही कहा था—"अध्ययन और आज की इन परीक्षाओं में कोई सम्बन्ध नहीं, रघुवंश, वाणी के मन्दिर में साधना ही सच्ची परीक्षा है।" सो सब कुछ तो मैं नहीं कर सका, लेकिन उनके स्नेह से जो प्रोत्साहन और प्रेरणा मिलती रही थी, उसीके फलस्वरूप मैं इस रास्ते इतना आगे बढ़ सका हूँ—यह मेरा विश्वास है।

विश्वविद्यालय के विद्यार्थी-जीवन में मुझे सबसे अधिक संघर्ष करना पड़ा है। पर गुरुजनों की कृपा मुझपर रही है और उनका मैं आभारी हूँ। होस्टल-जीवन में मुझे जो सुविधाएँ प्राप्त थीं उसके लिए अपने होस्टल के सेक्रेटरी पं० आनन्दीप्रसाद जी दूबे और वार्डन पं० देवीप्रसाद जी का मैं कृतज्ञ हूँ। पूज्य दूबे जी के सहज स्वभाव के लिए मेरे मन में अत्यन्त श्रद्धा है। श्रद्धेय कुलपति पं० अमरनाथ झा जी ने समय-समय पर जो सहायता और सुविधाएँ मुझे प्रदान कीं, उनके बिना मेरा कार्य सम्भव नहीं था और मैं उनकी उदारता के प्रति अनुग्रहीत हूँ। पूज्य डा० धीरेन्द्र वर्मा जी ने मेरे कार्य के विषय में समय-समय पर परामर्श आदि से मुझे सहायता दी है, और उसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

पूज्य डा० रामकुमार वर्मा जी के निरीक्षण में मैंने यह कार्य किया है। और उन्होंने निरन्तर अपना बहुमूल्य समय देकर मेरी सहायता की है। उनके स्नेह और अनुग्रह दोनों के लिए मैं कृतज्ञ हूँ। पूज्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने जो स्नेह और अपना समय मुझे दिया, वह स्मरणीय है। मैं कई सप्ताह तक शांतिनिकेतन में उनके साथ रहकर जो स्नेह और परामर्श पा सका, उसके लिए नहीं जानता किस प्रकार कृतज्ञता प्रकाशन करूँ।

श्रद्धेया शुभ श्री महादेवी जी ने व्यस्त और अस्वस्थ स्थिति में भी इसके लिए दो शब्द लिखने का कष्ट उठाया है। उनका जो सहज स्नेह मुझे प्राप्त है, उसके लिए क्या कहूँ। साथ ही इधर कई वर्षों से जो स्नेह और सहयोग मुझे अपने परम आत्मीय और सुहृद् मित्रों, रामलाल, आत्माराम, केशवप्रसाद, गंगाप्रसाद पाण्डेय, रामसिंह तोमर और ब्रजमोहन जी से मिलता रहा है—उसका इस अवसर पर स्मरण अनायास ही आ जाना स्वाभाविक है—हम अपने संबंधों की निकटता में ऐसे ही हैं।

इस खोज-कार्य को लेकर कुछ ऐसे आत्मीय मित्रों की स्मृतियाँ भी मेरे मन में कौंध रही हैं, जो मेरे हर्ष-विषाद का कारण हैं। भाई ओमप्रकाश ने यदि मुझे एम० ए० पास करने के बाद प्रोत्साहित न किया होता, तो शायद ही यह कार्य मैं प्रारम्भ कर सकता। बहन सीतारानी और भाई रामानन्द से मिलाने का श्रेय भी इन्हीं का है। इन दोनों ने मेरी आर्थिक कठिनाई के प्रारम्भिक वर्षों में जो सहायता दी है, उसके बिना मैं इलाहाबाद नहीं रह सकता था। स्वर्गीय मथुराप्रसाद की याद तो आज मेरे विद्यार्थी-जीवन की सबसे निर्मम कसक है—वे मेरे एम० ए० के सहपाठी थे और उनका स्नेह और हास्य मेरे लिए सबसे सबल प्रेरणा-शक्ति थी।

खोज-कार्य के सम्बन्ध में श्री पृथ्वीनाथ जी ने पुस्तकालय और पुस्तकों को खोजने में, श्री 'क्षेम' जी ने पुस्तकों की सूची बनाने में और हमारे लाइब्रेरी के उपाध्यक्ष श्री त्रिवेदी जी तथा श्री मिश्र जी ने जो सौजन्य तथा सहायता दी है उसके लिए मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

इस पुस्तक के छपने का (प्रथम संस्करण) श्रेय भाई हरीमोहन दास और श्री पुरुषोत्तमदास जी टंडन को है, उनकी इस कृपा के लिए मैं आभारी हूँ।

फाल्गुन कृष्ण ६, २००५ —रघुवंश

द्वितीय संस्करण

प्रथम संस्करण के समाप्त हो जाने के कई वर्ष बाद यह संस्करण प्रकाशित हो रहा है। पिछली भूलों को सुधारने के प्रयत्न के साथ इसमें परिशिष्ट रूप में तीन अध्याय और जोड़ दिए गए हैं, जिससे ग्रन्थ की उपयोगिता कुछ अधिक हो गई है।

१६ अप्रैल, १९६०

—रघुवंश

दो शब्द

दृश्य प्रकृति मानव-जीवन को अथ से इति तक चक्रवाल की तरह घेरे रहती है। प्रकृति के विविध कोमल-कठिन, सुन्दर-विरूप, व्यक्त-रहस्यमय रूपों के आकर्षण-विकर्षण ने मनुष्य की बुद्धि और हृदय को कितना परिष्कार और विस्तार दिया है इसका लेखा जोखा करने पर मनुष्य प्रकृति का सब से अधिक ऋणी ठहरेगा। वस्तुतः संस्कार-क्रम में मानव जाति का भावजगत् ही नहीं उसके चिन्तन की दिशाएँ भी प्रकृति के विविध रूपात्मक परिचय तथा उससे उत्पन्न अनुभूतियों से प्रभावित हैं।

ऐसी स्थिति में काव्य, जो बुद्धि के मुक्त वातावरण में खिला भावभूमि का फूल है, प्रकृति से रंग रूप पाकर विकसित हो सका तो आश्चर्य नहीं।

हमारे देश की धरती इतनी विराट है कि उसमें प्रकृति की सभी सरल कुटिल रेखाएँ और हल्के गहरे रंग एकत्र मिल जाते हैं। परिणामतः युग विशेष के काव्य में भी प्रकृति की अनमिल रेखाएँ और विरोधी रंगों की स्थिति अनिवार्य है। पर इन विभिन्नताओं के मूल में भारतीय दृष्टि की वह एकता अक्षुण्ण रहती है जो प्रकृति और जीवन को किसी विराट समुद्र के तल और जल के रूप में ग्रहण करने की अभ्यस्त है।

हमारे यहाँ प्रकृति जीवन का वातावरण ही नहीं आकार भी है। हमारी प्रकृति की काव्य-स्थिति में देवता से देवालय तक का अवरोह और देवालय से देवता तक का आरोह दोनों ही मिलते हैं।

सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय इस प्रकृति देवता के अनेक रूपों की अवतार-कथा है जो इस देश की समृद्ध कल्पना और भाव-वैभव की चित्रशाला है।

वैदिककाल के ऋषि प्राकृतिक शक्तियों से सभीत होने के कारण उनकी अर्चना-वन्दना करते थे, ऐसी धारणा संकीर्ण ही नहीं भ्रान्त भी है। उषा, मरुत, इन्द्र, वरुण जैसे सुन्दर, गतिशील, जीवनमय और व्यापक प्रकृति रूपों के मानवीकरण में जिस सूक्ष्म निरीक्षण, सौन्दर्यबोध और भाव की उन्नत भूमि की अपेक्षा रहती है वह अज्ञान-जनित आतंक में दुर्लभ है। इसके अतिरिक्त मनोविकार और उनकी अभिव्यक्ति ही तो काव्य नहीं कहला सकती। काव्य की कोटि तक पहुँचने के लिए अभिव्यक्ति को कला के द्वार से प्रवेश पाना होता है।

हमारे वैदिक-कालीन प्रकृति-उद्गीथ भाव की दृष्टि से इतने गम्भीर और व्यंजना की दृष्टि से इतने पूर्ण और कलात्मक हैं कि उन्हें अनुभूत न कहकर स्वतः प्रकाशित अथवा अनुभावित कहा गया है।

इस सहज सौन्दर्य-बोध के उपरान्त जो जिज्ञासामूलक चिन्तना जागी वह भी प्रकृति को केन्द्र बना कर घूमती रही। वेदान्त का अद्वैतमूलक सर्ववाद हो या सांख्य का द्वैतमूलक पुरुष-प्रकृतिवाद सब चिन्तन-सरणियाँ प्रकृति के धरातल पर रह कर महाकाश को छूती रहीं।

उठती-गिरती लहरों के साथ उठने-गिरने वाले को जैसे सब अवस्थाओं में जल की तरलता का ही बोध होता रहता है, उसी प्रकार वैदिक काल के अलौकिक प्रकृतिवाद से संस्कृत काव्य की स्नेह सौहार्दमयी संगिनी प्रकृति तक पहुँचने पर भी किसी विशेष अन्तर का बोध न हो यह स्वाभाविक है।

संस्कृत काव्यों के पूर्वार्ध में प्रकृति ऐसी व्यक्तित्वमती और स्पन्दनशील है कि हम किसी पात्र को एकाकी की भूमिका में नहीं पाते। कालिदास या भवभूति की प्रकृति को जड़ और मानव भिन्न स्थिति देने के लिए हमें प्रयास करना पड़ेगा। जिस प्रकार हम पर्वत, वन, निर्झर आदि से शून्य धरती की कल्पना नहीं कर सकते, उसी प्रकार इन प्रकृति रूपों के बिना मानव की कल्पना हमारे लिए कठिन हो जाती है।

संस्कृत काव्य के उत्तरार्ध की कथा कुछ दूसरी है। भाव के प्रवाह के नीचे बुद्धि का कठोर धरातल अपनी सजल एकता बनाये रहता है; किन्तु उसके रुकते ही वह पंकिल और अनमिल दरारों में बँट जाने के लिए विवश है।

हिन्दी काव्य को संस्कृत काव्य की जो परम्परा उत्तराधिकार में प्राप्त हुई वह रूढ़िगत तो हो ही चुकी थी, साथ ही एक ऐसे युग को पार कर आई थी जो संसार को दुःखमय मानने का दर्शन दे चुका था। जीवन की देशकाल-गत परिस्थितियों ने इस साहित्य-परम्परा को इतना अवकाश नहीं दिया कि वह अपनी कठोर सीमा रेखाओं को कुछ कोमल कर सकती। परन्तु जिस प्रकार जीवन के लिए यह सत्य है कि वह अंश-अंश में पराजित होने पर भी सर्वांश में कभी पराजित नहीं होता, उसी प्रकार प्रकृति भी अपराजित ही रही है। हर नवीन युग की भावभूमि पर वह ऐसे नये रूप में आविर्भूत होती रहती है जो न सर्वतः नवीन है और न पुरातन।

हिन्दी काव्य का मध्ययुग अनेक परस्पर विरोधी सिद्धान्तों, आदर्शों और परम्पराओं को अपनी वैयक्तिक विशेषता पर सँभाले हुए है। उसने अपने उत्तराधिकार में मिले उपकरणों को अपने पथ का सम्बल मात्र बनाया और जहाँ वे भारी जान पड़े वहीं उनके कुछ अंश को निःसंकोच फेंक कर आगे पग बढ़ाया। आज वर्तमान के वातायन से उन सुदूर अतीत के यात्रियों पर दृष्टिपात करते ही हमारा मस्तक सम्मान

से नत हो जाता है, अतः उनके काव्य की कोई निष्पक्ष विवेचना सहज नहीं। विस्तार की दृष्टि से भी यह कार्य अधिक समय और अध्यवसाय की अपेक्षा रखता है। दर्शन और भाव की दृष्टि से यह काव्ययुग ऐसा विविध रूपात्मक हो उठा है कि उसकी किसी एक विशेषता के चुनाव में ही जिज्ञासा थक जाती है।

निर्गुण के मुक्त आकाश में सगुणवाद की इतनी सजल रंगीन बदलियाँ घिरी रहती हैं कि पैनी दृष्टि भी न आकाश पर ठहर पाती है और न घटाओं पर स्थिर हो पाती है। साधना के अकूल सिकता-विस्तार में माधुर्य भाव के इतने फूल खिले हुए हैं कि न रुकने वाले कठोर पग भी ठहर-ठहर जाते हैं। अव्यक्त रहस्य पर व्यक्त तत्व ने इतनी रेखाएँ खींच दी हैं कि एक की नापतोल में दूसरा नपता-तुलता रहता है।

ऐसे युग की प्रकृति और उसकी काव्य-स्थिति के सम्बन्ध में शोध का कार्य विषय की विविधता के कारण एक दिशा में नहीं चल पाता।

भाई रघुवंश जी ने इस युग के काव्य और प्रकृति को अपनी शोध का विषय स्वीकार कर एक नयी दिशा की सफल खोज की है।

शोधमूलक प्रबन्धों के सम्बन्ध में प्रायः यह धारणा रहती है कि उनमें शोध-कर्त्ता का अध्यवसाय मात्र अपेक्षित है, मौलिक प्रतिभा उसके लिए अनावश्यक है। इस धारणा का कारण यहाँ के मौलिक कृती और चिन्तनशील विद्वान के बीच की खाई ही कही जायगी जो विदेशी भाषा के प्राधान्य के कारण बढ़ती ही गई।

प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक प्रतिभावान साहित्यिक और अध्यवसायी जिज्ञासु हैं, अतः उनके प्रबन्ध में चिन्तन और भाव का अच्छा समन्वय स्वाभाविक हो गया है। हिन्दी के क्षेत्र में आने से पहले संस्कृत ही उनका विषय रहा है, अतः उनके अध्ययन की परिधि अधिक विस्तृत है।

किसी कृति को त्रुटि रहित कहना तो उसके लेखक के भावी विकास का मार्ग रुद्ध कर देना है। विश्वास है कि प्रस्तुत अध्ययन की त्रुटियों में भी विद्वानों को भावी विकास के संकेत मिलेंगे।

—महादेवी

प्रयाग, १७.२.४६

आमुख

विषय प्रवेश—प्रस्तुत कार्य को आरम्भ करने के पूर्व हमारे सामने 'प्रकृति और काव्य' का विषय था। प्रचलित अर्थ में इसे काव्य में प्रकृति-चित्रण के रूप में समझा जाता है, पर हमने यह विषय इस रूप में नहीं लिया है। जब हमको हिन्दी साहित्य के भक्ति तथा रीति कालों को लेकर इस विषय पर खोज करने का अवसर मिला, उस समय भी विषय को प्रचलित अर्थ में नहीं स्वीकार किया गया है। हमने विषय को काव्य में प्रकृति सम्बन्धी अभिव्यक्ति तक ही सीमित नहीं रखा है। काव्य को कवि से अलग नहीं किया जा सकता, और कवि के साथ उसकी समस्त परिस्थिति को स्वीकार करना होगा। यही कारण है कि यहाँ प्रकृति और काव्य का सम्बन्ध कवि की अनुभूति तथा अभिव्यक्ति दोनों के विचार से समझने का प्रयास किया गया है, साथ ही काव्य के सौन्दर्य-बोध (रसात्मक प्रभावशीलता) को भी दृष्टि में रक्खा गया है। विषय की इस विस्तृत सीमा में प्रकृति और काव्य सम्बन्धी अनेक प्रश्न सन्निहित हो गए हैं। प्रस्तुत कार्य में केवल 'ऐसा है' से सन्तुष्ट न रहकर, 'क्यों है?' और 'कैसे है?' का उत्तर देने का प्रयास किया गया है। कार्य के विस्तार से यह स्पष्ट है कि इस विषय से सम्बन्धित इन तीनों प्रश्नों के आधार पर आगे बढ़ा गया है। सम्भव है यह प्रयोग नवीन होने से प्रचलित के अनुरूप न लगता हो; और प्रकृति तथा काव्य की दृष्टि से युग की व्यापक पृष्ठ-भूमि और आध्यात्मिक साधना सम्बन्धी विस्तृत विवेचनाएँ विचित्र लगती हों। परन्तु विचार करने से यही उचित लगता है कि विषय की यथार्थ विवेचना वैज्ञानिक रीति से इन तीनों ही प्रश्नों को लेकर की जा सकती है।

मानव की मध्य स्थिति—हम अपने प्रस्तुत विषय में जिस प्रकृति और काव्य के विषय पर विचार करने जा रहे हैं, उनके बीच मानव की स्थिति निश्चित है। मानव को लेकर ही इन दोनों का सम्बन्ध सिद्ध है। आगे की विवेचना में हम देखेंगे कि अपनी मध्य-स्थिति के कारण मानव इन दोनों के सम्बन्ध की व्याख्या में अधिक महत्त्वपूर्ण है। यही कारण है कि प्रथम भाग की विवेचना मानव और प्रकृति के सम्बन्ध से प्रारम्भ होकर प्रकृति और काव्य के सम्बन्ध की ओर अग्रसर हुई है। आगे हम देख सकेंगे कि मानव अपने विकास में प्रकृति से प्रेरणा प्राप्त करता रहा है; और काव्य मानव के

विकसित मानस की अभिव्यक्ति है। यही प्रकृति और काव्य के सम्बन्धों का आधार है। दूसरे भाग में युग सम्बन्धी अनेक व्याख्याएं इसी दृष्टि से की गई हैं जिनके माध्यम से विषय सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर मिल सका है।

कार्य की सीमा का निर्देश—प्रत्येक क्षेत्र में जहाँ सिद्धान्त की स्थापना की जाती है दो रीतियाँ काम में लाई जाती हैं : निगमन (Deduction) के द्वारा विशेष सिद्धान्त को साधारण सत्यों के आधार पर स्थापित करते हैं और विगमन (induction) में साधारण सत्यों के माध्यम से विशेष सिद्धान्तों तक पहुँचते हैं। इस कार्य में इन दोनों ही रीतियों को प्रयोग में लाया गया है। कला और साहित्य के क्षेत्र में यह आवश्यक भी है। इनमें साधारण सत्यों की स्थिति अधिक निश्चित नहीं है, यह बहुत कुछ विवेचना और प्रस्तुतीकरण पर निर्भर है। इसी कारण प्रथम भाग में प्रकृति और काव्य के विषय की मानव से सम्बन्धित विभिन्न शास्त्रों के साक्ष्य पर विवेचना की गई है। इस विवेचना में काव्य और प्रकृति के सम्बन्ध को दर्शन, तत्त्ववाद, मानसशास्त्र, मानवशास्त्र तथा सौन्दर्य-शास्त्र आदि के माध्यम से समझने का प्रयास किया गया है। इस प्रणाली में निगमन का आधार अधिक लिया गया है। दूसरे भाग में निश्चित कालों के काव्य के अध्ययन को प्रस्तुत करके सिद्धान्तों को एकत्र किया गया है; यह विगमन प्रणाली है। अन्य जिन शास्त्रों के सिद्धान्तों का आश्रय लिया गया है वह साधारण सहज बोध के आधार पर ही हो सका है। यह सहज बोध का आधार प्रस्तुत विषय के अनुरूप है; आगे इस पर प्रथम भाग के प्रथम प्रकरण में विचार किया गया है।

युग की समस्या—हमारे खोज-कार्य की सीमा में हिन्दी साहित्य के भक्ति तथा रीति काल स्वीकृत हैं। परन्तु प्रस्तुत विषय की दृष्टि से इन दोनों कालों को अलग मानकर चलना उचित नहीं होगा, ऐसा कार्य के आगे बढ़ने पर समझा गया है। इसलिए इन दोनों को हमने सर्वत्र हिन्दी साहित्य का मध्ययुग माना है। संक्षेप के विचार से अनेक स्थलों पर केवल मध्ययुग कहा गया है। भारतीय मध्ययुग को अलग करने के लिए उसके लिए सर्वदा 'भारतीय मध्ययुग' का प्रयोग किया गया है। भक्तियुग के प्रारम्भ से रीति-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ मिलती रहती हैं और भक्ति-काव्य की परम्पराएँ बाद तक बराबर चलती रही हैं। यह बहुत कुछ अवसर और संयोग भी हो सकता है कि युग के एक भाग में एक प्रकार के महान् कवि अधिक हुए। राजनीतिक वातावरण का प्रभाव रीति-काल की प्रेरणा के रूप में अवश्य स्वीकार किया जाएगा। परन्तु इन कारणों से अधिक महत्त्वपूर्ण बात इन कालों को मध्ययुग के रूप में मानने के लिए यह है कि अधिकांश भक्त-कवि साहित्यिक आदर्शों का पालन करते हैं और अधिकांश रीतिकालीन कवि साधक न होकर भी भक्त हैं। इसके अतिरिक्त जैसा कहा गया है विषय के विचार से इन कालों को एक नाम से कहना अधिक उपयोगी रहा है। ऐसा

करने से एक ही प्रकार की बात को दुबारा कहने से बचा जा सका है और साथ ही कार्य में सामञ्जस्य स्थापित किया गया है। प्रकृति के विचार से रीति-काल भक्ति-काल के समक्ष बहुत संक्षिप्त हो जाता। इस प्रकार भक्ति-काल तथा रीति-काल के लिए सर्वत्र मध्ययुग का प्रयोग किया गया है।

स्वच्छन्दवाद और प्रकृतिवाद—मध्ययुग के काव्य की प्रवृत्तियों के विषय में विचार करते समय 'स्वच्छन्दवाद' का प्रयोग हुआ है। यह शब्द अंग्रेजी शब्द 'Romanticism' से बहुत कुछ समता रखते हुए भी बिल्कुल उसी अर्थ में नहीं समझा जा सकता है। इसका विभेद बहुत कुछ विवेचना के माध्यम से ही व्यक्त हुआ है। यहाँ यह कह देना ही पर्याप्त है कि इनमें जीवन की उन्मुक्त अभिव्यक्ति का विषय समान है, पर प्रकृति सम्बन्धी दृष्टि बिन्दुओं का भेद है। आगे की विवेचना में काव्य में प्रकृति-रूपों की व्याख्या करते समय प्रकृतिवादी रूपों का उल्लेख तुलनात्मक दृष्टि से किया गया है। इस तुलनात्मक अध्ययन से इस युग के काव्य में प्रकृति के स्थान के प्रश्न पर अधिक प्रकाश पड़ सका है और प्रकृतिवादी दृष्टि की उपेक्षा का कारण भी स्पष्ट हो गया है। प्रकृतिवादी या रहस्यवादी साधक का प्रयोग ऐसे ही प्रसंगों में हुआ है जिनका अर्थ उन कवि अथवा रहस्यवादियों से है जिन्होंने प्रकृति को अपना माध्यम स्वीकार किया है।

रूपात्मक रूढ़िवाद—मध्ययुग के काव्य को समझने के लिए एक बात का जान लेना आवश्यक है। वह है इस युग का रूपात्मक रूढ़िवाद (Formalism); वस्तुतः जिस अर्थ में हम आज इसे लेते हैं, उस युग के लिए यह ऐसा नहीं था। वस्तुतः भारतीय आदर्शवाद में जो 'सादृश्य' की भावना स्वर्गीय कल्पना से रूप ग्रहण करती है, उसीका यह परिणाम था। भारतीय कला तथा साहित्य में परम्परा या परिपाटी आदर्श के रूप में स्वीकृत चली आती थी और उसका अनुकरण साहित्य तथा कला का आदर्श बन गया था। इसी कारण अधिकतर मध्ययुग के काव्य में लगता है कि किसी एक ही प्रकार (टाइप) का अनुकरण है। किसी युग के काव्य को समझने के लिए उसके वातावरण और आदर्शों को जान लेना आवश्यक है। साधारण आलोचना के ग्रन्थ में इस बात की स्वतन्त्रता हो सकती है कि हम अपने विचार और आदर्शों से किसी युग पर विचार करें। परन्तु खोज-कार्य में हमारे सामने युग का प्रत्यक्षीकरण और उसकी वास्तविक प्रवृत्तियों की व्याख्या होनी चाहिए। इसी सिद्धान्त की दृष्टि से प्रस्तुत कार्य में युग को उसकी भावना के साथ समझने के प्रयास में उसकी रूपात्मक रूढ़िवादिता को स्वीकार किया गया है।

शब्द और शैली—विषय का क्षेत्र नवीन होने के कारण शब्द तथा शैली दोनों की कठिनाइयाँ सामने आई हैं। शब्दों के विषय में केवल उन्हीं नवीन शब्दों को अपनाया

गया है जिनके लिए शब्द नहीं थे अथवा उचित शब्द नहीं मिल सके। नवीन शब्दों को प्रसंग के साथ बोध-गम्य करने का प्रयास किया गया है, फिर भी इस विषय में कुछ कठिनाई अवश्य हो सकती है। कुछ शब्दों का प्रचलित अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयोग किया गया है। इनमें 'विज्ञान' शब्द अधिक महत्त्व-पूर्ण है। आइडिया (Idea) के अर्थ में आइडिलिज्म के समानार्थ विज्ञानवाद का प्रयोग हुआ है। इसके प्रचलित अर्थ के लिए भौतिक विज्ञान (Science) शब्द का प्रयोग किया गया है। यद्यपि इसके साथ वैज्ञानिक (Scientist) शब्द को प्रचलित अर्थ में स्वीकार किया गया है। इससे विवेचना में कोई भ्रम भी नहीं हो सकता, क्योंकि पहले अर्थ के साथ 'विज्ञानवाद' तथा विज्ञान-तत्त्व तथा विज्ञानवादी शब्द ही बनते हैं। कुछ शब्दों की सूची अन्त में सुविधा की दृष्टि से दे दी गई है। शैली की दृष्टि से भी कुछ कठिनाइयाँ सामने रही हैं। सम्पूर्ण कार्य में सम्भव है कुछ विचार तथा उदाहरण दुहरा गए हों, क्योंकि कार्य के विभाजन की दृष्टि से ऐसा हो सकता था। भरसक ऐसा होने से बचाया गया है; फिर भी इस विषय में त्रुटियों के लिए क्षमा याचना की जा रही है।

विषय सम्बन्धी निष्कर्षों को व्याख्या के साथ ही स्पष्ट कर दिया गया है। इसलिए उनको एकत्र करने की आवश्यकता नहीं हुई।

विषय निर्देशक

प्रथम भाग

प्रकृति और काव्य

प्रथम प्रकरण

द्वितीय प्रकरण

द्वितीय भाग

हिन्दी साहित्य का मध्य युग

(प्रकृति और काव्य)

प्रथम प्रकरण

द्वितीय प्रकरण

तृतीय प्रकरण

प्रथम भाग

प्रकृति और काव्य

प्रथम प्रकरण

प्रकृति का प्रश्न

(रूपात्मक और भावनात्मक)

प्रकृति क्या है—प्रश्न उठता है प्रकृति क्या है? काव्य के सम्बन्ध को लेकर जिसकी व्याख्या करनी है, वह प्रकृति है क्या? आवश्यक है कि इस शब्द के प्रयोग की सीमाओं को निर्धारित कर लिया जाय। साथ ही यह भी विचार लेना उचित होगा कि व्यापक अर्थ में प्रकृति शब्द क्या बोध कराता है; परम्परा इसे किस अर्थ में ग्रहण करती है; तथा तत्त्ववाद में इसका किस पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग होता है। और इन सबके साथ हमारे निर्धारित अर्थ की संगति भी होनी चाहिए। यहाँ प्रकृति शब्द अंगरेजी भाषा के 'नेचर' शब्द के लगभग समान अर्थों में समझा जा सकता है। परन्तु यह 'नेचर' शब्द भी अपने प्रयोगों की विभिन्नता के कारण कम भ्रामक नहीं है। परम्परा के अर्थ में समस्त बाह्य-जगत् को उसके प्रत्यक्षीकरण की रूपात्मकता में और उसमें अधिष्ठित चेतना के साथ प्रकृति माना गया है। परन्तु यह तो व्यापक सीमा है, इसके अन्तर्गत कितने की स्तरों को अलग-अलग प्रकृति के नाम से कहा जाता है। प्रकृति की अनुप्राणित चेतना को अधिकांश में किसी दैवी-शक्ति के रूप में माना गया है। बाद में समस्त विवेचना के उपरान्त इसी सहज मान्य अर्थ के निकट हमारे द्वारा प्रयुक्त प्रकृति का अर्थ मिलेगा। तत्त्ववादियों ने प्रकृति का प्रयोग दृश्य-जगत् के लिए किया है, और इसके परे किसी अन्य सत्य के लिए भी। इस विषय में भारतीय तत्त्ववाद में प्रकृति का प्रयोग दूसरे ही अर्थ में अधिक हुआ है; जब कि योरप के दर्शन में प्रमुख प्रवृत्ति पहले अर्थ की ओर ही लगती है। साथ ही योरप में (कदाचित् जड़-चेतन के आधार पर ही) भौतिक-तत्त्व को प्रकृति के रूप में और विज्ञान-तत्त्व को परम-सत्य के रूप में भी स्वीकार किया गया है। वैसे प्रकृति को लेकर ही भौतिक-तत्त्व और विज्ञान-तत्त्व का विभाजन किया जाता है। इस दृष्टि से प्रकृति भी सत्य है। वस्तुतः यह भेद प्रकृतिवादी और ईश्वरवादी विचारकों के दृष्टिकोण के कारण है। जहाँ तक भौतिकवादियों और विज्ञानवादियों का प्रश्न है वे एक तत्त्व के द्वारा अन्य

तत्त्व की व्याख्या करते हुए भी प्रकृति को स्वीकार करते हैं। इनमें से ईश्वरवादी प्रकृति को ईश्वर का स्वभाव मान कर समन्वय उपस्थित कर लेते हैं और इस सीमा पर उनका मत भारतीय विचार-धारा के समान हो जाता है। भारतीय तत्त्ववाद के क्षेत्र में एक परम्परा ने पुरुष और प्रकृति की व्याख्या की है। इसके अनुसार प्रकृति पर पुरुष की प्रतिकृति ही बाह्य-जगत् की दृश्यात्मक सत्ता का कारण है। दार्शनिक सीमा में भौतिक-तत्त्व और विज्ञान-तत्त्व से समन्वित प्रकृति का रूप हमारे लिए अधिक ग्रहणीय है।[1]

सहज बोध को लेकर यही मान्य है। तत्त्ववाद में विरोधी विचारों को लेकर दोनों तत्त्वों की एकान्त भिन्नता समझी जा सकती है। परन्तु सहज बुद्धि इसे ग्रहण नहीं कर सकेगी। उसके लिए तत्त्ववादियों का भौतिक-तत्त्व हो अथवा विज्ञान-तत्त्व हो, वह तो उन्हें प्रकृति के चेतन-अचेतन भाव-रूपों में सोच-समझ सकेगा। वह विज्ञानात्मक आइडिया की व्याप्ति में विश्व को सचेतन भावमय प्रकृति समझ पाता है और भौतिक पदार्थ के प्रसार में विश्व को अचेतन रूपमय प्रकृति मानता है। व्यापक अर्थ में प्रकृति विश्व की सर्जनात्मक प्रतिकृति समझी जाती है। आगे की विवेचना में देखना है कि इस सहज बोध के दृष्टिकोण ने किस प्रकार दार्शनिकों के विभिन्न विरोधी मतवादों को समन्वय का रूप देने का प्रयास किया है। और साथ ही इस समन्वय के आधार को प्रस्तुत करना है जो काव्य जैसे विषय में आवश्यक है।

यहाँ एक बात स्पष्ट कर लेनी आवश्यक है। हम आमुख में प्रकृति और काव्य के मध्य में मानव की स्थिति की ओर संकेत कर चुके हैं। परन्तु प्रकृति को समस्त सर्जनात्मक अभिव्यक्ति स्वीकार कर लेने पर मानव भी प्रकृति के ही अन्तर्भूत हो जाता है। फिर प्रकृति सम्बन्धी हमारी उलझन कठिन हो जाती है। जब हम, मनस्-युक्त शरीरी, अपने से अलग-थलग किसी प्रकृति का उल्लेख करते हैं तो वह क्या है? परन्तु सहज बोध इस विषय में अधिक सोच-विचार का अवकाश नहीं देता है। वह तो मानवीय मनस् को एक धरातल पर स्वीकार करके चलता है। इस धरातल पर मनस् और उसको धारण करने वाले शरीर को (साथ ही जैसा आमुख में उल्लेख किया गया है मनुष्य के निर्माण-भाग को भी) छोड़कर अन्य समस्त सचेतन और अचेतन सृष्टि-प्रसार को प्रकृति स्वीकार किया जाता है। प्रश्न हो सकता है कि सहज बोध के स्वयं-सिद्ध निर्णय को स्वीकार करने के लिए कुछ आधार भी है अथवा यों ही मान लिया जाय। अगले प्रकरण के शरीर और मनस् सम्बन्धी अनुच्छेद में इस विषय में

१. अगले भाग के आध्यात्मिक साधना में प्रकृति संबन्धी प्रकरणों में हम देखेंगे कि किस प्रकार भारतीय साधना में इस भावधारा की प्रमुखता रही है।

तत्त्ववादियों और वैज्ञानिकों के मतों की विवेचना की जायगी। लेकिन सहज बोध का मत उपेक्षणीय भी नहीं है।

सहज बोध की दृष्टि—वस्तुतः सहज बोध की दृष्टि हमारे लिए आवश्यक भी है। हमारा विषय साहित्य है, हमारा क्षेत्र काव्य का है। काव्य में तर्क से अधिक अनुभूति मान्य है जो समन्वय के सहज आधार पर ग्रहण की जा सकती है। साथ ही काव्यानुभूति में प्रवेश पाने की शर्त रसज्ञता है विद्या का वैभव नहीं। इसलिए सहज बोध का आधार हमारी विवेचना के लिए अधिक उचित है। देखा जाता है कि वैज्ञानिकों और तत्त्ववादियों का मत अपनी सीमाओं में सत्य होकर भी एक दूसरे का बहुत कुछ विरोधी होता है। तत्त्ववाद के तर्क हमको ऐसे तथ्यों पर पहुँचा देते हैं, जो साधारण व्यक्ति के लिए आश्चर्य का कारण हो सकता है, पर उनके विश्वास की वस्तु नहीं। इस प्रकार के विरोधों को दूर करने के लिए तथा सत्य को बोध-गम्य बनाने के लिए साधारण व्यक्ति के सम्मुख समन्वय का विचार रखना आवश्यक है। दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के लिए भी सहज बोध के साक्ष्य पर, उसे छोड़ने के पूर्व, विचार कर लेना आवश्यक है। साधारण व्यक्ति और सहज बोध के साक्ष्य का यह तात्पर्य नहीं है कि वह अवैज्ञानिक या अतार्किक मत है अथवा निम्नकोटि की बुद्धि से सम्बन्धित है। इसका अर्थ केवल यह है कि वह सहजग्राही है। पर वह स्वतः भी अपनी सीमा में वैज्ञानिक तथा तार्किक दृष्टि है।[1] हमारी विवेचना का विषय काव्य, मानवीय जीवन और समाज के विकास का एक अंग है। इसलिए हमारे विवेचन का आधार सहज बोध के अनुरूप होना ही चाहिए। जहाँ तक मानवीय समस्याओं को समष्टि रूप से समझने का प्रश्न है तत्त्ववाद और भौतिक-विज्ञान एकांगी हैं। एक तो अतिव्याप्ति के दोष से हमारे सामने विरोधी विचारों को उपस्थित करता है जो साधारण व्यक्ति की बुद्धि और अनुभव की पकड़ में नहीं आ सकते। दूसरा अपनी सीमा में इतना संकुचित है कि उससे हमारी जिज्ञासा को संतोष भी नहीं मिलता और व्यापक प्रश्न भी अधूरे रह जाते हैं। इस कारण हमारी विवेचना का आधार प्रमुखतः सहज बोध

---

१. यहाँ सहज बोध सर्व साधारण से सम्बन्धित नहीं माना जाना चाहिए और न साधारण व्यक्ति का अर्थ जन साधारण से ही लेना चाहिए। इस विषय में स्टाउट का कथन इस प्रकार है—'व्यावहारिक योग्यता के लिए जो कुछ सिद्धान्त वस्तुतः अपरिहार्य रूप से निश्चित हैं वे सहज बोध द्वारा स्वीकृत माने जाते हैं। फिर भी दार्शनिक ही अपने उच्च स्तर से तथा अपनी प्रणाली से इसकी उपादेयता का निश्चय कर सकता है। लेकिन जब दार्शनिक इस प्रकार आगे बढ़ता है, वह केवल एकान्त रूप से जन साधारण को सम्बोधित नहीं करता। सहज बोध के नाम पर वह जो कुछ बलपूर्वक कहेगा, व्यापक रूप से मानवीय अनुभवों की तुलनात्मक विवेचना पर ही आधारित होगा।' (माइन्ड ऐन्ड मैटर ; प्रथम प्रकरण, कामनसेंस ऐन्ड फ़िलासफ़ी, पृ० ३)

ही रहेगा। इससे दर्शन और विज्ञान (भौतिक) के सिद्धान्तों के समन्वय का अवसर मिलेगा। साथ ही विवेचना का विषय प्रस्तुत कार्य की परम्परा से अधिक दूर नहीं हो सकेगा।

विवेचना का क्रम—प्रकृति के स्वरूप के विषय में विचार करने के पूर्व एक उल्लेख और भी कर देना आवश्यक है। इस प्रकरण की व्याख्या किसी विकासोन्मुखी परम्परा या ऐतिहासिक क्रम का अनुसरण न करके अपने प्रतिपादन के क्रम से चलेगी। ऐसी स्थिति में दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक सिद्धान्तों में विपर्यय हो सकता है। यह भी सम्भव है कि विकास की किसी प्राथमिक स्थिति को बाद में उठाया जाय और विकास की अन्य कड़ी का उल्लेख पहले ही कर दिया जाय। यहाँ उद्देश्य विषय की सच्ची और पूर्ण व्याख्या उपस्थित करना है। उसमें कोई भी दार्शनिक सिद्धान्त या ऐतिहासिक सत्य प्रस्तुत विषय के समर्थन के लिए कहीं भी उपस्थित हो सकता है।

भौतिक प्रकृति

यहाँ भौतिक प्रकृति से भौतिक-तत्त्व रूप प्रकृति का अर्थ नहीं है। इस स्थल पर भौतिक प्रकृति का प्रयोग मनस् के द्वारा प्रत्यक्षीकरण से अनुभूत प्रकृति के रूप से अलग करके समझने के लिए हुआ है। इसको इस प्रकार कह सकते हैं कि द्रष्टा के विचार से अलग करके दृश्य-जगत् का जो रूप हो सकता है; उस पर इस विभाग में विचार किया जायगा। व्यावहारिक दृष्टि से ऐसा सम्भव नहीं है, पर तत्त्ववाद इस प्रकार की विवेचनाओं का अभ्यस्त है। और इन्हीं विवेचनाओं की समीक्षा भी यहाँ करनी है। हम देखेंगे कि तत्त्ववादियों की भौतिक-प्रकृति सम्बन्धी विवेचनाओं में भी प्रकृति में सन्निहित भाव और रूप का आश्रय लिया गया है। यह सहज बोध के अनुरूप है।

भौतिक-तत्त्व और विज्ञान-तत्त्व—मिथयुग मानव की प्रवृत्तियों का विकास-युग था। उस समय जैसे मानवीय चेतना प्रकृति के सचेतन क्रोड़ से मनस् की स्वचेतन स्थिति में प्रवेश कर चुकी थी। इस युग का अध्ययन मानवीय प्रवृत्तियों तथा भावों के विकास के लिए आवश्यक है। साथ ही मानव की अध्यात्म सम्बन्धी रहस्यात्मक चेतना का मूल भी इसी में खोजा जा सकता है। परन्तु इस युग के बाद ही, वरन् जब मानव उस युग की स्थिति से अलग हो ही रहा था, वह विश्व रूप प्रकृति के प्रति प्रश्नशील हो उठा। यह सब क्या है, कैसे है और क्यों है। अपने चारों ओर की नाना-रूपात्मक, आकार-प्रकारमयी, ध्वनि-नादों से युक्त, प्रवाहित गतिमान् परिवर्तनशील सृष्टि, प्रकृति के प्रति मानव स्वयं ही धीरे-धीरे जागरूक हुआ—प्रश्नशील हुआ। इसी आधार पर आगे चलकर सर्जन का दार्शनिक प्रश्न सामने आता है और आदि तत्त्व की खोज होती

है। पूर्व-पश्चिम के अनेक तत्त्ववादियों ने अनेक उत्तर दिए। कोई जल कहता था तो कोई अग्नि। इस व्याख्या के समानान्तर वैदिक-युग के देवताओं की प्रतिद्वन्द्विता का स्मरण आता है। कभी आदि देव सूर्य हैं तो कभी इन्द्र। इन एक और अनेक भौतिक-तत्त्वों से सम्बन्धित मतवादों के साथ ही वस्तु पदार्थों की तत्त्वतः विज्ञानात्मक स्थिति मानने वाले मत प्रमुख होते गए। जिस प्रकार भौतिक मतवादों में पदार्थ के वस्तु-रूप पर बल दिया गया, उसी प्रकार विज्ञानात्मक मतवादों में पदार्थ के मनस् से सम्बन्धित भावों को लेकर चला गया। मनस् का विज्ञानात्मक स्थिति से सम्बन्ध अगले प्रकरण में अधिक स्पष्ट हो सकेगा। वस्तुतः तत्त्ववाद की दृष्टि में जो भौतिक है वह साधारण अर्थ में प्रकृति का रूप है और जो विज्ञान है वह भाव माना जा सकता है। विज्ञान-वादियों में भी अद्वैत तथा द्वैत का मतभेद चला है। यद्यपि तत्त्ववाद में इस सर्जन के सत्य को लेकर अनेक मत प्रचलित रहे हैं; लेकिन आगे चलकर विज्ञानवादियों और भौतिकवादियों की स्पष्ट विरोधी स्थिति उत्पन्न हो गई। एक विज्ञान तत्त्व के माध्यम से समस्त प्रकृति-सर्जना को समझने का प्रयास करता है, तो दूसरा सर्जन-विकास के आधार पर भौतिक-तत्त्वों द्वारा मनस् की भी व्याख्या करने का दावा रखता है।

भारतीय तत्त्ववाद—भारतीय तत्त्ववाद यूनानी तत्त्ववाद के समान ही प्राचीन है और महान है। वरन भारतीय दर्शन की परम्परा अधिक प्राचीन तथा व्यापक कही जा सकती है। यहाँ इस समस्या से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। हमें तो दोनों ही तत्त्ववादी परंपराओं की समीक्षा में सहज बोध के योग्य तथ्यों को देखना और ग्रहण करना है। भारतीय दर्शन में वैदिक काल से ही प्रकृति का प्रश्न मिथ सम्बन्धी रहस्य भावना से हटकर विश्व के रूप में उपस्थित हुआ था। अनेक लोकों के देवता अनेक होकर भी विश्व एक है। यह एकत्व का विश्वास वैदिक ऋषियों को एक परम सत्य की ओर ले गया। सर्जन और विकास दोनों का भाव इसमें मिलता है। वेदों में इन्द्रि-यातीत परावर सत्ता का उल्लेख भी मिलता है जो विज्ञानात्मक कही जा सकती है। साथ ही पृथ्वी और स्वर्ग की भावना प्रारम्भ से ही भौतिक-तत्त्व तथा विज्ञान-तत्त्व का संकेत देती है। अनन्तर उपनिषद्-काल तक भौतिकवादी वेदों के सप्रपंच के साथ निष्प्रपंच विश्व की व्याख्या की जाने लगी। आत्मा और विश्वात्मा के रूप में विज्ञान-तत्त्व को अधिक महत्त्व मिला। आत्म-तत्त्व विश्व का अन्तर्तम सर्जनात्मक सत्य माना गया। भौतिक स्थिति विश्व की बाहरी रूपात्मकता है, जिसकी कल्पना से ही ब्रह्म (विश्वात्मा) तक पहुँचा जा सकता है। उपनिषदों के मनीषियों में अद्भुत समन्वय बुद्धि है, और इसी कारण उनमें विरोधी बातों का उल्लेख जान पड़ता है। पर वस्तुतः प्रकृति के भाव और रूप दोनों को लेकर मानव चल सका है। और आत्मवाद के रूप में उपनिषद् चरम विज्ञानवाद तक पहुँचते हैं—'वही तू है और मैं ब्रह्म हूँ।' व्यक्ति

और विश्व दोनों एक हैं, सत्य अमर है। मनुष्य और प्रकृति, फिर इन दोनों तथा परमतत्त्व में कोई भेद नहीं है। बौद्ध तत्त्ववाद विश्व के विषय में नितान्त यथार्थवादी था। विश्व की क्षणिकता, परिवर्तनशीलता पर ही उसका विश्वास था। बाद में बौद्ध तत्त्ववाद के विकास में भौतिकवाद से विज्ञानवाद की ओर प्रवृत्ति रही है। नागार्जुन के शून्यवाद में तो विज्ञान-तत्त्व जैसे अपने चरम में खो जाता है पर वैभाषिकों का मत समन्वयवादी रहा है।

भारतीय दर्शन के मध्य-युग में न्याय-वैशेषिक तत्त्ववादी भौतिकवादी हैं और अनेकवादी यथार्थ पर चलते हैं। इन्होंने आत्मा को एक द्रव्य मात्र माना है, इससे स्पष्ट है कि इन्होंने आत्म-तत्त्व को व्यापक तत्त्व स्वीकार किया है। ये अरस्तू के समान सभी तत्त्वों को यथार्थ मानकर चलने के पक्ष में हैं। इनके साथ ही सांख्य-योग के तत्त्ववादी भी अनेक को मानकर चलने वाले यथार्थ को स्वीकार करते हैं। परन्तु उनके मतवाद में पुरुष की प्रमुखता के रूप में विज्ञानवादी दृष्टिकोण भी है। निश्चल और निष्क्रिय पुरुष के प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर प्रकृति क्रिया-शील हो उठती है। यह मतवाद प्लेटो के विज्ञानात्मक आइडिया के समकक्ष है। आगे चलकर शंकर के अद्वैतवाद में माया के सिद्धान्त को लेकर समन्वय की चेष्टा है, पर वह ब्रह्म को परमसत्य मानकर विज्ञानवाद की ओर ही अधिक जान पड़ता है। इस युग में रामानुजाचार्य के विशिष्टा-द्वैत में प्रमुखतः यह समन्वय अधिक प्रत्यक्ष हो सका है। तर्क और युक्ति के अनुसार शंकर का समन्वय अधिक ठीक है; रामानुजाचार्य का मत सहज बोध के लिए अधिक सुगम रहा है। अगले भाग में हम देखेंगे कि हिन्दी साहित्य के मध्ययुग के काव्य में इसी समन्वयवाद का आधार रहा है।

यूनानी तत्त्ववाद—यूनान में, सर्वप्रथम अयोनियन तत्त्वजिज्ञासुओं ने मिथ के आधार के बिना ही विश्व के भौतिक स्वरूप की व्याख्या प्राकृतिक कारणों से करने का प्रयास किया। उनके मत में भौतिक-तत्त्वों की प्रधानता का कारण, चतुर्दिक फैले हुए विश्व के प्रति उनकी जागरूकता तथा अपनी ज्ञान इन्द्रियों के प्रत्यक्ष पर आश्रित होना समझना चाहिए। योरप में इन्होंने ही आदि तत्त्व पर विचार किया। इन्होंने समस्त भौतिक विभिन्नता और परिवर्तन को किसी परम तत्त्व के स्वरूप परिवर्तन के आधार पर सिद्ध किया है। साधारणतः परीक्षण से भी यह सिद्ध होता है। एक पदार्थ-तत्त्व दूसरे पदार्थ-तत्त्व में परिवर्तित होता रहता है; इस प्रकार आदि तत्त्व इन वर्तमान रूपों में परिवर्तित होकर स्थिर है। यह सम्बन्ध गति और प्रवाह को लेकर है। फिर क्रम, व्यवस्था और समवाय के आधार पर दिक् के द्वारा विश्व की व्याख्या करने का प्रयास किया गया।[१] अनन्तर प्रकृति के परिवर्तन और भव-सर्जन पर निरन्तर

१. पाइथागोरस : दिक् और संख्या का सिद्धान्त

दीपशिखा की भाँति प्रज्ज्वलित तथा नष्ट होते विश्व की व्याख्या की गई।[1] अभी तक ये सभी मत भौतिकवादी थे और तत्त्ववादियों का ध्यान प्रकृति के भौतिक रूप पर ही सीमित था। बाद में नितान्त परिवर्तन पर अविश्वास किया गया। विश्व का नियम स्थिरता निश्चित हुआ। कुछ भी अन्य नहीं हो सकता, बिलकुल भिन्न वस्तु नहीं हो सकती। परिवर्तन ससीम का होता है, इन्द्रियातीत असीम का नहीं। आदि तत्त्व का सम्मिलन होता है सर्जन नहीं।[2] इस सिद्धान्त के अन्तर्गत इन्द्रियातीत असीम की कल्पना में ही विज्ञानवाद के बीज सन्निहित हैं। यह मत अपनी व्याख्या में विज्ञान-वादी लगकर भी सिद्धान्त की दृष्टि से भौतिकवादी है। इसमें चार आदि तत्त्वों को स्वीकार किया गया है। परन्तु सर्जन की क्रिया-शक्ति में जो नाम रूप परिवर्तनों की व्याख्या की गई है वह संकलन और विकलन के आधार पर की गई है जो राग-द्वेष के समान भावात्मक माने गए हैं। यह प्रकृति की भावात्मकता ही तो विज्ञानवाद की पृष्ठ-भूमि है।

तत्त्ववाद के क्षेत्र में चाहे वह पाश्चात्य दर्शन हो अथवा भारतीय दर्शन, लग-भग एक समान परम्परा मिलती है। पहले विभिन्न मतों का प्रतिपादन होता है, फिर विषम स्थिति के कारण ज्ञान पर सन्देह किया जाने लगता है। ज्ञान पर सन्देह का अर्थ है कि उसके माध्यम से परम सत्य को जानना अविश्वसनीय माना जाता है। अन्त में व्यावहारिक क्षेत्र में ज्ञान को स्वीकार करके समन्वय की चेष्टा की जाती है। सोफ़ियों ने ज्ञान पर सन्देह किया। परन्तु प्लेटो ने विचारात्मक ज्ञान को विश्व के आदि सत्य को समझने के लिए स्वीकार किया और समन्वयवादी मत उपस्थित किया है। वे परमाणुवादी अनेकता के साथ भावात्मक विज्ञान को मानते हैं। प्लेटो का आइडिया विज्ञान मनस् को ही आधार रूप से स्वीकार करता है। लेकिन यह विज्ञान-मय आइडिया मनस् ही नहीं वरन परावर असीम है। इस सामान्य से ही विशेष विज्ञान-रूप ग्रहण करते हैं। यह एक प्रकार का प्रतिबिम्बवाद कहा जा सकता है। साथ ही प्लेटो शुद्ध पूर्ण परावर विज्ञान की बाह्य-दृश्यात्मकता के लिए अभावात्मक पदार्थ की कल्पना भी करते हैं। इस प्रकार उनके सिद्धान्त में व्यावहारिक दृष्टि से जैसे भौतिक और विज्ञान दोनों तत्त्वों को स्वीकार किया गया है। समन्वय की दृष्टि से इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के जगत् को समझने के लिए इस भावात्मक विज्ञान-तत्त्व से भिन्न अभावात्मक तत्त्व स्वीकार करना पड़ा। यह शंकर की माया से भिन्न है, क्योंकि यह अभावात्मक तत्त्व विज्ञान-तत्त्व से निम्न श्रेणी का माना गया है, वैसे सत्य है। अपने आप में यह

---

१. हेराक्लाइटस् : परिवर्तन का सिद्धान्त

२. इम्पेडाक्लीस : स्थिरतावाद

समस्त विशिष्टताओं से शून्य आकारहीन अप्रमाणित और अविचारणीय है। प्रकृति का अस्तित्व इसी अभाव-तत्त्व पर जब विज्ञान-तत्त्व प्रभाव डालता है तभी सम्भव है। जिस प्रकार किरण आतशी शीशे पर पड़कर अनेक में प्रकट होती है, उसी प्रकार विज्ञान-तत्त्व रूप भावात्मक आइडिया भौतिक-तत्त्व रूप अभावात्मकता में अनेक रूप धारण करता है। फिर भी प्लेटो के सिद्धान्त का झुकाव विज्ञानवाद की ओर है और इसी की प्रतिक्रिया अरस्तू के भौतिकवाद में मिलती है।

योरप का मध्ययुग अंधकार का युग था, इसमें दर्शन और विज्ञान दोनों की विचार-धाराओं का लोप रहा। इस युग में केवल धर्म और अध्यात्म का प्रकाश मिलता है। बाद के नवयुग में यूनानी परम्परा के आधार पर दार्शनिक मतों का प्रतिपादन और विकास हुआ है। पर तत्त्ववाद में विज्ञानवादी और भौतिकवादियों की स्थिति लगभग उसी प्रकार रही। साथ-साथ दोनों के समन्वय का प्रयत्न भी हुआ है। विज्ञानवादियों में यदि स्पिनोजा और बार्कले का नाम लिया जा सकता है तो भौतिकवादियों में हाब्स और ह्यू म का उल्लेख किया जा सकता है। हेगल और कान्त ने विज्ञान-तत्त्व के साथ भौतिक-तत्त्व को भी स्वीकृति दी है, इस प्रकार वे समन्वयवादी कहे जा सकते हैं। इस युग में प्रयोगवादी तथा युक्तिवादी आधार पर भी द्वैताद्वैत की प्रतिद्वन्द्विता चलती रही है। इस युग में भौतिक-विज्ञानों के विकास के साथ हमारी अन्तर्दृष्टि भौतिक-पदार्थों में अधिक हो गई है। हमारा मानसिक स्थितियों का ज्ञान भी मानसशास्त्र के सहारे बढ़ गया है। ऐसी स्थिति में दोनों मतों के प्रतिपादक भी हैं और उनका समन्वय करने वाले तत्त्ववादी भी।

सहज बोध की स्वीकृति—इन समस्त दार्शनिक तत्त्ववादों की सूत्र-रूप व्याख्या के पश्चात् देखना है कि सहज बोध किस सीमा तक इनको ग्रहण कर सकता है। साधारण व्यक्ति यथार्थ जगत् को स्वीकार करके चलता है। इस यथार्थ के विरुद्ध जब तक पर्याप्त कारण नहीं मिलता वह ऐसा ही करेगा। किसी वृक्ष को देखकर हम वृक्ष ही समझते हैं (आकार-प्रकार, रंग-रूपमय)। परम सत्य न मानकर भी हम सत्य उसे अवश्य मानते हैं। पर इस यथार्थ के प्रति सन्देह करने के कारण हैं। द्रव्य और गुण, इन्द्रियों के विरोधी तथा भ्रामक प्रत्यक्ष इस सन्देह के माध्यम हैं। इन विरोधों को, यथार्थ को अस्वीकार करने के लिए अपर्याप्त भी सिद्ध किया जा सकता है। परन्तु ऐसी स्थिति में विश्व को समझने के लिए बहुत-सी अदृश्य आवश्यकताओं की उलझनें उत्पन्न हो जायेंगी। इस प्रकार सहज बोध के लिए सामान्य यथार्थ के परे किसी इन्द्रियातीत सत्ता को मानना आवश्यक हो जाता है। सहज बोध के द्वारा साधारण व्यक्ति परिणामवादी होता है। और इस विश्वास से भी यही सिद्ध होता है। परिणामवाद की क्रियात्मक शृंखला भावात्मक विज्ञान-तत्त्व की ओर ले जाती है। साथ ही

उसका क्रमिक विकास भौतिक-विज्ञानों के भविष्य कथन में सहायक होता है। यद्यपि परिणामवाद में कारण ही कार्य का परभाग है, इसलिए अधिक दूर तक उसे सत्य नहीं माना जा सकता है। इसका तात्पर्य केवल इतना है कि प्रत्येक घटना की संकेत देने वाली सत्य स्थिति, किसी विशेष समय में, अन्य सत्यों से सम्बन्ध रखने वाली संकेतिक घटनाओं के प्रसरित भाग को आत्मसात् किए रहती है। फिर भी परिणामवाद से सम्बन्धित विश्वास में सहज बोध प्रकृति में भौतिक के साथ किसी अन्य सत्ता को भी स्वीकार करता है। इस प्रकार सहज बोध से हम प्रकृति के रूप और भाव दोनों पक्षों को ग्रहण कर लेते हैं। और यही तत्त्ववादियों के भौतिक-तत्त्व तथा विज्ञान-तत्त्व का आधार है। ऐसा ही हम ऊपर की विवेचना में देख चुके हैं।

दृश्य प्रकृति

मन और शरीर—दृश्य-जगत् का प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हो चुका है। हम निश्चित कर चुके हैं कि तत्त्ववाद की एक स्थिति ऐसी है जिसे सहज बोध ग्रहण कर सकता है। इस सीमा पर हम भौतिक प्रकृति को भावात्मक विज्ञान-तत्त्व और रूपात्मक भौतिक-तत्त्वों में स्वीकार कर चुके हैं। साधारणतः जिसे प्रकृति सम्बन्धी भाव और रूप कह सकते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से जब मनस् और वस्तु को स्वीकार कर लेते हैं, तब मनस् का प्रतिबिम्ब वस्तु पर पड़ने से दृश्य-जगत् की सत्ता मानी जा सकती है। दृश्य-जगत् के सम्बन्ध में मनस् का महत्त्व अधिक है। मनस् ही द्रष्टा है। यही मनस् मानव के सम्बन्ध में मानस या मन माना जा सकता है। इस मन के साथ उसके धारण करने वाले शरीर का प्रश्न भी आ जाता है। मन की क्रिया शरीर के आधार पर है। उसकी प्रक्रिया मस्तिष्क पेशियों और स्नायु तन्तुओं से परिचालित है। साधारणतः यह स्वीकार किया जाता है। परन्तु शरीर भौतिक तत्त्व है और मन (मनस् का ही रूप होने से) विज्ञान-तत्त्व है। हम इन दोनों ही तत्त्वों को स्वीकार कर चुके हैं। अब प्रश्न है कि ये विभिन्न तत्त्व क्रियाशील कैसे होते हैं। और इस प्रक्रिया का प्रभाव दृश्यात्मक प्रकृति पर क्या पड़ता है।

समानान्तरवाद—(क) मन और शरीर के सम्बन्ध पर विचार करने वाले तत्त्ववादियों ने विभिन्न प्रकार से इस सम्बन्ध की कल्पना की है। मन और वस्तु को अलग स्वीकार करने वाले विचारकों ने मानवीय मानस को मनस्-तत्त्व रूप मन और वस्तु-तत्त्व रूप मस्तिष्क से युक्त माना है। इन दोनों की अलग तथा भिन्न स्थिति के कारण इनमें क्रिया-प्रतिक्रिया का क्रमिक सम्बन्ध नहीं स्थापित हो सकता। केवल इनकी पूर्णतः समस्थिति स्वीकार की जा सकती है। इनमें से एक मानसिक स्थिति से तथा दूसरी शारीरिक घटना से सम्बन्धित हो सकती है। इसी क्रिया-प्रतिक्रिया को

मनस्-भौतिक समानान्तरवाद के नाम से कहा गया है।[1] कुछ तत्त्ववादी भौतिक-विज्ञानों के आधार पर एकान्त प्रक्रियावाद को मानते हैं। उसी प्रकार कुछ विज्ञान-तत्त्व के आधार पर दूसरे भौतिक-तत्त्वों का विकास मानते हैं। इसको इस प्रकार समझा जा सकता है कि एक मत से, मन से मस्तिष्क परिचालित है और दूसरे मत में मस्तिष्क की विषमता ही मन की व्याख्या है। परन्तु स्वयं भौतिक विकासवादियों ने जीवन के मानसिक स्तर का कोई समुचित उत्तर नहीं पाया है। विलियम जेम्स स्वीकार करते हैं कि नैसर्गिक वरण का सिद्धान्त मानसिक विषमताओं और उसके विकास को स्पष्ट नहीं करता। इस आधार पर भौतिक विकास से उत्पन्न मनस् की कल्पना नहीं की जा सकती।

सचेतन प्रक्रिया—(ख) समानान्तरवाद में दोनों तत्त्वों को अलग-अलग माना गया है और उनकी प्रक्रिया में कार्य-कारण का सम्बन्ध स्वीकार किया गया है, जो उचित नहीं। मानसिक भावना और इच्छा आदि का पूर्ण विश्लेषण मानस-शास्त्र नहीं कर सका है। और विभिन्न भौतिक-विज्ञानों के द्वारा जीवन का प्रश्न हल नहीं हो सका है। ऐसी स्थिति में यह कहना उचित नहीं है कि किसी सीमा पर ये दोनों एक दूसरे को स्पर्श कर सकते हैं। अपनी-अपनी घटनात्मक स्थिति में ये पूर्ण सम्बन्धी हो सकते हैं। भौतिक घटनाएँ किसी स्थान से सम्बन्धित होती हैं और मानसिक घटना किसी मानस के इतिहास में स्थित। फिर इनमें कार्य-कारण का सम्बन्ध कैसे सम्भव है। परन्तु इससे यह भी सिद्ध नहीं कि इन दोनों में पूर्ण सम्बन्ध नहीं है। दृश्यात्मक प्रकृति मन की भावात्मकता से सम्बन्धित है; और शरीर के साथ रूपात्मक स्थिति में है। इस दृष्टि से भी दोनों के सम्बन्धी होने में तो कोई विरोध नहीं हो सकता। डेकार्ट इनको 'लगभग एक तत्त्व' मानते हैं। कुछ तत्त्ववादी मनस् को शारीरिक विकास के माध्यम से समझते हैं। और इन मतवादों से कम से कम यह सिद्ध होता है कि इनमें एक सम्बन्ध स्थापित हो सकता। जिस सहज बोध के स्तर पर हम विवेचना कर रहे हैं उसमें समन्वय की प्रवृत्ति प्रमुख है।

दोनों ओर से—(ग) यद्यपि द्वन्द्वात्मक तत्त्वों में क्रिया-प्रतिक्रिया सम्भव नहीं मानी जाती फिर भी सहज बोध के स्तर पर मन और मस्तिष्क के विषय में इसकी कल्पना की जा सकती है। यदि भौतिक-तत्त्व केवल निम्न कोटि का विज्ञान-तत्त्व ही है, अथवा परिणामवाद में केवल क्रमिक सम्बन्धों की स्थिति भर है, तब तो इनमें क्रिया-प्रतिक्रिया सम्भव ही है। उस समय यह समानान्तर होने के समान है। पर ऊपर हम सिद्ध कर चुके हैं कि अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र मानकर भी इन दोनों में सम्बन्ध स्वीकार किया जा सकता है। यह सचेतन प्रक्रिया का सम्बन्ध है। ऐसा स्वीकार कर

१. साइकोफिजिकल पैरेलल्लिज्म (जेम्स वार्ड से)

लेने पर मानसिक घटनाओं में कुछ शारीरिक घटनाओं का सम्मिलन होता है और उसी प्रकार शारीरिक अवस्थाओं पर मानसिक स्थितियों का प्रभाव पड़ता है। यही सचेतन-प्रक्रिया है जिसे हम स्वीकार कर सकते हैं। इसके विरोध में स्वतः क्रिया-शक्ति का प्रश्न उठाया जा सकता है, क्योंकि इससे कार्य-कारण स्वयं सिद्ध हो जाते हैं। परन्तु स्वतः क्रिया-शक्ति परीक्षण से असफल ठहरती है। मन की सम्पूर्ण चेतना केवल भौतिक-शक्ति के द्वारा सिद्ध नहीं होती, साथ ही मन की इच्छा-शक्ति को समझने के लिए मस्तिष्क के स्नायु-तन्तुओं की प्रक्रिया प्राप्त नहीं है। इस प्रकार दोनों ओर से सचेतन प्रक्रिया को स्वीकार करके ही हम सहज बोध के साथ तत्त्ववाद और भौतिक-विज्ञानों के मत का संतुलन कर सकते हैं। इससे एक ओर बाह्य रूपात्मक प्रकृति का स्वरूप मानसिक आधार पर स्थापित हो जाता है और दूसरी ओर मनस् के विकास के लिए जो परिवर्तन मानव-इतिहास में हुए हैं उनकी व्याख्या भी हो जाती है। यहाँ हमारी विवेचना का तात्पर्य केवल यह है कि प्रकृति में रूप और भाव जो दो पक्ष स्वीकार किए गए हैं उनको ग्रहण करने के लिए हमारे मन और शरीर की सचेतन-प्रक्रिया आवश्यक है। सहज बोध के स्तर पर हम किसी की उपेक्षा नहीं कर सकेंगे। अगले प्रकरणों में इस बात पर अधिक प्रकाश पड़ सकेगा कि इन्द्रियों द्वारा ग्रहीत प्रकृति चित्रों से जो सम्बन्ध हमारे शरीर के स्नायु-तन्तुओं या मस्तिष्क के कोष्ठों से है; अथवा शारीरिक अनुभावों का जो प्रभाव भावनाओं पर पड़ता है, उनका मानव की कलात्मक प्रवृत्ति के विकास में क्या योग रहा है।

द्रष्टा और दृश्य—ऊपर की समस्त विवेचना के बाद हम सहज बोध के उस धरातल पर स्थिर होते हैं, जिस पर शरीर से अनुप्राणित मनस् द्रष्टा है और भौतिक जगत् दृश्य है। मन जिस शरीर के सम्बन्ध से सचेतन है उससे एक विशेष स्थिति में सम्बन्धित भी है; साथ ही विश्व की अनेक वस्तुओं को विभिन्न घटनात्मक स्थितियों में पाता है। मन इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के द्वारा भौतिक वस्तुओं का स्थिति-ज्ञान प्राप्त करता है। परन्तु ये स्थितियाँ एक ही समय में अथवा विभिन्न समय में अन्य मन की गोचर विषय हो सकती हैं। शरीर में इन्द्रियों का विभाजन (साधारणतः मान्य) भौतिक तत्त्वों के अनुरूप हुआ है। अथवा यों भी कहा जा सकता है कि मन अपनी प्रतिकृति भौतिक तत्त्वों पर इन्द्रियों के माध्यम से ही डालता है। यह एक ही सत्य को कहने की दो भिन्न रीतियाँ हैं। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वस्तु-गुण उनकी स्थितियों के आधार पर है अथवा प्रत्यक्षीकरण की क्रिया पर निर्भर है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह इस प्रकार मान्य है। क्रियात्मक प्रवृत्ति के रूप में तन्मात्राओं गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और ध्वनि की स्थितियों का बोध मन, नासिका, जिह्वा, चक्षु, स्पर्श आदि ज्ञान, इन्द्रियों के माध्यम से ही करता है। परन्तु इनके आधार में भौतिक-तत्त्वों के रूप में स्थित पृथ्वी,

जल, अग्नि, वायु और आकाश है। मन केवल इन्द्रिय-प्रत्यक्षों के आधार पर नहीं चलता। उसमें विचारात्मक अनुमेय के साथ स्मृति तथा संयोग पर आधारित कल्पना का भी स्थान है। बौद्ध दार्शनिकों ने यद्यपि अनात्मवादी होने के कारण चित् को केवल शरीर सम्बन्धी माना; पर उसकी अनुमेय और कल्पना शक्ति को वे भी स्वीकार करते हैं। भारतीय अन्य तत्त्ववादियों ने आत्मा और शरीर की सम्बन्धात्मक स्थिति को ही चित् माना है। यह सहज बोध द्वारा स्वीकृत मन की स्थिति को एक प्रकार से अनुमोदित ही करता है। अगले प्रकरणों में इसी निष्कर्ष के आधार पर हम विचार करेंगे कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और प्रवृत्तियों का भावनाओं के विकास में क्या सम्बन्ध रहा है तथा अनुमान और कल्पना में इनकी क्या स्थिति रहती है। क्योंकि काव्य और प्रकृति का सम्बन्ध इन्हीं को लेकर समझा जा सकता है। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के दृश्य-जगत् को मन कल्पनामय भाव-जगत् में ही ग्रहण कर लेता है।

दृश्य-जगत् : प्राथमिक गुण—(क) हम जिस दृश्य-जगत् की व्याख्या कर रहे हैं वह केवल वस्तुओं की विभिन्न स्थिति और परिस्थिति है। वस्तु भी वस्तु-तत्त्वों की घटनात्मक स्थितियाँ मात्र हैं। वस्तुतः जिनको हम वस्तु के प्राथमिक गुण कहते हैं, वे मन की बाद की विकसित स्थिति की अपेक्षा रखते हैं। पहले वस्तु के माध्यमिक गुणों का सम्पर्क होता है और बोध भी इन्हीं का पहले होता है। वस्तु कहने से ही हमारा तात्पर्य किसी भौतिक घटना की मन के सम्बन्ध की स्थिति है। इसी दृष्टि से पाइथागोरस ने अपने सिद्धान्त में दिक् को महत्त्व दिया है। भारतीय न्याय-वैशेषिक तत्त्ववादियों ने दिक् और काल को गुण न मानकर द्रव्यों के अन्तर्गत स्वीकार किया है। दिक् और काल का ज्ञान सम्बन्धात्मक है और अनुमान पर स्थिर है। इनको असीम समझना चाहिए। इनका ज्ञान विचार से ही सम्भव है और किसी विशेष स्थिति या बिन्दु के सम्बन्ध की सापेक्षता में ही सम्भव हो सकता है। ये दोनों ही अपरिवर्तनशील हैं। जो परिवर्तन जान पड़ता है वह तत्त्वों के परिवर्तन तथा उनकी गतिशीलता से विदित होता है। दिक्-काल की स्थिरता के कारण ही कुछ तत्त्ववादियों ने विश्व के प्रश्न के सम्बन्ध में स्थिरवाद चलाया है। इन्होंने भी इनकी विचारात्मक सत्ता को वैशेषिकों की भाँति केवल द्रव्य मान लिया है। परन्तु दिक्-काल पर विचार करते समय प्रकृति की गति, उसके परिवर्तन और क्रियात्मक प्रवाह का प्रश्न आ जाता है। जिस प्रकार रेलगाड़ी पर भागते हुए दृश्यों की स्थिरता पर विचार करते समय गाड़ी की गति का ध्यान आ जाता है। इसको किसी न किसी रूप में स्वीकार करके ही चलना पड़ता है। कोई भी तात्त्विक मतवाद इसको अस्वीकार करके नहीं चला है। इस गति और प्रवाह की व्याख्या अनेक प्रकार से अवश्य की गई है। तत्त्वों के संयुक्तीकरण के मतवाद से लेकर विज्ञानवादी आइडिया तथा अद्वैत मतों तक इसका आश्रय लिया गया

है। यथार्थवादी वैशेषिकों ने इसको कर्म-पदार्थ के अन्तर्गत माना है। कर्म-पदार्थ में गति और परिवर्तन को अन्तर्भूत कर लिया गया है। यहाँ इस विवेचना को प्रस्तुत करने का तात्पर्य है। वस्तुओं की स्थिति-परिस्थिति को दिक्-काल की अपेक्षा में ही समझा जा सकता है। इनके द्वारा विश्व की क्रियात्मक प्रवृत्ति से प्रकृति का कार्य-कारण तथा प्रयोजन ज्ञात होता है। साथ ही दिक्-काल विश्व के प्रश्न में विज्ञान-तत्त्व की खोज करने की प्रेरणा के आधार भी हैं।

माध्यमिक गुण—(ख) वस्तु के माध्यमिक गुणों को वैशेषिक पदार्थ मानते हैं। सांख्य-योग में ये तन्मात्राएँ मानी गई हैं। इनको हम पंच भूत-तत्त्वों के माध्यम से समझ पाते हैं। दिक्-काल में स्थित वस्तु का बोध इन्हीं गुणों के आधार पर होता है। सबसे प्रथम रूप ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। कदाचित् इसी कारण अग्नि तत्त्व को और उससे सम्बन्धित सूर्य को अधिक महत्त्व मिला है। गुण के अनुसार दूसरा स्थान शब्दमय आकाश का होना चाहिए। परन्तु यह तत्त्व बाद में ही स्वीकृत हो सका है, इसका कारण आकाश-तत्त्व की सूक्ष्मता है जिससे वह सरलता से बोधगम्य नहीं है। गन्ध का सम्बन्ध पृथ्वी-तत्त्व से, रस का जल-तत्त्व से और स्पर्श का वायु-तत्त्व से इसी प्रकार माना गया है। यही समवाय का बोध मनस् की शरीर से युक्त विशेष स्थिति है। वैशेषिक इसके विचार को भी पदार्थ स्वीकार करते हैं। अस्ति में ही नास्ति का प्रश्न सन्निहित है। यद्यपि उसी का एक दूसरा रूप है, पर समवाय से समवाय का विचार भिन्न अवश्य कहा जा सकता है। न्याय-वैशेषिकों ने इसी को अभाव के रूप में पदार्थों में जोड़ दिया है। वस्तुतः नागार्जुन के सन्देहवाद और शून्यवाद का आधार भी यही है।

सामान्य और विशेष—(ग) मानसिक प्रक्रिया में विचार और कल्पना दोनों ही स्थितियों में संयोग और विरोध से काम पड़ता है जिसका आधार साम्य है। साम्य के लिए सामान्य और विशेष का भेद होना आवश्यक है। द्रव्यों में रहने वाला नित्य पदार्थ सामान्य है और दृश्य-जगत् में उसकी विशिष्ट स्थितियाँ ही सामने आती हैं। साथ ही पार्थिव वस्तुओं में भी सामान्य का भाव और विशेष का संयोग रहता है। वैशेषिकों ने विशेष के अर्थ को द्रव्य की विशिष्टता में लिया है और इसी कारण उसे नित्य भी माना है। पर यहाँ साधारण अर्थ में, विशेष को वस्तुओं की विशिष्ट विभिन्नताओं के रूप में भी लिया जा सकता है। दृश्य-जगत् की कल्पना करने के लिए सामान्य विशेष दोनों का भाव होना आवश्यक है। इसीलिए इनको पदार्थ माना गया है। इस दृश्यात्मक प्रकृति को उपस्थित करने से मानव और प्रकृति का सम्बन्ध स्पष्ट हो सका है। साथ ही एक प्रकार से प्रकृति को समझने की रूपरेखा उपस्थित हो सकी है। यह रूपरेखा काव्य में प्रकृति के प्रदर्शन को समझने में भी सहायक हो सकती है।

आध्यात्मिक प्रकृति

दिक्-काल का छायारूप—प्राथमिक गुणों का उल्लेख किया गया है। इनको मानव अपने शरीर के सम्बन्ध में अथवा अपनी घटनाओं के इतिहास में समझ सका है। इनका प्रसरित रूप सर्वदा इन्द्रियों के लिए भ्रामक ही रहा है। दिक्-काल का सम्बन्धात्मक ज्ञान मानव के मानसिक विकास में बहुत पीछे की बात है। शिशु की अवस्था में यह अब भी परीक्षण का विषय हो सकता है। बच्चों का दिक्-काल सम्बन्धी ज्ञान अपूर्ण और भ्रामक होता है। उनकी मानसिक स्थिति इस प्रकार के सम्बन्धात्मक विचारों के योग्य नहीं होती। परन्तु उनकी भूल को सुधारने के लिए बड़े लोग सदा ही तत्पर रहते हैं। विकास की आरम्भिक स्थिति में मानव का ज्ञान दिक् काल के विषय में अपूर्ण था, और उसके पास उसे ठीक करने के लिए क्रमिक अवस्था के अतिरिक्त कोई भी साधन नहीं था। ऐसी स्थिति में असीम दिक्-काल में वह अपने को असहाय पाकर कभी भयभीत और कभी आश्चर्य-चकित हो उठता होगा। मिथ-युग के अध्ययन से हमको यही बात जान भी पड़ती है; मिथ-सम्बन्धी अनेक कहानियों में संकेत भी इसका मिलता है। अन्य विचारात्मक स्थितियों का उसका ज्ञान स्पष्ट नहीं था। इसी कारण वह प्रकृति के दृश्य-जगत् के स्वरूप को प्रत्यक्ष से भिन्न और विरोधी देख कर भयभीत होता था। यह उसकी भावनाओं पर दिक्-काल की अस्पष्टता के प्रभाव का परिणाम था। साथ ही प्रकृति के क्रियाशील क्रम को व्यवस्थित रूप में न देख सकने के कारण ऐसा होना सम्भव है। यह भय, विस्मय का मिथ-युग दिक्-काल की अस्पष्ट-भावना को लेकर चल रहा था, साथ ही जैसा कहा गया है प्रकृति की क्रिया-शक्ति तथा उसके समवाय के प्रति अव्यवस्थित दृष्टिकोण भी रखता था। इसके परिणाम स्वरूप इस युग में भय प्रदान करने वाले देवताओं की पूजा मिलती है और इसी के आधार पर बाद में प्रकृति की शक्ति के प्रतीक विभिन्न देवताओं की स्थापना हुई है।

भ्रमात्मक स्थिति—(क) इस युग में प्रत्यक्ष ज्ञान विभिन्न माध्यमिक गुणों के प्रति स्पष्ट नहीं हो सका था और उसके लिए इनका संयोग स्थापित करना भी कठिन था। इन गुणों में भ्रम तो आज भी हो जाता है। उस समय तो विभिन्न इन्द्रियों के प्रत्यक्षों को समुचित रूप से समझने की भावना भी पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो सकी थी। वस्तुओं के रूप-रंग, तथा उनसे सम्बन्धित ध्वनि, गन्ध, स्वाद आदि को अलग-अलग ग्रहण करके उनका सामञ्जस्य करने में असमर्थ मनस् चकित था। मानव फिर धीरे-धीरे उत्सुकता से समन्वय की ओर बढ़ सका है। परन्तु उसके मन में प्रकृति की रहस्य-भावना की स्थापना उसी समय से हुई है। मानसिक विकास के

क्षेत्र में रहस्य की भावना विज्ञानात्मक ब्रह्म के प्रति उपस्थित हुई है। और यही रहस्य-भावना अध्यात्म की आधार-भूमि है।

प्रकृति का मानवीकरण—(क) प्रारम्भ में मानव समस्त प्रकृति-रूपों को अपने समान देखता था। इस प्रकार आदि काल से वह प्रकृति को मानव रूप में समझने की भूल करता था। वस्तुतः उसको इस भावना की प्रेरणा प्रकृति की सचेतनता से मिली है। चाहे तत्त्ववादी हो या भूत.विज्ञानी अथवा साधारण व्यक्ति ही, किसी की दृष्टि से यह प्रकृति की सचेतनता भ्रामक कहकर टाली नहीं जा सकती। यदि यह समझी नहीं जा सकती, तो इसे भ्रामक सिद्ध करना भी कठिन हो जायगा। इस भ्रम का कारण बताना सहज नहीं होगा। साथ ही प्रकृति के मानवीकरण के युग के आगे उसे सचेतन मानने के विषय में भी प्रश्न उठेगा। पहले ही कहा गया है, मानव के सम्मुख परिवर्तन के रूप में विश्व की क्रिया-शक्ति उपस्थित हुई है। यह शक्ति प्रकृति के स्थिर स्वरूप में क्रियोन्मुखी लग सकती है और उसकी क्रियाशीलता में गतिमान भी जान पड़ती है। इसके समान मानव के अन्तर्जगत् में मन की क्रियोन्मुखी स्थिति है और प्रयास तथा उत्सुकता के रूप में क्रिया की वास्तविक स्थिति भी है। बाह्य और अन्तर्जगत् की इसी समरूपता के कारण मानव में प्रकृति को सचेतन देखने की प्रवृत्ति है। फिर वस्तुओं को निश्चित घटनात्मक स्थिति में न समझ पाने से भी यह स्थिति उत्पन्न हुई। मन की यह प्रवृत्ति है कि वह अपरिचित को साम्य के आधार पर समझने का प्रयास करता है। आध्यात्मिक आधार पर जिन प्रकृति शक्तियों को देवत्व प्राप्त हुआ था उनको आगे चलकर मानवीय आकार मिला और साथ ही उनमें मनोभावनाओं की स्थापना भी हुई। अतः आध्यात्मिक साधना के इसी क्रम में क्रियात्मक कारण के रूप में, मानव रूप में ईश्वर की कल्पना की गई है। और इसी से भावात्मक विज्ञान का सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए विश्वात्मा (परमात्मा) की स्थापना हुई। दूसरे भाग के आध्यात्मिक साधना सम्बन्धी प्रकरणों में भारतीय विचार धारा का यहाँ के काव्य के प्रकृति सम्बन्धी दृष्टिकोण में क्या प्रभाव पड़ा है, इस पर विचार किया गया है। यहाँ यही कहना है कि इन सब के मूल में प्रकृति को मानवीय रूप में देखने की, तथा उस पर स्वचेतना के आरोप की आदि प्रवृत्ति है।

भाव-मग्न प्रकृति—(ख) प्रकृति में रूप और भाव के साथ, भयभीत करने वाले और रक्षा करने वाले देवताओं का विकास हुआ है। बाद में एक-देववाद के आधार पर विश्वात्मा की स्थापना हो सकी। तत्त्ववाद में एकेश्वरवाद और विश्वात्मा के स्थान पर ब्रह्म तथा अद्वैत की भावना प्रबल रही है। परन्तु सहज बुद्धि ने विकल्पित रूपों के सहारे ब्रह्म को मानवीय रूप और भावना में समझा है। अगले भाग में हम देखेंगे कि यह व्यावहारिक भी रहा है। आतंक से उत्पन्न उपासना का स्थान

श्रद्धामयी पूजा ने ले लिया। मध्ययुग के देवता वैदिक देवताओं से इसी अर्थ में भिन्न हैं। वैदिक देवता प्रकृति की किसी अधिष्ठित शक्ति के प्रतीक हैं। बाद में उनमें रूप का आरोप हुआ है। परन्तु मध्ययुग के देवता मानवीय विचार और भाव के विशुद्ध रूप में अवतीर्ण हुए हैं। इनके प्रतीकत्व में इन्हीं दृष्टिकोणों की प्रधानता है। साथ ही इनमें आतंक के स्थान पर श्रद्धा और रक्षा के स्थान पर कल्याण की भावना समन्वित होती गई। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण रुद्र का शिव के रूप में परिवर्तित हो जाना है। भारतीय मध्ययुग के त्रिदेवों में विष्णु और शंकर सर्जन-विनाश क्रिया के प्रतीक हैं। परन्तु ब्रह्मा के पालक रूप में मानव की सामाजिक प्रवृत्ति को स्थान मिला है, जो स्थिरता का प्रतीक स्वीकार किया जा सकता है। अन्य देवताओं में भी प्रकृति के रूप के स्थान पर उसका भाव ही प्रमुख हो गया है। परन्तु हम अगले प्रकरणों में देखेंगे कि मानवीय भावना के विकास में बाह्य दृश्य जगत् का सम्बन्ध रहा है। इसके अतिरिक्त काव्य तथा कला में इन भावनाओं का प्रमुख हाथ है। और इन देवताओं के रूप-निर्माण में इसी कलात्मक रीति से रूप-रंगों का प्रयोग किया जाता है।

सामाजिक स्तर—(ग) वैदिक कर्मकाण्डों में प्रधानतया प्रकृति के परिवर्तन, सर्जन, विनाश आदि के प्रतीक हैं। इनमें इन्हीं की प्रतिकृतियाँ सन्निहित हैं। इन प्रतीकों में उस युग के ज्ञानात्मक भ्रमों का समन्वय है। इसी कारण बाद के धार्मिक मतवाद इन प्रतीकों में दार्शनिक सत्य की व्याख्या करने में सफल होते रहे हैं। वस्तुतः धार्मिक अध्यात्म का विकास इसी आधार पर हुआ है। वैदिक यज्ञ-कृत्य विश्व-सर्जन के क्रम का प्रतीक है। यह अवस्था उस समय की है जब देवता प्रकृति शक्तियों के अधिष्ठाता थे। देवताओं का तत्त्व-रूप परिवर्तनशील और गतिमय था। यह विश्व सर्जन और विनाश की ओर संकेत करता था। अन्य अनेक कर्मकाण्डों का प्रतीकार्थ सामाजिक नियमन से सम्बन्धित है जिसका आधार आचरण समझना चाहिए। मानव-समाज के आचरण सम्बन्धी नियमन में प्रकृति का अपना योग है। प्रकृति व्यवस्था, क्रम और सामञ्जस्य का नियम मानव के सामने उपस्थित करती रही है।

भारतीय मध्ययुग में फिर भक्ति और श्रद्धा के साथ पूजा-कृत्यों का विकास हुआ, यद्यपि बौद्ध-धर्म में एक बार कर्मकाण्ड का पूर्ण खण्ड किया गया था। मध्ययुग के आचार्यों ने पूजा, अर्चा, पादसेवन, आरती, भोग आदि को दार्शनिक महत्व दिया है। इस आचार के प्रतीकों में प्रकृति के व्यापक तत्त्वों को भावात्मक अर्थ दिया गया है। लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से वे साधना के रूप मात्र हैं। यही कारण है कि मध्ययुग के साधना-काव्य में इस दृष्टि से प्रकृति को कोई स्थान नहीं मिला है। अगले भाग के आध्यात्मिक साधना सम्बन्धी प्रकरणों में यह स्पष्ट हो सकेगा।

धार्मिक साधना—धार्मिक पूजा-कृत्यों में भाव से अधिक रूप को स्थान

मिला है। परन्तु अनुभूति का क्षेत्र भावात्मक है। हम देख चुके हैं कि प्रकृति में विज्ञान-तत्त्व के साथ आत्म-भावना की स्थापना हुई है। परन्तु दृश्य-प्रकृति हमारे आकर्षण का विषय है। और उसमें कलात्मक सौन्दर्य्य के लिए भी आधार है। इस सौन्दर्य्य के सहारे उसकी भावना में (जो अपने मनस् का प्रसरण है) तन्मय होना विश्वात्मा के साथ तादात्म्य के समान है। साधना के क्षेत्र में योग ने अन्तर्मुखी होने की ओर अधिक ध्यान दिया है। परन्तु अन्तःकरण बाह्य का ही प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है। केवल एकाग्रता के कारण केन्द्रीभूत होकर दृश्यों में व्यापकता और गंभीरता अधिक आ जाती है।[१] योरप के रहस्यवादियों ने ज्ञान के साथ अनुभूति को विशेष स्थान दिया है। इस अनुभूति को भावनामय तादात्म्य माना जा सकता है। जिस चेतना से अनुभूति का सम्बन्ध माना गया है, वह प्रकृति-चेतना के आधार पर विकसित हुई है। कुछ अर्थों में यह आज भी उसके निकट है। भारतीय भक्ति साधना में यह चेतना मानवीय भावों के साथ उसके आकार से सम्बन्धित हो गई है। इस प्रकार यह चेतन प्रकृति से अलग हो जाती है। इस विषय की विशेष विवेचना दूसरे भाग के आध्यात्मिक साधना के प्रकरणों के प्रारम्भ में की जायगी। यहाँ इतना ही संकेत कर देना पर्याप्त है कि हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में, साधना-काव्य में प्रकृति को प्रमुख रूप न मिल सकने का बहुत कुछ कारण यह भी है।

योरप में रहस्यवाद प्रकृति के निकट रह सका है। वहाँ प्रकृति के रहस्यवादी कवि उसकी चेतना के प्रवाह से अधिक तादात्म्य स्थापित कर सके हैं। अंग्रेजी साहित्य में बाह्य-प्रकृति के प्रति अधिक जागरूकता है तथा उसमें अनन्त चेतना में निमग्न प्रकृति के प्रति आकर्षण भी अधिक है। इस कारण उसके काव्य में प्रकृति के सम्बन्ध में इस प्रकार की भावना अधिक सुन्दर रूप से मिलती है। अपने उच्च स्तर पर प्रकृति का यह आकर्षण और सौन्दर्य्य रहस्यवाद की सीमा में आ सकता है। भारतीय साधना में प्रकृति के रूपों से प्रकृतिवादी दृष्टिकोण की तुलना के लिए अगले भाग में अवसर मिलेगा। यहाँ रहस्यवाद किसी सिद्धान्त विशेष के लिए नहीं माना गया है। अज्ञात सत्ता से तादात्म्य स्थापित करने की अनुभूति के लिए ही यह शब्द प्रयुक्त हुआ है।

---

१. द्वितीय भाग के तीसरे प्रकरण में संत साधकों के प्रकृति-चित्रों में इस प्रकार के दृश्यों का रूप देखा भी जा सकता है।

द्वितीय प्रकरण

प्रकृति के मध्य में मानव

प्रकृति-शृंखला में—आमुख में कहा गया है कि प्रकृति और काव्य सम्बन्धी विवेचना में मानव बीच की कड़ी है। काव्य मानव की अभिव्यक्ति है। इसलिए प्रकृति और काव्य के विषय में कुछ कहने से पूर्व प्रकृति के मध्य में मानव की स्थिति को समझ लेना आवश्यक है। विश्व-सर्जना के प्रसार में मानव का स्थान बहुत अकिंचन लगता है। परन्तु जैसा पिछले प्रकरण में कहा गया है विज्ञानमय मनस्-तत्त्व की स्व-चेतन स्थिति मानव में है, इस कारण विश्व-चेतना का केन्द्र भी वही है। स्वचेता मानव अहंकार वश आत्मवान् होकर भी अपने से अलग विश्व-सर्जन पर विचार करता है। यह भ्रम है। वह अपने प्रकृति रूप को भूलकर एक अलग स्थिति से विश्व-प्रकृति पर विचार करता है। परन्तु यह भूलना नहीं चाहिए कि मानव इसी प्रकृति के शृंखला-क्रम की एक कड़ी है। इस प्रकार जब हम मानव और प्रकृति को अलग-अलग समझते हैं, उस समय हमारा दृष्टिकोण मानवीय रहता है। यह मानव की इच्छा-शक्ति के आधार पर प्रयोगात्मक और प्रयोजनात्मक है। यह प्रयोगात्मक दृष्टि विभिन्न सिद्धियों को एकत्रित करके उन्हें सम परिणामों के आधार पर वर्गीकृत करती है। इससे भौतिक-विज्ञानों के क्षेत्र में मानव के विशेष प्रयोजन की सिद्धि होती है। पर यह दृष्टि हमारे आधार के लिए पर्याप्त नहीं है; क्योंकि जिस आधार पर हम अपने परिणामों तक पहुँचना चाहते हैं वह व्यापक है। यहाँ प्रकृति और काव्य की बात है; काव्य तथा कला मानव की भावात्मकता से सम्बन्धित है। यह प्रकृति भौतिक विज्ञानों के सीमित सत्यों में संकुचित होकर अपना पूरा अर्थ व्यक्त नहीं कर सकती। मानव सचेतन प्रकृति के शृंखला-क्रम में आ जाता है, ऐसी स्थिति में मानव और प्रकृति इतने भिन्न नहीं जितने समझे जाते हैं, वस्तुतः मानव की स्वचेतना (आत्म-चेतना) के विकास में सचेतन प्रकृति का योग है। इसी को स्पष्ट रूप से उपस्थित करने के लिए आगे क्रम से, विश्व के सर्जनात्मक विकास में मानव का स्थान, मानव की स्वचेतना में प्रकृति का

योग तथा उसकी अन्तर्दृष्टि में प्रकृति के अनुकरणात्मक प्रतिबिम्ब का रूप निश्चित किया जायगा।

सर्जनात्मक विकास में मानव

विकास के साथ—यूनान में इलियायितों ने विश्व की परिवर्तनशीलता पर विशेष ध्यान दिया, उसी समय सर्जन के गमन का भी उल्लेख हुआ था। बाद में पूर्ण-रूपेण परिवर्तन पर सन्देह किया गया। इस प्रकार विकासवाद के लिए उसी काल में काफ़ी आधार तैय्यार हो चुका था। गमन के साथ परिवर्तन, परिवर्तन में पूर्व तत्त्व की स्थिति की स्वीकृति से एक प्रकार विकास का पूरा रूप मिल जाता है। विश्व को आदि तत्त्वों के आधार पर समझने में भी यही प्रकृति रही है। गमन-शक्ति के प्रवाह में तत्त्वों का केन्द्रीकरण होता है, फिर विभिन्नता के साथ अनेक-रूपता उपस्थित होती है। अन्त में निश्चित होकर उनमें एक-रूपता आती जाती है, इस प्रकार विभिन्न-धर्मी सर्जन में एक-रूपता और क्रम रहता है। विकसनशील विश्व-सर्जन में अधिकाधिक अनेक-रूपता जान पड़ती है, पर उसकी सम्बन्धों में स्थित क्रमिकता भी दृढ़ होती जाती है। प्रकृति में एक सचेतन शक्ति-प्रवाह है जो आज के वैज्ञानिक युग में भी तत्त्ववादियों के आकर्षण का विषय है। यही कारण है कि आधुनिक तत्त्ववाद के क्षेत्र में दार्शनिक विकासवाद मान्य रहा है। भारतीय तत्त्ववाद में विकास का रूप इस प्रकार नहीं मिलता है। पर सांख्य के प्रकृति-स्वरूप में इसी प्रकार का सिद्धान्त सन्निहित है। इसमें प्रलय को सर्जन के समान स्थान दिया गया है। परन्तु जिस प्रकार विकास का अर्थ तत्त्ववाद में साधारण निर्माण से सम्बन्धित नहीं है, उसी प्रकार प्रलय को साधारण नाश के अर्थ में नहीं लेना चाहिए। सृष्टि के पूर्व प्रकृति अपने तीनों गुणों के सम पर स्थिर रहती है। इस सम का भंग होना ही सर्जन-क्रिया है। विषमीकरण सर्जन के मूल में वर्तमान है। सांख्य के अनुसार पुरुष के सन्निध्य से प्रकृति की साम्यावस्था भंग हो जाती है। पुरुष स्वयं निष्क्रिय होकर भी गमन का कारण होता है जैसे चुम्बक पत्थर गतिमान् हुए बिना लोह को गतिशील करता है। पुरुष के सामीप्य मात्र से प्रकृति चंचल हो उठती है; और उसको मुक्त करने के लिए ही प्रकृति की सारी परिणमन-क्रिया होती है। यह भारतीय विकासवाद का स्वरूप कहा जा सकता है, यद्यपि इसमें विकास की दिशा अधिक प्रत्यक्ष हो गई है। सहजबोध के लिए विश्व के प्रश्न को लेकर किसी न किसी रूप में विकासवाद मान्य है। यही कारण है कि भारतीय तत्त्ववाद के क्षेत्र में इस सिद्धान्त की अधिक मान्यता नहीं है, पर साधारण परम्परा में इसका अधिक प्रचार रहा है।

चेतना में दिक्-काल—पर ऐसा नहीं कहा जा सकता कि विकासवाद

सर्जन के सत्य की पूर्ण व्याख्या है। इसमें मानवीय दृष्टि से सर्जन को व्यक्त किया गया है। परन्तु इसके लिए मानव की स्वचेतना में आधार है। हमारा उद्देश्य मानव को लेकर प्रकृति पर विचार करना है। इस कारण प्रकृति की इस गमनशील चेतना को देख लेना आवश्यक है जो हमारे सामने अनेक क्रमिक सम्बन्धों में प्रकट हो रही है। जिस प्रकृति के गमन का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है वह दिक् और काल की भावना पर स्थिर है। आकाश की जिस व्यापक असीमता में दिक्-काल की स्थापना की जाती है, वह भी इन्हीं के सम्बन्धों से जाना जाता है। इस दिक्-काल का ज्ञान हमारे अनुभव पर निर्भर है जो प्रत्यक्ष-जगत् में हमारा मार्गदर्शक है। यह अनुभव ज्ञान निज की चेतना और एकाग्रता पर निर्भर है। चेतना का अर्थ परिवर्तनों से परिचित होना है और ध्यान की स्थिति का बदल जाना परिवर्तन का भान होना है। इस प्रकार दिक् का छोटा से छोटा बिन्दु हमारी चेतना की एकाग्रता का परिणाम है जो असीम की ओर प्रसरित रहता है। इस प्रसरण का भान भी चेतना को होता रहता है। घटना-क्रम के रूप में काल का अनुभव करने वाली भी चेतना है जो इन्द्रियातीत काल में व्यापक होती जान पड़ती है। अतः गमन का रूप परिवर्तन पर स्थिर है और परिवर्तन हमारी चेतना की दिक्-काल सम्बन्धी भावना पर निर्भर है। आगे हम मानवीय चेतना की इस विशेष स्थिति को अधिक स्पष्ट करेंगे। यहाँ प्रकृति के विकास मार्ग में मानव का स्थान निश्चित कर लेना है।

प्रकृति से अनुरूपता—सहज बोध के स्तर पर प्रकृति में एक से अनेक की प्रवृत्ति के साथ अबाध सचेतन प्रवाह को लेकर विकास को समझा जा सकता है। वस्तुतः इस स्तर पर विकासवाद को छोड़ा नहीं जा सकता। सर्जन की अनेकता में उसका नियमन सन्निहित है, और इसी विभिन्न अनेकता में उसका प्रवाह चल रहा है। प्रत्यक्ष-जगत् में यही तो दृष्टिगत होता है। एक बीज सहस्र-सहस्र बीजों का रहस्य छिपाये हुए है। यह विकार समान परिस्थितियों में एक ही प्रकार से होता है। एक रस दूसरे रस से मिलकर तीसरे भिन्न रस की सृष्टि करता है। यह नियम प्राणि-जगत् में उसी प्रकार दिखाई देता है जिस प्रकार वनस्पति-जगत् में। प्राणि का शरीर केवल बाह्य-जगत् से प्रभाव ही नहीं ग्रहण करता वरन् बाह्य-परिवर्तनों के साथ क्रियाशील होने के लिए परिवर्तित भी होता है। बाह्य सम्बन्धों को स्थापित रखने के लिए शरीर में परिवर्तन होते हैं। शरीर जब तक बाह्य-प्रकृति से आन्तरिक अनुरूपता नहीं रखेगा, वह स्थिर नहीं रह सकता। वह अनुरूपता जितनी पूर्ण होगी, उतना ही अधिक शरीर विकसित होगा। अन्तर और बाह्य की अनुरूपता जितनी पूर्ण होगी जीवन उतना ही विकसित माना जायगा। मानव के जीवन में यह अनुरूपता बहुत कुछ पूर्ण मानी जा सकती है।

मानस-विशिष्ट मानव—प्रथम प्रकरण में कहा गया है कि विकास-क्रम में भौतिक-तत्त्व से विज्ञान-तत्त्व की स्थिति नहीं मानी जा सकती। इसका अर्थ है कि जड़ से चेतन की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। परन्तु विकास पथ पर चेतना भी इन्हीं नियमों पर चल रही है, ऐसा साधारणतः बिना विरोध के माना जा सकता है। मानव-शरीर बाह्य-प्रकृति की क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम हो सकता है। प्राणि-शरीर में भिन्नता बाह्य कारण से उत्पन्न होती है और यह विभिन्नता अनुरूप होने के कारण प्रकृति द्वारा चुन ली जाती है। यह विभिन्नता अगली वंश-परम्परा में चलती जाती है। प्रकृतिवादी विकास के क्रम में एक सेल के जीवधारी से इन्हीं शारीरिक विभिन्नताओं के द्वारा सूक्ष्म विविधता वाले मानव-शरीर को भी मानते हैं। परन्तु इस मानव शरीर की उन्नत-स्थिति को स्वीकार कर लेने पर भी मानव के विकास का प्रश्न हल नहीं हो जाता। मानव की मानसिक विभिन्नता का स्वरूप इस विकास की सबसे बड़ी कठिनाई है। बहुत से विकासवादी इसको शरीर से सम्बन्धित मस्तिष्क की सूक्ष्म क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में समझते हैं और कुछ इसको विशेष विभिन्नताओं के रूप में स्वीकार करते हैं। परन्तु यह व्याख्या मानस के प्रश्न को समझा सकने में नितान्त अयोग्य ठहरती है। इन विरोधों को यहाँ उपस्थित करने का कोई कारण नहीं है। जिस प्रकार पिछले प्रकरण में उल्लेख कर चुके हैं हम दोनों को स्वतन्त्र मान कर चल सकते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में तो यह समझ लेना पर्याप्त होगा कि प्रकृति के जड़-चेतन प्रसार में मानव (शरीर की स्थिति में) इससे एक रूप होकर भी अपनी मानस-शक्ति के कारण अलग है। आगे हम देखेंगे कि यह मन उसकी स्वचेतना (आत्म-चेतना) को लेकर ही प्रकृति में व्याप्त मनस्-तत्त्व से अलग है।

स्वचेतन (आत्म-चेतन) मानव और प्रकृति

आत्म-चेतना का अर्थ—मानव की मनस्-चेतना और प्रकृति की सचेतना में एक प्रमुख भेद है। मानव आत्मवान् स्वचेतनशील है। उसमें मनस् की वह स्थिति है जिसमें वह अपनी चेतना से स्वयं परिचित है। हम देखेंगे कि उसकी यह सचेतना प्रकृति से किस सीमा तक सम्बन्धित है। परन्तु इसके पूर्व यह समझ लेना आवश्यक है कि मनस् की स्वचेतना का अर्थ क्या है। प्रारम्भ से ही मानव की मानसिक स्थिति स्वचेतना की ओर प्रगतिशील रही है। वह इन्द्रियों के द्वारा प्रारम्भिक प्रवृत्तियों के आधार पर भौतिक-जगत् के प्रत्यक्षों को ग्रहण करता रहा और उसमें ध्यान का रूप एकाग्र तथा स्थिर होता गया। इसके आधार में उसकी इच्छा-शक्ति थी जो जीवन की समस्त प्रेरणा को प्रयोजन की ओर ले जाती है। प्रारम्भिक मानव की प्रवृत्ति किसी बाह्य-प्रेरणा से ही संवेदनशील होगी। वह उन्हीं प्रेरणाओं को ग्रहण करता होगा जो

उसके जीवन के प्रयोजन से सम्बन्धित रही होगी। दूसरे शब्दों में उसकी इच्छा-शक्ति के माध्यम से प्रकृति के बाह्य-रूप का प्रवेश उसके जीवन में हुआ है। इन प्रभावों को ग्रहण करने में ध्यान के विपर्यय से प्रकृति के रूपों में जो परिवर्तन उपस्थित हुए उन्हीं की क्रमिक निरन्तरता घटना का स्वरूप धारण करती है। इस प्रकार चेतनशील होने का तात्पर्य परिवर्तनों से परिचित होना हुआ; और चेतना का प्रसार घटनाओं की क्रमिक शृंखला में समझना चाहिए। ये घटनाएँ दृश्य-जगत् की हों अथवा ध्वनि-जगत् की, प्रत्येक स्थिति में हमारी चेतना समानता और विभिन्नता के विभाजन द्वारा इच्छा के प्रयोजन की ओर ही बढ़ती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारा अनुभव ज्ञान प्रत्येक पग पर सत्यों को विभिन्न और समान मानने में अपना प्रयोजन ही ढूँढ़ता है।

आत्म-भाव और प्रकृति-चेतना—मानव मानसिक परिस्थितियों की विभिन्नता और विविधता के साथ अपनी चेतना के विषय में अधिक स्पष्ट होता गया है। उसकी चेतना प्रकृति चेतना का भाग है और उसमें प्रसरित भी है। इस चेतना के बोध के लिए उसमें केवल 'स्व' की भावना विकसित हो जाने की आवश्यकता है। यह 'स्व' की भावना जितनी व्यक्त और व्यापक होगी, उसी के अनुसार चेतना का प्रसार बढ़ता जायगा। सामने फैली हुई प्रकृति का दृश्य-जगत् उसकी अपनी दृष्टि की सीमा है, साथ ही अपने अनुभव के विषय का पूरा ज्ञान उसे तभी हो सकेगा जब उसका अपना 'स्व' स्पष्ट हो जायगा। यहाँ 'स्व' का अर्थ इच्छा के केन्द्र में ध्यान को एकाग्र करने के रूप में समझा जा सकता है। मानसिक विकास के साथ 'स्व' अधिक व्यापक होता गया है। उसका क्षेत्र प्रत्यक्ष बोध से भावना और कल्पना में फैल जाता है। इस क्षेत्र में 'स्व' का प्रसार अधिक व्यापी होकर विषम और विविध हो सका है। इस प्रकार चेतना ही विकास के पथ पर स्वचेतना की स्थिति तक पहुँच सकी है।

सामाजिक चेतना का अंग—परन्तु मानव की स्वचेतना के विकास में प्रकृति के साथ समाज का योग भी रहा है। मानव का विकास केवल व्यष्टि में परिसमाप्त नहीं है, उसने समष्टि के समवाय में भी अपना मार्ग ढूँढ़ा है। मानव प्रारम्भ से समाज में रहने की प्रवृत्ति रखता है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के अनुभव को जान तो नहीं सकता, परन्तु उसका अनुमान लगा सकता है। फिर अपने व्यक्तिगत अनुभवों से तुलना करके किसी एक सिद्धि तक पहुँच सकता है। इस दृष्टि से व्यक्ति की स्वचेतना सामाजिक चेतना का भी एक रूप मानी जा सकती है। और स्वचेतना के इस सामाजिक स्तर तक भौतिक-प्रकृति दो प्रकार से मानी जा सकती है। प्रयोजन से हीन भौतिक क्रम तथा सम्बन्धों में उपस्थित प्रकृति वर्णनात्मक कही जा सकती है। और जब हम प्रकृति को प्रयोजन से युक्त अपनी इच्छा-शक्ति के आधार पर देखते हैं, उस समय उसको व्यंजनात्मक कह सकते हैं। प्रकृति में व्यंजना की यह भावना, प्रयोजन का यह स्वरूप,

मानव समाज के व्यक्ति की अपनी इच्छा-शक्ति की अभिव्यक्ति में मिलता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा और अपने प्रयोजन से परिचित है, साथ ही उसी आधार पर समाज के अन्य व्यक्तियों की इच्छा-साधना पर भी विश्वास रखता है। मानव-समाज की स्थिति के विषय में हमारा विश्वास प्रकृति को समझने के पूर्व का है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि मानव को प्रकृति के सम्पर्क में आने के पूर्व सामाजिकता का बोध था। प्रकृति का सम्पर्क तो समाज के पूर्व का निश्चय ही है। परन्तु जब मानव ने प्रकृति के विषय में अपनी कोई धारणा निश्चित की होगी, उस समय उसमें सामाजिक प्रवृत्तियों का पूर्ण विकास हो चुका था। वह इच्छा और प्रयोजन के सामूहिक प्रयास से परिचित हो चुका था। भारतीय काव्य-शास्त्रों में इसी दृष्टि से प्रकृति को केवल उद्दीपन-रूप के अन्तर्गत रखा गया है।[1] प्रारम्भिक युग में मानव को जिस प्रकार अपना जीवन अस्पष्ट लगता था, उसी प्रकार उसका प्रकृति विषयक ज्ञान भी अस्पष्ट था। पहले प्रकृति को अस्पष्ट दिक्-काल की सीमा में देखकर ही वह प्रकृति की अस्पष्ट सचेतनता की ओर बढ़ सका होगा। आज की स्थिति में, सामाजिक चेतना के स्तर पर मानव प्रकृति को अपने समानान्तर देखते हुए व्यंजनात्मक रूप में पाता है। अथवा अपनी चेतना के प्रति वह अधिक सचेष्ट होकर प्रकृति को केवल अपने सामाजिक प्रयोजन का साधन मानकर वर्णनात्मक स्वीकार करता है। इस वर्णनात्मक रूप में प्रकृति भौतिक-विज्ञानों का विषय रह जाती है। परन्तु सहज बोध के लिए ये दोनों ही रूप मान्य हैं। उसके लिए प्रकृति जड़ के साथ चेतन है, वर्णनात्मक के साथ प्रयोजनात्मक भी है। परन्तु इस दृष्टिकोण में सामाजिक प्रवृत्ति फिर भी अन्तर्निहित रहती है। यही कारण है हमको प्रकृति कभी अपने प्रयोजन का विषय लगती है और कभी वह अपने स्वयं प्रयोजन में मग्न जान पड़ती है। आगे काव्य में प्रकृति के रूपों की विवेचना करते समय हम देखेंगे कि इस कथन का क्या महत्त्व है।

समानान्तर प्रकृति-चेतना—ऊपर इस बात का उल्लेख किया गया है कि प्रकृति का ज्ञान हमारी 'स्व' की भावना से प्रभावित है, और उसकी सचेतना हमारी दृष्टि विशेष का प्रभाव है। परन्तु प्रकृति की चेतना में मानवीय चेतना का आरोप मात्र हो ऐसा नहीं है। प्रकृति के सचेतन लगने का एक कारण यह अवश्य है कि मानव प्रकृति का ज्ञान अपनी चेतना के द्वारा ही ग्रहण करता है। दूसरे शब्दों में, जैसा हम आगे विचार करेंगे, प्रकृति की चेतना से उसकी चेतना सिद्ध है। वह अपनी स्वचेतना के प्रसार में प्रकृति से परिचित होता है और उसकी उसी प्रकार व्याख्या करता है। परन्तु इसके

१. इस भाग के पंचम प्रकरण में इस विषय की विवेचना प्रकृति-रूपों के भेदों के विषय में की गई है। और दूसरे भाग के प्रथम प्रकरण में भारतीय काव्य-शास्त्र में प्रकृति के अन्तर्गत भी यह प्रश्न उठाया गया है।

अतिरिक्त प्रकृति का सचेतन स्वरूप मानवीय चेतना के समानान्तर होने से भी सिद्ध है। जब हम कहते हैं कि हम प्रकृति की व्याख्या मानवीय चेतना से प्रभावित होकर करते हैं, उस समय यह निश्चित है कि हम स्वचेतनशील प्राणी हैं। पर समस्त स्थिति को सामने रखकर विचार करने से प्रकृति अपनी सचेतन गतिशीलता में मानवीय स्वचेतना के समानान्तर अधिक लगती है। आगे हम देखेंगे कि मानव की चेतना प्रकृति के सम्पर्क में विकासोन्मुखी थी; और उस समय प्रकृति की समानान्तर चेतना ने उसकी प्रारम्भिक प्रवृत्तियों में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया है।

व्यंजनात्मक तथा प्रयोजनात्मक (क)—प्रकृति में दृश्य आदि माध्यमिक गुण हैं जो मानवीय इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के आधार माने जाते हैं। जिस सहज बोध के स्तर पर हम आगे बढ़ रहे हैं उसके अनुसार इन प्रत्यक्षों को उपस्थित करने में प्रकृति का भी योग है। उसी प्रकार दिक्-काल सम्बन्धी भावना प्रकृति सापेक्ष उतनी है जितनी मानव चेतना है। यह तो प्रकृति के वर्णनात्मक स्वरूप की बात हुई। सहज बोध प्रकृति की व्यंजनात्मक भावना को भी मानव चेतना के समानान्तर मान कर चलता है। उसके पास इसके लिए पर्याप्त आधार है। मानसिक चेतना की प्रत्येक स्थिति अपने प्रवाह में निरन्तर गतिशील है, उसका प्रत्यावर्तन भी सम्भव नहीं। प्रकृति में भी यही दिखाई देता है, उसमें आन्तरिक प्रवाह क्रियाशील है जिसमें प्रत्यावर्तन नहीं जान पड़ता। प्रकृति के बाह्य रूप में, सरिता प्रवाहित है उसका जल वापस नहीं लौटता, दिन-रात चले जा रहे हैं न लौटने के लिए, वृक्ष उत्पन्न होता है, बढ़ता है, फूलता-फलता है, नष्ट हो जाता है पर उसकी कोई भी अवस्था लौट कर नहीं आती। मानसिक चेतना में एक स्थिति दूसरी स्थिति को प्रभावित कर उससे एकाकार हो जाती है। प्रकृति में एक अवस्था दूसरी अवस्था से प्रभावित हो उसी से एकाकार हो जाती है और सर्जन-क्रम की अगली स्थिति को प्रभावित करने लगती है। उदाहरण के लिए ध्वनि के स्वर-लय को लिया जा सकता है; ध्वनि की स्वराकार एक तरंग दूसरी को उत्पन्न कर उसी से मिल जाती है और यह तरंग तीसरी तरंग को उत्पन्न करती है। मानसिक चेतना के समान प्रकृति में भी सहायक परिस्थितियों के उपस्थित होने पर निश्चित स्वभाव की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। दिन-रात तथा ऋतु-विपर्यय आदि उसी प्रकार प्रकृति के स्वभाव कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त प्रकृति में सचेतन विकास का रूप भी सन्निहित है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रकृति में मानसिक चेतना की समरूपता बहुत अंशों में मिलती है। यह केवल स्तर भेद के कारण अधिक दूर की लगती है। अतः हम प्रकृति-चेतना के उसी प्रकार भाग हैं जिस प्रकार सामाजिक चेतना के। भेद केवल विकास-क्रम में चेतना के स्तरों को लेकर है।

सत्-चित्-आनन्द—यहाँ हम प्रकृति और मानव के अनुकरणात्मक प्रतिबिम्ब

भाव पर विचार आरम्भ करने के पूर्व इसी के समान भारतीय सिद्धान्त की ओर संकेत कर देना चाहते हैं। भारतीय तत्त्ववाद में इस सिद्धान्त का उल्लेख पहले ही हो चुका था, परन्तु वल्लभाचार्य ने इसकी अधिक स्पष्ट व्याख्या की है। भारतीय तत्त्ववाद में जड़ और जीव का (जिसे स्वचेतन कह चुके हैं) भेद करते हुए सत् का उल्लेख किया गया है। प्रकृति में (यहाँ जड़ प्रकृति से अर्थ है) केवल सत् है और जीव में सत्-चित्; परन्तु आनन्द का अभाव दोनों में ही है। आनन्द केवल ब्रह्म की विशेषता है। आगे कहा गया है कि जीव बन्धनों से मुक्त होकर सम-स्थिति पर आनन्द प्राप्त कर सकता है। इस मत को हम सहज रूप से इस प्रकार समझ सकते हैं। प्रकृति चेतना की विस्मृत स्थिति है, और ब्रह्म पूर्ण चेतना की स्थिति। जीव दोनों के मध्य की स्थिति है। वह अपनी स्वचेतना से एक ओर प्रकृति को सचेतनशील करता है; दूसरी ओर स्वचेतना को पूर्ण चेतना की ओर प्रेरित करके आनन्द का सम भी प्राप्त करता है। हमारी विवेचना में प्रकृति की चेतना का जड़त्व तथा मानवीय चेतना का स्व भी इसी ओर संकेत करता है।[1]

अनुकरणात्मक प्रतिबिम्ब भाव

प्रकृति चेतना से सम स्थापित कर मानव की चेतना पूर्ण मनस्-चेतना की ओर विकसनशील है। प्रकृति का सचेतन सम मानव की स्वचेतना का स्रोत है। और पूर्ण मनस्-चेतना की ओर उसकी प्रगति उसकी आदर्श भावना का रूप है। यही पूर्ण मनस्-चेतना आध्यात्मिक क्षेत्र में ब्रह्म या ईश्वर आदि का प्रतीक ढूंढ़ लेती है। मानव अपनी मानसिक चेतना में अधिक ऊँचा उठता जाता है, और वह अपनी स्वचेतना (आत्मा) के पूर्ण विकसित रूप में ब्रह्म प्राप्त करता है जिसका रूप आनन्द कहा जा सकता है। दूसरे भाग के साधना सम्बन्धी प्रकरणों में इस विकास के साथ प्रकृति रूपों की विवेचना उपस्थित की जायगी। यहाँ तो यह दिखाना है कि मानव की इस प्रगति में प्रकृति का किस प्रकार महत्त्वपूर्ण योग रहा है, और प्रकृति की विस्मृत-चेतना का सम मानव की चेतना के लिए किस सीमा तक आवश्यक है।

बाह्य तथा अन्तर्जगत्—तत्त्ववाद के क्षेत्र में जो कहा गया है वह मानसशास्त्र के आधार पर भी सिद्ध हो जाता है। मन अपनी मानसिक अवस्थाओं में बोध, राग और क्रिया में स्थित है। मन की यह स्थिति किसी न किसी रूप में मानव इतिहास के साथ सम्बन्धित है। इनको विकसित स्थिति में ज्ञान, अनुभूति और चिकीर्षा के रूप में समझा जा सकता है। किसी वस्तु का प्रत्यक्ष-बोध इन्द्रियों को बाह्य रूप से होता है;

१. दूसरे भाग के पंचम प्रकरण में वैष्णव साधना के अन्तर्गत प्रकृति के रूपों की विवेचना में इस प्रश्न को लेकर अधिक व्याख्या की गई है।

और वह वस्तु हमारे अन्तः को अनुभूतिशील करती है । परन्तु चिकीर्षा मानव के समस्त मानसिक व्यापारों की प्रेरणा शक्ति है । साधारण प्रत्यक्ष-ज्ञान के धरातल पर हमारे पास दो जगत् हैं, एक अन्तर्जगत् और दूसरा बहिर्जगत् । दोनों ही समान रूप से विस्तार में प्रसरित हैं, इनमें किसी प्रकार का विरोध नहीं । कौन किस पर क्रियाशील है ? कौन किसका अनुकरण है, प्रतिबिम्ब है ? यह तत्त्ववादियों के लिए चक्कर में डालने-वाला प्रश्न है । परन्तु सहज बोध के स्तर पर हम स्वीकार कर चुके हैं कि विश्व में भौतिक-तत्त्व और विज्ञान-तत्त्व दोनों को मानकर ही चला जा सकता है । साथ ही इसी आधार पर मानस के साथ वस्तु का अस्तित्व भी स्वीकार किया गया है। इसलिए साधारण व्यक्ति इन दोनों की क्रिया-प्रतिक्रिया सरलता से मान सकता है । अन्तर्जगत् मानो बहिर्मुख होकर विस्तृत हो उठा है; और बहिर्जगत् मानो अन्तर्जगत् में एकाग्र हो गया है ।[1] परन्तु हम अपनी दृष्टि से ही प्रकृति को देखते हैं। उसके प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुभव में हमारी इच्छा शक्ति की प्रेरणा प्रधान है । परिणाम स्वरूप प्रकृति पर मन की क्रियाशीलता हमारी ही क्रिया का रूप बन जाती है। लेकिन मानसिक ज्ञान और अनुभूति की स्थितियाँ हमको इस प्रक्रिया का भान अवश्य कराती हैं । अन्तर्जगत् जब बहिर्जगत् पर क्रियाशील होता है, हमको वस्तु-ज्ञान होता है । और जब बहिर्जगत् का प्रभाव अन्तर्जगत् ग्रहण करता है, उस समय वस्तु की अनुभूति होती है । इस प्रकार वस्तु से आदान रूप में जो हम ग्रहण करते हैं वह अनुभूति है; और वस्तुजगत् को जो हम प्रदान करते हैं वह वस्तु-ज्ञान है। ऊपर तत्त्ववाद के क्षेत्र में प्रकृति के जिस चेतन् (सत्) रूप का उल्लेख किया गया है इससे भी इसी परिणाम पर हम पहुँचते हैं । मानव चेतना पर जब प्रकृति की चेतना का प्रभाव पड़ता है, वह अनुभूति के सहारे 'स्व' की ओर गतिशील होता है । और जब मानव की चेतना प्रकृति चेतना के सम्पर्क में आती है उस समय उसका प्रत्यक्ष बोध मात्र होता है। यहाँ मानव और प्रकृति दोनों की चेतना तो सत् के रूप में स्वीकार की गई है; पर मानव का 'स्व' जब चेतना के साथ मिलता है तब उसमें सत् के साथ चित का योग हो जाता है। जैसे किसी पूर्व परिचित को देखकर हम उसको पहिचान लेते हैं, उसी प्रकार प्रकृति की चेतना (सत्) को मानव चेतना (सत् अंश) पहिचान लेती है और जब उससे प्रतिबिम्बित होती है वह आत्म-चेतना के पथ पर आगे बढ़ती है । मानसिक चेतना को धारण करने वाला शरीर इसी सत्य को प्रकट करता है । उसमें प्रकृति के साधारण तत्त्वों को समझने के लिए विभिन्न इन्द्रियाँ हैं; या वह विभिन्न इन्द्रियों से प्रकृति को विभिन्न गुणों वाली अनुभव करता है ।

---

१. दूसरे भाग के तृतीय प्रकरण में संत साधना में इस प्रकार के प्रकृति-रूपों की विवेचना की गई है ।

इस प्रकार प्रकृति का प्रत्यक्ष-बोध तो मन उस सम के आधार पर करता है, जिसको हमने इन्द्रिय-बोध के नाम से अन्तर्जगत् की बहिर्जगत् पर क्रियाशीलता कहा है और जो प्रभाव प्रकृति हमारे मन या अन्तर्जगत् पर छोड़ती है, वह हमारी अनुभूति का रूप है। परन्तु जब हम इन दोनों, ज्ञान और अनुभूति को प्रकट करना चाहते हैं, उस समय ये फ़ोटो-चित्रों की भाँति उलट जाते हैं और परिवर्तित रूप ग्रहण कर लेते हैं। अर्थात् अनुभूति की अभिव्यक्ति की जाती है और ज्ञान ग्रहण किया जाता है। वस्तुतः यह एक प्रकार का अनुकरण है, जिसमें मन और प्रकृति एक दूसरे में प्रतिबिम्बित दिखाई देते हैं। अन्तः (मन) का अनुकरण करती हुई प्रकृति ज्ञान के रूप में दिखाई देती है और प्रकृति का अनुकरण करता हुआ अन्तः अनुभूतिशील हो उठता है।

ज्ञान तथा भाव पक्ष—मानसिक चेतना से युक्त मानव अपने सामने देखता है—'हरी-भरी घाटी में कल-कल करती हुई सरिता—किनारे के घने वृक्षों की पंक्ति जो उस पार के ऊँचे पहाड़ों की श्रेणी से मिल सी गई है—।' इस दृश्य को देखने की एकाग्रता के साथ उसकी मनःस्थिति में चिकीर्षा निश्चित है और इससे उसके मन में दो प्रक्रियाओं का विकास सम्भव और स्वाभाविक है। रूप आकार आदि के सहारे वह जल, वृक्ष आदि को पहचानता है; इनसे उसके जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। पर्वत की दुर्गमता आदि का उसे बोध है, क्योंकि शिकार आदि के प्रसंग में उसके मार्ग में बाधायें उपस्थित होती रहती हैं। यह उसका ज्ञान-पक्ष है। परन्तु साथ ही जल की तरलता, वृक्षों का रंग-रूप और पर्वत की विशालता आदि ने उसके हृदय को अनुभूतिशील किया है। और यह उसका अन्तर्मुखी अनुभूति-पक्ष है। परन्तु मानव की इन मानसिक स्थितियों का विकास एकांगी नहीं समझना चाहिए। जिस प्रकार ये तीनों मानसिक स्थितियाँ एक दूसरे से सम्बन्धित हैं; उसी प्रकार प्रकृति के अनुकरणात्मक सम्बन्ध में ज्ञान और अनुभूति का यह रूप एक दूसरे के आश्रित और सम्बन्धित है। इनका अस्तित्व अपने आप में पूर्ण नहीं है। जब तक ज्ञान सामाजिक आधार तक विकसित नहीं हुआ उसको व्याख्या की आवश्यकता नहीं हुई। परन्तु अनुभूति आन्तरिक अनुकरण होने के कारण व्यक्ति में भी अभिव्यक्ति प्राप्त कर सकी। इसी कारण मानव के इतिहास में विचारों से पूर्व भावना की अभिव्यक्ति को अवसर मिला है। अभिव्यक्ति की सबसे प्रबल और विकसित शक्ति भाषा का मूल भावना की अभिव्यक्ति में मिलता है। अपने प्रारम्भिक स्वरूप में भाषा एक भावात्मक अभिव्यक्ति थी; जिस प्रकार नृत्य, संगीत और चित्रकला आदि का ऐतिहासिक स्रोत आदिम अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में है। यह प्रारम्भिक अभिव्यक्ति बहिर्संचारियों के रूप में मानसिक अनुकरण की स्वच्छन्द क्रीड़ा मानी जा सकती है। बाद में सामाजिक वातावरण में भाषा अपने विकास के साथ प्रत्यक्ष-बोध से सीधे प्रेरणा न लेकर परप्रत्यक्षों से अधिक

सम्बन्धित होती गई। इस प्रकार वह विचारों के प्रकट करने के लिए अधिक प्रयुक्त होने लगी। दूसरी ओर भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा को व्यंजना का सहारा लेना पड़ा।[१]

पीड़ा तथा तोष की वेदना—यहाँ जिस विकार (राग) पर विचार किया गया है वह मानसिक प्रवाह का अंग है। यह हमारी संवेदनाओं और भावों के मूल में तो होता है, पर उनसे एक नहीं समझा जा सकता। और अभी तक प्रकृति के जिस भावात्मक अनुकरण की बात कही जा रही थी वह भावनाओं को उत्पन्न करने के अर्थ में नहीं। मानस की इस प्रवृत्ति में पीड़ा और तोष की भावना सन्निहित है।[२] परन्तु पीड़ा और तोष की संवेदना में तथा अन्य भावों में समानता नहीं है। केवल भावनाओं में पीड़ा और तोष की संवेदना भी सन्निहित होती है। भावना और भावों के विकास में प्रकृति का क्या हाथ रहा है, इस पर विचार तृतीय प्रकरण में किया जायगा। यहाँ यह देख लेना आवश्यक है कि पीड़ा और तोष की संवेदनात्मकता से प्रकृति का क्या सम्बन्ध रहा है। प्रथम तो प्रकृति के मानसिक सम्बन्ध में यह आवश्यक भावना है, साथ ही मानव प्रकृति का अनुकरण भी इसीकी प्रेरणा से करता है। यह पीड़ा और तोष की संवेदनात्मक भावना मानव के नाद तथा शारीरिक संचलन से अधिक सम्बन्धित है। परन्तु प्रकृति के संचलन तथा नादों के शारीरिक अनुकरण के अतिरिक्त भी प्रकृति के रंग-रूप तथा प्रकाश आदि का तोषप्रद (सुखद) प्रभाव मानव पर पड़ता है। अगले प्रकरणों में यह समीक्षा की जायगी कि किस प्रकार प्रकृति के प्रारम्भिक सम्पर्कों को, जिनमें मानव की पीड़ा और तोष की भावना सम्बन्धित थी, कल्पना के धरातल पर कला का रूप मिल सका है। प्रत्यक्ष-बोध के धरातल पर इनके साथ तोष की भावना सन्निहित है जो एक सीमा के बाद पीड़ा में परिवर्तित हो जाती है। कुछ विद्वानों ने प्रकृति के रूपात्मक (रंग) और ध्वन्यात्मक (नाद) सम्पर्कों को रति-भाव से सम्बन्धित मानकर ही तोषात्मक तथा आकर्षक स्वीकार किया है। एक सीमा तक यह सम्भव सत्य है। परन्तु इनमें एक प्रकार का एकाग्रता तथा गम्भीरता सम्बन्धी तोष भी सन्निहित है, जो किसी अन्य भाव की अपेक्षा नहीं रखता।

प्रत्यक्ष बोध—मानव के प्रत्यक्ष-बोधों के विकास में स्पर्श, गन्ध तथा स्वाद का योग उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना दृश्य तथा श्रवण का। इनके बोध में भी पीड़ा और तोष की भावना सन्निहित है, परन्तु इनका संयोग संरक्षक, सहज-वृत्ति के साथ अधिक है। साथ ही पूर्वानुराग के अन्तर्गत इन बोधों का कुछ अंशों में महत्त्व

---

१. उपमानों के अलंकारिक प्रयोगों में प्रकृति के रूपों की व्यंजना का उल्लेख आगे किया गया है।

२. प्रचलित शब्द दुःख-सुख में शारीरिक से अधिक मानसिक बोध होता है।

है। परन्तु श्रवण के बोध, ध्वनि-नाद में उसकी क्रमिक लय-ताल के साथ गम्भीर एकाग्रता के रूप में भी तोष की भावना है। उसी प्रकार दृश्य में रूप, रंग, प्रकाश तथा संचलन के बोध के साथ इसी प्रकार की एकाग्र-गम्भीरता से उत्पन्न तोष की सुखानुभूति होती है। यह तोषात्मक सुख समस्त चेतना के अन्य बहिर्प्रभावों से मुक्त हो जाने तथा आन्तरिक आत्मविभोर स्थिति के उत्पन्न होने से होता है। किसी-किसी पाश्चात्य विद्वान ने इस तोष की संवेदना को मूर्च्छना या मादक जैसी स्थिति के समान भी माना है। यह स्थिति भाव को प्रेरणा देने में सहायक तो हो सकती है, परन्तु अपने आप में कोई भाव नहीं हो सकती। इन प्रारम्भिक बोधों की उपयोगिता, उनमें सन्निहित पीड़ा और तोष की संवेदना के साथ, आज के कला और काव्य के क्षेत्र में नहीं जान पड़ती। परन्तु हमारा इतिहास बताता है कि प्रारम्भिक युग से इन प्रत्यक्ष-बोधों ने मानव-जीवन तथा संस्कृति के विकास में बहुत कुछ सहायता दी है। और काव्य तथा कला का आधार प्रमुखतः यही है। प्रकाश का प्रत्यक्ष-बोध मानव-मात्र को अच्छा लगता है। परन्तु प्रारम्भिक युग में जब मानव अपनी चेतना के विस्तार को आकार और रूप देने का प्रयास कर रहा था, उसके जीवन में प्रकाश का बहुत महत्त्व था। आत्म-संरक्षण तथा वंश-विकसन सहज-वृत्तियों के लिए तो इनकी उपयोगिता थी; इसके साथ ही प्रकाश के प्रत्यक्ष-बोधों में तोष की सुख संवेदना भी सन्निहित रही है। प्रकाश के इस महत्त्व के साक्ष्य में मानव की सूर्य्य और अग्नि की पूजा है। इसी के कारण प्रकाश देवत्व की महिमा से पूजित हुआ है। जगमगाते नक्षत्र-मण्डल से युक्त आकाश के प्रति मानव का आकर्षण इसीलिए रहा है। रंग-रूपों के प्रति हमारा मोह आज भी वैसा ही बना है। आज की उन्नत सामाजिक स्थिति में रंग-रूप के प्रत्यक्ष-बोधों में कितनी ही प्रवृत्तियों तथा भावनाओं का समन्वय मानसिक स्थिति में हो चुका है। परन्तु प्रारम्भिक युग से ही रूप-रंग का यह आकर्षण पूर्वानुराग की तोष-संवेदना के अतिरिक्त किसी अन्य तोष की सुख-संवेदना से सम्बन्धित रहा है। रंगों का भान उसकी विविधता पर स्थिर है जो अपने विभिन्न छायातप में तोष है। इसी प्रकार रूप स्थान की विभिन्न स्थितियों के अनुपात के आधार पर ही स्थिर होता है। इसके प्रति मानव अपनी भ्रमपूर्ण धारणा में भी तोष प्राप्त करता है। संचलन का आधार दिक्-काल दोनों ही हैं। प्रवाह के एकोन्मुखी संचलन में तन्मयता की तुष्टि अवश्य रहती है। जिस प्रकार ध्वनि का मानसिक अनुकरण संगीत के स्वरों के लय-ताल पर चलता है; उसी प्रकार संचलन, मानसिक अनुकरण से शारीरिक अनुकरण में परिवर्तित होकर, हमारे नृत्तों के केन्द्रीभूत संचलन के रूप में अवतीर्ण हुआ है।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति का प्रत्यक्ष

१—लेखक के नाटक-संबन्धी लेखों में से 'नाटकों की उत्पत्ति' नामक लेख में इस विषय की अधिक विवेचना की गई है (परिजात, जून १९४७ ई०)

सम्पर्क मानव की संरक्षण और वंश-विकसन सहजवृत्तियों के लिए प्रेरक तथा उपयोगी है ही, साथ ही यह सम्पर्क अनुकरणात्मक स्थिति में भी तोष का कारण हो सकता है। यह प्रकृति का अनुकरण शारीरिक या मानसिक दोनों ही हो सकता है। प्रारंभिक सहजवृत्तियों के आधार पर आगे चलकर विभिन्न प्रवृत्तियों तथा भावों का विकास हुआ है। इस विकास के साथ अनुकरण में सन्निहित तोष की सुखानुभूति का समन्वय चलता रहा। और मानव के काव्य तथा कला के क्षेत्र में इसका बहुत कुछ स्पष्टीकरण अब भी मिलता है।

परप्रत्यक्ष का स्तर—मानसिक चेतना के विकास में प्रत्यक्ष-बोध के बाद स्मृति और संयोग के आधार पर परप्रत्यक्ष का स्तर आता है। इस स्थिति में परप्रत्यक्षों की स्पष्ट रूपरेखा और उनका अलग-अलग संयोग-ज्ञान आवश्यक है। इनमें भी सामाजिक विकास के साथ भाव-रूप और विचार का भेद हो जाता है। प्रकृति सम्बन्धी परप्रत्यक्ष जब विचारात्मक होते हैं, उस समय हमारा सामाजिक दृष्टिकोण प्रमुख होता है और यह हमारे मानवीय प्रयोजन के लिए प्रयुक्त होता है। यहाँ मानवीय प्रयोजन का अर्थ सामाजिक प्रयोजन है। इस प्रकार जब हम प्रकृति का विचार करते हैं उस समय उसका कोई स्वरूप हमारे सामने आना आवश्यक नहीं है। हम कहते हैं 'मोहन गंगा के पुल से उस पार गया'; और इस स्थिति में केवल हमारे प्रयोजन का बोध होता है। इस कथन में गंगा के प्रवाह तथा उसके पुल की दृश्यात्मकता से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। जब हम कहते हैं—'देवदारु के वनों की लकड़ी' उस समय हमारे सामने लकड़ी का सामाजिक उद्देश्य मात्र है। इस प्रकार विचार के तार्किक क्रम में प्रकृति प्रयोजन का विषय मात्र रह जाती है। इसकी ओर इसी प्रकरण के पिछले अनुच्छेदों में दूसरे प्रकार से संकेत किया जा चुका है। परन्तु भाव-रूप परप्रत्यक्षों में हम प्रकृति को फिर सामने पाते हैं, इस स्थिति में प्रकृति अपने रूप-रंग, ध्वनि-नाद तथा गन्ध आदि गुणों में दृश्यमान् हो उठती है। जीवन के साधारण क्रम में आज इसकी उपयोगिता न भी हो, परन्तु विशेष अवसर और स्थितियों में इसका महत्त्व अवश्य है। सामाजिक वातावरण से ऊबकर या थककर मानव अपने जीवन में प्रकृति के सम्पर्क से आज भी शान्ति चाहता है। इसी प्रकार भाव-रूप परप्रत्यक्षों का भी कलात्मक महत्त्व है। इसी रूप में प्रकृति की सुप्त चेतना से सम उपस्थित करने के लिए चित्रकार तूलिका से प्रकृति को रंग-रूपों में छायातप के सहारे उतारना चाहता है; संगीतकार स्वर और गति की ताल-लय में प्रकृति के स्वर-संचलन का अनुकरण करता है; और कवि अपनी भाषा की व्यंजना शक्ति द्वारा उसे सप्राण और व्यक्त उपस्थित करता है। पंचम प्रकरण में प्रकृति-चित्रण के विषय में विभिन्न शैलियों का उल्लेख हुआ है। तथा द्वितीय भाग में भी चित्रण सम्बन्धी उल्लेखों में

इस प्रकार की शैलियों का संकेत किया गया है। हम देखेंगे कि इनमें प्रकृति के वर्णनात्मक रूपों की योजना भाव-रूप परप्रत्यक्षों के सहारे ही की गई है।

कल्पना का योग (कला)—प्रकृति के वर्णनात्मक प्रतिबिम्ब को उसके भावात्मक अनुकरण के साथ चित्रित करने के लिए केवल परप्रत्यक्ष ही यथेष्ट नहीं है। उसके लिए कल्पना का स्वतन्त्र योग भी आवश्यक है। स्मृति और संयोग के आधार पर परप्रत्यक्ष में न तो प्रत्यक्ष की पूर्णता होती है और न भावात्मक प्रभावशीलता की उतनी शक्ति ही। स्मृति से कल्पना अधिक उन्मुक्त है, उसमें दिक् और काल का सीमित बन्धन नहीं रहता। प्रत्यक्ष और परप्रत्यक्ष के नियमों में भी मौलिक अन्तर है, जब कि कल्पना से प्रत्यक्ष की अधिक समानता है। कल्पना में हम अपने अनुरूप रूप-रंग भर लेते हैं और छायातप प्रदान करते हैं। इसी कारण कल्पना का रूप प्रत्यक्ष भावना से अधिक निकट रहता है। तथा वह अधिक स्पष्ट रूप में उपस्थित होता है। काव्य के प्रकृति-चित्रण में कभी यह कल्पना प्रत्यक्ष से नितान्त भिन्न लगती है। परन्तु अपने कलात्मक सौन्दर्य में ये चित्र अधिक सुन्दर लगते हैं। इसका कारण प्रत्यक्ष और कल्पना की विभिन्न प्रेरक शक्तियों का होना तो है ही साथ सौन्दर्यानुभूति की अपनी भाव-स्थिति भी है। इसके बारे में चतुर्थ प्रकरण में कहा गया है। यहाँ एक बात की ओर ध्यान आकर्षित कर देना आवश्यक है। समाज के विकास के साथ मानव और प्रकृति के सम्बन्धों में अधिक विषमता आ गई है जिसको हम प्रारम्भिक रूपों के आधार नहीं समझ सकते। और एकान्त रूप से अन्य भावों के विकास के आधार पर मानव और प्रकृति के सम्बन्ध की व्याख्या भी नहीं की जा सकती। यह विषय अन्यत्र अधिक विस्तार से उपस्थित किया जायगा, यहाँ तो इतना समझ लेना ही पर्याप्त है कि भौतिक प्रकृति यदि जड़ है तो चेतन भी है। केवल उसकी चेतना में स्वानुकरण की चेष्टा अवश्य नहीं है। मानव स्वचेतनशील प्राणी है और उसमें स्व या आत्मानुकरण की चेतना भी विद्यमान है। वह अपनी चेतना के विकास में प्रकृति को अपने दृष्टिकोण से देखने का अभ्यस्त हो गया है। उसकी चेतना सामाजिक चेतना की ही अंग है। इसलिए अपनी सामाजिक समष्टि में वह प्रकृति को जड़ और अपने प्रयोजन का साधन समझता है। परन्तु अपनी व्यक्तिगत चेतना में वह प्रकृति से अनुकरणात्मक प्रतिबिम्ब के रूप में सम भी उपस्थित करता है। इस प्रकार प्रकृति मानव के ज्ञान का आधार तो है ही साथ ही उसके अनुकरणात्मक प्रतिबिम्ब में मानव के सुख-दुःख की भावना भी सन्निहित है। यह भावना जैसा हम आगे देखेंगे सामाजिक आधार पर भावों के विकास के साथ अधिक विषम और अस्पष्ट होती गई है।

१—संस्कृत साहित्य में इस प्रकार के अधिक सुन्दर चित्रण मिलेंगे; हिन्दी साहित्य के मध्य-युग में इस प्रकार के कलात्मक चित्रण रूढ़िवादी ही अधिक हैं, पर इनका नितांत अभाव नहीं है।

तृतीय प्रकरण

मानवीय भावों के विकास में प्रकृति

मानवीय अनुभूति—साधारण मानसिक धरातल पर राग या संवेदन हमारी चेतना का अंश है। यह संवेदन बोध के प्रयत्नों तथा चिकीर्षा के साथ मिलकर मानसिक जीवन की समस्त अभिव्यक्ति है। मानसिक चेतना के बोधात्मक विकास पर विचार किया गया है—साथ ही प्रत्यक्ष तथा कल्पना के प्रकृति-रूपों से सम्बन्धित संवेदनात्मक पक्ष का भी विश्लेषण हुआ है। प्रस्तुत प्रकरण में मानस के भावात्मक पक्ष पर विचार किया जायगा। यह भावना हमारी मानसिक प्रक्रिया के संवेदन-पक्ष का ही स्पष्ट और विकसित रूप है। मानव-मानस का विकास केवल शुद्ध प्रत्यक्ष, कल्पना और विचार के सहारे सम्भव नहीं हो सका है। वस्तुतः यदि इसी सरल रीति पर मानवीय मानस का विकास सम्भव होता तो मानस की समस्त विषमता पर-प्रत्यक्षों और विचारों की संख्या में ही निहित रहती। मन की इस प्रकार की विषमता इतिहास में एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के पास लगभग समान आधार पर चलती आती; क्योंकि मस्तिष्क और प्रकृति का स्वरूप युग-युग से वैसा ही चला आ रहा है। मानसिक विषमता का कारण मानस के राग, बोध तथा चिकीर्षा की क्रिया-प्रतिक्रिया है। जीवधारियों की विकास-शृंखला में ज्ञान के सहारे ही मानव का स्थान अलग और श्रेष्ठ है। परन्तु मानव जीवन का प्रमुख तथा महत्त्वपूर्ण सत्य उसके मानस की विषमता तथा उसकी इच्छा-शक्ति की प्रेरणा है। मानस के मानवेतर स्तर पर पशु-पक्षी सभी अपनी प्रमुख सहज-वृत्तियों के सहारे अपने निश्चित स्वभाव की पथ-रेखा पर जीवन-यापन करते हैं। इनमें जिस प्रकार बोधन इन्द्रियवेदन तक ही सीमित है, उसी प्रकार संवेदन का स्तर भी सहजवृत्ति तथा इच्छा केवल प्रेरणा तक निश्चित है। परन्तु मानव के मानस में इन्द्रियवेदन का जो सम्बन्ध प्रत्यक्ष-बोध से है, वही सम्बन्ध संवेदन का भाव से समझा जा सकता है।[1] जैसा कहा गया है विकास में इन तीनों का प्रति-

१. संवेदनात्मक क्रम में भाव उसी प्रकार है जिस प्रकार प्रत्यक्ष-बोध विचारात्मक क्रम में। रिबोट : 'दि साइकालॉजी ऑव दि इमोशनस्' के इन्ट्रोडक्शन से (पृ० १२)

क्रियात्मक सम्बन्ध तो रहा ही है, साथ ही भावात्मक स्थितियों में विकास के साथ विषमता और दुर्बोधता आती गई है। आज जिन प्रत्यक्ष और विचार बोधों का हम कल्पना में सहारा लेते हैं, वे सैंकड़ों वर्ष पूर्व भी इसी प्रकार प्रयुक्त होते थे ऐसा नहीं कहा जा सकता। मानव-शास्त्र तथा भाषा-विज्ञान दोनों से यह सिद्ध नहीं होता। मानसिक चेतना के इस रूप तक आने में संवेदनात्मक भावों का महान योग रहा है, और इस सीमा पर मानस की भावात्मकता में विचार तथा कल्पना की भी अपेक्षा रही है। पिछले प्रकरणों में मानव की समस्त चेतना का प्रश्न साधारणतः दार्शनिक दृष्टि से विचार किया गया है, परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में मानवीय भावों पर अपनी विवेचना केन्द्रित करनी है। इस कारण यहाँ मानस-शास्त्र तथा शरीर-विज्ञान का अधिक आश्रय लिया गया है। हमारी विवेचना का प्रमुख विषय मनोभावों के विकास में प्रकृति का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध देखना है।

जीवन में संवेदन का स्थान

संवेदन का व्यापक अर्थ—संवेदन अपने व्यापक अर्थ में प्रभावशीलता है। यह विश्व के समस्त जड़-चेतन जगत् में देखी जा सकता है और यही सर्जन की आन्तरिक प्रेरणा शक्ति माना जा सकता है। सृष्टि की क्रिया, गति, उसका संचलन तो कार्य मात्र है पर यह प्रभाव कारण और परिणाम दोनों ही माना जा सकता है। जब तक क्रिया के मूल में और प्रतिक्रिया के परिणाम में, किसी प्रभावात्मक शक्ति को नहीं स्वीकार करते, न्याय-वैशेषिकों की समस्त पदार्थ और द्रव्यों की व्याख्या हमारे सम्मुख सृष्टि-सर्जन का रूप उपस्थित नहीं कर सकती। सांख्य-योग की प्रकृति पुरुष से बिना प्रभावित हुये (ज्ञान की सीमा में) महत् की ओर नहीं बढ़ सकती। तत्त्ववाद के क्षेत्र से हट कर हम पदार्थ-विज्ञान और रसायन-शास्त्र के आधार पर भी इसी निष्कर्ष तक पहुँचते हैं। एक पदार्थ-तत्त्व जब दूसरे पदार्थ-तत्त्व के साथ क्रियाशील होकर प्रभावित होता है, उस समय एक नवीन पदार्थ-तत्त्व का निर्माण होता है। यही बात रासायनिक प्रतिक्रियाओं में ऐसे ही घटित होती है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जगदीश चन्द्र बसु ने वनस्पति जगत् को संवेदनात्मक सिद्ध किया है। और यह तो साधारण अनुभव की बात है—धूप के ताप में पादप किस प्रकार मुरझा जाते हैं; पानी पाकर लताएँ किस प्रकार लहलहा उठती हैं और छुईमुई लता का संकोच तो वनस्पति-जगत् में नव-वधू जैसी सलज्ज शालीनता का उदाहरण है। जिस सीमा तक जीवन में अचेतन स्थिति रहती है, उसमें भी शारीरिक प्रभावशीलता रहती है, और इसी को चेतन-स्थिति की भावात्मकता की पृष्ठभूमि कहा जा सकता है। इन्द्रियवेदन में किसी प्रभाव को ग्रहण करने की तथा प्रतिक्रिया करने की शक्ति होती है। हम जो मानवीय चेतना की स्थिति

में संवेदन तथा भावना की बात कहते हैं वह मानवीय दृष्टि का अपने को प्रधानता देने के कारण ही।

आकर्षण और उत्क्षेपण (क)—हम चेतना की पूर्ण विकसित स्थिति के पूर्व, पिंड में दो प्रवृत्तियाँ पाते हैं। एक भौतिक-रासायनिक प्रवृति जो आकर्षण के रूप में मानी जा सकती है, और दूसरी पिंड की आन्तरिक प्रवृत्ति जो उत्क्षेपण कही जा सकती है। ये दोनों हमारे भाव-जगत् के मौलिक आधार के दो सिरे हैं। इस अर्थ में पिंड के जीवन में आकर्षण का महत्त्व शोषण और पोषण क्रिया के रूप में है। यौन सम्बन्धों की प्रत्यक्ष स्थिति तक यह आकर्षण अवश्य कुछ दूसरे प्रकार का हो जाता है, और इस स्थिति में निश्चय ही चेतना के कुछ उच्च-स्तर का सम्बन्ध है। इसी प्रकार पिंड के द्वारा अपने आवश्यक तत्त्वों को ग्रहण करने के बाद अन्य अनावश्यक पदार्थ के त्याग को उत्क्षेपण के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। पिंड की इसी प्रकार की आन्तरिक प्रभावशील प्रक्रिया के आधार पर हमारी चेतना की संवेदनात्मकता स्थिर है। पिंड शरीर के रूप में इन्द्रिय चेतना को प्राप्त करके अपनी आन्तरिक प्रक्रिया में बढ़ा है। परन्तु इसका अर्थ यहाँ यह नहीं लगाना चाहिए कि हम शरीर की आन्तरिक प्रक्रिया के आधार पर मानसिक संवेदना की व्याख्या कर रहे हैं। यहाँ शारीरिक पूर्णता के समानान्तर चेतना के विकास की बात ही कही गई है और प्रारम्भ में स्वीकार किया गया है कि सहज बोध शरीर और मन को स्वीकार करके चलता है।

शारीरिक विकास—शरीर के विकास में जीव के स्तर को रागात्मक संवेदन के मूल में जीवन और संरक्षण की सहजवृत्ति पाई जाती है। चेतना के मानसिक स्तर की सम्भावना के पूर्व ये सहजवृत्तियाँ शरीर से सम्बन्धित हैं और ये सहज प्रेरणा के अनुरूप अपना कार्य करती रहती हैं। इस स्थिति में जीवन शारीरिक प्रक्रिया में स्वयं ही अपनी रक्षा का भार वहन करता है, उसमें बाह्य प्रभावों को अपने अनुरूप ग्रहण करने की तथा उनके अनुसार कार्य करने की प्रवृत्ति होती है। यह जीवन की स्थिति निम्नश्रेणी के पशुओं में ही नहीं वरन् मानव-शरीर के विषय में समझी जा सकती है। मानव-शरीर स्वयं पूर्ण आन्तरिक एकता में स्थिर है और अपनी आन्तरिक वेदनाओं में क्रियाशील है। यह शरीर की आन्तरिक वेदना की स्थिति मानवीय चेतना से सम्बन्धित अवश्य है पर उसका ही भाग नहीं कही जा सकती। शरीर की आन्तरिक वेदना किसी प्रकार की बाह्य-स्थितियों के प्रभाव का परिणाम नहीं है। कहा जाता है ये आन्तरिक वेदनाएँ जीवन की सहजवृत्ति के रूप में बिना किसी बाह्य कारण के, इन्द्रिय-वेदन के आधार के न होने पर भी, भौतिक पीड़न और तोष की अनुभूति का स्रोत है। यहाँ दुःख-सुख शब्दों का प्रयोग इस कारण नहीं किया गया है कि इनमें मानसिक पक्ष अधिक है। वस्तुतः ये शब्द अंग्रेजी प्लेजर और पेन के पर्यायवाची

शब्द नहीं हैं। यहाँ एक बात पर विचार कर लेना आवश्यक है। अभी कहा गया है इस शारीरिक पीड़न और तोष की अनुभूति के साथ किसी बाह्य प्रेरक की आवश्यकता नहीं है। परन्तु प्रश्न है कि क्या किसी प्रकार का बाह्य प्रकृति से इसका सम्बन्ध सम्भव नहीं है। वस्तुतः जीवन की किसी स्थिति में आन्तरिक-वेदना से सम्बन्धित पीड़न और तोष की प्रेरक बाह्य प्रकृति न भी हो, परन्तु इन्द्रिय वेदनाओं की प्रेरणा में मानव ने जब अपने जीवन में प्रकृति के कुछ उपकरणों का प्रयोग किया, तब से शारीरिक तोष और पीड़न से प्रकृति का सम्बन्ध एक प्रकार से स्थापित हो गया। यद्यपि यह उस प्रकार का सम्बन्ध नहीं है जो संवेदन का प्रत्यक्ष बाह्य-प्रेरकों से होता है। ये बाह्य-प्रेरक प्रत्यक्ष संवेदनात्मक अभिव्यक्ति के साथ भावों को उत्पन्न करने का भी श्रेय रखते हैं। परन्तु जब बाह्य-प्रेरक के रूप में प्रयुक्त होने वाले प्रत्यक्षों का संयोग प्रकृति की वस्तु-स्थितियों से होता गया और मानस के विकास के साथ इन्होंने परप्रत्यक्ष तथा कल्पना का रूप ग्रहण कर लिया; तब इनका सम्बन्ध अन्तर्वेदनाओं से भी स्वतः हो गया और इस प्रकार अन्तर्वेदनाएँ मानसिक स्तर से अधिक सम्बन्धित हो सकी हैं। वर्तमान मानस-शास्त्री क्षुधा को मानसिक स्तर पर भाव मानते हैं जो इसी प्रकार की सहजवृत्ति पर आधारित है।[1] भूख-प्यास के साथ अस्पष्ट भोज्य पदार्थ और पानी की तृष्णा तो होगी ही। आज भोज्य पदार्थ का भूख के साथ और पानी का प्यास के साथ सम्बन्ध अटूट सा है। यही नहीं विकास की एक स्थिति में नदी को देखकर प्यासा अपनी तृष्णा को अधिक स्पष्ट रूप से संवेदित करता होगा; और शिकार को देख कर उसकी क्षुधावृत्ति भी संवेदित हो उठती होगी। इसी प्रकार शयन की प्रवृत्ति के साथ आदि मानव के लिए रात्रि का सम्बन्ध तथा अपनी अँधेरी गुफा का रूप अधिक व्यक्त होता गया और उसकी श्रांति के साथ दुर्गम पथ तथा वृक्षों की शीतल छाया का संयोग भी किसी न किसी रूप में होता गया। मिथ-शास्त्र के अध्ययन करने वाले विद्वानों ने एक ऐसे समय की कल्पना की है जिसमें मानव अपनी इन अन्तर्वेदनाओं को प्रकृति के दृश्यात्मक संयोगों के रूप में ही समझता था। इस स्थिति में वह अपने को प्रकृति से पूर्ण रूप से अलग नहीं कर सका था।

सुख-दुःख का संवेदन—पहले कहा गया है कि सुख-दुःख शब्द मानसिक संवेदन से अधिक सम्बन्धित हैं। शारीरिक तोष और पीड़न की अनुभूति आन्तरिक संवेदनात्मक स्थिति कही जा सकती है। यह चेतना के सम और विषम शक्ति प्रवाह से सम्बन्धित सुख-दुःख के समान ही शारीरिक अनुरूपता के सम और विषम शक्ति प्रवाह का द्योतक है। कुछ मानस-शास्त्रियों का मत रहा है कि हमारी इन्द्रिय-वेदनाओं में ही तोष-पीड़न की अनुभूतियाँ सन्निहित रहती हैं और ये विशेष प्रकार के स्नायु-तन्तुओं

१. इस विषय पर मेक डूगल का मत देखना चाहिए।

पर निर्भर हैं। परन्तु सर्वमान्य मत इसके विरुद्ध है। इसके अनुसार इन्द्रिय-वेदना के साथ तोष और पीड़न की अनुभूति तो मान्य है पर वह उसकी शक्ति, गम्भीरता और समय आदि पर निर्भर है। इसीको इस प्रकार सरलता से समझा जा सकता है। हम देखते हैं, जो इन्द्रिय-वेदना समय की एक सीमा और स्थिति में तोषप्रद विदित होती है, वही परिस्थितियों के बदलने पर पीड़क हो सकती है। इस प्रकार प्रत्येक भाव की अनुभूति में सुख-दुःख की संवेदना भी सन्निहित रहती है और सुख-दुःख (तोष और पीड़न के रूप में) स्वयं में कोई भाव नहीं कहे जा सकते। अभी तक हम जिस तोष और पीड़न का उल्लेख कर रहे थे वह शारीरिक अन्तर्वेदनाओं से सम्बन्धित है अथवा इन्द्रिय-वेदनाओं से। इन्द्रिय-वेदन मानस की बहुत प्रारम्भिक स्थिति में विशुद्ध रहते हैं, नहीं तो वे प्रत्यक्ष बोध का रूप ग्रहण कर लेते हैं। तोष और पीड़न की जो सुख-दुःखात्मक अनुभूति इन्द्रिय वेदनाओं से सम्बन्धित है, वह प्रत्यक्ष-बोध से भी सम्बन्ध उपस्थित कर लेती है और फिर यह एक स्थिति आगे परप्रत्यक्षीकरण द्वारा विचार और कल्पना से सम्बन्धित हो जाती है। यही संवेदन भावों के विकास में सौन्दर्य्यानुभूति के मूल में भी है। यद्यपि सौन्दर्य्यानुभूति में कितने ही भावों की प्रत्यक्ष-स्थितियों का प्रभाव और संयोग है, जिस पर बाद में विचार किया जायगा। कोमल-कठोर स्वर, सुगन्ध-दुर्गन्ध, मधुर-कर्कश स्वर, मीठा-तीता स्वाद तथा प्रकाश और रंगों के विभिन्न छायातप आदि इन्द्रिय वेदनाओं के साथ सुख-दुःखात्मक संवेदन सन्निहित है। बाद में ये अनुभूतियाँ ही प्रत्यक्षों के आधार पर सौन्दर्यानुभूति के विकास में सहायक हुई हैं।

सहजवृत्ति का स्तर (क)—जिन शारीरिक अन्तर्वेदना और इन्द्रिय-वेदना की अनुभूति के बारे में कहा गया है, इन दोनों का सामूहिक रूप से संरक्षण की सहजवृत्ति से सम्बन्ध है। जिस प्रकार हम यहाँ प्रत्येक स्थिति को अलग-अलग करके उन पर विचार कर रहे हैं, वस्तुतः मानसिक जगत् में ऐसा होता नहीं। मानसिक व्यापार समवाय रूप से चलते हैं। परन्तु विवेचना करने का और कोई मार्ग नहीं है। इस कारण इस सत्य को सदा ध्यान में रखना चाहिए। यहाँ इन अनुभूतियों का बाह्य प्रकृति की वस्तु-स्थितियों से क्या सम्बन्ध हो सकता है इस पर विचार किया गया है। निम्नश्रेणी के मानसिक स्तर वाले पशु और पक्षियों में ये दोनों स्थितियाँ पाई जाती हैं और उनके जीवन के लिए इनका संयोग महत्त्वपूर्ण है। इनमें चिकीर्षा की निश्चयात्मक शक्ति नहीं होती, जिससे किसी उद्देश्य की ओर क्रिया की प्रेरणा हो। वे केवल सहजवृत्तियों से प्रेरित होकर कार्य करते हैं। ऐसी स्थिति में शारीरिक अन्तर्वेदना से प्रेरित होकर वे भोजन आदि खोजने में प्रवृत्त होते हैं और उनकी भोजन आदि की खोज में इन्द्रिय-वेदन की अनुभूति सहायक होती है। उनकी यौन संबन्धी प्रवृत्ति का भी सम्बन्ध इसी प्रकार

इन्द्रिय-वेदन से समझा जा सकता है। इस सत्य का प्रतिपादन पशु-पक्षियों के विशिष्ट रंग-रूपों के प्रति आकर्षण से होता है। जानवरों में उन रंग-रूपों का विशेष आकर्षण पाया जाता है जो उन फूल-फल आदि वनस्पतियों अथवा पशुओं से सम्बन्धित है जिन पर वे जीवित रहते हैं।[1] इस प्रकार की सम्बन्ध-परम्परा मानव-स्तर के मानस में भी पाई जाती है, क्योंकि मानवीय मानस के विकास में कितने ही रूपों की प्रतिक्रिया चलती आ रही है। फिर भी मूलतः मानवीय मानस में वस्तुओं के आकार-प्रकार, रूप-रंग तथा स्वाद आदि के साथ सुख-दुःख की संवेदना का सम्बन्ध उसकी भोजन आदि सहज वृत्तियों के आधार पर हुआ है, ऐसा स्वीकार किया जा सकता है।

प्राथमिक भावों की स्थिति

प्रवृत्ति का आधार—ऊपर जिन वेदनाओं की सुख-दुःखात्मक संवेदना में प्रकृति-रूपों के सम्बन्धों की व्याख्या की गई है; वे भावों की पूर्णता में अपना स्थान रखती हैं। परन्तु मानसिक विकास के साथ भावों की निश्चित रूप-रेखा सहजवृत्तियों के आधार पर बन सकी है। जीवन के साधारण अनुभव में हम देखते हैं कि पशु-पक्षियों का जीवन इन सहजवृत्तियों के आधार पर सरलता से चल रहा है। और अपने जीवन की पूर्ण प्रक्रिया में वह मानव-जीवन के समानान्तर भी है। देखा जाता है ज़रा से खटके से चिड़िया उड़ जाती है। उनको आपस में लड़ते भी देखा जा सकता है। पशु-पक्षियों में अपने बच्चों के प्रति रक्षात्मक ममता की सहजवृत्ति भी होती है। बहुत से पशुओं में सहचरण के साथ सहायता देने की सहजवृत्ति भी देखी जाती है। शिकार और भोजन की खोज तो सभी करते हैं। अपने नीड़ के निर्माण में अनेक पक्षी कलात्मक सहजवृत्ति का भी परिचय देते हैं। इस प्रकार प्रकृति-जगत् में पशु-पक्षी सहजवृत्तियों के स्वाभाविक आधार पर अपना अस्तित्व स्वतः रक्षित रखते हैं। परन्तु मानव का मानस इन सहजवृत्तियों के आधार पर भावों की विकसित स्थिति को प्राप्त करता है और जैसा पिछले प्रकरण में कहा गया है उसमें बोध का अंश भी समन्वित होता है। पहले संकेत किया गया है मनस्-चेतना में भावों के साथ सुख-दुःख का संवेदन भी सम्मिलित है, जिससे इच्छा-शक्ति को प्रेरणा मिलती है। यह इच्छा मानसिक चेतना का एक भाग कहा गया है। आगे इस बात पर विचार किया जायगा कि प्रमुख भावों के विकास में प्रकृति का क्या योग रहा है और इस प्रकार मानवीय भावों में प्रकृति का रूप निश्चित किया जा सकेगा। यथासम्भव भावों के इस विकास को क्रमिक रूप से उपस्थित करने का प्रयास किया जायगा। हम अपनी विवेचना में देखेंगे कि कुछ

१. ग्रैंट एलन की पुस्तक 'दि कलर सैंस' का 'इन्सेक्टस ऐंड फ्लावर' नामक चतुर्थ प्रकरण इस विषय में पठनीय है।

भावों से प्रकृति का सीधा योग है और कुछ से अन्य प्रकार से।[1]

भय—विकास के आदि-युग में हम मानव की प्रारम्भिक अवस्था में प्रकृति के साथ नितान्त अकेला और जीवन-संग्राम में संलग्न पाते हैं। जीवन-यापन की प्राथमिक आवश्यकता के साथ भोजन की खोज सम्बन्धी उसकी सहजवृत्ति निम्नस्तर के जीवों के समान ही होगी। इसके साथ प्रत्यक्ष-बोध और भावात्मक संवेदना का समन्वय किस प्रकार हुआ है यह पहले ही कहा जा चुका है। साथ ही उसे चारों ओर से घेरे हुए प्रकृति का बोध होना आरम्भ हुआ। जीवन संरक्षण के लिए पलायन की प्रवृत्ति ने बाह्य-जगत् के प्रत्यक्ष-बोध के साथ उसमें भय की भावना उत्पन्न की। यह भय का भाव केवल संरक्षण की सहजवृत्ति को लेकर ही हो, ऐसा नहीं है। अपने सामने जगत् के प्रत्यक्ष-बोधों को बिखरा पाकर, उसके आकार-प्रकार, रंग-रूपों तथा नाद-ध्वनियों को समन्वित और स्पष्ट रूप-रेखाओं में वह नहीं समझ सका। इस कारण प्रकृति के प्रति उसको एक अज्ञात भय का भाव घेरे रहता था। प्रकृति का अस्पष्ट बोध मानव के भय का कारण था, यद्यपि जीवन संरक्षण के साथ वह भाव सम्बन्धित रहा है और उससे प्रेरणा भी ग्रहण करता रहा है। प्रत्यक्ष-बोध के इस अस्पष्ट युग में भयभीत मानव अपनी रक्षा के लिए अन्य जीवों से अधिक आकुल विदित होता है। इस बात का साक्ष्य उसके परप्रत्यक्षों से मिलता है। मिथ-युग के अध्ययन से यह सिद्ध हो जाता है कि प्रारम्भ में भय का कारण बाह्य प्रकृति का अस्पष्ट प्रभाव था। यह कहना भ्रामक है कि ज्ञान से भय उत्पन्न होता है, अपनी प्राथमिक स्थिति में वह अज्ञान से ही सम्बन्धित है।

क्रोध—इसके अनन्तर जीवन यापन और संरक्षण की दूसरी शृंखला आती है, जिसमें संघर्ष या युद्ध की सहजवृत्ति अन्तर्निहित है। पशु भी भोजन अथवा यौन आदि के सम्बन्ध में संघर्ष करते देखे जाते हैं तथा संरक्षण के लिए युद्ध करने को प्रस्तुत रहते हैं। इसी सहजवृत्ति के साथ क्रोध का भाव सम्बन्धित है। मानव में भी क्रोध-भाव का विकास इसी सहजवृत्ति के आधार पर माना जाता है। युद्ध की प्रवृत्ति आक्रमण के रूप में प्रस्तुत होने पर क्रोध के भाव में प्रकट होती है और यह भाव मानवीय मानस के धरातल पर भय तथा कठिनाइयों को अतिक्रमण करने के साथ सम्बन्धित किया जा सकता है। इस प्रकार इस भाव का सम्बन्ध बाह्य-प्रकृति के रूपों से सम्भव है। क्योंकि बाह्य वस्तुओं और स्थितियों से उत्पन्न भय की भावना तथा कठिनाइयों के बोध का प्रतिक्रियात्मक भाव क्रोध कहा जा सकता है। इसी से आक्रमण की प्रेरणा भी मिलती है।

सामाजिक भाव—भावों के विकास की इस सीमा तक व्यक्ति और समाज की मानसिक स्थिति की कल्पना स्पष्ट रेखाओं में नहीं की जा सकती। इस सीमा पर

---

१. इसी प्रकार काव्य में उपस्थित प्रकृति रूपों की स्थिति भी है। अगले भाग की विवेचना में यह स्पष्ट हो सकेगा।

'अहं' की मान्यता में आत्म-भाव का विकास भी नहीं माना जा सकता। वस्तुत: समाज की सहजवृत्ति को आत्मवृत्ति से पूर्व का मानना चाहिए; या कम से कम इन्हें समान रूप से विकसित माना जा सकता है। परन्तु मानव-शास्त्र के साथ प्रयोगात्मक मानस-शास्त्र के आधार पर विचार करने पर ये दोनों स्थिति इस क्रम से विदित होती हैं, पर दोनों भाव इस क्रम से विकसित नहीं माने जा सकते। सामाजिक भाव के विकास में सहचरण तथा संग्रहेच्छा आदि अनेक सहजवृत्तियों की प्रेरणा रही है। परन्तु सामाजिक भाव में अपत्य-भाव प्रमुख है, इसमें माता-पिता की अपने संतान के संरक्षण की भावना बद्धमूल है और इसके साथ ही कोमलता के भाव का विकास माना जा सकता है, जिसको हम कृपा या दया आदि के मूल में मानते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन भावों का सम्बन्ध प्रकृति के प्रभावात्मक रूप से नहीं है। एकाकीपन और असहायावस्था के भावों में प्रकृति का किसी प्रकार का सीधा सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। परन्तु व्यापक रूप से प्रकृति एकाकीपन और असहायावस्था, दोनों को वातावरण तथा परिस्थिति का रूप अवश्य प्रदान करती है। इसी प्रकार विकास के उन्नत-क्रम पर सहानुभूति तथा कोमलता आदि भाव प्रकृति की अनुभूति के साथ मिल-जुल गए हैं। और आज उनको अलग करके नहीं देखा जा सकता। इन समस्त भावों का विकास सहानुभूति के रूप में व्यापक प्रकृति में अपने सजातीय की खोज और साथ रहने की प्रवृत्ति के आधार पर हुआ है। मानसिक विकास में मानव प्रकृति को भी एक स्थिति में सामाजिक भावों के सम्बन्ध में देखता है। परन्तु यह बाद की स्थिति है और हम देखेंगे कि काव्य में इस प्रकृति-रूप का महत्त्व-पूर्ण स्थान रहा है।[1]

आश्चर्य तथा अद्भुत-भाव—मानसिक चेतना में इन भावों के साथ बोधात्मक विकास भी चल रहा था। बोधात्मक प्रत्यक्षों के अधिक स्पष्ट होने से आश्चर्य तथा अद्भुत भावों का विकास हो सका। इस स्थिति में प्रत्यक्ष-बोधों का विकास एक सीमा तक स्वीकार करना पड़ता है। क्योंकि भय से अलग, स्पष्ट आकार-प्रकार के बोध द्वारा यह भाव उत्पन्न माना जाता है। पहले प्रकृति के आकार-प्रकार, रंग-रूप आदि की व्यापक सीमाएँ एक प्रकार का अस्पष्ट संदिग्ध बोध कराती थीं। यह मानव की चेतना पर बोझा था। धीरे-धीरे प्रकृति का रूप प्रत्यक्ष रूप-रेखाओं में तथा स्पष्ट कल्पना-रूपों में सम्बद्ध होकर आने लगा। पहले जो प्रकृति मानव को भय से आकुल करती थी, अब वह आश्चर्य से स्तब्ध करने लगी। इस प्रकार इस भाव का सम्बन्ध प्रकृति के सीधे रूप से है और ज्ञान की प्रेरक-शक्ति भी यह भाव है। परन्तु इस भाव

१. द्वितीय भाग के प्रथम प्रकरण में उल्लेख किया गया है कि संस्कृत के काव्य-शास्त्री प्रकृति में इन भावों के आरोप को भावाभास और रसाभास मानते हैं। परन्तु प्रकृति पर यह आरोप भी मानवीय मनःस्थिति का परिणाम है, इस कारण उनका यह विचार भ्रामक है।

में जो एक प्रकार का स्तब्ध आह्लाद है वह सुख-संवेदना की तीव्रता पर निर्भर नहीं है। यह सुख-दुःख की सम स्थिति पर अधिक आधारित है। इस सम-स्थिति से उसकी भावात्मकता में कोई भेद नहीं पड़ता। इस प्रकार के शांत-भाव को पाश्चात्य प्राचीन तथा आधुनिक विद्वानों ने स्वीकार किया है। भारतीय तत्त्ववादियों तथा साहित्याचार्यों ने भी शांत को रस के अन्तर्गत मानकर यह भाव स्वीकार किया है। आगे प्रकृति के आलंबन तथा उद्दीपन रूपों की व्याख्या करते समय इस विषय पर अधिक प्रकाश पड़ सकेगा। परन्तु इस विषय में यह समझ लेना चाहिए कि विकास में चेतना की यह भाव-स्थिति अन्य मानसिक रूपों से मिलती रही है।

आत्म-भाव या अहंभाव—प्रारम्भिक युग में 'अहं' की आत्म-भावना को इस प्रकार नहीं विचारा जा सकता जैसा हम आज समझते हैं। परन्तु उसी स्थिति में जीवन संरक्षण और यापन की प्रेरणा में अपने 'अहं' की भावना रक्षित थी। मानस के विकास में अद्भुत-भाव की प्रेरणा से ज्ञान का ज्यों-ज्यों प्रसार होता गया, उसी प्रकार 'अहं' की भावना भी स्पष्ट और विकसित होती गई। जब मानव ने भय से कुछ त्राण पाया और क्रोध की प्रेरणा से कठिनाइयों तथा शत्रुओं पर विजय प्राप्त की, उस समय उसका आत्म-भाव अधिक स्पष्ट हो चुका था। वह आत्म-चेतन के साथ अहंकारवान् प्राणी हो गया था। यह आत्म की भावना 'अहं' के रूप में शक्ति-प्रदर्शन और उसी के प्रतिकूल आत्महीनता के रूप में प्रकट होती है। सामाजिक विकास के साथ इस भाव में अधिक विषमता और विभिन्नता बढ़ती गई। परन्तु इसके पूर्व ही प्रकृति-जगत् से इसका सम्बन्ध खोजा जा सकता है। प्रकृति के जिन रूपों को मानव विजित करता था उनके प्रति वह अपने में महत्व का बोध करता था और प्रकृति के जिन रूपों के सामने वह अपने को पराजित तथा असहाय पाता था, उनके प्रति अपने में आत्महीनता की भावना पाता था। मिथ-युग के देवताओं के रूप में हमको इस बात का प्रमाण मिलता है। क्योंकि इस युग में मानव बहुत कुछ देवताओं से भयभीत होकर उनसे अपने को हीन मानता था। आत्म-भावना ने अपने विकास के लिए सामाजिक प्रवृत्तियों का क्षेत्र ही स्वीकार किया है। परन्तु सहानुभूति के प्रसार में मानव प्रकृति को आत्म-भाव से युक्त पाता है या अपने अहं के माध्यम से प्रकृति को देखता है। इस मानसिक स्थिति तक पहुँचने में भाव विषम-स्थिति में ही रहते हैं। काव्य में प्रकृति रूपों की विवेचना के अन्तर्गत प्रकृति सम्बन्धी इस प्रकार के आरोप आते हैं।

रति-भाव—यौन विषयक रति-भाव की आधार-भूमि पशुओं की इसी प्रकार की सहजवृत्ति है जो जाति की उन्नति के लिए आवश्यक है। यह सहजवृत्ति अपने मूल रूप में एक विशेष शारीरिक अवस्था में उत्पन्न होती है और उस समय जीव के साधारण मानसिक स्तर पर किसी व्यक्ति-विशेष की अपेक्षा नहीं करती है। इसके

लिए प्रतिकूल यौन सम्बन्धी आकर्षण ही यथेष्ट है। इस भाव में प्रकृति के रूप-रंग आकार-प्रकार आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है, इस विषय में संकेत किया जा चुका है। पशु-पक्षियों और कीड़े-मकोड़ों के जगत् में इस सहज-वृत्ति के सम्बन्ध में इनका प्रभाव है साथ ही वनस्पति-जगत् इन रंग-रूपों से अपनी उत्पादन क्रिया में सहायता लेता है। मानवीय मानस के धरातल पर इस भाव के साथ क्रमशः विकास में अन्य भावों का संयोग होता गया है। आज रति-भाव का जो रूप हमारे सामने है उसमें प्रकृति के प्रत्यक्ष-बोध की अनुभूति के आधार पर विकसित सौन्दर्य्यानुभूति और सामाजिक सहानुभूति का ऐसा सम्मिश्रण हुआ है कि उनको अलग रूप से समझना असम्भव है। काव्य में शृंगार के उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत प्रकृति के जो व्यापक रूपों का उल्लेख किया जाता है उससे भी यही सिद्ध होता है।[1]

कलात्मक-भाव—पहले मानस-शास्त्री कलात्मक-भाव (निर्माण) को अलग प्राथमिक भाव स्वीकार नहीं करते हैं। परन्तु आधुनिक मत से इस प्रकार की सहज-वृत्ति पक्षियों और कीड़ों में भी पाई जाती है। इसी सहजवृत्ति का मानव में भावात्मक विकास हुआ है। अन्य जीव प्रकृति के उपकरणों के अतिरिक्त अपने लिए कुछ निर्माण कार्य करते हैं। इसी प्रकार मानव की कलात्मक भावना ने अपनी अन्य मानसिक शक्तियों से निर्माण-कार्य को अधिकाधिक विकसित किया है। इसकी प्रथम प्रेरणा जीवन की संरक्षण आदि वृत्तियों में हो सकती है, परन्तु इसके आधार में प्रकृति के अनुकरण का रूप भी सन्निहित रहा है। बाद में क्रीड़ात्मक प्रवृत्ति के साथ सौन्दर्य्यानुभूति के संयोग से मानव ने अपनी निर्माण-वृत्ति को कलात्मक भाव में प्राप्त किया। मानव का यह प्रकृति का क्रीड़ात्मक अनुकरण मानसिक धरातल पर उसकी अनेक विकसित कलाओं में देखा जा सकता है।[2]

हास्य-भाव—अपनी विषम स्थिति के कारण हास्य-भाव का स्थान भावों के विकास-क्रम में निश्चित नहीं किया जा सकता। परन्तु वह स्वच्छन्द क्रीड़ा का एक रूप माना जा सकता है। हम जिस रूप में हास्य को लेते हैं, उससे वह मूल रूप में बिल्कुल भिन्न है। बाद में इसमें बहुत कुछ कल्पना तथा विचार आदि का योग हो गया और अब यह भाव अभ्यन्तरित स्थिति में अधिक है। परन्तु प्रारम्भिक युग में यह क्रीड़ात्मक भाव (हास्य) संचित शक्ति के प्रवाह और उसके निश्चित प्रयोग से सम्बन्धित सुख-संवेदन समझा जा सकता है। इस संवेदनात्मक प्रवृत्ति के आधार पर नृत्य, गान

---

१. प्रकृति के आलम्बन और उद्दीपन विभाव सम्बन्धी रूपों की विवेचना इस भाग के पंचम प्रकरण में की गई है। साथ ही द्वितीय भाग में अनेक स्थलों पर इनका उल्लेख किया गया है।

२. लेखक के 'नाटक की उत्पत्ति' नामक लेख में नृत्य तथा संगीत आदि के विकास का उल्लेख किया गया है। (पारिजात, फरवरी, १९४६)

आदि का विकास माना जाता है, जो इस भावना के बाह्य अनुभावों के रूप में समझे जा सकते हैं। इस प्रकार इस भावना के साथ भी प्रकृति का अनुकरणात्मक सम्बन्ध है। संचलन, गति, प्रवाह और नाद आदि की सुखानुभूति ने मानव को प्रकृति के अनुकरण के लिए प्रेरित किया होगा। और शक्ति का संचय तथा प्रवाह ही तो हास्य-भाव का मूल है।

भावों की माध्यमिक तथा अध्यन्तरित स्थितियां

विषम स्थिति—जिन भावों का उल्लेख ऊपर किया गया है, वे जिस रूप में आज पाए जाते हैं, वह रूप अत्यधिक विषम है। परन्तु इन भावों के प्राथमिक रूप की कल्पना तथा परीक्षा की जा सकती है। पिछली विवेचना में स्थान-स्थान पर विभिन्न भावों के सम्मिश्रण की तथा अन्य मानसिक स्थितियों के प्रभाव की बात कही गई है। एक भाव दूसरे भाव के साथ मिल जाता है तथा एक दूसरे को प्रभावित भी करता है। भय और क्रोध जैसे प्राथमिक भावों को भी हम उनके प्रारम्भिक रूप में नहीं पाते। अन्य भावों तथा अनेक परिस्थितियों के कारण इनमें अनेकरूपता तथा विषमता आ गई है। त्रास और उन्माद आदि भाव इसी प्रकार के हैं। सामाजिक तथा अहं सम्बन्धी भाव तो बहुत पहले से माध्यमिक स्थिति में आ चुके हैं। एक ओर कारण और स्थितियों में भेद होता गया, और दूसरी ओर भावों का सम्मिश्रण होता गया है। ऐसी स्थिति में, भावों में विषमता और वैचित्र्य बढ़ता गया है। इस प्रकार सामाजिक सहानुभूति से प्रभावित होकर अहंकार की शक्ति प्रदर्शन सम्बन्धी महत्त्व की भावना अभिमान का रूप धारण करती है; और इसके प्रतिकूल हीनता की भावना दीनता हो जाती है। सामाजिक सहानुभूति जब अहंभाव से प्रभावित होती है उस समय प्रशंसा और कृतज्ञता के भाव विकसित होते हैं। साधारणतः इन माध्यमिक भावों का सम्बन्ध प्रकृति से नहीं है। परन्तु भावों के उच्च-स्तर पर आचरणात्मक सत्यों से सम्बन्धित भाव, सौन्दर्य्य भाव से प्रभावित होते हैं। इस प्रकार प्रकृति की सौन्दर्य्य-भावना में आचरणात्मक भावों का आरोप किया जाता है। परन्तु यह प्रकृति और भावों का सीधा सम्बन्ध नहीं हुआ। अन्य प्रकार से माध्यमिक भावों से प्रकृति का सीधा सम्बन्ध सम्भव है। प्रारम्भ में प्रकृति की अज्ञात-शक्तियों के प्रति जो भय की भावना थी, वही भाव सामाजिक सहानुभूति से मिलकर श्रद्धा के रूप में व्यक्त होता है और इसी में जब आत्महीनता का भाव सम्बन्धित हुआ, तो वह आदर का भाव हो गया। परन्तु यहाँ भावात्मक विकास के क्रम में प्रकृति भावों के प्रेरक कारण के समान नहीं समझी जा सकती।

धार्मिक भाव—धार्मिक भावों के विकास में प्रकृति का सम्बन्ध प्रारम्भ

से रहा है। इस समय धार्मिक भाव से हमारा अर्थ उस स्वाभाविक भाव-स्थिति से है जिससे धर्म-सम्बन्धी माध्यमिक भावों का विकास हुआ है। धर्म-सम्बन्धी माध्यमिक भाव का विकास प्रकृति शक्तियों को देवता मानने वाले धर्मों के इतिहास में तथा उनकी मिथ सम्बन्धी रूप-रेखा में स्पष्टतः मिलता है। साधारणतः प्रकृति-देवताओं का अस्तित्व भय के आधार पर माना जाता है, इसका संकेत पीछे किया गया है। आश्चर्य-भाव के साथ प्रकृति के देवताओं को प्रकृति के विभिन्न रूपों में प्रसरित देखा गया, क्योंकि इस युग में प्रत्यक्ष-बोध अधिक स्पष्ट होकर परप्रत्यक्ष और कल्पना में साकार हो रहे थे। अनन्तर प्रकृति की उपादेयता का अनुभव हो चुकने के बाद इन देवताओं के साथ प्रकृति और मानव के सम्पर्क का भाव भी सम्बन्धित हो गया। अब प्रकृति की शक्तियों का वर्णन देवताओं के रूप में तो होता ही था, साथ ही उनमें उपादेयता का भाव भी सन्निहित हो गया। विकास के मार्ग में जैसे-जैसे सामाजिक और आत्म सम्बन्धी भावों का संयोग होता गया, वैसे ही इन भावों की स्थापना प्रकृति के देवताओं के सम्बन्ध में भी हुई। विचार के क्षेत्र में धर्म दर्शन और तत्त्ववाद की ओर अग्रसर हुआ है, परन्तु भावना के क्षेत्र में धर्म ने देवताओं को मानवीय आकार और भाव प्रदान किए हैं। वैदिक देवताओं का रूप अग्नि, इन्द्र, उषा, वरुण तथा सूर्य्य आदि प्रकृति शक्तियों में समझा जाता था। परन्तु मध्ययुग के देवता मानव आकार, भाव और स्वभाव के प्रतीक माने गए। इन देवताओं में भी एक प्रकार से प्रकृति का आधार रहा है। एक ओर इनकी शक्तियों का प्रसार प्रकृति की व्यापक शक्तियों के समानान्तर रहा है; दूसरे उनके स्थान और रूप के साथ प्रकृति सम्बन्धित रही है। इसका कारण मध्ययुग की धार्मिक प्रवृत्ति का प्रकृति के प्रति सहज जागरूक होना तो है ही; साथ ही इसमें कलात्मक और दार्शनिक प्रकृतिवाद के समन्वय का रूप भी सन्निहित है। वैदिक कर्म-कांड को प्रकृति के अनुकरण का रूपात्मक स्वरूप माना गया है; परन्तु मध्य-युग का कर्मकांड सामाजिक है जिसमें पूजा की समस्त विधि आ जाती है।[1]

सौन्दर्य भाव—जिस प्रकार धार्मिक भाव न तो एक भाव है और न एक रूप में सदा पाया जाता है, उसी प्रकार सौन्दर्य भाव एक नहीं है और उसका विकास भी मानवीय मानस के साथ होता रहा है। यद्यपि इसमें विभिन्न भावों का समन्वय होता गया है फिर भी सौन्दर्य भाव के विकास की प्रत्येक स्थिति प्रकृति से सम्बन्धित है। मानव को प्रकृति के प्रत्यक्ष बोधों में सुख-दुःख की संवेदना प्राप्त हुई। उसने प्रकृति का क्रीड़ात्मक अनुकरण किया। वह अपने कलात्मक निर्माण में प्रकृति से बहुत कुछ सीखता है। उसके यौन सम्बन्धी रागात्मक भाव के लिए भी प्रकृति के रंग-रूप आदि

१. इस विषय को द्वितीय भाग के 'आध्यात्मिक साधना में प्रकृति' नामक तृतीय प्रकरण में कुछ अधिक विस्तार दिया गया है।

प्रेरक रहे हैं, उनका उसके लिए विशेष आकर्षण इस भाव से सम्बन्धित रहा है और इन सब भावों का योग सौंदर्य भाव के विकास में हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्य सामाजिक तथा आत्म-सम्बन्धी भावों का योग भी इसमें है। यह विकास केवल प्रत्यक्षों के आधार पर ही सम्भव नहीं हुआ है। इसमें कल्पना के आधार की पूर्ण स्वीकृति है। अगले प्रकरण में इस विषय की विवेचना विस्तार से की जायगी। यहाँ इतना समझ लेना ही पर्याप्त है कि सौन्दर्य भाव की स्थिति अत्यधिक विषम है। प्रकृति के सौन्दर्य-भाव में जो सहानुभूति तथा महत् आदि की भावना है वह सामाजिक और आत्म भाव से सम्बन्धित अनुभूतियों का प्रभाव है।

अभ्यन्तरित भाव—अभ्यन्तरित भावों के लिए समाज की एक निश्चित स्थिति आवश्यक है, साथ ही मानसिक विकास का भी उच्च स्तर वांछनीय है। इन भावों के लिए क्रिया और कार्य की उद्देश्यात्मक गति स्वीकृत है। विशेष स्थिति में उद्देश्य को लक्ष्य करके भविष्योन्मुखी भावों की प्रेरणा जाग्रत होती है। कदाचित् इसीलिए इन भावों में अधिकांश काव्य में संचारी या व्यभिचारी भावों के रूप में स्वीकृत है। आशा, विश्वास, चिन्ता, निराशा आदि इसी प्रकार के भाव हैं। अथवा इनके विपरीत अतीत के विषय में उद्देश्य के प्रति भावों की स्थिति जाग्रत होती है। इन भावों में पश्चात्ताप अनुताप आदि हैं। इस मानसिक चेतना के स्तर पर प्रकृति का कुछ भी सीधा सम्बन्ध नहीं है। परन्तु अन्य भावों के साथ प्रकृति वातावरण तथा परिस्थिति के रूप में इन अभ्यन्तरित भावों से भी सम्बन्ध उपस्थित कर सकती है। प्रकृति का सम्पर्क किसी की स्मृति जगाकर चिन्ता भी उत्पन्न कर सकती है। परन्तु यहाँ प्रकृति का सम्बन्ध चिन्ता से उतना नहीं है जितना स्मृति से सम्बन्धित शृंगार आदि भाव से। काव्य में इसी कारण प्रकृति ऐसे स्थलों पर प्रमुख भाव की उद्दीपक मानी जाती है, संचारी भावों की नहीं। एक दूसरी स्थिति भी है जिसमें यह सम्बन्ध सम्भव हो सकता है। इन भावों की मनःस्थिति में हमारे मन में प्रकृति के प्रति सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है। यह सम्बन्ध कारण के रूप में नहीं वरन् प्रभाव के रूप में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। विशेषतः काव्य के प्रकृति रूपों में यह प्रभावशील सहानुभूति अधिक महत्त्व रखती है।

× × ×

विवेचना की कठिनाई—मानवीय भावों का विषय बड़ा ही दुर्बोध तथा कठिन है। इसका कारण मानसिक वैचित्र्य और वैषम्य है, जो ऊपर की विवेचना से स्पष्ट है। विभिन्न भाव एक दूसरे से प्रभावित और सम्मिश्रित होते गए हैं। साथ ही मानसिक विकास में इन भावों में कल्पना तथा विचार आदि की प्रतिक्रिया भी चलती रही है। ऐसी स्थिति में इन भावों की विश्लेषणात्मक विवेचना करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं

और जटिलताओं का सामना करना पड़ता है। फिर भी विवेचना में इस बात का यथा-सम्भव प्रयास किया गया है कि समस्त भावों की विकासोन्मुखी विषमता में प्रकृति का कारणात्मक सम्बन्ध कहाँ तक रहा है। इसके अतिरिक्त प्रकृति का इनसे किस सीमा तक संयोगात्मक सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध कभी भावों के साथ सीधा उपस्थित होता है और कभी भाव के विषय के साथ वातावरण तथा परिस्थिति के सम्बन्धों में उपस्थित होता है। हमारे विवेचन से स्पष्ट है जहाँ तक भावों की स्थितियों से सम्बन्ध है, विकास के उच्च स्तर पर प्रकृति भावों के कारण-रूप में अधिक स्पष्टतः प्रभावशील नहीं है। परन्तु अन्य रूपों में प्रकृति का संयोग अभिव्यक्त होता है। समष्टि रूप से सौन्दर्य भाव को स्वीकार कर लेने पर वह उसके लिए प्रभावात्मक अभिव्यक्ति का कार्य करती है और अगले प्रकरण में हम देखेंगे कि प्रकृति सम्बन्धी समस्त भावात्मकता की अभिव्यक्ति का मूल इसी सौन्दर्यानुभूति में है।

चतुर्थ प्रकरण

सौन्दर्यानुभूति और प्रकृति

सौन्दर्य का प्रश्न—सौन्दर्य को समझने में हमको कोई कठिनाई नहीं होती। हम कहते हैं सुन्दर वस्तु, सुन्दर चरित्र, सुन्दर सिद्धान्त और समझ भी जाते हैं। एक रूप की दृष्टि से सुन्दर है, दूसरे में शिव के अर्थ की व्यंजना है और तीसरे में सत्य को सुन्दर कहा गया है। इस प्रकार यहाँ 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग व्यापक है, जो कलात्मक सौन्दर्य के रूप में प्रयुक्त है पर जन समाज की भाषा में अलग-अलग संकेत देता है। जितनी सरलता से हम यह सब समझ लेते हैं, वस्तुतः सौन्दर्य की विवेचना उतनी सरल नहीं है। पिछले प्रकरण में सौन्दर्य्य भाव की विषमता के बारे में संकेत किया गया है। इस भाव के विकास में प्रत्यक्ष, कल्पना तथा भावों की प्रतिक्रिया की एक विषम मानसिक स्थिति सन्निहित है। इसी कारण प्राच्य तथा पाश्चात्य विभिन्न शास्त्रियों ने सौन्दर्यानुभूति के विषय को अपनी-अपनी दृष्टि से देखने का प्रयास किया है। काव्य और कला के क्षेत्र में सौन्दर्य की विवेचना करते समय इन्होंने कभी इसको अनुभूति, कभी अभिव्यक्ति और कभी प्रभावशीलता माना है। किसी-किसी विद्वान् ने सौन्दर्य को वस्तु के गुणों के रूप में मानकर विवेचना करने का प्रयास किया है। काव्य और कला में सौन्दर्य-सर्जन अनुभूति और अभिव्यक्ति के सामञ्जस्य में उपकरणों के आत्म-तादात्म्य द्वारा होता है। इसकी विवेचना अगले प्रकरण में की जायगी। प्रस्तुत विषय प्रकृति के सौन्दर्य विस्तार पर विचार करना है। वस्तुतः सौन्दर्य सम्बन्धी विवेचनाओं में इस विषय को अनेक प्रकार से उपस्थित किया गया है। एक सीमा तक प्रकृति के सौन्दर्य सम्बन्धी विचार से इनके सौन्दर्यानुभूति विषयक सिद्धान्त प्रभावित हैं। इस कारण प्रकृति-सौन्दर्यानुभूति की रूप-रेखा प्रस्तुत करने के पूर्व, विभिन्न सौन्दर्य्यानुभूति के सिद्धान्तों में अन्तर्भूत प्रकृति-सौन्दर्य का विचार कर लेना आवश्यक है। हम देखते हैं कि प्रकृति के सौन्दर्य की पूरी रूप-रेखा उपस्थित करने में विभिन्न मतों के समन्वय से अन्तिम निर्णय तक पहुँचा जा सकेगा। इन विभिन्न मतों में प्रस्तुत

विषय को जिस एकांगी ढङ्ग से देखा गया है, वह मानसिक स्थिति को एक विशेष सीमा में घेर कर देखने का प्रयास मात्र है। आगे इन पर विस्तार से विचार करने से विदित होता है कि सौन्दर्य की रूप-रेखा में ये सभी कुछ न कुछ सत्य का योग प्रदान करते हैं। इन सिद्धान्तों की अपूर्णता का कारण विचारकों का अपना सीमित क्षेत्र और संकुचित दृष्टिकोण है। मानस के विकास अथवा विषम विस्तार में जिस प्रकृति-सौन्दर्य पर हम यहाँ विचार कर रहे हैं, वह कितनी ही प्रवृत्तियों तथा स्थितियों का समवाय है। इस कारण सत्य तक पहुँचने के लिए हमको मानव-शास्त्र, मानस-शास्त्र तथा शरीर-विज्ञान का सहारा लेना है। यहाँ एक बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है। भारतीय विद्वानों ने सौन्दर्य-शास्त्र के रूप में सौन्दर्य की विवेचना नहीं की है। उन्होंने अलंकार, रस आदि काव्य-सम्बन्धी विवेचनाओं तथा कला सम्बन्धी उल्लेखों में सौन्दर्य का निरूपण अवश्य किया है। इस कारण उनके इन्हीं मतों का उपयोग हम अपनी विवेचना में कर सकेंगे।

रूप और भाव पक्ष—पिछले प्रकरणों में मानव और प्रकृति के सम्बन्ध की जो क्रमिक रेखा उपस्थित की गई है, वह एक प्रकार से प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति के लिए आधार भी प्रस्तुत करती है। प्रथम प्रकरण में विचार किया गया है कि सहज बोध की दृष्टि से प्रकृति और मन को मानकर ही चला जा सकता है; नहीं तो साधारण जीवन और दर्शन के व्यावहारिक क्षेत्र में बहुत कुछ सीमित एकांगीपन आने का भय है। यही दृष्टि प्रकृति को मानस की प्रतिक्रिया के माध्यम से रूपात्मक और भावात्मक स्वीकार कर लेती है और प्रस्तुत प्रकरण की विवेचना में हम आगे चलकर देखेंगे कि प्रकृति-सौन्दर्य में भी रूप और भाव दो पक्षों को स्वीकार करना पड़ता है। दूसरे प्रकरण में देखा गया है कि मानवीय मानस के विकास में उसकी चेतना के समानान्तर प्रवाहित प्रकृति ने योग प्रदान किया है। प्रकृति की चेतना के प्रश्न में मानव की अपनी दृष्टि ही प्रधान है, क्योंकि स्व (आत्म) चेतना उसी में है। प्रकृति के सौन्दर्य के प्रश्न में भी इस चेतना के साथ मानव की प्रधानता का महत्त्व है। प्रकृति सौन्दर्य की अनुभूति के साथ मानव की मानसिक चेतना स्वीकृत है। पिछले प्रकरण में मानवीय भावों के विकास के साथ प्रकृति का सम्बन्ध समझने का प्रयास किया गया है। हम देख चुके हैं कि भावों के विभिन्न स्तरों से प्रकृति का सीधा तथा अध्यान्तरित दोनों प्रकार का सम्बन्ध है। सौन्दर्य-भाव के विषम रूप से प्रकृति का सम्बन्ध अधिक जटिल है। इस कारण प्रकृति के सौन्दर्य में भी यही जटिलता विद्यमान है। इस आधार-भूमि के साथ ही पीछे जिन विभिन्न तत्त्ववादी तथा मानस-शास्त्रीय मतवादों को प्रस्तुत किया है, वस्तुतः इनका प्रभाव सौन्दर्य-शास्त्र के विवेचकों पर पड़ा है। इस कारण पिछले मतवादों के आधार पर सौन्दर्य-शास्त्र के विभिन्न सिद्धान्त भी उन्हीं के समान पूर्ण सत्य

की व्याख्या नहीं कर सके हैं। परन्तु हमारी विवेचना में इनको सामंजस्य-पूर्ण समुचित स्थान देने का प्रयास किया जायगा।

सौन्दर्य सम्बन्धी विभिन्न मत

भारतीय सिद्धान्तों में—पहले ही कहा गया है भारतीय शास्त्रियों ने सौन्दर्य की व्याख्या अलग नहीं की है। अगले प्रकरण में काव्य की रूप सम्बन्धी विवेचना में तत्सम्बन्धी सौन्दर्य की रूपरेखा भी आ जायगी। यहाँ काव्य और कला सम्बन्धी उनकी व्यापक सौन्दर्य भावना का उल्लेख किया जा सकता है। भारतीय दृष्टि से कलाकार की मनःस्थिति भावों के निम्न-स्तर से उठकर आदर्श कल्पना की ओर बढ़ती है। इस मनोयोग की स्थिति में सौन्दर्य भाव आकर्षित होते हैं।[1] कलाकार के इस 'आत्मव्यायत्' से 'आत्मभावव्रत' रूप में यह स्पष्ट हो जाता है कि कलाकार के मानसिक पक्ष का जहाँ तक सम्बन्ध है भारतीय दृष्टि से सौन्दर्य बाह्य अनुभव पर उतना निर्भर नहीं जितना आन्तरिक समाधि पर। कलाकार के मानसिक पक्ष में अनुभूति जब अभिव्यक्ति का रूप ग्रहण करती है; उस स्तर पर भारतीय काव्य और कला में व्यंगार्थ ध्वनि कलाकार के मानसिक सौन्दर्य पक्ष को ही उपस्थित करती है। वक्रोक्ति के लोकोत्तर चमत्कार और अलंकार की सादृश्य भावना से भी यही बात स्पष्ट होती है। वस्तुतः इस दृष्टि से प्रकृति में सौन्दर्य अपना नहीं है, वह कलात्मक कल्पना का परिणाम मात्र है। प्रारम्भिक साहित्याचार्यों ने 'शब्दार्थ' के आधार पर अलंकार को काव्य की परिभाषा स्वीकार किया था। उसमें उपमानों के रूप में जो सादृश्य की भावना है उससे सिद्ध होता है कि काव्य सौन्दर्य अनुकरण नहीं, वरन् मन-प्रकृति, विषयि-विषय तथा भाव-रूप की तदाकारता है। वैशेषिक तत्त्ववादी इसे वस्तु की उस स्थिति को कहते हैं जिसमें विभिन्न प्रवृत्तियाँ एकाकार हो जाती हैं। आगे हम पाश्चात्य विद्वानों के समन्वित मत में इसी तदाकारता का भाव देखेंगे। अलंकार की यह सादृश्य भावना सौन्दर्य का रूप नहीं और न आदर्श ही है, वरन् यह तो इन्द्रिय-वेदनाओं के साथ मानसिक उच्च-स्तरों का समन्वित गुण है। भारतीय रस-सिद्धान्त सौन्दर्य सम्बन्धी प्रभावात्मक सिद्धान्तों के समान है, उसमें भी विकास की कई स्थितियाँ रही हैं। पिछले आचार्यों ने रसनिष्पत्ति को केवल आरोप तथा अनुभाव के द्वारा साधारण भाव-स्थिति के सामने स्वीकार किया था। अनन्तर भोगवाद तथा व्यक्तिवाद के रूप में काव्य-

१. इस विषय में कुमार स्वामी की पुस्तक 'ट्रान्सफारमेशन आव नेचर' द्रष्टव्य है। साथ ही लेखक के 'संस्कृत काव्य-शास्त्र में प्रकृति' नामक निबन्ध में भी इसकी विवेचना की गई है ('हिन्दुस्तानी' अगस्त—अक्टूबर सन् १९४७ ई०)।

सौन्दर्य में निर्भरानन्द की विशेष भाव-स्थिति की कल्पना की गई।[1] अन्त में काव्यानन्द की मधुमती-भूमिका की कल्पना में सौन्दर्य की उस स्थिति की ओर संकेत है जिसमें समस्त भावों का सामञ्जस्य होकर वैचित्र्य की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। हम देख सकेंगे कि यह सिद्धान्त पाश्चात्य सुखानुभूति के सिद्धान्त के कितने समानान्तर है। इस प्रकार भारतीय आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से सौन्दर्य की कल्पना की है। परन्तु यहाँ एक बात महत्त्वपूर्ण यह है कि इनकी सौन्दर्य सम्बन्धी विवेचनाएँ प्रकृति सौन्दर्य के आधार पर न होकर काव्य के सम्बन्ध में हैं। इस प्रकार इस सौन्दर्य की भावना में प्रकृति से अधिक मानवीय संस्कार हैं। प्रकृति के सौन्दर्य के विषय में यह उपेक्षा भारतवर्ष की व्यापक प्रवृत्ति है। इस विषय में अगले भाग में विशेष विचार करने का अवसर मिल सकेगा।

पाश्चात्य सिद्धान्तों की स्थिति—पाश्चात्य विद्वानों ने सौन्दर्य की व्याख्या करते समय साधारण दृष्टि से वस्तु-परक और मनस्-परक दो पक्ष सामने रखे हैं। वस्तुतः सौन्दर्य वस्तु और भाव दोनों से सम्बन्धित और उनका समन्वित रूप है। लाइबनजि के शब्दों में सौन्दर्य प्रदर्शनात्मक समन्वय है, जो इन दोनों के समत्व सम से सम्बन्धित है और एक की सहायता से दूसरा समझा जा सकता है। वस्तुतः सौन्दर्य मानसिक और विषय सम्बन्धी दोनों पक्षों को स्वीकार करते हुए, वस्तुओं के रूप और गुण की निर्भर तथा सामञ्जस्यपूर्ण गम्भीर कल्पना कहा जा सकता है।[2] अन्य बहुत से मतवादियों ने एकान्तवादी तत्त्ववादियों की भाँति अपनी विवेचना में एक अंश को अधिक महत्त्व देकर अन्य अंशों की उपेक्षा की है। परन्तु यहाँ यह कहने का अर्थ नहीं है कि इन मतवादियों के सामने सत्य का रूप नहीं था। उनके सामने सत्य का रूप अवश्य था, लेकिन उन्होंने अपने सिद्धान्त की व्याख्या में अन्य भागों को सम्मिलित कर लेने का प्रयास किया है। समन्वय की दृष्टि से यह ठीक हो सकता है। परन्तु जब किसी दृष्टिकोण को अधिक महत्त्व देकर व्याख्या की जायगी तो वह भ्रामक हो सकती है। यहाँ हम संक्षेप में विभिन्न मतों की विवेचना इस दृष्टि से करेंगे कि किस सीमा तक उनमें सत्य का अंश है; और इन सबका समन्वय किस प्रकार किया जा सकता है।

अभिव्यक्तिवाद—अनेक सौन्दर्य-शास्त्री विषयि के मनस्-परक पक्ष को सौन्दर्य की विवेचना में प्रमुखता देकर भी आपस में मतभेद रखते हैं। किसीने स्वानुभूति पर अधिक जोर दिया है, किसीने अभिव्यक्ति का आश्रय लिया है और किसीने प्रभाव-

---

१. इस सिद्धान्त में भट्ट लोल्लट का आरोपवाद, श्रीशंकुक का अनुमानवाद, भट्टनायक का भोगवाद और अभिनवगुप्त का व्यक्तिवाद प्रसिद्ध है।

२. अर्ल आव लिस्टोवल ने भी विभिन्न सिद्धान्तों की विवेचना के पश्चात् इसी प्रकार का निष्कर्ष दिया है।

शीलता का आधार उपस्थित किया है। इस भेद का कारण जैसा पहले ही उल्लेख किया जा चुका है मानसिक स्तर को विभिन्न प्रकार से समझने का प्रयास है, साथ ही मानव-शास्त्र तथा मानस-शास्त्र के क्रमिक आधार की अवहेलना है। क्रोचे पूर्णरूप से अभिव्यक्तिवादी हैं, परन्तु उन्होंने स्वानुभूति को अभिव्यक्ति की पूर्व-स्थिति के रूप में स्वीकार किया है। इसी कारण एक स्थान पर उन्होंने भाषा और सौन्दर्य-शास्त्र को अभेद कहा है। स्वानुभूति में समस्त प्रज्ञात्मक (प्रत्यक्ष आदि) रूपों की पूर्व-स्थिति है, इसलिए वह भौतिक सत्यों, उपयोगिता, आचरण सम्बन्धी बोध तथा सुख-संवेदनाओं से परे है। और यही स्वानुभूति अपनी प्रेरणा में अभिव्यक्ति का रूप धारण करती है। ई० एफ० कैरिट भी इस प्रकार की समस्त भावाभिव्यक्तियों को बिना किसी अपवाद के सौन्दर्य मानते हैं।[1] क्रोशे के अभिव्यक्तिवाद का विरोध डेसिगर तथा वाल्काट नामक जर्मन विद्वानों ने महाद्वीप पर किया है। फिर भी इसका प्रचार विशेषतः इंगलैंड में रहा है। इन जर्मन आचार्यों ने इस सिद्धान्त की भूल को स्पष्ट करते हुए कहा है कि यदि स्वानुभूति की गीतात्मकता, तथा भावों और वासना की अभिव्यक्ति को सौन्दर्य (काव्य तथा कला के रूप में) माना जायगा, तो इसमें जो कल्पना के रूप में बोधात्मक पक्ष है, उससे इसका विरोध उपस्थित हो जायगा।[2] वस्तुतः अभिव्यक्तिवाद में काव्य और कला को मानवीय मानस के विकास के निचले स्तरों से सम्बन्धित प्रकृति के आधार पर समझने की भूल की गई है। इस मत में अनुभूति और अभिव्यक्ति विषयक जो मूल भ्रम सन्निहित है; इनसे सम्बन्धित सौन्दर्य-शास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों के रूप में दो प्रमुख विचारधाराएँ सामने आती हैं।

सुखानुभूति—(क) मानस-शास्त्र के आधार पर स्वानुभूति से निकट सम्बन्धी सुखानुभूति का मत है। इसके मूल में शरीर-शास्त्री-सौन्दर्य के आचार्यों द्वारा प्रतिपादित समानुपात से स्नायु-प्रेरणा के साथ सुखात्मक प्रभावशीलता है। इनके अनुसार सौन्दर्य-बोध में हमारे स्नायु-तन्तुओं के कम से कम शक्ति-व्यय से अधिक से अधिक प्रेरणा प्राप्त होती है। इस संवेदन-क्रिया में विशेषता केवल इतनी है कि यह हमारे शरीर की शक्ति-संचलन क्रिया से सीधे अर्थों में सम्बन्धित नहीं है। परन्तु यह इस विचारधारा के मतों की वह सीमा है जहाँ हमारी कला और सौन्दर्य सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ अपने नग्न रूप में दिखाई देती हैं। एच० आर० मार्शल ने इसी शरीर-विज्ञान के आधार पर मानस-शास्त्रीय दृष्टि को अधिक व्यापक रूप प्रदान किया है। इनके मत में सुखानुभूति को इन्द्रिय वेदन से प्रत्यक्षबोध के आधार पर उच्च मानसिक स्थिति से सम्बन्धित माना गया

१. थियरी ऑव ब्यूटी, पृ० २६६।

२. दि क्रिटिकल हिस्ट्री ऑव एस्थेटिक्स की 'थियरी ऑव एक्स्प्रेशनिज्म' की विवेचना से (महादेवी का विवेचनात्मक गद्य) इस विषय में महादेवी जी का गीतियों सम्बन्धी मत भी महत्वपूर्ण है।

है। यह अनुभूति सुख-दुःख की सम-स्थिति पर इन्द्रिय संवेदनाओं की प्रभावात्मक सुखमय प्रतिक्रिया का कलात्मक आनन्द रूप है।[1] इसमें भी एक भ्रम सन्निहित है। यह सत्य है कि मानव की प्रभावशील इन्द्रिय-वेदनाएँ कला के मूल में सन्निहित हैं। पीछे कहा गया है कि रंग और ध्वनि के प्रभावों की सुखात्मक संवेदना के बिना चित्रकला तथा संगीत का विकास सम्भव नहीं था। पर कलात्मक सौन्दर्य में अन्य कितने भावों का संयोग, तथा उसमें इस मूल संवेदना का रूप इतनी दूर का हो जाता है कि उसकी अभिव्यक्ति में प्रभावशीलता का प्रारम्भिक मूल रूप नहीं रह जाता। चित्रकला में केवल रंगों की सुखात्मक संवेदना प्रकृति के गहरे और विभिन्न रंगों की अनुभूति की समता नहीं कर सकती। इसी सिद्धान्त की व्याख्या, सन्टायन सौन्दर्य को स्पष्ट करने के लिए मानसिक उच्च स्तर पर करते हैं। ये अभिव्यक्त सौन्दर्य के लिए वस्तु-रूप प्रकृति की संवेदनात्मक शक्ति के साथ प्रत्यक्षों का क्रमिक सामञ्जस्यपूर्ण सम्बन्ध तथा अन्य पिछले अनुभवों का संयोग आवश्यक मानते हैं।[2] इस व्याख्या में विषय-पक्ष में मानस और विषय रूप प्रकृति का सामञ्जस्य किया गया है और साथ ही पिछले अनुभवों के रूप में मानसिक विकास को स्वीकार किया गया है। परन्तु इस सिद्धान्त का आधार इन्द्रिय-वेदन की सुखानुभूति है, इस कारण यह सत्य की पूरी व्याख्या नहीं उपस्थित कर सका है।

क्रीड़ात्मक अनुकरण—(ख) अभिव्यक्ति को प्रधानता देने वाली दूसरी विचारधारा में क्रीड़ात्मक अनुकरण का भाव मूल रूप से सन्निहित है। जिस सिद्धान्त की अभी व्याख्या की गई है, और प्रस्तुत सिद्धान्त में मानसिक स्तरों की विकासोन्मुखी क्रमिक परम्परा को अपनाने में आश्चर्यजनक साम्य है। कार्ल ग्रास ने इस क्रीड़ात्मक अनुकरण को कलात्मक अभिव्यक्ति की निकटता में एक रूप माना है, केवल कलात्मक अभिव्यक्ति ज्ञान इन्द्रियों से सम्बन्धित है।[3] अभिव्यक्ति सौन्दर्य के इस निर्भरानन्द को स्पेन्सर कला-सौन्दर्य के साथ संचित शक्ति-प्रवाह के रूप में प्रत्यक्ष-बोध तथा परप्रत्यक्षों से भी सम्बन्धित करते हैं। कांत की कलात्मक 'स्वतंत्र-क्रीडा' में स्वानुभूति तथा बोध का समन्वय है। इसमें सौन्दर्य की अभिव्यक्ति क्रीड़ात्मक अनुकरण से अधिक मानसिक सत्य के रूप में स्वीकृत है। कांत ने इसको मानस-शास्त्र के क्षेत्र से दार्शनिक स्वरूप प्रदान किया है। शिलर का कथन है कि कलात्मक सौन्दर्य इन्द्रिय और आध्यात्मिक लोकों का समन्वय है जिससे कर्त्तव्य, विचार तथा सुख-दुःख आदि नितान्त भिन्न हैं। एक प्रकार से इस कथन का संकेत भाव और रूप के समन्वय की ओर है।

---

१. एच० आर० मार्शल की 'एस्थिटिक प्रिंसिपल' के 'दि ब्यूटीफुल' नामक प्रकरण से।

२. सी० सन्टायन की 'दि सेंस ऑव ब्यूटी' से।

३. 'दि प्ले ऑव मैन' के 'एस्थिटिक् स्टैंड प्वाइन्ट' से (पृ० ३९१)

इन मतों की व्याख्या में व्यापकता इतनी अधिक है कि इसमें सत्य का कोई भी स्वरूप उपस्थित किया जा सकता है। परन्तु एकांगी आधार के कारण सत्य का क्रमिक और स्पष्ट रूप नहीं आ सका है।

प्रतिभास और अन्तःसहानुभूति—प्रतिभास सिद्धान्त के अनुसार वस्तु तत्त्वतः तो सुन्दर नहीं है; परन्तु उसके प्रतिभासित सौन्दर्य के लिए तत्त्व आवश्यक शर्त है। इन वस्तुओं के निर्माण में सौन्दर्य स्थित है जिसको प्रतिभासित रूप कहा जा सकता है और जिसका आधार वस्तु के विशेष गुण हैं। वस्तु के इन गुणों में मानवीय मानस प्रसरित रहता है और इस प्रकार वस्तु के साथ भाव का समन्वय हो जाता है जो उसकी छाया में ही सन्निहित है। भाव और वस्तु का यह छायातप स्वतः समान रूप से होता है।[1] छाया-प्रसार में चेतन-भाव के अधिक व्यापक प्रसार और विकास के साथ हमको सौन्दर्य के विषय में अन्तःसहानुभूति का सिद्धान्त मिलता है। ऊपर के उल्लिखित सौन्दर्य सम्बन्धी मत तत्त्ववादी पृष्ठभूमि पर ही विकसित हुए हैं और आश्रित हैं। इनमें अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार मानस और सर्जन की व्याख्या करने वाले तत्त्ववादियों का आधार है। सौन्दर्य सम्बन्धी अन्तःसहानुभूति सिद्धान्त के मूल में सर्वचेतनावादी आधार है जिससे आगे चलकर सौन्दर्य का स्वच्छंदवादी मत विकसित हुआ है। समस्त वनस्पति का दृश्यात्मक सौन्दर्य मानव की ही विकसित पूर्ण चेतना का रूप है। उसी के आह्लाद की मुस्कान फूलों में बिखर पड़ती है, उसी के यौवन का उल्लास वृक्षों की उन्नत आकाश में प्रसरित शाखाओं के साथ अपनी उठान का अनुभव करता है। केवल चेतन में ही नहीं वरन् जड़ जगत् में भी मानव अपने व्यंजनात्मक भावों का आरोप करता है। अन्य सिद्धान्तों में हम देख चुके हैं कि केवल प्रभावात्मक भाव सौन्दर्य के आधार पर सौन्दर्य की व्यापकता को समझने का प्रयास किया गया है। परन्तु इस अन्तःसहानुभूति के सिद्धान्त के अनुसार सौन्दर्य में साहचर्य भावना का रूप है।

साहचर्य भावना और रति भाव (क)—सौन्दर्य की इस साहचर्य भावना में स्वच्छंद-युग की प्रकृति से तादात्म्य स्थापित करने वाली उन्मुक्त भावना का अधिक समन्वय है। स्वच्छंदवादी कवि (काव्य में) प्रकृति की कल्पनात्मक अभिव्यक्ति के लिए व्यापक और उन्मुक्त वातावरण उपस्थित करता है। यह एक सीमा तक व्यक्तित्व और आचरण के लिए सहायक होता है।[2] स्वानुभूति के माध्यम से जो व्यंजनात्मक कला-सर्जन किया जाता है, उसके लिए मानव-जीवन के प्रत्येक रूप से सम्बन्धित सहानुभूति आवश्यक तथा निश्चित है। इसी सहानुभूति से सम्बन्धित साहचर्य भाव की व्यापकता में यौन सम्बन्धी भाव भी आ जाता है। फ्रायड ने मनोविश्लेषण के आधार पर समस्त

१. वान हार्टमेन और सिलर का मत (दि क्रिटिकल हिस्ट्री ऑव मार्डन एस्थेटिक्स से)
२. शेली की 'ए डिफ़ेन्स ऑव पोइट्री' के आधार पर।

कलात्मक अभिव्यक्ति तथा सौन्दर्य-भावना में यौन-भाव की अन्तर्निहित प्रवृत्ति मानी है। इस रति-भाव का संघर्ष युगों से चली आने वाली संस्कृति में अन्य आत्मपरक तथा सामाजिक भावों से होता रहा है। इस प्रकार यह भाव चेतना के सुप्त स्तरों में अन्तर्निहित हो गया है। इन्हीं विषम भाव-स्थितियों की अभिव्यक्ति काव्य और कला में सौन्दर्य-का ग्रहण करती है। इतिहास में महान सांस्कृतिक जातियों का विकास यौन विषयक प्रेरणा से तथा इस भाव को संयमित करने से हुआ है। इस प्रेरणा और उसके संयम में विरोधी भावना कार्यशील रही है और इन्हीं दोनों छोरों के बीच में मानव-जाति का सभ्यता सम्बन्धी विचार निर्धारित होता रहा है। दर्शन और धर्म के साथ कला इसी प्रक्रिया की अभिव्यक्ति है। सौन्दर्य सम्बन्धी इस मत में सत्य अवश्य है। परन्तु जैसा तृतीय प्रकरण में कहा गया है, यौन सम्बन्धी भाव संवेगों के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योग रखते हैं। पर इस प्रकार इसको इस सीमा तक महत्त्व देना अतिव्याप्ति कही जायगी।

रूपात्मक नियमन—इन सिद्धान्तों के अतिरिक्त कुछ में मानस-शास्त्र के आधार पर सौन्दर्य की भाव-स्थिति का केवल विश्लेषण किया गया है; और कुछ में प्रयोगात्मक रीति पर सौन्दर्य-सम्बन्धी नियम निश्चित किए गए हैं। घटना-स्थितिवादियों ने प्रत्यक्ष तथा परप्रत्यक्ष आदि के रूप में सौन्दर्य के रूपात्मक भेद किए हैं। परन्तु प्रयोगवादियों ने मानस-शास्त्र के संयोग विरोध आदि नियमों के आधार पर सौन्दर्य की व्याख्या की है। परन्तु यह व्याख्या सौन्दर्य न कही जाकर सौन्दर्य के आधार-भूत मानस-शास्त्र के नियम कहे जायेंगे। इनसे केवल एक सहायता ली जा सकती है। प्रकृति सम्बन्धी सौन्दर्य-भाव में इन नियमों को ढूंढ़ा जा सकता है; या इन नियमों से सौन्दर्य की कुछ कल्पना की जा सकती है। दूसरे कुछ सिद्धान्तों में प्रकृति के रूप-गुणों के सहारे सौन्दर्य को समझने का प्रयास किया जाता है। इनके अनुसार सौन्दर्य की विवेचना के लिए प्रकृति के गुणों, आकार-प्रकार, रंग-रूप, नाद-ध्वनि, गन्ध-स्पर्श आदि पर विचार करना पर्याप्त है। रस्किन प्रकृति के इन्हीं वस्तु-गुणों को कला में अनुकरण करने को कहते हैं। परन्तु इससे भी सौन्दर्य की व्याख्या न होकर केवल उपकरणों की विवेचना होती है। इस मत के विषय में महत्त्वपूर्ण बात यही है कि कला में प्रकृति के उपकरणों का ही आश्रय अभिव्यक्ति के साधन के रूप में लिया गया है। इस प्रकार इससे यह संकेत मिलता है कि प्रकृति और काव्य के सौन्दर्य में समता होनी सम्भव है।

प्रकृति और कला में सौन्दर्य

कलात्मक दृष्टि—सौन्दर्य की भावना मनस्-परक है और प्रकृति का सौन्दर्य हमारी कलात्मक दृष्टि का परिणाम है। प्रकृति को लेकर किसी विशेष दृष्टि के बिना

किसी भी प्रकार की सौन्दर्य-कल्पना नहीं की जा सकती। इस विषय में लगभग सभी विद्वान एकमत हैं। यदि किसी का मत इसके विरुद्ध लगता भी है, तो उसका कारण उनका सौन्दर्य सम्बन्धी अपना मत है। इसको इस प्रकार कहा जा सकता है कि वे प्रकृति की सौन्दर्य भावना को इस प्रकार निरूपित करते हैं, जैसी उनको सौन्दर्य की व्याख्या करनी होती है। इसका परिचय बाद में मिल सकेगा; अभी तो हम यही स्वीकार करते हैं कि प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति के लिए काव्यात्मक (कलात्मक) दृष्टि आवश्यक है। क्रोचे के अनुसार—प्रकृति उसी व्यक्ति के लिए सुन्दर है जो उसे कलाकार की दृष्टि से देखता है······प्रकृति कला की समता में मूक है और मानव उसे जब तक वाणी नहीं देता वह मूक है।[1] इसी को एस० अलेकजेन्डर भी मानते हैं। उनके मत से प्रकृति तभी सुन्दर लगती है, जब हम उसे कलाकार की दृष्टि से देखते हैं और एक सीमा तक हम सभी कलाकार हैं।[2] हममें छिपा-हुआ जो कलाकार है, वही प्रकृति को सौन्दर्य दान देता है। वस्तुतः जब हमारे सामने प्रकृति होती है, उस समय प्रकृति का सारा विस्तार सौन्दर्य के रूप में नहीं रहता। प्रत्येक दृश्य को सौन्दर्य की रूप-रेखा में बाँधने के लिए चयन करना पड़ता है। प्रकृति स्वयं में सुन्दर नहीं है, वरन् हम प्रकृति के व्यापक विस्तार से चयन करके विभिन्न संयोग से सौन्दर्य का चित्र पूरा करते हैं। यह ऐसे ही होता है जैसे कलाकार अपने रंगों के संयोग द्वारा सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करता है।[3] परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि साधारण व्यक्ति प्रकृति के सौन्दर्य को देखता ही नहीं। वस्तुत. जिसको हम कलाकार कहते हैं उसमें और साधारण व्यक्ति में प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति के विषय में केवल मात्रा का अन्तर होता है। दोनों ही अपने लिए सौन्दर्य का सर्जन करते हैं। केवल कलाकार में व्यापक और प्रत्यक्ष-ग्रहण करने की शक्ति होने के कारण उसमें अभिव्यक्ति की प्रेरणा-शक्ति भी होती है। कलाकार जिस दृश्य को देखता है, उसके प्रत्यक्ष या परप्रत्यक्ष की प्रेरणा अभिव्यक्ति के रूप में प्रतिकृत होती है।[4]

मानसिक स्तरों का भेद—(क) परन्तु ऊपर की प्रकृति सौन्दर्य सम्बन्धी दृष्टि अधिक व्यापक सीमा को स्पर्श करती है। साधारण व्यक्ति भी प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होता है और इसका कारण भी साधारण मानस-शास्त्र में होना चाहिए। यहाँ इस बात का संकेत कर देना आवश्यक है। जैसा हम पिछले प्रकरण की विवेचना में देख चुके हैं, सौन्दर्य केवल प्रत्यक्ष-बोध से सम्बन्धित सुखानुभूति नहीं है। साधारण

१. 'एस्थिटिक्' पृ० ६६ तथा 'एसेन्स ऑव एस्थिटिक' पृ० ८६
२. 'ब्यूटी एंड अदर फार्मस ऑव वैल्यू' के द्वितीय प्रकरण 'ब्यूटी' से (पृ० ३०)
३. 'दि सेंस ऑव ब्यूटी, (पृ० १३३)
४. ई० एफ० कैरिट की 'दि थियरी ऑव ब्यूटी' पृ० ३६

व्यक्ति के प्रकृति सौन्दर्य सम्बन्धी आकर्षण में इस प्रकार के इन्द्रिय संवेदना और प्रत्यक्ष बोध के विभिन्न मानसिक स्तर हो सकते हैं। परन्तु इसको सौन्दर्यानुभूति की समष्टि या समवाय नहीं माना जा सकता। ई० एम० बर्टलेट के मतानुसार—"प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति को सुन्दर कलाकार के समान नहीं बना देता; जैसा कलाकार कला को बनाता है। साधारण व्यक्ति तो प्रकृति के गुणों को सुन्दर तथा असुन्दर दोनों ही प्रकार से देख सकता है।"[1] इससे भी यह स्पष्ट है कि प्रकृति सौन्दर्य के लिए कल्पनात्मक मानसिक स्तर होना चाहिए। साधारण जन तो केवल अपनी मानसिक विकास की स्थिति तक प्रकृति के सौन्दर्य का अनुभव कर सकता है। परन्तु प्रकृति के संपर्क से जो अन्य प्रकार का आकर्षण या सुख प्राप्त होता है, उसको सौन्दर्य की कल्पनात्मक श्रेणी का आनन्द नहीं कह सकते। संवेदनात्मक सुखानुभूति और कल्पनात्मक सौन्दर्य का आनन्द भिन्न है। साधारण स्थिति में व्यक्ति किसी वस्तु के प्रत्यक्ष की संवेदना प्राप्त करता है जो सुखकर हो सकती है। परन्तु वही व्यक्ति जब वस्तु के सौन्दर्य की ओर आकर्षित होता है, तब वह वस्तु के वास्तविक प्रत्यक्ष के अर्थ से अधिक महत्त्वपूर्ण अर्थ में वस्तु का कल्पनात्मक बोध प्राप्त करता है। और इसी स्थिति से कलात्मक आनन्द भी सम्बन्धित है; केवल उसमें यह स्थिति अधिक व्यक्त और परिष्कृत रहती है। प्रकृति के सौन्दर्य के संबन्ध में विद्वानों का मतभेद उनकी सौन्दर्य विषयक व्याख्या के अनुसार ही है। हम पीछे कह चुके हैं कि सौन्दर्य भाव हमारे ज्ञानात्मक तथा भावात्मक विकास से सम्बन्धित रहा है और प्रकृति का सौन्दर्य अन्यथा कुछ नहीं केवल हमारे अन्दर के सौन्दर्य भाव का प्रकृति पर प्रसरण है।

प्रकृति का सौन्दर्य

दोनों पक्षों की स्वीकृति—अभी तक प्रकृति के सौन्दर्य की व्यापक सामञ्जस्य-पूर्ण बात कही गई है; अब उसके विभिन्न पक्षों की विवेचना अलग-अलग करनी है। इस विवेचना में प्रकृति के सौन्दर्य का क्रमिक और स्पष्ट रूप हमारे सामने उपस्थित हो सकेगा। अभी हम कह चुके हैं कि प्रकृति सौन्दर्य का रूप और भाव, एक सीमा तक हमारी कलात्मक दृष्टि का फल है और साथ ही कुछ अंशों में हम सभी में कलाकार की प्रवृत्ति रहती है। लेकिन प्रकृति सुन्दर के अतिरिक्त भी कुछ है। वह भयानक है, भयभीत करती है और कभी वीभत्स भी लगती है। परन्तु सौन्दर्य में ये सभी विभिन्न भाव आत्मसात् हो जाते हैं। पिछले प्रकरण में कहा गया है कि भावों के विकास के विभिन्न स्तरों से प्रकृति का क्या सम्बन्ध रहा है। यहाँ पर जिस प्रकार का प्रकृति-सौन्दर्य आज हमारे सामने है उसको मूल प्रवृत्तियों के आधार पर विभाजित करना है।

१. 'टाइप्स ऑव एस्थिटिक जजमेंट'; 'नेचुरल ब्यूटी' पृ० २१८

प्रकृति के सौन्दर्य के विषय में हमारी भावुकता प्रधान लग सकती है; परन्तु उसके रूप-पक्ष की उपेक्षा नहीं की जा सकती। जिस प्रकार हमको प्रकृति के भाव और रूप पक्षों को स्वीकार करना पड़ा था; उसी प्रकार सौन्दर्य की व्याख्या करते समय भी इन दोनों पक्षों को स्वीकार करना है। प्रकृति का रूप उसके सौन्दर्य का आधार है, यद्यपि जैसा हम प्रथम प्रकरण में कह चुके हैं इस रूप के लिए मानवीय मानस की स्वीकृति आवश्यक है। फिर भी इस रूप में प्रकृति का अपना योग मान्य है। इस रूप के आधार पर भाव क्रियाशील होता है और अपने संचयन में सौन्दर्य की अनुभूति प्राप्त करता है। लेकिन हम तीसरे प्रकरण में देख चुके हैं कि हमारे भावों के विकास में प्रकृति का योग महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार प्रकृति को सौन्दर्यानुभूति में भाव और रूप की विचित्र स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसमें यह कहना असम्भव हो जाता है कि कौन प्रधान है। वस्तुतः भाव और रूप का यह वैचित्र्य सौन्दर्य है।

भाव-पक्ष : संवेदनात्मकता—प्रकृति के भावात्मक सौन्दर्य में हम अपनी विवेचना की सुगमता के लिए विषय का मनस्-परक पक्ष ले सकते हैं। इसमें भी एक प्रभावशील भावना है जो समष्टि रूप से इन्द्रियों के विभिन्न गुणों की संवेदनात्मकता पर आधारित है और रूप-पक्ष में वस्तुओं के गुणों पर निर्भर है। इसकी सुखानुभूति इन्द्रिय वेदनाओं में प्रत्यक्ष-बोध और कल्पना के रूपों की संवेदना से सम्बन्धित है। परन्तु सौन्दर्य में इनका योग निरति की भाव-स्थिति पर सम्भव है। सभ्यता के इस युग में भी पार्कों में दूबाल और उस पर क्यारियों में सजे हुए गहरे रंग के फूल हमारी इसी सौन्दर्य भावना के साक्षी हैं। इसी आधार पर कुछ सिद्धान्तवादियों ने सौन्दर्य का मापदंड इसी प्रभावात्मकता को माना है। परन्तु यदि ऐसा होता तो प्रकृति के रूप-रंगों का गम्भीर प्रभाव कला के कोमल प्रभाव से अधिक महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया जाता। प्रकृति के विस्तार में संध्या के हलके घुलते रंगों में पर्वत की मिटती हुई श्रेणियों के प्रसरित विस्तार में, उस पर आच्छादित बर्फ़ की धुंधली सफ़ेद आभा में, आकाश की एकरस नीलिमा में तथा तारों के[illegible] जलाए हुए रात्रि के आँचल में जो सौन्दर्य छिपा है वह साधारण प्रभावशीलता भ[illegible] नहीं कहा जा सकता। यह सौन्दर्य बहुत कुछ हमारे संस्कृत कलात्मक दृष्टि का परिणाम है।

सहचरण की सहानुभूति (क)—प्रकृति सौन्दर्य का दूसरा भावात्मक रूप सह-चरण की सहानुभूति में स्वीकार किया जा सकता है। इसी आधार पर वह हमको अपने समानान्तर लगती है। प्रकृति अपने क्रिया-व्यापारों में मानव-जीवन के अनुरूप जान पड़ती है, साथ ही प्रकृति मानवीय चेतना और भावों से युक्त भी उपस्थित होती है। साहचर्य-भाव की स्थिति में प्रकृति इस प्रकार अपने सौन्दर्य में ही मग्न जान

पड़ती है।[1] प्रकृति सौन्दर्य के इस पक्ष के विकास में कितनी ही भाव-स्थितियों का योग हुआ है, इसलिए इसको सरलता से एक भाव के रूप में नहीं समझा जा सकता। साहचर्य-भाव की इस स्थिति में सामाजिक, आत्मिक तथा यौन सम्बन्धी भावों का सम्मिश्रण समझा जा सकता है। यद्यपि सम्मिश्रण साधारण योग से न होकर विकास-पथ से प्राप्त हुआ है। मानवीय संस्कृति के युग में प्रकृति के प्रति साहचर्य की भावना उसके सौन्दर्य की प्रबल आकर्षण शक्ति है। साथ ही प्रकृति के प्रति मानव की स्वच्छन्द प्रवृत्ति का रूप भी इसमें सन्निहित है। हमारी चेतना तथा हमारे प्राणों से सचेतन और सप्राण प्रकृति, हमारी भावनाओं में निमग्न होकर सुन्दर लगती है। यह मानसिक अनुकरण का प्रकृति पर प्रतिबिम्ब-भाव ही है जो हमको स्वयं सुन्दर लगने लगता है। इस प्रकार यह सहचरण सम्बन्धी प्रकृति के प्रति साहचर्य की भावना प्रकृति-सौन्दर्य का महत्त्वपूर्ण रूप है।[2]

व्यंजनात्मक प्रतिबिम्ब भाव (ख)—सौन्दर्य की इस अनुभूति तक साधारण व्यक्ति अपनी अव्यक्त कलात्मक प्रवृत्ति से पहुँच सकता है। वह प्रकृति-सौन्दर्य का आनन्द प्राप्त करता है। परन्तु जब व्यंजनात्मक दृष्टि से यह प्रकृति का प्रतिबिम्ब-भाव अधिक व्यक्त तथा स्पष्ट हो जाता है; तभी प्रकृति का सौन्दर्य भी अधिक आकर्षक होता है। यह सौन्दर्यानुभूति संवेदनशील व्यक्ति को ही हो सकती है; जिसको भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने रसज्ञ माना है। वह प्रकृति के सौन्दर्य में अपनी व्यंजना-शक्ति के द्वारा उन अभिव्यक्तियों का प्रतिबिम्ब देखने में समर्थ होता है, जो साधारण व्यक्ति के लिए असम्भव है। कवि, कलाकार और रहस्यवादी भी अपने मनोयोग के कारण प्रकृति के इस व्यंजनात्मक सौन्दर्य को देखने में सफल होते हैं। इस सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने का प्रश्न पंचम प्रकरण में उपस्थित किया गया है।

रूपात्मक वस्तु-पक्ष—अभी प्रकृति-सौन्दर्य के भावात्मक पक्ष पर विचार किया गया है। अब वस्तु-रूप प्रकृति-सौन्दर्य के विषय पर विचार करना है; जिसे रूपात्मक पक्ष भी कहा जा सकता है। भाव से अलग रूप कुछ नहीं है, इसी प्रकार रूप के आधार बिना भाव-स्थिर नहीं हो सकता। फिर इन दोनों पक्षों की अलग-अलग व्याख्या करने का उद्देश्य केवल विषय को अधिक स्पष्ट करना है। प्रकृति अनेक रूप-रंगों में हमारे सामने उपस्थित है, साथ ही उसमें आकारों की सहस्र-सहस्र रूपात्मकता भी सौन्दर्य और उसके कलात्मक प्रदर्शन में योग प्रदान करती है। ज्योमित के नाना

१. काव्य में प्रकृति-सौन्दर्य का यह रूप कहीं मानवीय आकार में, कहीं मानवीय मधु-क्रीड़ाओं में व्यक्त और कहीं मानवीय भावों से प्रगुम्फित चित्रित होता है।

२. आगे दूसरे भाग में हम देखेंगे कि इसी भावना की प्रमुखता से स्वच्छंदवादी प्रकृति सम्बन्धी प्रवृत्ति का विकास होता है, जो हिन्दी-साहित्य के मध्य-युग में विकसित नहीं हो सकी।

पंचम प्रकरण

प्रकृति-सौन्दर्य और काव्य

पिछले प्रकरण में मानव और प्रकृति के सम्बन्धों के माध्यम से सौन्दर्य की व्याख्या की गई है। परन्तु इस विवेचना में प्रकृति-सौन्दर्य पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया गया है। इस सौन्दर्य की रूप-रेखा उपस्थित करते समय काव्य तथा कला सम्बन्धी उल्लेख आए हैं; लेकिन वे प्रासंगिक ही कहे जा सकते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में प्रकृति-सौन्दर्य काव्य का विषय किन विभिन्न रूपों में होता है, इस पर विचार करना है। वस्तुतः हम देखेंगे कि काव्य भी सौन्दर्य-भाव से सम्बन्धित है। इसलिए प्रश्न यह है कि प्रकृति-सौन्दर्य काव्य सौन्दर्य में किस प्रकार और किन रूपों में अभिव्यक्त होता है। परन्तु इस विवेचना के पूर्व काव्य का एक निश्चित स्वरूप भी हमारे सामने होना चाहिए। हम देख चुके हैं कि प्रकृति के सौन्दर्य-भाव में हमारा कलात्मक दृष्टिकोण ही प्रमुख रहता है। लेकिन काव्य के विषय में विद्वानों में ऐसा विचार-वैषम्य है कि किसी एक के मत को लेकर चलने से काव्य का स्वरूप एकांगी ही लगता है। यद्यपि ऐसा है कि प्रत्येक सिद्धान्त की व्यापकता में अन्य सभी अंग समा जाते हैं। इस प्रकार जब तक काव्य विषयक विभिन्न मत किसी क्रमिक स्वरूप में नहीं उपस्थित हो जाते, उसका पूरा स्वरूप हमारे सम्मुख नहीं आ सकेगा। और साथ ही इन मतों के विषय में भ्रम भी रह सकता है।

काव्य की व्याख्या

विभिन्न मतों का समन्वय—प्रत्येक काव्य-वर्ग के आचार्य ने अपने मत को इतना महत्त्व दिया है और साथ ही व्यापकता भी प्रदान की है कि एक ओर यह मत अपने रूप विशेष के कारण सीमित और भ्रामक विदित होता है और दूसरी ओर अपनी व्यापकता के कारण दूसरे मतों को आत्मसात् भी कर लेता है। अलंकार, ध्वनि, रीति तथा रसवादी आचार्यों के सिद्धान्तों में यही बात समान रूप से पाई जाती है। भारतीय

आकार प्रकृति के रूप में बिखरे हुए हैं जो प्रकृति के सौन्दर्य के चित्रपट को सीमादान करते हैं। यदि इस प्रकार हम देखें तो रूप और आकार विभिन्न सीमाओं में प्रत्येक दृश्य को हमारी चेतना से सम रूप में उपस्थित कर सौन्दर्य प्रदान करते हैं। यही नहीं प्रकृति में गति और संचलन जिनका उल्लेख प्रथम प्रकरण में किया गया है, हमारे आत्म प्रसार के लिए विशेष आधार हैं। प्रकृति में असंख्य ध्वनियों के सूक्ष्म भेद व्याप्त हैं। प्रकृति का नितान्त शान्त वातावरण जनाकुल नगरों के विरोध में सौन्दर्य का रूप धारण कर सकता है। कल-कल, झर-झर, टल-मल आदि प्रकृति में जल-प्रवाह की ध्वनियाँ अपनी विविधता के साथ जीवन और चेतना के सम पर सुन्दर लगती हैं। गन्ध और स्पर्श का योग प्रकृति सौन्दर्य में उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, परन्तु इनका संयोग उसमें अवश्य है। और अधिकांश में इनका योग संयोगात्मक ही अधिक है। साथ ही कुछ व्यक्ति इनके प्रभावों के प्रति अधिक सचेष्ट होते हैं। वे इनका संयोग दृश्यात्मक सौन्दर्य से अधिक शीघ्र कर लेते हैं।[१] इन सबके विषय में यह समझ लेना आवश्यक है कि प्रकृति-दृश्यों में ये समस्त गुण जिनका विभाजन किया गया है, अलग-अलग अपना अस्तित्व नहीं रखते, ये अपनी समष्टि और सामञ्जस्य में ही सुन्दर हैं। कभी जब इस एकरूपता में कोई रूप अलग लगने लगता है, तो वह सौन्दर्य बोध में बाधा के समान खटकता है। प्रकृति में आकार-प्रकार की विभिन्नता व्यापक है; उसमें रंगों के इतने सूक्ष्म भेद और छायातप सम्मिलित हैं और उसकी ध्वनियों में इतना स्वर-लय है कि कला के सुन्दर से सुन्दर रूप में इनका उपस्थित करना कठिन है। परन्तु कला में जो चयन और प्रभावोत्पादक शक्ति है उससे सौन्दर्य में सजीवता और सप्राणता की गम्भीर व्यंजना सन्निहित हो जाती है। यह संचित और केन्द्रित प्रभावशीलता प्रकृति के प्रसरित सौन्दर्य में नहीं हो सकती। परन्तु यदि कलाकार स्वयं प्रकृति में अपनी कला का आदर्श ढूँढ़ना चाहे तो मिल सकता है, क्योंकि प्रकृति के पास उसके चयन के लिए अपार भंडार है।

मानस-शास्त्रीय नियम—प्रकृति सौन्दर्य के वस्तु-परक (विषय) और मनस्-परक भाव रूपात्मक तथा भावात्मक पक्षों पर संक्षेप में विचार किया गया है। परन्तु इन दोनों के सामञ्जस्य के आधार में कुछ मानस-शास्त्रीय नियम हैं। इनकी विवेचना प्रयोग-वादी सौन्दर्य-शास्त्रियों ने मुख्य रूप से की है। यहाँ उनका उल्लेख करना उपयोगी होगा। कलात्मक सौन्दर्य की स्थिति साधारण मानसिक स्थिति नहीं है, इस पर विद्वान्

---

१. इस विषय में लेखक के अपने प्रयोग भी हैं। उसे दृश्य के साथ स्पर्श के संयोग अधिक स्पष्ट होते हैं और कुछ अवसरों पर गन्धों का संयोग भी उसके अनुभव में आश्चर्यजनक हुआ है। वस्तुतः विभिन्न व्यक्तियों में गन्ध तथा स्पर्श सम्बन्धी परप्रत्यक्ष करने की भिन्न शक्तियाँ होती हैं। कुछ व्यक्ति निश्चित रूप से इनका स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष कर सकते हैं।

एकमत हैं। भारतीय विद्वान् भी इससे सहमत हैं। परन्तु जिन साधारण नियमों के आधार पर यह मानसिक स्थिति बन जाती है, उसका उल्लेख किया जा सकता है। इन समस्त नियमों को दो प्रमुख नियमों के अन्तर्गत माना जा सकता है। प्रथम नियम भावों के सामञ्जस्य के रूप में माना जा सकता है जिसके अन्तर्गत समस्त आकारात्मक सानुपात, रंग-रूपों की एकता विभिन्नता सम्बन्धी नियम आ जाते हैं। तथा यह भाव-पक्ष में भाव की एक सम स्थिति का भी संकेत देता है। दूसरा नियम भाव-संयोग सम्बन्धी है, इसमें साम्य, वैषम्य तथा क्रम के नियम सन्निहित हैं और इसी नियम में विभिन्न भावों का समन्वित वैचित्र्य भी सम्मिलित है। ये नियम साधारणतः आश्रय रूप स्वीकार किए जा सकते हैं। इन नियमों का सौन्दर्य के दोनों पक्षों के संतुलन में आधार भर रहता है, परन्तु ये सौन्दर्य के नियम किसी प्रकार स्वीकार नहीं किए जा सकते।

प्रकृति-सौन्दर्य के रूप

विभाजन की सीमा—प्रकृति-सौन्दर्य को विभिन्न प्रकार से स्थापित करने के बाद प्रश्न उठता है कि क्या प्रकृति सौन्दर्य-रूपों का विभाजन किया जा सकता है। पहले ही कहा गया है कि सौन्दर्य ऐसी भाव-स्थिति नहीं जिसका विभाजन किया जा सके। परन्तु भावों के समवाय की स्थिति में जिन भावों का प्रमुख आधार रहता है, उसकी दृष्टि से कुछ प्रमुख रूपों का उल्लेख किया जा सकता है। भारतीय काव्य-शास्त्र में नव-रस के विधान में नव-स्थायी भावों को स्वीकार किया गया है। इन समस्त स्थायियों की यहाँ विवेचना नहीं की जा सकती। परन्तु इनको स्वीकार कर लेने पर भी इनमें से कुछ मानवीय चरित्र और सम्बन्धों को लेकर ही हैं और इस प्रकार उनका क्षेत्र प्रकृति-सौन्दर्य नहीं है। इसी प्रकार जहाँ तक प्रकृति-सौन्दर्य का सम्बन्ध है कुछ भाव दूसरे भावों में लीन किए जा सकते हैं। प्रकृति के संवेदनात्मक सौन्दर्य में विरोधी भाव के रूप में जुगुप्सा का भाव सम्मिलित हो जाता है। और प्रकृति की महत् भावना की सौन्दर्य-स्थिति में भय तथा विस्मय के भाव मिल जाते हैं। इसी प्रकार साहचर्य सम्बन्धी सौन्दर्य भावना में प्रकृति के सचेतन और भावशील रूप में अन्य विभिन्न मानवीय भावों का आरोप हो जाता है। मानवीय चरित्र (आचरण) तथा धर्म सम्बन्धी मूल्यों का समवाय प्रकृति में प्रतिबिम्ब रूप में ही हो सकता है। इस स्थिति में सत्य और शिव की भावना के साथ ये मूल्य सौन्दर्य के समान ही हैं। इस प्रकार प्रकृति-सौन्दर्य का विचार हम तीन प्रमुख रूपों में कर सकते हैं: महत्, संवेदनशील तथा सचेतन।

महत्—(क) प्रकृति में महत् की सौन्दर्य-भावना साधारणतः अनन्त शक्ति,

विशाल आकार तथा व्यापक विस्तार से सम्बन्धित है। इसमें मूलतः प्रारम्भिक स्थिति से भय और विस्मय के भाव सन्निहित हैं। इस प्रकार महत् रूप से भयंकरता और उत्पीड़न सम्बन्धित तो अवश्य हैं; परन्तु सौन्दर्य के स्तर पर महत् में इनका योग नहीं माना जा सकता और न ये उसके मूल में कहे जा सकते हैं। महत् की सौन्दर्यानुभूति में एक प्रकार का व्यापक प्रभाव रहता है, जो वस्तु की आकाश-स्थिति, शक्ति-संचलन अथवा उसके गुण से सम्बन्धित है। महानता की सौन्दर्य-भावना, विशालता के कल्पनात्मक परप्रत्यक्ष से प्रभावित होती है। इसके अनन्तर इसमें सहानुभूति की मूल-रूप तदाकारता की चेतन अनुभूति मिल जाती है। इसी कल्पनात्मक सहानुभूति से हम वस्तु की विशालता सम्बन्धी मानसिक महानता की तदाकारता स्थापित करते हैं।

संवेदक—(ख) प्रकृति के दूसरे सौन्दर्य-रूप को हम संवेदनात्मक (प्रभावशील) मानते हैं। इस संवेदनात्मक मानसिक स्थिति में प्रगाढ़ की भावना है। इसके मूल में इन्द्रिय-वेदना की सुखात्मक अनुभूति अवश्य है और इसके आधार में प्रकृति के माध्यमिक गुण हैं। परन्तु प्रकृति सौन्दर्य के इस रूप से इनका दूर का सम्बन्ध है, यह पिछले प्रकरण की विवेचना से ही प्रत्यक्ष है। यह प्रकृति का हृदयात्मक सौंदर्य इन्द्रियों को मादकता के समान प्रभावित करता है। वस्तुतः इन सब सौन्दर्य रूपों की कल्पना अलग-अलग नहीं की जा सकती। यही कारण है कि इस संवेदनात्मक सौन्दर्य भाव में महत् का रूप भी सन्निहित हो सकता है। साथ ही इस भाव में साहचर्य-भावना और उसके साथ मानवीय भावों का आरोप बहुत कुछ मिल-जुल गया है।

सचेतन—(ग) प्रकृति-सौन्दर्य में सबसे अधिक व्यापक विभिन्नता उत्पन्न करने वाला रूप है, प्रकृति का सचेतन सौन्दर्य। इस सौन्दर्य रूप में हमारी चेतना का सम है, साथ ही साहचर्य-भावना की विकासोन्मुखी प्रवृत्तियों का संयोग भी। आदिम-काल का प्रकृति पर चेतना तथा मानवीय आकार का आरोप सौन्दर्य रूप तो नहीं था; पर उसने सौन्दर्यानुभूति के लिए आधार प्रस्तुत किया है। विकास के साथ जैसे-जैसे आत्म-तदाकारता की भावना, सामाजिक स्तर पर साहचर्य सम्बन्धी विभिन्न भावनाओं से मिलती गई; प्रकृति पर उनका आरोप भी उसी विषम मनःस्थिति के साथ होता रहा है।[१] इस स्तर पर प्रकृति-सौन्दर्य का कोई भी रूप इस भावना से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका है। यही कारण है कि प्रकृति-सौन्दर्य के समस्त रूपों पर इस रूप की छाया पड़ती रहती है।

× × ×

प्रकृति प्रेम—अन्त में यह भी कह देना आवश्यक है कि प्रकृति का सौन्दर्य तथा आकर्षण संवेदनात्मक विकास के साथ अधिक प्रत्यक्ष तथा व्यक्त होता गया है।

१. आधुनिक हिन्दी-काव्य में प्रकृति पर विषम भाव-स्थितियों के आरोप मिलते हैं।

इस विषय में कुछ लोगों को भ्रम है कि सभ्यता तथा ज्ञान के साथ हमारा प्रकृति-प्रेम कम होता जाता है। उनकी धारणा कुछ इस प्रकार की है कि सौन्दर्य-भावना पर आधारित प्रकृति-प्रेम भ्रमपूर्ण ज्ञान से होता है। और ज्यों-ज्यों हम प्रकृति तथा उसके नियमों से परिचित होते जाते हैं, हमारा प्रेम का भाव उसके सौन्दर्य के साथ ही विलीन होता है। परन्तु यह ठीक नहीं है। वस्तुतः हम ज्यों-ज्यों प्रकृति से परिचित होते जाते हैं; हम प्रकृति को अधिकाधिक अपने जीवन तथा चेतना के सम पर पाते हैं। इस कारण एक प्रकार से प्रकृति के प्रति हमारा सर्वचेतनवादी मत होता जाता है। हम प्रकृति के नियमों में अपने जीवन की समानान्तरता पाते हैं। आन्तरिक विश्व और बाह्य विश्व की यह एकरूपता एक विशेष आकर्षण का विषय हो गई है। परन्तु आज मानव अपनी समस्या में इतना अधिक उलझा लगता है कि वह प्रकृति को प्रयोजनात्मक दृष्टि के अतिरिक्त देख नहीं पाता। परन्तु मानवीय जीवन की अशांति तथा हलचल के विरोध में प्रकृति की शांति आज भी उतनी ही आकर्षक हो उठती है।

मानव इतिहास के क्रम में—यदि हम मिथ-शास्त्र तथा मानव-शास्त्र के सहारे पिछले विकास-क्रम पर विचार करते हैं, तब भी इसी सत्य तक पहुँचते हैं। प्रारम्भिक युग में मानव चेतना पर प्रकृति की अज्ञात रूपात्मकता छायी रहती थी जिससे वह उस स्थिति में केवल अपनी आवश्यकताओं को ही समझ सकता था। इसके अनन्तर मानव ने मानस के सहारे प्रकृति के आकारों को स्थान-केन्द्रित करना आरम्भ किया। यह वस्तु-बोध की अज्ञानात्मक अवस्था थी। उस समय उसको बोध था कि वह ऐसी अपरिचित वस्तु से घिरा है जिसको वह नहीं जानता था। इस स्थिति में प्रकृति केवल उसके भय का विषय थी। तीसरे स्तर पर प्रकृति स्पष्ट रूपरेखा में आने लगती है। परन्तु इस स्थिति में मानव प्रकृति को अपने ही समान समझने का भ्रम करता था। इस मानवीकरण के युग में मानव प्रकृति में उसके रूप से अलग एक सूक्ष्म रूप भी मानता था। धीरे-धीरे भय के साथ जिज्ञासा भी बढ़ने लगी और प्रकृति को मानव अपने समान सप्राण और सचेतन समझने लगा। इस स्थिति तक वह प्रकृति को पहचान सका था और यहीं से प्रकृति सौन्दर्य की कल्पना की जा सकती है। इसके पूर्व सौन्दर्य केवल सुखानुभूति के रूप में माना जा सकता है। इस स्वचेतना के (आत्म) आरोप के बाद प्रकृति सर्वचेतन रूप में अधिक व्यापक तथा सुन्दर हो गई और इस स्थिति के बाद प्रकृति अब हमारे समस्त भावों और कल्पनाओं का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने लगी है। हम देखते हैं कि इस विकास में प्रकृति-सौन्दर्य अधिक स्पष्ट तथा व्यक्त ही हुआ है।

काव्य सम्बन्धी सिद्धान्तों में कवि के मनस्-परक विषय-पक्ष की उपेक्षा भी की गई है।[1] जहाँ तक पाश्चात्य विद्वानों के मत का प्रश्न है; उनमें भी काव्य की विभिन्न स्थितियों को महत्व दिया गया है। परन्तु इनमें समन्वय का मार्ग ढूंढ़ा जा सकता है। वैसे पश्चिम में काव्य सम्बन्धी इतने वर्ग या स्कूल भी नहीं हैं। वहाँ मुख्यतः काव्य के दो रूप विषयक सिद्धान्त प्रचलित रहे हैं, जिनको स्वच्छन्दवादी तथा संस्कारवादी कहा गया है। बाद में ये सिद्धान्त विशेष गुणों से बँधकर सिद्धान्त विषयक विभिन्नता के प्रतीक नहीं रह सके। क्योंकि प्रत्येक युग में काव्य सम्बन्धी विभिन्न प्रवृत्तियां तो मिलती ही हैं। इन दोनों सिद्धान्तों में व्यक्तिगत स्वानुभूति तथा परिस्थितिगत चरित्र-चित्रण का भेद है, साथ ही एक की शैली भावात्मक है और दूसरे की रूपात्मक है। इन्हीं के अन्तर्गत अन्य अनेक मत हैं जिनका उल्लेख उचित स्थान पर किया जायगा। काव्य के सम्पूर्ण स्वरूप को ध्यान में रखते हुए विचार करने पर लगता है काव्य सामञ्जस्य है, समन्वय है और एक सम है। और यह सम अनुभूति, अभिव्यक्ति तथा संवेदना (प्रभाव) तीनों को लेकर है। इसलिए कहा जा सकता है काव्य सौन्दर्य-व्यंजना है।

काव्य सौन्दर्य व्यंजना है—सौन्दर्य की विवेचना भावों के विकास तथा प्रकृति के सम्बन्ध में की गई है। यही सौन्दर्य कौशल की निर्भर साधना में कला को जन्म देता है और कला जब सौन्दर्य के उपकरणों से सम उपस्थित कर लेती है, वह काव्य सौन्दर्य हो जाता है। इस सीमा में संगीत भी काव्य है। संगीत में नाद और लय के विरोध तथा वैषम्य से भाव-साम्य उपस्थित किया जाता है और काव्य में व्यंजनात्मक ध्वनियों के संयोग में, विरोध-वैषम्य के आधार पर भाव-साम्य उपस्थित किया जाता है। साधारण कलाओं में सौन्दर्य की व्यंजना प्रकृति के उपकरणों से की जाती है। उपकरणों के प्राकृतिक गुण स्वयं भावाभिव्यक्ति में सहायक होते हैं। केवल उनमें अभिव्यक्ति की सप्राण व्यंजना की आवश्यकता रहती है। परन्तु काव्य में व्यंजना का सबसे अधिक महत्त्व है। इसी कारण भारतीय ध्वनि-सिद्धान्त और योरोपीय अभि-व्यंजनावाद काव्य में अधिक स्वीकृत रहे हैं। इनमें काव्य के मुख्य स्वरूप का संकेत है। काव्याभिव्यक्ति की साधन-रूप भाषा में शब्द भाव-व्यंजना के प्रतीक होते हैं। अन्य कलाओं में रूपात्मक सौन्दर्य का आदर्श रहता है; संगीत में भाव और उपकरणों का सम ही सौन्दर्य है परन्तु काव्य में ध्वनि को व्यंग का आश्रय लेना पड़ता है। यह ध्वनि जब सौन्दर्य की व्यंजना करती है तभी काव्य है। इसको 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' के रूप में स्वीकार किया जा सकता है और इस 'शब्द' में 'शब्दार्थौ

१. इस विषय में लेखक की 'संस्कृत काव्य-शास्त्र में प्रकृति' नामक लेख देखना चाहिए (हिंदुस्तानी, जौ० सि०, ४७ ई०)।

सहितौ काव्यम्' का भाव भी मूलतः सन्निहित है।[1]

काव्य-सौन्दर्य की यह भावना पाश्चात्य मतों से भी प्रतिपादित होती है। इस प्रकार काव्य कवि की स्वानुभूति है; भाषा के माध्यम से उपस्थित की हुई रूपात्मक अभिव्यक्ति है और इस काव्य की अभिव्यक्ति का अर्थ है संवेदनशीलता। काव्य का सौन्दर्य अनुभूति, अभिव्यक्ति तथा प्रभावात्मक संवेदना तीनों से ही सम्बन्धित है। भारतीय अलंकार, ध्वनि तथा रस सिद्धान्तों में विभिन्न प्रकार से काव्य-सौन्दर्य के स्तरों की व्याख्या की गई। परन्तु इन तीनों का समन्वय ही काव्य में सौन्दर्य हो जाता है।

काव्यानुभूति—पाश्चात्य काव्य-शास्त्रियों ने अनुभूति को काव्य-सौन्दर्य में महत्व-पूर्ण स्थान दिया है। वहाँ अधिकांश विद्वानों ने काव्य की व्याख्या विषयि पक्ष की मनस्-परक दृष्टि से की है और इसमें कवि की अनुभूति की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। इसका उल्लेख जब संस्कारवादी आचार्य करते हैं, तब वे इसे जीवन सम्बन्धी अन्तर्दृष्टि मानते हैं। परन्तु स्वच्छंदवादी विचार-धारा में उसे कवि की व्यक्तिगत भावात्मक अनुभूति माना गया है। भारतीय सिद्धान्तों में कवि की स्वानुभूति की उपेक्षा की गई है, अर्थात् कवि के मनस्-परक पक्ष की, काव्य की विवेचना में अवहेलना हुई है। काव्य के व्यापक विस्तार में कवि के मानसिक पक्ष के दो प्रमुख रूप मिलते हैं। एक तो विषय रूप वस्तु-जगत् जिससे कवि प्रभाव ग्रहण करता है और दूसरा उसी का मानसिक पक्ष जो स्वतः प्रभाव-स्थिति है। किसी भी मनःस्थिति के लिए कोई आलम्बन रूप वस्तु-विषय आवश्यक है। परन्तु यह विषय केवल भौतिक प्रत्यक्ष-बोध के रूप में नहीं वरन् मानसिक कल्पनात्मक स्थितियों में भी रह सकता है। इस विषय के भी दो रूप हैं। एक तो भौतिक स्वरूप में वस्तु या व्यक्ति; दूसरे मानसिक स्थिति में वस्तु का गुण या व्यक्ति का आचरण। इन मानसिक स्थितियों को वस्तु या व्यक्ति से सम्बन्धित उच्च-मूल्यांकन समझना चाहिए जो उनके रूप के साथ सम्मिलित कर लिए गए हैं। इसके आधार में सौन्दर्य के साथ सत्य और शिव भी सम्मिलित हैं और यह शिव कुछ नहीं केवल सामाजिक विकास का अध्यन्तरित रूप है। परन्तु कवि की स्वानुभूति की मनःस्थिति में व्यक्ति तथा वस्तु इसी प्रकार चित्रित होते हैं। समझने के लिए राम के व्यक्तित्व में स्वरूप और चरित्र दोनों को ले सकते हैं। जब हम राम का विचार करते हैं, उस समय राम सुन्दर हैं और अच्छे (चरित्र) भी हैं। उनके सौन्दर्य में दोनों ही रूप समन्वित होकर आते हैं। प्रश्न किया जा सकता है कि वस्तु की यह विशेषता तो मानसिक है फिर इसमें व्यक्ति अथवा वस्तु का अलग उल्लेख क्यों किया गया है। जब हम किसी वस्तु के सीधे सम्पर्क में होते हैं एक सीमा तक

१. रसगंगाधर; पंडितराज जगन्नाथ (पृ० ४) : काव्यालंकार; भामह।

ऐसा कहना सत्य है। परन्तु जब वस्तु या व्यक्ति अपने गुण अथवा आचरण के साथ मानसिक परप्रत्यक्ष में उपस्थित होते हैं, उस समय उनकी अनुभूति की स्थिति के साथ विषय या आलम्बन भी माना जा सकता है। समष्टि का यह रूप मानसिक आश्रय पर भावानुभूति के अन्य रूप धारण करता है और बाद में वस्तु को भी दूसरी रूपरेखा प्रदान करता है। परन्तु आचरण और गुणों का यह मूल्यांकन भाव-स्थितियों से विकसित होकर भी ज्ञान के समीप है और सौन्दर्य की रूपमयता में ही कवि की अनुभूति का विषय बनता है।

वस्तुतः किसी भी मानसिक स्थिति में विषय और विषयि, आलंबन और आश्रय को अलग नहीं किया जा सकता। यहाँ विवेचना की सुविधा के लिए ही इन पर अलग-अलग विचार किया गया है। स्थिति के अनुसार आश्रय का मानसिक दृष्टिकोण भी बदलता है। वैसे एक प्रकार से कवि अपनी अनुभूति की समस्त स्थितियों का आश्रय ही है। इन्द्रिय-वेदन की प्रथम स्थिति में केवल संवेदनात्मक प्रेरणाएँ ही मानसिक अनुभूतियाँ हो सकती हैं, परन्तु कवि की मनःस्थिति के स्तर पर परप्रत्यक्ष भी मानसिक भावों और अनुभावों को रूप प्रदान करते हैं। फिर ये भाव दूसरे वस्तु-विषय को प्रभावित कर उनको भिन्न प्रकार से रूप दान करते हैं। कभी-कभी इस भाव-स्थिति की विषय-वस्तु मानस में दूसरे भावों को उद्दीप्त करने में सहायक होती है। यह बात वस्तु और व्यक्ति दोनों के विषय में विभिन्न परिस्थितियों के साथ लगती है। वस्तु के उदाहरण में—लाल कमल प्रेम का प्रतीक है, परन्तु रति के आधार पर वह अन्य भाव-स्थिति भी उत्पन्न कर सकता है। व्यक्ति में इसी प्रकार एक आचरण दूसरे भाव की उद्भावना कर सकता है। राम के सौन्दर्य के साथ वीरत्व का योग है, साथ ही यह वीरत्व भक्ति का आधार भी बन जाता है। फिर इसके अतिरिक्त समस्त आचरणात्मक शिव और वस्तु का रूपात्मक सत्य मानसिक सौन्दर्यानुभूति में विभिन्न रूप धारण कर सकता है। वीरता सुन्दर हो जाती है, सुन्दरता सत्य हो जाती है। इन समस्त मूल्यों का सौन्दर्य अनुभूति का रूप ही है।

काव्याभिव्यक्ति—अधिकांश विद्वानों ने अनुभूति के साथ अभिव्यक्ति का उल्लेख किया है। वस्तुतः काव्य में अधिक व्यक्त स्थिति अभिव्यक्ति की है जो अनुभूति और प्रभावात्मक संवेदना को समन्वय की स्थिति में प्रस्तुत करती है। कदाचित् इसीलिए काव्य की व्याख्या करने वाले शास्त्रियों का ध्यान विशेष रूप से अभिव्यक्ति पर केन्द्रित रहा है। काव्य का अनुभूति तथा संवेदनात्मक (प्रभाव) पक्ष इसके अन्तर्गत कर दिया गया है। भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने अलंकार में सौन्दर्य को काव्य की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार किया है। ध्वनि के विस्तार में तो समस्त काव्य का रूप अभिव्यक्ति रूप में आ जाता है। रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत 'शब्द' तथा 'वाक्य' की स्वीकृति

में काव्य के अभिव्यक्त पक्ष को स्वीकार किया गया है। और रीति-काव्य की अभिव्यक्ति का स्वरूप है।[1] विभिन्न पाश्चात्य विद्वानों ने भी अभिव्यक्ति को काव्य का मुख्य रूप माना है। वर्डस्वर्थ काव्य को स्वाभाविक सशक्त भावों का प्रवाह कहते हैं और शैली के अनुसार साधारण अर्थ में काव्य की परिभाषा कल्पना की अभिव्यक्ति के रूप में की जा सकती है। इसी प्रकार हैजलिट कल्पना और वासना की भाषा को काव्य कहते हैं।[2]

भाव-रूप—(क) जिस काव्य के मनस्-परक विषयि-पक्ष का उल्लेख पिछले अनुच्छेद में किया गया है, वह सर्व-साधारण की मनःस्थिति से सम्बन्धित अनुभूति है। साधारण व्यक्ति और कवि में भेद अवश्य है, पर वह साधारण मानस-शास्त्र का नहीं है। कवि की स्वानुभूति की विशेषता उसकी अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा तथा साधना का परिणाम है। इसके द्वारा वह सूक्ष्म स्थितियों तथा मनोभावों तक पहुँच जाता है और उनसे सम्बन्धित अनुभूति को अपने मानस में रोक भी सकता है। परन्तु प्रमुख बात है उसमें अभिव्यक्ति की आन्तरिक प्रेरणा, जिससे रोकी हुई अनुभूति को व्यक्त करने के लिए वह प्रयत्नशील होता है। काव्य की अभिव्यक्ति में शब्द भाव के रूपात्मक प्रतीक हैं। ये शब्द ध्वनि के आधार पर बनते हैं। शब्द में अर्थ-रूप का संयोग एक प्रकार की अभिव्यक्ति है। संस्कृत के आचार्यों ने इसी बात को ध्यान में रखकर 'शब्दार्थों' को काव्य का रूप स्वीकार किया है। शब्द में सन्निहित भाव-बिम्ब एक बार परप्रत्यक्ष रूप ग्रहण करता है, जिसमें वस्तु के रूप का आलम्बन भी सम्मिलित रहता है। परन्तु ये परप्रत्यक्ष रूप अभिव्यक्ति के पहले ध्वनि (शब्द) बिम्ब ग्रहण करते हैं। भाषा के विकास के साथ यह कहना तो कठिन है कि भाषा अपने भावात्मक रूप में कब कल्पना-रूपों से हिल-मिल गई। परन्तु अब तो कल्पना-रूप भाषा के साथ ही हमारे मानस में स्थिर है। भाषा के शब्दों में परप्रत्यक्ष उसकी भावमयी कल्पना में अपना आधार ढूंढ़ते हुए वस्तु के साथ उपस्थित होते हैं। इसी प्रकार भाषा के वस्तु-रूपों में भावात्मक अनुभूति का संयोग भी आरम्भ से होता रहा है। भाषा के रूप के साथ वस्तु के रूप की स्थिति सरल और सुरक्षित है—वृक्ष कहने के साथ रूप का बोध हो जाता है। भाषा की प्रारम्भिक भावुकता धीरे-धीरे कम होती गई है।

१. वामन के अलंकार सूत्र में 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्' ।१। सौन्दर्य-मलंकारः ।३। (प्र०)। आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वन्यालोक में: 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति (प्र०)। विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।३।' (प्र०)। पंडितराज जगन्नाथ के रसगंगाधर में—'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।' (प्र०)। वामन के काव्यालंकार सूत्र में—'रीतिरात्मा काव्यस्य' ८ (प्र०)।

२. वर्डस्वर्थ के 'प्रिफ़ेस टु लिरिकल बैलेडस' में; पी० बी० शैली का, 'ए डिफ़ेन्स ऑव पोइट्री' में तथा डब्ल० हैजलिट के 'लेक्चर्स ऑन इंगलिश पोएट्स' में उल्लिखित।

प्रारम्भ में प्रत्यक्ष-बोध में जो प्रभाव 'वृक्ष' शब्द के साथ सम्मिलित था, वह रूप से अलग होता गया। अन्त में स्वानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए व्यंजना के माध्यम से अन्य संयोगों का आश्रय लेना पड़ता है। फिर भी समस्त अभिव्यक्ति का आधार 'शब्द' का अर्थ ही है।

ध्वनि-बिम्ब—(ख) शब्द में मानसिक भाव-बिम्ब के अतिरिक्त ध्वनि-बिम्ब भी होता है और ध्वनि-बिम्ब का अभिव्यक्ति में महत्त्वपूर्ण स्थान है। कारलाइल के अनुसार काव्य वस्तुओं की अन्तःप्रवृत्ति की अनुभूति पाने वाले मानस के संगीतात्मक विचार की अभिव्यक्ति है। शब्द लिखित रूप में प्रत्यक्ष-बोध के आधार पर रूप तथा ध्वनि दोनों प्रकार से हमारे सामने आता है। परन्तु अधिकतर शब्द के, ध्वनि से सम्बन्धित अर्थ में ही वस्तु-रूप के साथ भाव-बिम्ब सन्निहित रहता है। इसी कारण ध्वनि का प्रयोग लगभग व्यंजना के अर्थ में होता है और शब्द के अर्थ का आधार होने के कारण ही, ध्वनि का काव्य से सम्बन्धित गुण और रीति के सिद्धान्तों में प्रमुख स्थान रहा है। शब्द के ध्वन्यात्मक प्रयोग के लिए आवश्यक है कि वह ध्वनि-बिम्ब वस्तु के आधार में परप्रत्यक्ष के साथ भावुकता का संयोग स्थापित कर सके। छंद के मूल में ध्वनि की गति और लय का ही मानसिक तादात्म्य सन्निहित है।

सामञ्जस्य—(ग) भाव-रूप तथा ध्वनि-बिम्ब का शब्दार्थ में सामञ्जस्य रहता है। परन्तु काव्य में शब्द के माध्यम से रूप और अर्थ की अभिव्यक्ति का समन्वय अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। सामञ्जस्य की कलात्मक व्यंजना ही काव्य का सौन्दर्य है। समस्त ध्वनि-काव्य में यह सौन्दर्य की व्यंजना रहती है। आलंकारिक शैली में इसी प्रकार की सौन्दर्य-कल्पना है।[1] यद्यपि अलंकार संलक्ष्य क्रम-ध्वनि के अन्तर्गत व्यंग्य भी होता है। इनमें यह है कि ध्वनि व्यंजित भाव-संयोगों से अधिक सम्बन्धित है, जबकि अलंकार वस्तु के रूप-गुण के साम्य का आधार ढूँढ़कर अधिक चलता है। व्यापक दृष्टि से अलंकार में ध्वनि का और ध्वनि का अलंकार में समन्वय हो जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण अभिव्यक्ति की यह सम्भावना विभिन्न रूप ग्रहण करती है। परन्तु सभी का उद्देश्य एक है; अभिव्यक्ति की सम-स्थिति प्राप्त करना जिस पर अनुभूति और संवेदना सौन्दर्य-रूप हो जाती है। इस स्तर पर मानसिक संवेदनात्मक स्थिति केवल भाव-संयोग के आधार पर नहीं वरन् कलात्मक योग और रूपों की विशेष स्थिति पर क्रियाशील होती है। अभिव्यक्ति के इसी रूप को समझाने के लिए, उसे नाना रूपों को धारण करने वाली कल्पना की उड़ान तथा असाधारण आदि कहा गया है।

काव्यानन्द या रसानुभूति—काव्य में एक प्रकार के आनन्द की भावना सन्नि-

---

१. दण्डी के काव्यादर्श में 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान्प्रचक्षते।'

हित है। वह सुख का रूप नहीं मानी जा सकती। सुख-संवेदनावादी सौन्दर्य-शास्त्रियों के समान कुछ विद्वानों ने इसी आधार पर काव्य की व्याख्या करने की ग़लती की है। अभिव्यक्ति के सौन्दर्य में सबसे अधिक सरल आनन्द प्राप्त होता है। यह आनन्द-स्थिति केवल भावों के आधार पर ही उत्पन्न नहीं हुई है। यह तो अनुभूति की व्यंजना की चमत्कृत स्थिति से सम्बन्धित है। परन्तु काव्य तथा कला के क्षेत्र में 'आनन्द' का आदर्श समान रूप से लागू नहीं है, क्योंकि इसमें विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रूप हो सकते हैं। जिस प्रकार विकास की मनःस्थितियों के साथ सौन्दर्य भाव विभिन्न आधार पर रहा है, ऐसी परिस्थिति काव्य के विषय में भी समझी जा सकती है। जिस विद्वान ने जिस दृष्टिकोण को महत्त्व दिया है, उसने काव्य की व्याख्या भी उसीके आधार पर की है और उसके मत में सत्य का अंश भी इसी सीमा तक है। भारतीय काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत रस-सिद्धान्त में काव्य के इस आनन्द को भावों के आधार पर समझा गया है। परन्तु यह काव्य के संवेदनात्मक प्रभाव-पक्ष की व्याख्या कहा जा सकता है; इसके आधार पर काव्य की पूर्ण व्याख्या नहीं की जा सकती। इसी कारण ध्वनिवादियों ने इसको असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग के रूप में स्वीकार किया है। काव्य केवल मानवीय भावों के आधार पर नहीं रखा जा सकता। उसमें कवि की स्वानुभूति के रूप में कवि की मनःस्थिति तथा पाठकों की रसानुभूति के रूप में उनकी मनःस्थिति का व्यंजनात्मक सौन्दर्य रहता है।

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' को मानने वाले रसवादियों की दृष्टि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से व्यक्त स्थायी भाव रूप रस में सीमित नहीं है।[1] यह परिभाषा रस-निष्पत्ति की आनन्दमयी समस्थिति में ही पूर्ण समझी जायगी। इस स्थिति में रस कवि और पाठक दोनों की मानसिक असाधारण स्थिति से सम्बन्धित है। रस सिद्धान्त की व्याख्या करने वाले आचार्यों ने प्रारम्भ में काव्यानुभूति तथा साधारण भावों को एक ही धरातल पर समझने की भूल की है। बाद में रस को अलौकिक कह कर उसे साधारण भावों से अलग स्वीकार किया गया है। परन्तु रसों के वर्गीकरण में फिर यह भेद भुला दिया जाता है, वैसे यह वर्गीकरण आधार रूप स्थायी भावों को लेकर ही है। रस को लेकर यह वर्गीकरण दोषपूर्ण है और इसमें वासना के साधारणीकृत रूप को ही रस समझा गया है। सामाजिकों के हृदय में स्थायी भावों की स्थिति ठीक है; विभाव, अनुभाव तथा संचारियों के द्वारा उसकी एक साधारणीकृत स्थिति का बोध भी होता है। परन्तु रसात्मक आनन्द को समान भावों के उद्बोधन रूप में नहीं माना जा सकता। एक स्तर पर मानसिक भाव-संयोग के

१. जैसा मम्मट काव्यप्रकाश में कहते हैं—'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः ।२८। (च०)

द्वारा सुखानुभूति सम्भव है; परन्तु काव्यानन्द के स्तर पर तो सौन्दर्याभिव्यक्ति ही आनन्द का विषय हो सकती है। इस भाव-स्थिति में स्थायी भावों का आधार केवल सामाजिक साहचर्य-भावना का सूक्ष्म रूप माना जा सकता है। जैसा कहा गया है रस के व्याख्या-क्रम में ये सभी स्थितियाँ मिल जाती हैं। परन्तु इन सभी मतों में रस को साधारण भावों के स्तर पर समझने का भ्रम किया गया है। प्रारम्भिक स्थिति में 'रस' का सिद्धान्त आरोपवाद और अनुमानवाद में सुखानुभूति की आत्म-तुष्टि के रूप में समझा गया है। बाद में भोगवाद और व्यक्तिवाद में आत्म-तुष्टि अधिक स्पष्ट है, पर इसके साथ ही साधारणीकरण की स्वीकृति के साथ साहचर्य-भाव का रूप भी आ जाता है।[1] इसी के आधार पर ध्वनिवाद की अभिव्यक्ति में सौन्दर्य की व्यंजना का रूप भी मिल जाता है।

आलम्बन-रूप में प्रकृति

प्रकृति-काव्य—पिछले प्रकरण में प्रकृति के सौन्दर्य-भाव पर विचार किया था और यहाँ काव्य को सौन्दर्य रूप में ही समझा गया है। इस प्रकार प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति काव्य की सौन्दर्य-व्यंजना का विषय सरलता से हो सकती है। प्रकृति-सौन्दर्य की अनुभूति के लिए कवित्वमय तथा कलात्मक दृष्टि का उल्लेख किया गया है। यही सौन्दर्य जब काव्य में अभिव्यक्ति का रूप ग्रहण करता है, कवि की अनुभूति के साथ रूप बदलता है। प्रकृति का व्यापक विस्तार, उसका नाना रूपात्मक सौन्दर्य हमारी स्वानुभूति का विषय हो सकता है। परिवर्तन और गति की अनन्त चेतना में मग्न प्रकृति युगों में मानव-जीवन से हिलमिल गई है। मानव उसके क्रोड़ में विकसित हुआ है; प्रकृति के युग-युग के परिचय का संस्कार उसमें साहचर्य भाव के रूप में सुरक्षित है। इन्हीं संस्कारों में कवि प्रकृति के समक्ष अनुभूतिशील हो उठता है; और अपनी कल्पना से काव्य-व्यंजना को रूप दान करता है। इस प्रकृति-काव्य में प्रकृति आलम्बन होती है और कवि स्वयं ही भावों का आश्रय है। काव्य की अभिव्यक्ति में यह आलम्बन रूप विभिन्न प्रकार से उपस्थित होता है। प्रकृति-आलम्बन की व्यापक स्थापना से भावों को आधार मिल सकता है; और केवल आश्रय की मनःस्थिति में भावों की व्यंजना उपस्थित कर प्रकृति का संकेतात्मक स्वरूप चित्रित किया जा सकता है। साथ ही आश्रय की स्थिति में कवि उसमें अपनी चेतना तथा भाव-स्थिति का प्रतिबिम्ब भी प्रस्तुत करता है। प्रकृति के इस आलम्बन-रूप में विशेषता यह है

---

१. भट्टलोल्लट के आरोपवाद में काव्य-विषय के साथ सामाजिक आरोप कर लेता है, जिस प्रकार नट पात्र में। श्री शंकुक ने अनुमानवाद माना; क्योंकि भ्रम सम्भव नहीं है। भट्ट नायक प्रत्यक्ष ज्ञान से ही रसास्वादन मानते हैं, साथ ही उन्होंने शब्द में भोग व्यापार और साधारणीकरण को प्रतिपादित किया है। अभिनवगुप्त ने शब्द की व्यंजना-शक्ति से रसनिष्पत्ति का साधारणी करण व्यापार स्वीकार किया है।

कि इसमें आलम्बन तथा आश्रय की भाव-स्थिति एक सम पर उपस्थित होती है। अगले भाग में हम देखेंगे कि संस्कृत काव्याचार्यों ने प्रकृति को आलम्बन-रूप में स्वीकार नहीं किया है। इसकी विवेचना उसी स्थल पर की जा सकेगी।

स्वानुभूत सौन्दर्य चित्रण—वनस्पति-जगत् का हलके-गहरे रंगों का छायातप, पक्षियों का स्वर-लय तरंगित संगीत, स्थिरता की दृढ़ भावना लिए आकाश में फैला हुआ पर्वत का महान् विस्तार, सरिता का निरन्तर गतिशील प्रवाह, गगन में फैली हुई उषा की अरुणाभा और रजनी का तारों से युक्त नीलाकाश, यह समस्त प्रकृति का शृंगार मानव के मन को भावों की सौन्दर्य-स्थिति प्रदान करता है। कवि अपनी अन्तर्दृष्टि से प्रकृति के सौन्दर्य का अनुभव अधिक स्पष्ट करता है और अपनी स्वानुभूति को काव्य की अभिव्यक्ति का रूप देता है। कभी-कभी कवि कथानक के पात्रों में अपनी मनःस्थिति को अध्यन्तरित कर लेता है। परन्तु प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति तल्लीनता की भावना भावात्मक गीतियों में ही अधिक सुन्दर रूप से उपस्थित होती है।

आह्लाद-भाव—(क) इन्द्रियों से सम्बन्धित प्रकृति-सौन्दर्य की गम्भीर अनुभूति के आह्लाद में इन्द्रिय-वेदना सम्बन्धी सुखानुभूति का ही आधार है। परन्तु कल्पना की गम्भीरता उसे सौन्दर्य का ऊँचा धरातल प्रदान कर देती है। यह आह्लाद इन्द्रिय सुख-संवेदना का ही प्रगाढ़ और व्यापक रूप है। इसकी अभिव्यक्ति के लिए कवि प्रकृति के रंग-रूप, ध्वनि आदि से युक्त सौन्दर्य की कल्पना गहराई से करता है और इस कल्पना में फिर अगाढ़ सुख की अनुभूति का योग भी उपस्थित करता है। यह सौन्दर्य के प्रति आह्लाद की भावना गम्भीर और सूक्ष्म कल्पना का आधार लेकर विभिन्न रूप ग्रहण करती है। इसमें पूर्व उल्लिखित विकास की पृष्ठभूमि है। प्रसंगवश यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि काव्य में प्रकृति-सौन्दर्य के रूपों में एक दूसरे का प्रसार बहुत पाया जाता है। यहाँ विवेचना की दृष्टि से इनका अलग-अलग वर्णन किया जा रहा है। प्रकृति के इस आह्लादित रूप में उसके रूप का चित्रण भी आधार रूप से रहता है।

आनन्दानुभूति—(ख) आह्लाद की भावना जब प्रकृति के रूपात्मक आधार को एक सीमा तक छोड़ देती है, वह इन्द्रिय सुखानुभूति से अलग सौन्दर्य की आनन्दानुभूति के रूप में व्यक्त होती है। इस प्रकृति रूप में कवि की अनुभूति ही अधिक रहती है। प्रकृति का यह सौन्दर्य रूपात्मक नहीं वरन् भावात्मक साहचर्य के आधार पर ही स्थित है। इस प्रकृति के सौन्दर्य साहचर्य में कवि स्वयं अपने को सजग पाता है और यह सजगता विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती है। इस आनन्द की स्थिति में कवि को प्रकृति-जीवन और सौन्दर्य दान देती है और सप्राण कर उल्लसित भी

करती है। इस प्रेरणा के उल्लास में कवि अपने मन में स्थित विभिन्न संचारियों तथा अनुभावों का वर्णन काव्य में करता है, प्रकृति-आलम्बन का रूप केवल रेखाओं में रहता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि आनन्दानुभूति की अभिव्यक्ति संचारियों के रूप में ही हो। इस अनुभूति का चित्रण कवि व्यंजनात्मक शैली में करता है और उस स्थिति में प्रकृति के रूपात्मक प्रयोगों का आश्रय लेता है। परन्तु प्रकृति का यह रूप अन्य रूपों के साथ अधिक प्रयुक्त होता है।

आत्मतल्लीनता—(ग) आनन्दानुभूति की इस स्थिति के बाद प्रकृति-सौन्दर्य कवि के मानस में प्रतिघटित होकर आत्मतल्लीनता की स्थिति में अनुभूत होता है। यह सौन्दर्य-रूप कवि के मानस और प्रकृति के सम की अभिव्यक्ति है। इस स्थिति पर कवि प्रकृति-सौन्दर्य की चेतना भूल जाता है। और उसके मन में यह सौन्दर्य आनन्द के रूप में स्वयं अभिव्यक्ति की प्रेरणा बन जाता है। आनन्दानुभूति की यह आत्म-तल्लीन स्थिति प्रकृति के सर्वचेतनशील आधार पर है जो साहचर्य भाव की स्वानुभूति से सम्बन्धित है। कवि की आत्मतल्लीन स्थिति में अन्य सभी भाव शांत हो कर विलीन हो जाते हैं। इसकी अभिव्यक्ति में कवि शांत वातावरण उपस्थित करता है और रूपात्मक शैली का आश्रय लेता है जिसमें उल्लास के प्रतीक व्यापक तल्लीनता की व्यंजना करते हैं। प्रकृतिवादी रहस्यानुभूति की आधार-भूमि भी यही है। कभी भावों के गम्भीर तथा शांत वातावरण में प्रकृति सौन्दर्य की आत्मलीन अनुभूति, अपनी उच्च आधार-भूमि के कारण रहस्यानुभूति लगती है।[1]

प्रतिबिम्बित-सौन्दर्य चित्रण—कवि प्रकृति की अनुभूति के साथ अपने मानवीय जीवन का प्रतिबिम्ब भी समन्वित करता है। ऐसी स्थिति में प्रकृति में चेतना-शक्ति और भावों की छाया दिखाई देने लगती है। इस अभिव्यक्ति में प्रकृति मानवीय जीवन के सम पर जान पड़ती है। भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने इस आरोप को पूर्ण रसा-नुभूति नहीं स्वीकार किया वरन् 'रसाभास' और 'भावाभास' के अन्तर्गत माना है। दूसरे भाग में संस्कृत काव्य-शास्त्र के साथ इसकी विवेचना की गई है। परन्तु यह संवेदनशील मनःस्थिति रसात्मक आनन्द के समक्ष है। इसमें प्रकृति मानसिक प्रतिबिम्ब के रूप में भावों का आलम्बन है। आश्रय की भाव-स्थिति का आरोप इस पर होता है परन्तु इस स्थिति में आश्रय के भावों का भिन्न कोई आलम्बन नहीं है। आश्रय के

---

१. प्रकृति का यह आलम्बन-रूप प्रकृतिवादी काव्य तथा गीतियों में उपस्थित होता है। अपने आलोच्य युग में हम देखेंगे कि इस प्रकार के काव्य-रूपों का अभाव है। इसके न होने के कारणों की विवेचना 'आध्यात्मिक साधना में प्रकृति' नामक प्रकरणों के प्रारम्भ में की गई है। और यह रूप किस प्रकार इस साधना में अभ्यन्तरित स्थिति में मिलता है, इसका उल्लेख इन्हीं प्रकरणों में यथा-स्थान किया गया है।

रूप में कवि की मनःस्थिति अपने भावों का आलम्बन इस सीमा में स्वयं होती है। फिर प्रकृति पर प्रतिबिम्बित होकर यह भाव-स्थिति अपने आश्रय का ही आलम्बन बन जाती है। उद्दीपन के प्रकृति-रूप में और इस रूप में थोड़ा ही भेद है। जब भावों का आलम्बन कोई दूसरा व्यक्ति होता है उस समय इस स्थिति में प्रकृति आश्रय के भावों को उद्दीप्त करती है।

सचेतन—(क) मानव प्रकृति को अपनी चेतना के आधार पर ही समझता है। इस कारण प्रकृति की समानान्तर स्थितियों में अपनी जीवन शक्ति का आरोप कवि के लिए सरल और स्वाभाविक है। कवि अपनी अभिव्यक्ति में प्रकृति के गतिशील और प्रवाहित रूपों को सजीव और सप्राण कर देता है। काव्य के इस रूप में प्रकृति अपने आप में लीन और क्रियाशील उपस्थित होती है, परन्तु यह मानवीय चेतना का प्रतिबिम्ब ही है। इस स्थिति में प्रकृति व्यापक चेतना के प्रवाह से सप्राण जान पड़ती है जो समान रूप से परिवर्तन और गति की शक्ति के रूप में स्थित है। काव्य की इस अभिव्यक्ति में—हिलती हुई पत्तियों में प्राणों का स्पन्दन है, बहती हुई सरिता में जीवन का प्रवाह है, पवन में शक्ति का वेग है और आकाश के चमकते तारों में जीवन की चमक है। कवि इस रूप को उद्दीपन के अन्तर्गत भी रख सकता है। इस स्थिति में कवि शक्ति या जीवन का आवाहन प्रकृति से करेगा लेकिन यह प्रेरणा किसी दूसरे आलम्बन के सम्बन्ध को लेकर होगी।

मानवीकरण—(ख) मानव चेतना के साथ प्रकृति मानवीय जीवन के रूप में भी अभिव्यक्त होती है। कवि प्रकृति के विभिन्न रूपों और व्यापारों में व्यापक चेतना के स्थान पर व्यक्तिगत जीवन का आरोप करता है। और इस प्रकार प्रकृति व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्धों में स्थिर होकर हमारे सामने उपस्थित होती है। प्रकृति के क्रिया-कलापों में मानवीय जीवन-व्यापार की झलक व्यक्त होती है। प्रकृति के मानवीकरण की भावना में पशु-पक्षी जगत् तो मानवीय सम्बन्धों में व्यवहार करते प्रकट ही होते हैं, वनस्पति तथा जड़ जगत् भी व्यक्ति-विशेष के जीवन के समान उपस्थित होते हैं। कवि की भावना में वृक्ष पुरुष के रूप में और लता स्त्री के रूप में एक-दूसरे को आलिंगन करते जान पड़ते हैं। सरिता प्रियतमा के रूप में नीरनिधि से मिलने को आकुल दौड़ रही है। पुष्प उत्सुक नेत्रों से किसी की प्रतीक्षा करते हैं। इस प्रकार मानव के व्यक्तिगत जीवन और सम्बन्धों के साथ प्रकृति में मानवीय आकार के आरोप की भावना भी प्रचलित है। साहचर्य के आधार पर व्यापक प्रतिबिम्ब के रूप में प्रकृति का सौन्दर्य-रूप तो आलम्बन है परन्तु आकार के आरोप के साथ शृंगारिक भावना अधिक प्रबल होती गई है और इस सीमा पर यह प्रकृति का मानवीकरण रूप शृंगार का उद्दीपन-विभाव समझा जा सकता है। इसमें आलम्बन प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में हो सकता

है। अप्रत्यक्ष आलम्बन रूप प्रेयसी के होने पर प्रकृति का आरोप ही प्रत्यक्ष आलम्बन का कार्य करता है। इस सीमा पर प्रकृति का आलम्बन रूप मानवीकरण तथा इस प्रकृति के उद्दीपन रूप में बहुत कुछ समानता है।

भाव-मग्न—(ग) वस्तुतः कवि अपनी अभिव्यक्ति तथा वर्णनों में इन विभिन्न रूपों को अलग-अलग करके नहीं चलता। वह अपने चित्रण में इन मुख्य रूपों को कितने ही प्रकार से मिश्रित कर देता है और इन मिश्रित योगों के अनेक भेद किए जा सकते हैं। परन्तु उनको उपस्थित करना न तो यहाँ आवश्यक है और न सम्भव ही। मानवीकरण के अनन्तर, इसीसे सम्बन्धित प्रकृति के एक रूप का उल्लेख और किया जा सकता है। मानवीय क्रिया-व्यापारों के बाद मानवीय भावों का स्थान है। प्रकृति इनका भी प्रतिबिम्ब ग्रहण करती है और वह मानवीय भावों में मग्न जान पड़ती है। कवि अपनी कल्पना में विभिन्न भावों को प्रकृति पर प्रतिघटित करता है और यह उसी के भावों का प्रसरण मात्र है। इसलिए भावमग्न प्रकृति आश्रय (कवि) के भावों को प्रतिबिम्बित करती हुई स्वयं आलम्बन ही है। व्यापक सहानुभूति से प्रकृति-सौन्दर्य के आश्रय पर जो भाव कवि के मन में उत्पन्न होते हैं, उन्हीं को वह प्रकृति पर प्रसरित कर देता है और इस प्रकार साहचर्य-भावना से प्रकृति हमारे विभिन्न भावों का आलम्बन हो सकती है। काव्य में प्रकृति के विभिन्न रूप हमको चिन्तित, आशान्वित और करुणासिक्त लगते हैं। प्रकृति का यह रूप स्वतन्त्र आलम्बन के समान उपस्थित होता है, पर पिछली मनःस्थिति के समानान्तर या वर्तमान किसी भिन्न भाव-स्थिति का सहायक होकर उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत आ जाता है। हम देख चुके हैं कि पिछले प्रकृति-रूप में भी आलम्बन से उद्दीपन की सीमा में जाने की प्रवृत्ति है। इसका प्रमुख कारण यह है कि हमारी भाव-स्थिति अधिकतर मानवीय सम्बन्धों को लेकर है। संस्कृत काव्य-शास्त्र की विवेचना के अन्तर्गत इस बात को अधिक स्पष्ट किया गया है।[1]

उद्दीपन-रूप प्रकृति

मानव-काव्य—अभी तक काव्य में प्रकृति के उन रूपों का वर्णन किया गया है जिनमें कवि अपनी भावस्थिति में प्रकृति के समक्ष रहता है। परन्तु काव्य का विस्तार मानवीय भावों में है जो मानवीय सम्बन्धों में ही स्थित है। इस कारण साहित्य में मानव-काव्य ही प्रधान होता है। वैसे तो प्रकृति-काव्य में भी कवि की व्यक्तिगत

१. इस प्रकार के प्रकृति-रूप थोड़े से विभेद के कारण आलम्बन से उद्दीपन के अन्तर्गत आते हैं। इसी कारण दूसरे भाग के 'विभिन्न काव्य-रूपों में प्रकृति' तथा 'उद्दीपन विभाव में प्रकृति' नामक प्रकरणों में काव्य-रूपों का आलम्बन तथा उद्दीपन को लेकर स्पष्ट भेद नहीं किया जा सका है।

भावना ही प्रधान रहती है। परन्तु जब किसी स्थायीभाव का अन्य कोई प्रत्यक्ष आलम्बन होता है, उस समय प्रकृति उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत ही विभिन्न रूपों में उपस्थित होती है। प्रकृति के सम्पर्क में रूप या परिस्थिति आदि के संयोग से मानवीय आलम्बन प्रत्यक्ष हो जाता है, अथवा उससे सम्बन्धित भावों को उद्दीपन की प्रेरणा प्राप्त होती है। आश्रय की किसी विशेष भाव-स्थिति में प्रकृति अपनी साहचर्य भावना के कारण आलम्बन-विषयक किसी सम्बन्ध में उपस्थित होती है और प्रकृति में यह भावना आश्रय की मन:स्थिति से सम्बन्धित है। इस प्रकार प्रकृति की उद्दीपन शक्ति उसके सौन्दर्य और साहचर्य के साथ परिस्थिति के संयोगों पर भी निर्भर है। प्रबन्धकाव्यों में प्रकृति कथानक की परिस्थिति और घटनास्थित आदि के रूप में चित्रित होकर उपयुक्त मन:स्थिति का वातावरण उपस्थिति करती है। परन्तु जैसा पिछले विभाग में विचार किया है प्रकृति के इस रूप तथा पिछले आलम्बन रूप में बहुत सूक्ष्म भेद है।

मानवीय भाव और प्रकृति—पिछले प्रकरणों की व्याख्या में हम देख चुके हैं कि प्रकृति से मानव का चिरंतन सम्बन्ध चला आ रहा है। उसके सौन्दर्य में मानवीय साहचर्य भावना की स्थायी रूप से प्रवृत्ति बन गई है। प्रकृति की परिस्थितियाँ भी मानव की परिचयात्मक स्मृति हैं। ऐसी स्थिति में मानव किसी भी मन:स्थिति में हो वह प्रकृति से सम स्थापित कर सकता है, साथ ही उससे भावात्मक प्रेरणा भी प्राप्त कर सकता है। अगर आश्रय में भाव की स्थिति अन्य आलम्बन को लेकर होगी तो वह उस भाव को ग्रहण करती विदित होगी और इस सीमा पर वह विभिन्न रूपों में उद्दीपन का कार्य करती है।

मन:स्थिति के समानान्तर—(क) जब आश्रय के मन में भाव किसी आलम्बन को लेकर छिपा रहता है और ऊपर प्रकट नहीं होता, उस समय प्रकृति उस भाव की मन:स्थिति के समानान्तर लगती है। उसका यह समानान्तर स्वरूप मन:स्थिति का संकेत भर देता है। इस प्रकृति-रूप में केवल भावों की रुकी हुई उमस का वर्णन होता है। इस रूप में प्रतिबिम्बित प्रकृति स्वरूप की चेतना सन्निहित है। इनमें भेद केवल इतना है कि उसमें सम्पूर्ण जीवन की व्यापक अभिव्यक्ति प्रकृति पर छायी रहती है और इस प्रकृति के रूप में मन:स्थिति की अज्ञात भावना को संकेत भर मिलता है। बहती हुई सरिता में यदि उत्कंठा की भावना व्यक्त होती हो अथवा घुमड़ते हुए बादलों में हृदय की उमड़न की ध्वनि हो और वह भी किसी परदेशी की स्मृति को लेकर, तो यह उद्दीपन का रूप ही समझा जा सकता है। क्योंकि प्रकृति के इस रूप में अज्ञात भावना को प्रत्यक्ष में लाने का प्रयास छिपा है।

भावोद्दीपक रूप—(ख) इसके अनन्तर प्रकृति का सम्पर्क व्यक्त तथा अव्यक्त

भावों को प्रदीप्त करता है। यह उद्दीपन की प्रेरणा कभी अव्यक्त-भाव को ऊपर लाकर अधिक स्पष्ट रूप प्रदान करती है और कभी व्यक्त-भाव को अधिक तीव्र कर देती है। बसन्त का प्रसार एक ओर रति की भावना जाग्रत करता है, दूसरी ओर विरही-जनों की उत्कंठा को और भी बढ़ा देता है। इस प्रकार इससे उद्दीप्त होकर रति और उत्कंठा का भाव प्रकृति के साथ एक रूप बन जाता है। भाव-स्थिति का यह व्यापार साम्य तथा विरोध के आधार पर ही चलता है। कभी प्रकृति का उल्लास मन के सम पर उसे उल्लसित करता है और कभी उसकी व्यथा के विरोध में उसे अधिक तीव्र करता है। प्रकृति का रूप कभी हमारे भावों से निरपेक्ष भी जान पड़ता है; तब भी साहचर्य-भावना की उपेक्षा के रूप में भावों को वह प्रभावित करती है। परन्तु इस प्रकार का सम्बन्ध कथानक की पृष्ठभूमि के रूप में ही अधिक सम्भव है।

अप्रत्यक्ष आलम्बन रूप (आरोप)—(ग) यहाँ तक प्रकृति के सीधे उद्दीपन-रूप की विवेचना हुई है। परन्तु मानवीय भावों की अभिव्यक्ति से साम्य उपस्थित कर प्रकृति उद्दीपन के अन्तर्गत आती है। भावों की अभिव्यक्ति के साथ प्रकृति का वर्णन विभिन्न रूपों में किया जा सकता है। भावों के साथ प्रकृति का रूप इन्हीं भावों को ग्रहण करके फिर उन्हीं को उद्दीप्त करने लगता है। कभी भाव अप्रत्यक्ष आलम्बन के स्थान पर प्रत्यक्ष आधार लेकर व्यक्त होता है और कभी-कभी भावों की व्यंजना प्रकृति में आरोप के सहारे अधिक तीव्र हो जाती है। इसी के अन्तर्गत प्रकृति से आलम्बन-विषयक साहचर्य सम्बन्ध स्थापना की भावना है। अपनी भावाभिव्यक्ति में पात्र या स्वयं आश्रय रूप में कवि प्रकृति के रूपों को कभी दूत मान लेता है और कभी प्रिय सखा। इस प्रकृति रूप के आधार में भी साम्य तथा विरोध की भावना है; वस्तुतः विरोध में भी साम्य का एक रूप ही है।[1]

भावों की पृष्ठभूमि में प्रकृति—कथानकों की साधारण परिस्थितियों तथा घटना-स्थितियों को उपस्थित करने के लिए कवि प्रकृति का वर्णन करता है। परन्तु यह चित्रण केवल वस्तु-स्थिति ही सामने नहीं उपस्थित करता; कवि इसमें भाव ग्रहण कराने की प्रेरणा सन्निहित करता है। वह वर्णन की व्यंजना में आगामी भावों को उद्बोधित करता है अथवा उस चित्रण में ही भावात्मक वातावरण उपस्थित करता है। साधारण वस्तुस्थिति का चित्रण वर्णन का सरल रूप है और इसको तो आलम्बन ही माना जायगा। चित्रण शैली के अन्तर्गत इसका उल्लेख आगे किया जायगा। परन्तु जब इन वर्णनों में आगे होने वाली घटना या भाव के संकेत सन्निहित हो जाते हैं, उस समय प्रकृति रूप, आश्रय के भाव को साधारणीकरण के आधार पर ग्रहण करने वाले पाठक की मनःस्थिति

१. प्रकृति-रूप के इन भेदों को दूसरे भाग के 'उद्दीपन-विभाव में प्रकृति' नामक प्रकरण में अधिक स्पष्ट किया गया है।

को प्रभावित करता है और इस कारण यह रूप उद्दीपन के अन्तर्गत माना जा सकता है। इस रूप में प्रकृति कभी अनुकूल और कभी प्रतिकूल होकर कथानक की घटना को वातावरण प्रदान करती है।

भावव्यंजना—(क) साधारण वस्तु-स्थितियों में व्यंजना व्यापार द्वारा कवि भावों की अभिव्यक्ति प्रकृति में करता है। इस प्रकार स्थान और काल की सीमाओं में वह भावात्मक वातावरण तैयार करता है। यह भावात्मकता उन भावों के अस्पष्ट संकेत हैं जो सामाजिकों के हृदय में उदय होंगे। यह व्यंजना भी भाव स्थितियों के साम्य पर आधारित है। यदि किसी करुण घटना का उल्लेख करना हुआ तो कवि वर्णना में भी करुण भाव की व्यंजना सन्निहित कर देगा। यह व्यंजना ध्वनि और आरोप दोनों के आधार पर की जा सकती है।

सहचरण की भावना—(ख) कथानक या भावों की पृष्ठ-भूमि में प्रकृति मानव सहचरी के समान उपस्थित होती है और कभी-कभी वह इस सहचरण में विरोधी जान पड़ती है। इस रूप में अन्य रूपों का समन्वय हो गया है। परन्तु प्रमुखतः इसमें साहचर्य-भावना का ही उद्दीपन रूप माना जा सकता है। किसी सीमा में प्रकृति अपने समस्त उल्लास के साथ अपने सौन्दर्य में अपनी समस्त भाव-भंगिमा के द्वारा मानवीय भावों को प्रभावित करती हुई उन्हें उल्लास-मग्न करती है। इसी के विपरीत मानसिक विरोध की स्थिति में वह उपेक्षाशील होकर अपने क्रिया-कलाप में स्वयं मग्न जान पड़ती है और उसकी इस उपेक्षा से मानवीय भाव-स्थिति को उत्तेजना मिलती है। इतना ही नहीं, प्रकृति की कठोरता और भयंकरता का साथ मनःस्थिति के लिए उद्वेगजनक है; यह स्थिति की बाधा विरोध का ही एक रूप है।[1]

रहस्यानुभूति में प्रकृति

प्रतीक और सौन्दर्य—प्रकृति के आलम्बन-रूप की विवेचना करते समय आनन्दानुभूति तथा आत्म-तल्लीनता का उल्लेख किया गया है। यह हमारी सर्वचेतन भावना का परिणाम है, जो साधारण रूप से प्रकृति में व्यापक है। इसमें अभिव्यक्ति की भाव गम्भीरता में रहस्यानुभूति का रूप जान पड़ता है। परन्तु रहस्य की भावना में साधक अपने प्रिय की साधना करता है और लौकिक प्रेम को व्यापक आधार देकर अपने अव्यक्त प्रिय से मिलन प्राप्त करना चाहता है। इस प्रेम को व्यापक आधार देने के लिए साधक प्रकृति की प्रसरित चेतना में अपने प्रेम के प्रतीक ढूँढ़ता है। रहस्यवादी साधक अपनी अनुभूति के लिए उससे प्रतीक अवश्य ढूँढ़ता है; परन्तु उसे आलम्बन मानकर

१. कथानक से सम्बन्धित होने के कारण प्रकृति के इन उद्दीपन-रूपों को 'विभिन्न काव्य-रूपों में प्रकृति' के अन्तर्गत ही लिया गया है।

अधिक दूर तक नहीं चलता। प्रकृतिवादी रहस्यवादी इसके सौन्दर्य को अपने प्रेम का आधार तो मानते हैं; परन्तु केवल इस सौन्दर्य के माध्यम से चरम-सौन्दर्य की अनुभूति जाग्रत करने के लिए। इस प्रकार प्रकृति उनके प्रेम का आलम्बन है तो केवल प्रेम को व्यापक रूप देने के लिए है। इस प्रकार रहस्यवाद की सीमा में प्रकृति कुछ दूर तक आलम्बन कही जा सकती है और जब प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रेम का आधार अन्य प्रेमी आलम्बन हो जाता है, उस समय वह उद्दीपन के अन्तर्गत ही आती है।

भावोल्लास—(क) मानवीय भावों के साथ जिस प्रकार प्रकृति का सम्बन्ध है, उसी प्रकार रहस्यवादी भाव-स्थिति में भी सम्भव है। रहस्यवादी स्तर पर प्रकृति के सत् में कवि साधक अपनी चित् भावना का सम उपस्थित कर आनन्द की उद्भावना करता है। काव्य की दृष्टि से इसी सत्य और शिव के साथ प्रकृति का सौन्दर्य है, जिससे रहस्यवादी अपनी साधना की प्रेरणा ग्रहण करता है। जिस प्रकार हमारी चेतना प्रकृति में प्रसरित होकर सौन्दर्य तथा आनन्दमय हो जाती है उसी प्रकार रहस्यवादी कवि उसके सौन्दर्य में अपने प्रेम के प्रसार की अभिव्यक्ति द्वारा प्रिय मिलन का आनन्द प्राप्त करता है। साधक कवि की अभिव्यक्ति वास्तविक रहस्यानुभूति से साम्य रखती है, जो प्रमुख रूपों और अभिव्यक्तियों में प्रकट होती है। कवि में जब तक अभिव्यक्ति की चेतना है वह पूर्ण रहस्यवादी नहीं हो सकता। साथ ही कवि प्रकृति के सौन्दर्य में आत्मतल्लीन होकर रहस्यवादी के समान जान पड़ता है। इस प्रकार प्रकृति सौन्दर्य में भावोल्लास रहस्यवाद की ही सीमा है।[1]

प्रकृति सौन्दर्य का चित्रण

रेखा-चित्र—अभी तक काव्य के अन्तर्गत विभिन्न प्रकृति रूपों का उल्लेख किया गया है। प्रकृति रूपों की काव्य में कल्पना चित्रण अथवा वर्णना को लेकर ही है। बिना किसी चित्रण के वह न तो आलंम्बन रूप में आ सकती है और न उद्दीपन रूप के अन्तर्गत। प्रकृति-चित्रण की रूपरेखा उसके निश्चित रूप के साथ बदलती है। जिन प्रकृति-रूपों में भावों की प्रधानता है, उसमें केवल चित्रण रेखाओं में होता है। कभी-कभी तो कवि भावों की व्यंजना तथा प्रकृति-चित्रण में कोई सामञ्जस्य भी नहीं स्थापित कर पाता; परिणामस्वरूप प्रकृति की घटना-स्थितियों का उल्लेख मात्र किया जाता है और ऐसे रूप अधिकतर रूढ़िवादी होते हैं, जैसा अगले भाग में हम देख सकेंगे।

संश्लिष्ट-चित्रण—(क) प्रकृति को अधिक प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित करने के

१. 'आध्यात्मिक साधना में प्रकृति' सम्बन्धी प्रकरण में इन प्रकृति-रूपों को अधिक विस्तार मिला है और मध्ययुग की रहस्यात्मक प्रवृत्ति की व्याख्या की जा सकी है।

लिए वस्तु-स्थिति तथा क्रिया-व्यापारों की संश्लिष्टता का प्रयोजन होता है। परन्तु यह वर्णन केवल सत्यों के उल्लेखों में नहीं सीमित है। प्रकृति के विस्तृत स्वरूप की उन स्थितियों और क्रिया-व्यापारों को चुनकर सजाना होता है, जो अपनी रूपात्मक अभिव्यक्ति में चित्र को सजीव रूप में सम्मुख रख सकें। कुछ कवि इस चयन में असफल होते हैं, वे परम्परा के अनुसार नामों का उल्लेख कर पाते हैं। ये कवि प्रकृति का क्रिया-स्थिति रूप सजीव चित्र नहीं खींच पाते। रूप को उपस्थित करने में वस्तु तथा क्रिया की स्थितियों का भाव-संयोग उपस्थिति करना आवश्यक है और भाव के साथ किसी अन्य भाव की व्यंजना भी सन्निहित की जा सकती है, जिसके आधार पर पिछले कुछ रूपों की कल्पना सम्भव है। इस प्रकार के संश्लिष्ट प्रकृति चित्र कवि अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति के आधार पर उपस्थित कर सकता है, जो एक सीमा तक सौन्दर्य-भाव के स्वतः आधार हैं।

कलात्मक चित्रण—(ख) प्रकृति-चित्रण को अधिक व्यंजनात्मक तथा भाव-गम्य करने के लिए कवि अन्य समानान्तर चित्रों को सामने रखता है। ये चित्र रूप तथा भाव दोनों से सम्बन्धित हो सकते हैं और आलंकारिक प्रयोग के रूप में उपस्थित किए जाते हैं। प्रकृति के एक रूप या उसकी एक स्थिति को अधिक व्यक्त अथवा भाव-व्यंजित करने के लिए कवि प्रकृति के अन्य रूपों का आश्रय लेता है। पाठक प्रकृति के प्रत्येक रूप से परिचित नहीं होता, इस कारण कवि व्यापक प्रकृति चित्रों अथवा मानवीय स्थितियों आदि का आश्रय लेता है। रूप के साथ भाव की व्यंजना के लिए इसी प्रकार के आलंकारिक प्रयोगों की सहायता ली जाती है। चित्रों का यह रूप और व्यंजना अधिक कलात्मक कही जा सकती है। इन रूपों में मानवीय जीवन के माध्यम से भाव-व्यंजना की जाती है, साथ ही मानव के रूप में प्रकृति-सौन्दर्य की कल्पना भी होती है।

आदर्श-चित्रण तथा रूढ़िवाद—(ग) इस कलात्मक शैली में जब कल्पना के सहारे कवि प्रकृति को नवीन रंग-रूपों तथा नवीन संयोगों में उपस्थित करता है, तो वह आदर्शात्मक चित्रण कहा जा सकता है। प्रकृति का यथार्थ काव्य के लिए आधार अवश्य है, परन्तु वह उसकी सीमा नहीं कहा जा सकता। काव्य-कल्पना में प्रकृति की उद्भावना आदर्श के रूप में हो सकती है। वस्तुतः यथार्थ प्रकृति में रंग-रूपों की जो विभिन्नता तथा उसके जो सूक्ष्म भेद हैं उसको कोई भी कलाकार नहीं उपस्थित कर सकता। इसी कारण प्रकृति के चित्रों को सजीव रूप प्रदान करने के लिए आदर्श रंग-रूप आदि के संयोगों की आवश्यकता है। इस आदर्श-कल्पना के चित्रणों को अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता। कवि जिस प्रकार यथार्थ रूपों के सहारे अपनी अभिव्यक्ति के चित्र उतारने का प्रयास करता है, उसी प्रकार वह आदर्श का आश्रय

लेकर भी इसी उद्देश्य की पूर्ति करता है। आगे चलकर यही आदर्श परम्परा तथा रूढ़ि में परिवर्तित होकर भद्दी प्रवृत्ति का परिचय देता है। लेकिन यह रूढ़िवाद काव्य का पतन है और कवि की व्यक्तिगत कमजोरी है।

स्वर्ग की कल्पना—(घ) प्रत्येक साहित्य की परम्परा में एक स्वर्ग की कल्पना है, जो विभिन्न संस्कृतियों के अनुसार आदर्श कल्पनाओं का चरम है। इस स्वर्ग में प्रकृति की आदर्श-कल्पना का चरम नन्दन-वन के रूप में स्थित है। प्रत्येक कवि अपने वर्णनों में इससे रूप आदि की कल्पना ग्रहण करता है। इस पृथ्वी पर सुन्दर का रूप जो काल्पनिक है, स्वर्ग में वह प्रत्यक्ष की वस्तु है। इस स्वर्ग के नन्दन-वन में चिर वसन्त है, न झरने वाले फल-फूल हैं तथा मनचाही इच्छा पूर्ण करनेवाला कल्पतरु है। स्वर्गीय कल्पना के रूप निश्चित आदर्शों पर युगों से चले आ रहे हैं। इसमें मानवीय कल्पना का सत्य सन्निहित है, इस कारण युग-युग के कवियों ने इस स्वर्ग की उद्‌भावना की है और वे इससे रूप ग्रहण करते रहे हैं। इसके अतिरिक्त अन्य चित्रों में भी इसके सौन्दर्य रूपों का प्रयोग उपमानों की योजना में हुआ है और इनके प्रयोग से कल्पना को अधिक व्यापक तथा स्पष्ट रूप मिल सका है। रूढ़ि के अन्तर्गत इन रूपों के साथ भी अन्याय हुआ है।[1]

प्रकृति का व्यंजनात्मक प्रयोग

व्यंजना और उपमान—काव्य के अन्तर्गत भाषा की भावाभिव्यक्ति और शब्द का रूप तथा भाव-व्यंजक-शक्ति का उल्लेख किया गया है। यह भी कहा गया है कि शब्द वर्तमान रूप में नामात्मक अधिक है, उसमें रूप तथा भाव की व्यंजना शक्ति कम है। काव्य में रूप और भाव की व्यंजना ही प्रधान है, नाम तो विचार और तर्क के लिए उपयुक्त है। काव्य की यह व्यंजना-शक्ति वर्णन-चमत्कार पर तो निर्भर है ही, परन्तु इसमें अलंकार भी सहायक होते हैं। वर्णनात्मक व्यंजना का एक रूप अलंकार भी है। वैसे पहले ही उल्लेख किया गया है कि एक प्रकार का आलंकारिक प्रयोग व्यंजना के अन्तर्गत आता है। परन्तु साम्य और विरोध के संयोग उपस्थित कर अधिकांश उपमा-मूलक अलंकार एक प्रकार से रूप या भाव की व्यंजना ही करते हैं और अलंकारों में रूप तथा भाव की व्यंजना के रूप में प्रकृति-उपमानों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मानवीय भाव और रूप की स्थितियों के आलंकारिक प्रयोग द्वारा जो रूप की योजना या भाव की अभिव्यक्ति की जाती है, उसका प्रकृति-चित्रण के प्रसंग में संकेत किया गया है। वस्तुतः भावों के विकास की स्थितियों में प्रकृति के विभिन्न रूपों

---

१. मध्य-युग के काव्य में चित्रण के दृष्टिकोण से हम देखेंगे कि संश्लिष्ट-चित्रण से अधिक उल्लेखों की प्रवृत्ति है तथा कलात्मक चित्रणों से अधिक रूढ़ि का पालन मिलता है।

और व्यापारों के साथ विशेष भावों का संयोग हो चुका है। और यही संयोग सौन्दर्य के आधार पर प्रकृति-उपमानों में रूप के साथ भाव की व्यंजना भी करता है।

उपमानों में रूपाकार—प्रकृति के नाना रूपों में रूप-रंग, आकार-प्रकार; ध्वनि-नाद तथा गंध-स्पर्श आदि का सौन्दर्य है और प्रकृति के विशेष रूप अपनी प्रमुख सौन्दर्य-भावना के साथ हमारी स्मृति में स्थित हैं। रूप का यह सौन्दर्य-पक्ष अन्य पक्षों को आच्छादित कर लेता है। परन्तु किसी-किसी स्थिति में प्रकृति के रूप की स्थिति समग्र होकर सौन्दर्य का बोध कराती है। कमल कभी तो केवल रंग का भाव लेकर उपस्थित होता है, कभी आकार का रूप लेकर; परन्तु किसी स्थिति में वह रंग तथा आकार दोनों का समन्वित सौन्दर्य उपस्थित करता है। विभिन्न अलंकारों में रूपात्मक प्रकृति सौन्दर्य के आधार पर मानवीय रूप सौन्दर्य की योजना की जाती है। यह योजना कभी-कभी किसी विशेष गुण के आधार पर प्रकट होती है और कभी वस्तु के विभिन्न गुणों की समष्टि में। कभी-कभी रूप-सौन्दर्य उपस्थित करने के लिए भिन्न-भिन्न अंगों की सौन्दर्य-व्यंजना अलग-अलग उपमानों से की जाती है और इस प्रकार एक चित्र पूरा किया जाता है और कभी एक ही रूप-स्थिति का सौन्दर्य अनेक उपमानों की योजना से विभिन्न छायातयों में उपस्थित होता है। यह आवश्यक नहीं है कि इस प्रकार केवल मानव के रूप की कल्पना की जावे; अन्य वस्तुओं के रूप-सौन्दर्य की स्थापना भी इस प्रकार की जा सकती है।

उपमानों से स्थिति-योजना—प्रकृति के रूपों में विभिन्न स्थितियाँ स्थान और काल की सीमा बनाकर रहती हैं। वस्तुओं के अतिरिक्त इन स्थितियों में भी सौन्दर्य का भाव सन्निहित रहता है। मानवीय तथा अन्य वस्तुओं की स्थितियों के सजीव वर्णनों में सौन्दर्य-दान करने के लिए इन प्रकृति-स्थितियों को उपमा, उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति आदि के उपमानों में प्रस्तुत करते हैं। इनको उपस्थित करने के लिए कवि स्वतः-सम्भावी प्रकृति-रूपों को लेता है और काल्पनिक स्थितियों को भी प्रस्तुत करता है। जिस प्रकार कवि प्रकृति की नवीन आदर्श-कल्पना कर सकता है, उसी प्रकार प्रकृति के उपमानों की नवीन परिस्थितियों की उद्भावना भी करता है। स्वाभाविक प्रकृति-रूप परप्रत्यक्ष के आधार पर भाव-संयोग ग्रहण करते हैं और इसी प्रकार आदर्श-रूप में काल्पनिक भाव-संयोग उपस्थित हो जाते हैं। यह आदर्श-योजना चित्र को अधिक सजीव करती है। परन्तु जब इसमें कवि विचित्रता उत्पन्न करने के लिए असम्भव और असुन्दर कल्पनाएँ जोड़ता है, वह काव्य के लिए बोझा बन जाती हैं। कभी इसमें वैचित्र्य का आनन्द अवश्य मिलता है, परन्तु रूढ़िगत परम्परा में यह प्रवृत्ति काव्य को असुन्दर और दोष-पूर्ण करती है।

उपमानों से भाव-व्यंजना—पिछले भावों के विकास के प्रकरण में हम देख

चुके हैं कि प्रकृति के प्रत्येक रूप और स्थिति में हमारे अन्तःकरण के सम पर एक भाव स्थिर हो गया है। इस कारण उपमानों के रूप में इनसे भावों की व्यंजना भी होती है। व्यापक प्रकृति-वर्णनों में ये संयोग भाव की मनःस्थिति का संकेत देते हैं; परन्तु उपमान के रूप में वस्तु के रूप और उसकी स्थिति के साथ भाव-व्यंजना करते हैं, इस के अतिरिक्त लाक्षणिक प्रयोगों में भी ये प्रकृति-रूप (उपमान) भाव की व्यंजना करते है। विभिन्न प्रकृति-रूप अलग-अलग भावों से सम्बन्धित हैं और यह भाव उनके सौन्दर्य पर ही विकसित हुआ है। लाल कमल यदि रति का प्रतीक है तो नील कमल में करुणा की भावना सन्निहित है। एक ही रूप में विभिन्न भावों को व्यक्त करने के लिए विभिन्न उपमानों का प्रयोग किया जा सकता है। मीन के समान नेत्र से चंचलता का भाव प्रकट होता है, तो मृगशावक के समान नेत्र से सरलता का भाव व्यक्त है। इसी प्रकार स्थितियों से भी भावाभिव्यक्ति की जा सकती है। इनका प्रयोग मानसिक-स्थितियों को प्रकट करने के लिए किया जाता है। कभी-कभी उपमानों की योजना से वस्तु-स्थितियों में भाव-संकेत व्यंजित होते हैं। उषाकाल का लालाभ आकाश उल्लास और प्रेम की व्यंजना करता है, और सन्ध्या की गोधूली श्रान्ति तथा निराशा आदि भावों को व्यंजित करती है। कभी-कभी सन्दर्भ से स्थिति में परिवर्तन होना सम्भव है।

अभी तक उपमानों का उल्लेख रूप और स्थितियों को लेकर किया गया है। परन्तु भावों के चित्रण में प्रकृति के नाना रूपों का प्रयोग उपमानों के आधार पर किया जाता है। जिस मानसिक आधार पर इनका प्रयोग होता है, वह भाव-संयोग ही है। इस प्रकार की व्यंजना भी दो प्रकार से की जा सकती है। पहले में तो भावों की व्यंजना (चित्रण के रूप में) प्रकृति उपमानों के सहारे की जाती है। पर्वत के समान चिन्ता, पवन के समान कल्पना, पारिजात के समान अभिलाषा आदि प्रयोग लाक्षणिक व्यंजना के उपमान हैं। दूसरे रूप में प्रकृति के रूपों को मनोभावों के रूप में लेते हैं। कल्पना का आकाश, आशा का प्रकाश, करुणा का सागर आदि रूपों में इस प्रकार की व्यंजना है। इनके मूल में भी जैसा कहा गया है, उपमानों के समान संयोग की भावना है। परन्तु इन लाक्षणिक व्यंजनाओं में अभ्यन्तरित रूप से सौन्दर्य की व्यंजना की जाती है।[1]

---

१. प्रकृति-उपमानों की योजना में रूप तथा स्थितियों का सुन्दर प्रयोग मध्ययुग के प्रमुख कवियों में मिलता है। भाव-व्यंजना के लिए उपमानों का प्रयोग कम ही हुआ है। और भाव-चित्रण के लिए प्रकृति-उपमानों का लाक्षणिक प्रयोग बहुत ही कम मिलता है। आधुनिक छायावाद में ही इसका अधिक विकास हुआ है।

द्वितीय भाग

हिन्दी साहित्य का मध्ययुग

(प्रकृति और काव्य)

प्रथम प्रकरण

काव्य में प्रकृति की प्राचीन परम्परा

(मध्ययुग की पृष्ठभूमि)

काव्य और काव्य-शास्त्र—हिन्दी साहित्य का मध्ययुग अपनी काव्य सम्बन्धी प्रवृत्तियों के क्षेत्र में अपने से पहले की साहित्यिक परम्पराओं से प्रभावित हुआ है; जैसा कि स्वाभाविक है। अगले प्रकरण में हम इस युग की कुछ अन्य स्वच्छंद प्रवृत्तियों पर विचार करेंगे जिसका मूल अपभ्रंश के काव्यों में भी मिलता है। परन्तु काव्य के प्रमुख आदर्शों को प्राकृत तथा अपभ्रंश के साहित्य के समान हिन्दी साहित्य ने भी संस्कृत साहित्य के काव्य से ग्रहण किया है। ऐसी स्थिति में अपने मुख्य विषय में प्रवेश करने के पूर्व संस्कृत साहित्य के काव्य और प्रकृति सम्बन्धी मतों की व्याख्या करना आवश्यक है। प्रथम भाग में इस बात का उल्लेख किया गया है कि मानवीय कल्पना के विकास में प्रकृति का सहयोग रहा है। कला और काव्य का आधार भी कल्पना है इस कारण प्रकृति से इनका सहज सम्बन्ध सम्भव है। काव्य-शास्त्र काव्य के रूप, भाव और आदर्शों की व्याख्या करता है और इसलिए उसमें काव्य तथा प्रकृति के सम्बन्धों की विवेचना भी मिलती है। काव्य-शास्त्र की विवेचना में प्रकृत सम्बन्धी उल्लेख गौण ही रहते हैं, फिर भी उनका महत्त्व कम नहीं है। इन संकेतों में काव्य में प्रचलित प्रकृति-रूप की परम्पराएँ छिपी रहती हैं। साथ ही शास्त्रीय विवेचना की प्रवृत्तियों से आगे का साहित्य पूरी तरह से प्रभावित होता है। संस्कृत काव्य-शास्त्र की व्याख्या से उसके साहित्य के प्रकृति-रूपों की प्रवृत्तियों का ज्ञान हो जाता है और जिन काव्य-ग्रन्थों ने शास्त्रीय आदर्शों की प्रेरणा ग्रहण की है उनके प्रकृति-रूप तो शास्त्रीय विवेचना से अत्यधिक प्रभावित हैं। हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में भक्ति-काव्य ने परम्परा के रूप में और रीति-काव्य ने सिद्धान्त के रूप से भी, संस्कृत काव्य के अनुसरण के साथ उसके शास्त्रीय आदर्शों का पालन भी किया है। इस अनुसरण का अर्थ अनुकरण नहीं मानना चाहिए। मध्ययुग के काव्य में अनेक स्वतंत्र प्रवृत्तियों

का विकास हुआ है, जिन पर विचार किया जायगा। लेकिन मध्ययुग ने अपने से पूर्व के काव्य और काव्य-शास्त्र से क्या प्रभाव ग्रहण किया, इसको समझने के लिए आवश्यक है कि हम संस्कृत काव्य-शास्त्र तथा काव्य दोनों में प्रकृति-रूपों पर विचार कर लें।

काव्य-शास्त्र में प्रकृति

काव्य का मनस्-परक विषयि-पक्ष—काव्य-शास्त्र के आदर्शों के विषय में प्राच्य और पाश्चात्य शास्त्रियों का मत वैषम्य है। आदर्शों के मौलिक भेद के कारण इनके काव्य में प्रकृति सम्बन्धी मत भी भिन्न हैं। भारतीय आचार्यों ने प्रारम्भ से काव्य को 'शब्दार्थौ काव्यं' के रूप में स्वीकार किया है। संस्कृत के आदि आचार्य की इस काव्य सम्बन्धी व्याख्या को सभी परवर्ती आचार्यों ने माना है। 'शब्द' और 'अर्थ' के समन्वय को काव्य मानने में संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है। 'शब्द' के द्वारा भाषा के रूपात्मक अनुकरण (मानसिक) की ओर संकेत है और साथ ही अर्थ की व्यापक सीमाओं में अभिव्यक्ति का रूप है। 'शब्द' की रूपात्मकता में और अर्थ व्यंजना में अनुभूति की भावना भी सन्निहित है; क्योंकि कवि की स्वानुभूति के बिना 'शब्द-अर्थ' की कोई स्थिति ही नहीं स्वीकार की जा सकती। परन्तु संस्कृत काव्य-शास्त्र में कवि की इस स्वानुभूति रूप काव्य के मनस्-परक पक्ष की अवहेलना की गई है। इसके विपरीत पश्चिम में काव्य के मनस्-परक विषयि-पक्ष की ही अधिक व्याख्या हुई है। प्लेटो ने काव्य की विवेचना वस्तु-रूप की थी, परन्तु अरस्तू ने काव्य और कला को 'अनुकरण' के रूप में स्वीकार किया है। यह 'अनुकरण' साधारण अर्थ में प्रकृति के रूप-सादृश्य से सम्बन्धित है, परन्तु वस्तुतः इसका अर्थ मानसिक अनुकरण है। आगे चलकर यही 'अनुकरण' कवि की स्वानुभूति की अभिव्यक्ति के रूप में ग्रहण किया गया है। इसमें काव्य के मनस्-परक विषयि-पक्ष रूप कवि की मनःस्थिति का अधिक महत्त्व है। काव्य के वस्तु-परक विषय पक्ष को गौण स्थान दिया गया। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में इसी स्वानुभूति की अभिव्यक्ति की व्यापक विवेचना की गई है। महाद्वीप (योरप) और इंगलैण्ड के स्वच्छन्दवादी युग के आधार में काव्य के इसी सिद्धान्त की प्रधानता थी और इस युग के गीतात्मक प्रकृतिवाद को प्रेरणा भी इसी से मिली है।[1] परन्तु भारतीय काव्य-शास्त्र में अभिव्यक्ति को रूपात्मक मानकर आचार्यों ने 'शब्द-अर्थ' दोनों को 'काव्य-शरीर' माना है।[2] इस प्रकार वे अपने दृष्टि-

---

१. इंगलैंड में क्रोचे के सिद्धान्त का प्रतिपादन ई० एफ० कैरट और जा० कॉलिन ने किया है।

२. भामह (प्र० २३) दण्डी (प्र० १०)

तैः शरीरञ्च काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः।
शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ॥

कोण में स्पष्ट अवश्य है, क्योंकि इन्होंने 'काव्य-आत्मा' को स्वीकार किया है। परन्तु इन आचार्यों का ध्यान काव्य विषय के वस्तु-रूप पर ही अधिक रहा है। इसका एक कारण है। भारतीय आचार्यों में विश्लेषण की प्रवृत्ति अत्यधिक रही है और विश्लेषण के क्षेत्र में भाव और अनुभूति भी वस्तु और रूप का विषय बन जाते हैं। बाद में ध्वनिवादियों और रसवादियों ने काव्य की अभिव्यक्ति में 'आत्मा' को भी स्थान देने का प्रयास किया है। परन्तु यह तो काव्य की पाठकों पर पड़ने वाली प्रभावशीलता से ही सम्बन्धित है; इसमें कवि की मनःस्थिति का स्पष्ट समन्वय नहीं है। काव्य कवि की किस प्रकार की मानसिक प्रेरणा की अभिव्यक्ति है, इस ओर इन्होंने ध्यान नहीं दिया है। इस विषय में डा० सुशीलकुमार डे का कथन महत्त्वपूर्ण है—"भारतीय सिद्धान्तवादियों ने अपने कार्य के एक महत्त्वपूर्ण अंग की अवहेलना की है। यह काव्य विषय की प्रकृति को कवि की मनःस्थिति के रूप में समझकर परिभाषा बनाने का कार्य है, जो पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र का प्रमुख विषय रहा है।"[1] इस उपेक्षा का कारण भारतीय काव्य-शास्त्र का सूक्ष्म और शुष्क विवेचनात्मक दृष्टिकोण तो है ही, साथ ही भारतीय काव्य-कला की चिरन्तन आदर्श-भावना भी है।[2] इस विषय में संस्कृत के आचार्य बिल्कुल अनभिज्ञ हों, ऐसा नहीं है। डा० डे ने भी स्वीकार किया है कि 'स्वभावोक्ति' और 'भाविक' अलंकारों में जो अलंकारत्व है, वह वस्तु और काल की स्थितियों को लेकर कवि की मनःस्थिति पर ही स्थिर है। भामह और कुन्तल 'वक्रोक्ति' से हीन काव्य नहीं मानते, परन्तु दण्डी ने इस सत्य की उपेक्षा नहीं की है और 'स्वभावोक्ति' को अलंकार स्वीकार किया है। इन दोनों अलंकारों में कवि की वस्तु और काल विषयक सहानुभूति स्वयं अलंकृत हो उठती है। इनके अतिरिक्त काव्य-शास्त्र में कुछ और भी संकेत हैं जिनमें कवि की भावात्मक मनःस्थिति का समन्वय पाया जाता है, कदाचित डा० डे ने इस ओर ध्यान नहीं दिया।

संस्कृत काव्य-शास्त्र में इसका उल्लेख—विचार करने से 'वक्रोक्ति' में भी इसी बात का संकेत मिलता है। भामह ने 'वक्रोक्ति' अथवा 'अतिशयोक्ति' को अलंकार का प्रयोजन माना है। कुन्तल ने इसी आधार पर 'वक्रोक्ति' को अधिक विकसित रूप प्रदान किया है। कुन्तल ने 'अतिशय' और 'वक्रत्व' के भावों में जो वैचित्र्य और विच्छित्ति (सौन्दर्य) का उल्लेख किया है, उसमें पाठक पर पड़ने वाले प्रभाव के अति-

---

१. संस्कृत पोइटिक्स; भाग २ पृ० ६५

२. इस विषय में लेखक का 'संस्कृत काव्य-शास्त्र में प्रकृति का रूप' नामक लेख देखना चाहिए। भारतीय काव्य और कला का आदर्श वह सादृश्य-भावना है जो कवि के बाह्य अनुभव का फल न होकर आन्तरिक समाधि पर निर्भर है। जिसके लिए आत्म-संस्कार और आत्म-योग की आवश्यकता है।

रिक्त कवि की मनःस्थिति का संकेत है।[1] अभिव्यक्ति के सौन्दर्य या वैचित्र्य के स्रोत की ओर ध्यान देने पर कवि की अनुभूत मनःस्थिति अवश्य सम्मुख आती। उस समय प्रकृति-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य की अनुभूति के माध्यम से अभिव्यक्ति का काव्यानन्द की परम्परा में अधिक उचित सामञ्जस्य होता। परन्तु वह तो 'वैदग्ध्यभङ्गी भणितिः' के रूप में आलंकारिक दूर की सूझ का कारण बन गया।[2] फिर भी इन काव्य-शास्त्रियों का वैचित्र्य और सौन्दर्य सम्बन्धी उल्लेख स्वयं इस बात का साक्षी है कि इन्होंने कवि और कलाकार की अनुभूतिशील मनःस्थिति की एकान्त उपेक्षा नहीं की है। इस विषय में एक उल्लेखनीय बात और भी है। लगभग समस्त आचार्यों ने काव्य की अभिव्यक्ति के लिए कवि-प्रतिभा को आवश्यक माना है, यद्यपि इनके लिए काव्य निर्माण का विषय ही रहा है। भामह और दण्डी इसको 'नैसर्गिक' कहते हैं और 'सहज' मानते हैं। वामन 'प्रतिभा में ही काव्य का स्रोत है' स्वीकार करते हैं और उसे मस्तिष्क की 'सहज-शक्ति' के रूप में मानते हैं। मम्मट इसी के लिए अधिक व्यापक शब्द 'शक्ति' का प्रयोग करते हैं। अभिनव इसको 'नवनिर्माणशालिनि प्रज्ञा' कहते हैं, जो 'भाव-चित्र' और 'सौन्दर्य-सर्जन' में कुशल होती है। आदि आचार्य भरत ने भी इसको कवि की आन्तरिक भावुकता 'अन्तर्गत भाव' के रूप स्वीकार किया है।[3] इस 'प्रतिभा' के अन्तर्गत भी कवि की मनःस्थिति आ जाती है। कवि प्रतिभा से ही अपनी अनुभूतियों के आधार पर सादृश्य-भावना की काल्पनिक अभिव्यक्ति करता है। परन्तु आचार्यों ने 'प्रतिभा' को अनुभूति से अधिक प्रज्ञा के निकट समझा है। यद्यपि भारतीय आत्मज्ञान की सीमा में अनुभूति का निलय हो जाता है, परन्तु ज्ञान के प्रसार में विश्लेषणात्मक क्रियाशीलता है और अनुभूति की अभिव्यक्ति में संश्लेषणात्मक प्रभावशीलता। भरत का 'अन्तर्गत-भाव' कवि-प्रतिभा के मानसिक-पक्ष की अनुभूति से निकटतम है। इस प्रकार निश्चय ही संस्कृत के साहित्याचार्यों को काव्य के इस अनुभूति पक्ष का भान था और उसकी उपेक्षा का कारण आदर्श की विशेष प्रवृत्ति मात्र है।

---

१. वक्रोक्तिजीवित (प्र० ३)

लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये।
काव्यस्यामलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते॥

२. वक्रोक्तिजीवित: कुन्तल : प्र० ११.

उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते॥

३. भामह: काव्यालंकार (प्र० ५); दण्डी: काव्यादर्श (प्र० १०३–४); वामन: काव्याल० (प्र० ३, १६) अभिनव: लोचन० (पृ० २९); भरत: नाट्यशास्त्र (पं० ११३)

उपेक्षा का परिणाम—कारण कुछ भी हो परन्तु इस उपेक्षा के परिणाम स्वरूप उनके सामने भावात्मक गीतियों का रूप नहीं आ सका और साथ ही प्रकृति का उन्मुक्त स्वच्छन्दवादी दृष्टिकोण भी नहीं ग्रहण किया जा सका। वैदिक साहित्य के बाद संस्कृत तथा पाली आदि साहित्यों में गीतियों का विकास नहीं हुआ है और न उनमें स्वच्छन्द प्रकृति का रूप आ सका है। फिर भी जिन काव्यों पर काव्य की शास्त्रीय विवेचनाओं का प्रभाव नहीं है, उनमें प्रकृति सौन्दर्य नाना रूपों में चित्रित हुआ है। परन्तु शास्त्र-ग्रन्थों के प्रभाव में रचे गए काव्यों में तो चित्रणों में भी सहज स्वाभाविक सौन्दर्य का अभाव है। हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में शास्त्र-ग्रन्थों का प्रभाव जम चुका था और इस कारण जिस सीमा तक इस युग का काव्य संस्कृत काव्य-शास्त्रों से प्रभावित है, उस सीमा तक उसमें प्रकृति का रूढ़िवादी स्वरूप ही मिलता है। इसी दृष्टि के फलस्वरूप संस्कृत में शास्त्रीय-ग्रन्थों की सूक्ष्म विवेचना के साथ ही कवि-शिक्षा-ग्रन्थों का भी निर्माण हुआ था। इस प्रकार के आचार्यों में क्षेमेन्द्र, राजशेखर, हेमचन्द्र और वाग्भट्ट प्रमुख हैं। इनके ग्रन्थों में काव्य-विषयक शिक्षाएँ हैं। ये विभिन्न पूर्ववर्ती काव्यों के आधार पर लिखे गये हैं। इन ग्रन्थों से प्रकट होता है कि इन काव्य-शास्त्रियों ने किस सीमा तक काव्य को अभ्यास का विषय बना दिया है। इनमें प्रकृति-वर्णन सम्बन्धी विभिन्न परम्पराओं का उल्लेख हुआ है और कवि के लिये इन परम्पराओं से परिचित होना आवश्यक समझा गया है।[1] आगे के कवियों ने रूढ़ि के अर्थ में ही इन परम्पराओं को अपना लिया है। मध्ययुग के काव्य में जो प्रकृति-वर्णनों में उल्लेखों का रूढ़िवादी रूप मिलता है, वह इसीका परिणाम है।

रस की व्याख्या—पहले भाग में संस्कृत आचार्यों की काव्य सम्बन्धी परिभाषाओं पर विचार किया गया है। इनमें कुछ का ध्यान अभिव्यक्ति की शैली पर केन्द्रित है और कुछ का अभिव्यक्ति के प्रभाव पर। वस्तुतः इनमें भेद ऊपर से ही है, वैसे इनमें एक दूसरे का अन्तर्भाव मिलता है। ये सभी परिभाषाएँ काव्य विषय और उसके अभिव्यक्त प्रभाव पर ही केन्द्रित हैं। आगे चलकर ध्वनि के अन्तर्गत रस ने अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। रस-सिद्धान्त बाद तक अपनी पूर्णता को प्राप्त करता रहा है। परन्तु आगे चलकर, रस-निष्पत्ति के लिए जिन स्थायी-भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारियों का उल्लेख किया गया

१. इनको 'कवि-समय' कहा गया है। राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' इस विषय में सबसे स्पष्ट और विशद ग्रन्थ है। चतुर्दश अध्याय में उन्होंने (१) जाति (२) द्रव्य (३) गुण (४) क्रिया के विभाग में इन समयों को बाँटा है। फिर स्थिति के अनुसार इनका (१) स्वर्ग्य (२) भौम (३) पातालीय में विभाजन किया गया है और ये सब समय-रूप कवि-परम्पराएँ (१) असतो-निबंधन (२) सतोऽप्यनिबन्धन और (३) नियमतः में विभाजित हैं। इन सबका वर्णन सोलहवें अध्याय तक चलता है।

है, उन्हींको मुख्य स्थान दिया जाने लगा। इस विषय में यह रूढ़िवादिता भ्रामक है। रस-निष्पत्ति में स्थायी-भाव का आधार और विभाव, अनुभाव तथा संचारियों का संयोग तो मान्य है। परन्तु रस अपनी निष्पत्ति में इन सबसे सम्बन्धित नहीं है, वह तो अपनी समस्त भिन्नता में एक है और अलौकिक आनन्द है। इसके अतिरिक्त स्थायी-भावों की संख्या इतनी निश्चित नहीं कही जा सकती। आवश्यक नहीं है कि संचारी अपनी अभिव्यक्ति की पूर्णता में भी रसाभास मात्र रहें, वे काव्यानन्द न प्रदान कर सकें। सौन्दर्य और शान्त भाव मानव के हृदय में इस प्रकार स्थिर हो चुके हैं कि उनको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाय तो ये रति और शम या निर्वेद के अन्तर्गत भी नहीं आ सकते। परन्तु इस ओर संस्कृत आचार्यों ने ध्यान नहीं दिया है। परिणाम स्वरूप इन दोनों भावों के आलम्बन-रूप में आनेवाली प्रकृति साहित्य में केवल उद्दीपन-रूप में स्वीकृत रही। मानव के मन में सौन्दर्य की भावना सामञ्जस्यों का फल है और यह भाव रति स्थायी-भाव का सहायक अवश्य है। परन्तु रति से अलग उसकी सत्ता न स्वीकार करना अतिव्याप्ति दोष है। उसी प्रकार शान्त केवल निर्वेदजन्य संसार से उपेक्षा का भाव ही नहीं है, वरन् भावों की एक निरपेक्ष स्थिति भी है। सौन्दर्य भाव और शान्त भाव मनःस्थिति की वह निरपेक्ष स्थिति है जो स्वयं में पूर्ण आनन्द है। वस्तुतः अन्य रस भी अपनी निष्पत्ति की स्थिति में उसी धरातल पर आ जाते हैं जहाँ मनःस्थिति निरपेक्ष आनन्दमय हो जाती है। यह एक प्रकार से भाव-सौन्दर्य के आधार पर ही सम्भव है। इन भावों के आलम्बन-रूप में प्रकृति का बिखरा हुआ राशि-राशि सौन्दर्य है, इससे अनुभूति ग्रहण कर कवि अपनी अभिव्यक्ति का एक बार स्वयं आश्रय बनता है और बाद में पाठ करते समय पाठक ही आश्रय होता है। हम कह चुके हैं कि इन भावों को आचार्यों ने स्थायी भाव नहीं माना है और साथ ही उनके विचार से प्रकृति केवल उद्दीपन विभाव में आती है। इस दृष्टिकोण का प्रभाव संस्कृत-साहित्य के प्रकृति-रूपों पर तो पड़ा ही है, हिन्दी के मध्ययुग में भी प्रकृति का स्वतन्त्र रूप से उन्मुक्त चित्रण इसी शास्त्रीय परम्परा के पालन करने के फलस्वरूप नहीं हो सका है।

उद्दीपन-विभाव (क)—आचार्य भरत ने रस-निष्पत्ति के लिए विभाव, अनुभाव और संचारियों का उल्लेख किया है। निष्पत्ति विषयक मतभेदों के होते हुए भी इस विषय में सभी आचार्य एक मत हैं। विभाव के अन्तर्गत ही उद्दीपन विभाव में प्रकृति का रूप आता है। कुछ आचार्यों ने उद्दीपन के चार भाग करके प्रकृति को तटस्थ स्वीकार किया है; इस प्रकार प्रकृति के विषय में उनका बहुत संकुचित मत रहा है।[१]

१. प्रतापरुद्रयशोभूषण; श्रीविद्यानाथ कृत (रस प्रकरण: पृ० २१२)
अथ विभावः

रस सिद्धान्त के रूढ़िवादी क्षेत्र में स्थायी-भावों की सीमाएँ निश्चित हो जाने पर यदि प्रकृति केवल भावों को उद्दीप्त करने वाली रह गई तो आश्चर्य नहीं। वस्तुतः प्रकृति अपने नाना रूप-रंगों में आदि काल से मानवीय भावों को प्रभावित करती आई है। इसपर पहले भाग में विचार किया गया है। यद्यपि भावों की स्थिति मनस् में ही है, पर उनको उद्भूत और संवेदनशील करने के लिए प्रकृति के इन्द्रिय-ज्ञान और मनःसाक्षात् की आवश्यकता है। आज भी प्रकृति एक ओर हमारी स्थिति और हमारे भावों को आधार प्रदान करती है और दूसरी ओर वह भावों के विकास में सापेक्ष, निरपेक्ष तथा उपेक्षाशील होकर सहायक होती है। यही कारण है कि प्रकृति को व्यापक रूप से उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत मानने की भूल आचार्यों के द्वारा हुई है। यद्यपि एक दृष्टि से इसमें सत्य भी है। पर इस एकांगी विश्लेषण से काव्य में प्रकृति रूपों की सीमा भी संकुचित हुई है, और इसका प्रभाव हमारे आलोच्य युग के काव्य पर भी पड़ा है।

आरोप (ख)—इसी के साथ संस्कृत काव्याचार्यों की एक प्रवृत्ति का उल्लेख कर देना आवश्यक है। मनस् ही प्रकृति के रूपों को भावात्मकता प्रदान करता है और हम देख चुके हैं कि इस क्रिया-प्रतिक्रिया में मानव अपने विचार को अलग नहीं कर सकता। यही कारण है कि जब वह प्रकृति-रूपों को भावों में ग्रहण करता है, प्रकृति अनुप्राणित हो उठती है और उसकी अभिव्यक्ति में वह मानवीय आकार में भी कभी-कभी उपस्थित होती है। इस प्रकार के भावारोपों तथा आकार क्रिया आदि के आरोपों को साहित्य-शास्त्री रस के अन्तर्गत न लेकर 'रसाभास' और 'भावाभास' के

विभावः कथ्यते तत्र रसोत्पादनकारणम्।
आलम्बनोद्दीपनात्मा स द्विधा परिकीर्त्यते॥

रसार्णवसार; श्रीशिङ्ग भूपाल (प्र० १६२, ८७, ७८, ८६)

अथ शृंगारस्योद्दीपनविभावः

उद्दीपनं चतुर्धा स्यादालम्बनसमाश्रयम्।
गुणचेष्टालङ्कृतयस्तटस्थाश्चेति भेदतः॥

अथ तटस्थाः

तटस्थाश्चन्द्रिकाधारागृहचन्द्रोदयावपि।
कोकिलालापमाकन्दमन्दमारुतषट्पदाः॥
लतामण्डपभूगेहदीर्घिकाजलदारवाः।
प्रासादगर्भसङ्गीतक्रीडाद्रिसरिदादयः॥

अन्तर्गत मानते हैं।[1] कहा गया है, रस अपने स्तर पर एकरस है, सम है उसमें कमी और अधिकता का प्रश्न व्यर्थ है। परन्तु आचार्यों को वर्गीकरण करना था और उनके सामने उनका दृष्टिकोण भी था। पर आनन्द में स्तर हो सकते हैं विभिन्नता नहीं। इस दृष्टि के परिणाम के विषय में पहले ही उल्लेख किया जा चुका है।

अलंकारों में उपमान योजना—संस्कृत के प्रारम्भिक आचार्यों ने काव्य विवेचना में अलंकारों को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। काव्य के समस्त स्वरूप में अलंकारों का स्थान भले ही गौण हो परन्तु उसके अन्तर्गत जो आरम्भ से ही सौन्दर्य की भावना सन्निहित रही है वह महत्त्वपूर्ण है।[2] काव्यानन्द समष्टि रूप प्रभाव है, उसमें अलग-अलग करके यह कहना यह काव्य है और यह सहायक है बहुत उचित नहीं है। विवेचना के लिए ऐसा स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुतः अलंकार भी काव्य के अन्तर्गत हैं और उनके उपमानों का सौन्दर्य-स्रोत प्रकृति का व्यापक सौन्दर्य है। जब अलंकारों के द्वारा भाव या सौन्दर्य का व्यंग्य होता है; उस समय तो ध्वनिकार इनको संलक्ष्यक्रम गुणीभूत व्यंग्य के अन्तर्गत उत्तम काव्य स्वीकार भी करते हैं। अलंकारों में उपमानों की प्रकृति योजना 'सादृश्य' के आधार पर सौन्दर्य का अन्तर्निहित व्यंग्य रखती ही है, उसके लिए अन्य व्यंग्य की अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। बाद में अलंकारों में उक्ति वैचित्र्य की भावना बढ़ती गई है। इस प्रकार अलंकारों की संख्या में तो वृद्धि हुई है, पर इनमें कलात्मक सादृश्य की सौन्दर्य भावना नहीं पाई जाती। काव्य-शास्त्रियों ने इनको आभूषण बना डाला है। इस प्रवृत्ति से बाद का संस्कृत साहित्य और हिन्दी का मध्ययुग दोनों ही बहुत अधिक प्रभावित हैं।

हिन्दी काव्य-शास्त्र—प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि हिन्दी साहित्य के

१. काव्यानुशासनवृत्तिः वाग्भट्ट (अ० ५; पृ० ५६)

तत्र शृङ्गारादिष्वनौचित्येनारोप्यमाणौ रसभावौ रसभावाभासतां भजतः। काव्यानुशासनः हेमचन्द्र (पृ० १०१)

निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु चारोपाद्रसभावाभासौ।

हेमचन्द्र ने आगे (१) संभोगाभास (२) विप्रलम्भाभास में वर्गीकरण करके इसके उदाहरण भी दिये हैं।

२. काव्यादर्शः दण्डी

काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान्प्रचक्षते।

साहित्य-दर्पणः विश्वनाथः

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभाऽतिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्॥

मध्य युग में संस्कृत की काव्य रीतियों का बहुत कुछ प्रभाव रहा है। संतों को छोड़कर भक्ति काल की सभी परम्पराओं के कवि इन साहित्यिक रीतियों से परिचित थे। कृष्ण-भक्ति के प्रमुख कवि सूर और राम-भक्त तुलसी दोनों ही में काव्य की शास्त्रीय मान्यताओं को प्रत्यक्ष रूप से ढूंढा जा सकता है और मध्ययुग के उत्तर-काल में संस्कृत काव्य-शास्त्र की विभिन्न रीतियों का अनुसरण किया गया है। इस काल की शास्त्रीय विवेचनाओं में मौलिकता के स्थान पर परम्परा पालन और कवित्व प्रदर्शन ही अधिक है। ऐसी स्थिति में उनसे काव्य सम्बन्धी किसी मौलिक मत की आशा नहीं की जा सकती। इस युग में हिन्दी साहित्य के आचार्यों ने किसी विशेष मत का प्रतिपादन नहीं किया है। काव्य में प्रकृति के विषय में इन्होंने संस्कृत आचार्यों का मत स्वीकार कर लिया है और वर्णनों में उनकी परम्पराओं को मान लिया है। केशव को छोड़कर इन कवि-आचार्यों ने प्रकृति को रस के अन्तर्गत उद्दीपन-विभाव में रख दिया है। कृपाराम उद्दीपन के विषय में लिखते हैं—

उद्दीपन के भेद बहु सखी वचन है आदि।
समयसाजलों वरनिये कवि कुल की मरजादि॥[1]

देव ने भी गीत नृत्य आदि के साथ प्रकृति को भी उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत ही रखा है—

गीत नृत्य उपवन गवन आभूषन बनकेलि।
उद्दीपन शृंगार के बिधु बसन्त बन बेलि॥[2]

भिखारीदास ने अपने काव्य-निर्णय में रस को ध्वनि के अन्तर्गत रखा है और प्रकृति को विभाव के उदाहरण में प्रस्तुत किया है।[3] सैयद गुलाम नबी ने विभाव के विभाजन के अनन्तर उद्दीपन के अन्तर्गत षट-ऋतु वर्णन किया है 'अथ उद्दीपन में षट-ऋतु मध्ये बसन्त ऋतु वर्णनम्।'[4] इस विषय में आचार्य केशव का मत अपनी विशेष दृष्टि के कारण महत्त्व रखता है। समस्त परम्परा के विरुद्ध भी केशवदास ने प्रकृति-रूपों को आलम्बन के अन्तर्गत रखा है—

अथ आलंबनस्थान वर्णन
दंपति जोबन रूप जाति लक्षणयुत सखिजन।
कोकिल कलित बसंत फूलि फलदलि अलि उपवन।

१. हिततरंगिनी; ११
२. भाव-विलास
३. काव्य-निर्णय भिखारीदास (पृ० ३३)
४. रस-प्रबोध, पृ० ८३

जलयुत जलचर अमल कमल कमला कमलाकर।
चातक मोर सुशब्दतडितघन अंबुद अंबर॥
शुभ सेज दीप सौगंध गृह पानखान परधानि मनि।
नव नृत्य भेद वीणादि सब आलंबनि केशव बरनि॥

प्रकृति को आलम्बन के अन्तर्गत रखने का श्रेय आचार्य केशव को है। यद्यपि सरदार ने अपनी टीका में इसको परम्परा के अनुकूल सिद्ध करने का प्रयास किया है। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि रस की विवेचना में केशव ने प्रकृति को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है, केवल आलम्बन और उद्दीपन को समझने का उनका अपना ढंग है। उन्होंने नायिका के साथ पृष्ठ-भूमि रूप समस्त चीजों को आलम्बन के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया है और केवल शारीरिक उद्दीपक-क्रियाओं को उद्दीपन के रूप में माना है—

अवलोकनि आलाप परिरंभन नख रद दान।
चुम्बनादि उद्दीपये मर्दन परस प्रवान॥[1]

इस प्रकार आलम्बन के रूप में भी प्रकृति को कोई प्रमुख स्थान नहीं मिल सका है और रस को केवल मानवीय आलम्बन ही स्वीकृत है। जहाँ अलंकार की परम्परा का प्रश्न है, रीति-काल में प्रमुख प्रवृत्ति तो वैचित्र्य की ही रही है। कुछ कवियों ने अपनी प्रतिभा से सुन्दर प्रयोग भी किये हैं।

काव्य-परम्परा में प्रकृति

काव्यरूपों में प्रकृति—अभी तक संस्कृत आचार्यों की विवेचनाओं में प्रकृति का क्या स्थान रहा है, इस पर विचार किया गया है। परन्तु शास्त्रीय-ग्रन्थ और साहित्य के आदर्शों के सम्बन्ध की विवेचना साहित्य-निर्माण के बाद का काम है। इनमें प्रमुख प्रवृत्तियों का उल्लेख हो सकता है और आगे के साहित्य को उनके सिद्धान्त प्रभावित भी कर सकते हैं परन्तु साहित्य के विस्तार को समेटना इनका काम नहीं है। यही कारण है कि प्रकृति के सम्बन्ध में आचार्यों की संकुचित दृष्टि के होते हुए भी संस्कृत साहित्य में प्रकृति का रूप विविध और विस्तृत है। जैसा पिछली विवेचना में उल्लेख किया गया है, संस्कृत काव्य में कवि की मनःस्थिति से सम्बन्ध रखने वाले अनुभूति-चित्रों

१. रसिक-प्रिया; केशवदास : भाव-लक्षण ४—७
सो बिभाव द्वै भाँति के, केशवराय बखान।
आलंबन इक दूसरो, उद्दीपन मन आन॥
जिन्हें अतन अवलंबई, ते आलंबन जान।
जिनते दीपति होत है, ते उद्दीप बखान॥

का अभाव है। गीतियों में इसी प्रकार की भावात्मकता के लिए स्थान है। इसी कारण संस्कृत काव्य में प्रकृति से ही सम्बन्ध रखनेवाली कविताएँ नहीं के बराबर हैं। विभिन्न प्रकार के प्रकृति रूप हमको संस्कृत साहित्य के प्रबन्ध-काव्यों, महा-काव्यों तथा गद्य-काव्यों में मिलते हैं। इसके साथ ही संस्कृत के नाटकों में भी प्रकृति के द्वारा वस्तु-स्थित आदि का संकेत दिया गया है, साथ ही वातावरण का निर्माण भी किया गया है। संस्कृत साहित्य के विभिन्न काव्य-रूपों को देखने से यही प्रकट होता है कि इनमें प्रकृति-रूपों का प्रयोग आगे चलकर स्वाभाविक रूप से रूढ़िवादी होता गया है। यह रूढ़िवादिता कथानक में वर्णनों के सामञ्जस्य के क्षेत्र में ही नहीं वरन् समस्त क्षेत्रों में पाई जाती है। यही प्रवृत्ति ऋतु काव्यों, दूत काव्यों और मुक्तकों के वर्णनों में भी पाई जाती है। प्रकृति की वर्णनात्मक योजना प्रबन्ध-काव्यों (रामायण और महाभारत) में पात्र और घटना की स्थितियों के अनुसार की गई है।[1] आगे चल कर अश्वघोष और कालिदास के महाकाव्यों में प्रकृति-चित्रण कथानक की मानवीय परिस्थितियों और भावों के सामञ्जस्य के आधार पर हुए हैं।[2] परन्तु बाद के कवियों के सामने प्रकृति का उद्दीपन-रूप में प्रयोग ही अधिक प्रत्यक्ष होता गया है। यद्यपि इनके काव्यों में प्रकृति-वर्णनों के लिए सम्पूर्ण सर्ग प्रयुक्त हुए हैं।

सांस्कृतिक आदर्श (क)—किसी रूप में क्यों न हो, भारतीय काव्यों में कथा के साथ इन वर्णनाओं को स्थान मिलने का एक कारण है और वह भारत की अपनी सांस्कृतिक दृष्टि है। विश्वकवि रवीन्द्र ठाकुर का कथन है—"वर्णना, तत्त्व की आलोचना और आवान्तर प्रसंगों से भारतीय कथा-प्रवाह पग-पग पर खण्डित होने पर भी प्रशान्त भारतवर्ष की धैर्य्य-च्युति होते नहीं दीख पड़ती।" इसका कारण है कि भारतीय कथानकों में उत्सुकता से अधिक रोचकता का ध्यान दिया जाता है। आदर्शों के प्रति आकर्षण ही रहता है उत्सुकता नहीं और भारतीय काव्य तथा कला का सिद्धान्त आदर्श रूपों को उपस्थित करना रहा है। इसके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य जन साहित्य न होकर ऊँचे स्तर के लोगों का साहित्य रहा है; कथानक के प्रति उत्सुकता जन मस्तिष्क को होती है, पंडित वर्ग तो वर्णना-सौन्दर्य से ही मुग्ध होता है। इस वर्णना के अन्तर्गत प्रकृति भी अपने समस्त रूप-रंगों में आ जाती है। महा-प्रबन्ध काव्यों में प्रकृति दृश्यों के वर्णन स्थान-स्थान पर स्वयं में पूर्ण तथा अपनी स्थानगत विशेषताओं के साथ उपस्थित हुए हैं। ये वर्णन घटनाओं से सीधे सम्बन्धित न होकर भी जीवन के प्रवाह में अपना स्थान रखते हैं। वस्तुतः भारतीय साहित्य में जीवन सरिता का गतिमान् प्रवाह न होकर विस्तार में फैले हुए सागर की हिलोरें हैं जिनमें

---

१. महाभारत: कैरात-पर्व ३८ : रामायण: अरण्य-काण्ड के अनेक स्थल।
२. सौन्दरानन्द: प्रथम, षष्ठ सर्ग : कुमारसम्भव, प्रथम सर्ग: रघुवंश, प्रथम सर्ग।

गति से अधिक गम्भीरता और प्रवाह से अधिक व्यापकता है। यही कारण है कि 'रामायण' ही में राम के मार्गस्थ प्रकृति के दृश्यों में चुपचाप बैठकर प्रकृति के फैले हुए रूपों को देखने का पूरा प्रयास है।[1] वर्णना की यह भावना तो सदा बनी रही है, पर इसका पूर्ण-कलात्मक विकसित स्वरूप, बाण की 'कादम्बरी' के प्रकृति-स्थलों में आता है। इनमें घटना-स्थिति की ओर लाने में पूरा धैर्य दिखाया गया है, साथ ही परिस्थिति तथा वातावरण के सामञ्जस्य में वस्तु-स्थितियों के चित्र क्रमिक एकाग्रता के ढंग से प्रस्तुत किये गये हैं।[2] जीवन में प्रकृति का स्थान केवल स्थूल आधार के रूप में ही नहीं है; वह मानसिक चेतना के साथ कभी छायी रहती है और कभी उसमें प्रसरित होती लगती है। ऐसी स्थिति में घटना की परिस्थितियों के साथ प्रकृति सामञ्जस्य के रूप में भी महाकाव्यों में प्रस्तुत की जाती है। पाश्चात्य महाकाव्यों में प्रकृति का यह रूप अधिक मिलता है। संस्कृत में कालिदास इस प्रकार के सामञ्जस्य पूर्ण प्रकृति-वर्णन के मुख्य कवि हैं। इनके बाद किसी सीमा तक अश्वघोष और भारवि के काव्यों में भी इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं।[3]

रूढ़िवाद (ख)—बाद के अन्य कवियों में कथानक के साथ वर्णनों के सामञ्जस्य की भावना कम होती गई। इस शिथिलता के साथ वर्णन वैचित्र्य और उद्दीपन की रूढ़िगत प्रवृत्ति बढ़ती गई। फिर साहित्याचार्यों द्वारा उल्लिखित—

नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः ॥[4]

को ही दृष्टि में रखकर वर्णनों को यत्र-तत्र जमाने का प्रयास किया गया है। इन कवियों में माघ, बुद्धघोष, जानकीदास तथा श्रीहर्ष जैसे कवि भी हैं।[5] इनके काव्यों में प्रकृति-चित्रण के सम्बन्ध में किसी भी प्रसंग-क्रम का कोई भी ध्यान नहीं रखा गया है। ऐसे वर्णनों में कथानक का सूत्र छूट जाता है, केवल वर्णना का आनन्द मात्र रह जाता है।

वर्णन-शैली—वर्णना स्वयं एक शैली नहीं कही जा सकती वह तो अभिव्यक्ति की व्यापक रीति भर है। वर्णना कितनी ही शैलियों के आधार पर की जा सकती

१. आरण्य-काण्ड, सर्ग ११, मार्ग में राम-लक्ष्मण; सर्ग १४ पंचवटी; अयोध्या-काण्ड, सर्ग ११६, सन्ध्या-वर्णन।

२. विन्ध्य अटवी के वर्णन से शाल्मली-स्थित कोटर तक का वर्णन।

३. बुद्ध-चरित, प्रथम-सर्ग, जन्म के अवसर पर; चतुर्थ सर्ग, स्त्री-निर्माण : किरातार्जुनीय, चतुर्थ-सर्ग, हिमालय की यात्रा।

४. काव्यादर्श; दण्डी

५. इन सब कवियों ने सर्ग के सर्ग में प्रातः, सायं तथा ऋतुओं आदि का वर्णन किया है।

है। शैली से हमारा तात्पर्य काव्यों में प्रकृति के रूपों को भावगम्य करने के लिए प्रयुक्त रीतियों से है। इनमें शब्दों की विभिन्न शक्तियों, भाषा की व्यंजना शक्ति और आलंकारिक प्रयोगों के द्वारा वर्णित विषय को मनस् में भाव-ग्रहण के लिए प्रस्तुत किया जाता है। कला और काव्य में भारतीय आदर्श-भावना का जो विकास हुआ है, उसका सत्य प्रकृति वर्णन के इतिहास में भी छिपा है। भारतीय साहित्य में प्रकृति-वर्णन में भी आरम्भ से ही अनुकरण के अन्दर सादृश्य (Image) की भावना थी। बाद में सादृश्य के आधार पर कल्पनात्मक आदर्शवाद की सृष्टि हुई है। फिर इस कल्पनात्मक आदर्शवाद में वैचित्र्य का समन्वय होकर कला का रूप कृत्रिम हो उठा है; सौन्दर्य का स्थान आश्चर्यजनक विचित्रता ने ले लिया और कल्पना का स्थान दूर की उड़ान ने ग्रहण किया। इस प्रकार रूप-सादृश्य के स्थान पर केवल शब्द-साम्य पर ध्यान दिया जाने लगा। परम्परा का यह रूप क्रमिक रूप से संस्कृत के प्रकृति-वर्णन के इतिहास में मिलता है। 'महाभारत' के प्रकृति-रूपों में वस्तु, परिस्थिति और क्रिया-व्यापार का वर्णन उल्लेखात्मक ढंग से हुआ है, जिनमें रेखा-चित्रों की संश्लिष्टता पाई जाती है। इन चित्रों में प्रकृति के अनुकरणात्मक दृश्यों की सुन्दर उद्भावना है। इस अनुकरणात्मक योजना में केवल वस्तु तथा स्थितियों के चुनाव में आदर्श-भाव का संकेत है। परन्तु आदि कवि ने अपने नायक को जिन प्राकृतिक क्षेत्रों में उपस्थित किया है, उन स्थलों का वर्णन कवि ने विशद रूप से स्वयं किया है या पात्रों से कराया है। इन वर्णनों में वस्तु-क्रियादि स्थितियों की व्यापक संश्लिष्टता है। परन्तु साथ ही भावात्मक और रूपात्मक सादृश्यमूलक अलंकारों द्वारा प्रकृति-वर्णनों का विस्तार भी 'रामायण' में मिलता है। अश्वघोष के 'बुद्धचरित' तथा 'सौन्दरानन्द' में और कालिदास के 'रघुवंश' तथा 'कुमारसम्भव' में यह संश्लिष्टात्मक वर्णन-योजना मिलती अवश्य है, परन्तु उनमें वस्तु तथा भाव को चित्रमय बनाने की प्रवृत्ति अधिक होती गई है। वस्तु और भाव दोनों को चित्रमय बनाने के लिये इन कवियों ने अधिकतर सादृश्य का आश्रय लिया है। महाकवि कालिदास में स्वाभाविक चित्रमयता का कलात्मक रूप बहुत सुन्दर है। प्रकृति के एक चित्र से दूसरे चित्र को सादृश्य के आधार पर प्रस्तुत करने में वे अद्वितीय हैं। उन्होंने उपमा और उत्प्रेक्षाओं का प्रयोग इसी मनोवैज्ञानिक आधार पर व्यंजना और अभिव्यक्ति के लिए किया है। प्रकृति-चित्र उपस्थित करने में अलंकारों का यह कलात्मक प्रयोग 'सेतुबन्ध' में भी हुआ है। केवल भेद इस बात का है कि इसमें स्वाभाविक रूप से स्वतःसम्भावी सादृश्य योजना के स्थान पर काल्पनिक कवि-प्रौढ़ोक्ति सिद्ध सादृश्यों की योजना ही अधिक है। इसमें ऐसे रूप-रंगों की जो स्वाभाविक हैं विभिन्न काल्पनिक स्थितियों में योजना की गई है। फिर भी कला का यह आदर्श नितान्त कृत्रिम नहीं कहा जा सकता, इसकी रूपात्मकता

और व्यंजना मानसशास्त्र के आधार पर हुई है। भारवि के 'किरातार्जुनीय' में अन्य प्रवृत्तियाँ भी मिलती हैं परन्तु इसमें काल्पनिक चित्रों को असाधारण बनाने की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। और इसमें वह प्रवरसेन के 'सेतुबंध' और माघ के 'शिशुपालवध' के समान है। साथ ही भारवि में चमत्कार की प्रवृत्ति भी परिलक्षित होने लगती है। वह कल्पना आदर्श तभी तक कही जा सकती है, जब तक प्रस्तुत चित्रमयता के आधार में भाव की या रूप की कुछ व्यंजना हो। परन्तु जब साधारण असाधारण में खो जाता है, हम स्वाभाविक रूप या भाव को न पाकर केवल चकित भर होते हैं, आनन्दमग्न नहीं। बुद्धघोष के 'पद्मचूडामणि' में आदर्श-कल्पना के सुन्दर चित्रों के साथ असाधारण का भाव भी आने लगा है। कुमारदास के 'जानकी-हरण' में प्रकृति-वर्णन की शैली अधिकाधिक कष्ट-कल्पनाओं से पूर्ण होती गई है। इसमें अलंकार-वादियों की भद्दी प्रवृत्ति का प्रवेश अधिक पाया जाता है, जो आगे चलकर माघ और श्रीहर्ष के काव्यों में क्रमशः चरम को पहुँच गई है। आलंकारिकता की सीमा तक 'जानकीहरण' की उत्प्रेक्षाओं और उपमाओं में भाव को स्पर्श करने की शक्ति है। परन्तु माघ और श्रीहर्ष में बौद्धिक चमत्कार की ओर अधिक रुचि है। इनकी चमत्कृत उक्तियों में अलंकार का आधार कल्पना की स्वाभाविक प्रक्रिया से उत्पन्न सहज-चित्र नहीं है वरन् चमत्कार की भावना में ही है। कुमारदास उत्प्रेक्षाएँ भाव-वस्तु के चित्रों को प्रस्तुत करने के लिए भी प्रयुक्त करते हैं और उस सीमा में वे भारवि के समकक्ष ठहरते हैं। माघ आदर्श रंग-रूपों के द्वारा असाधारण, फिर भी स्वाभाविक चित्रों की उद्भावना में प्रवरसेन की प्रतिभा को पहुँचते हैं। उनमें यद्यपि उक्ति-वैचित्र्य अधिक है फिर भी वे प्रकृति के अधिक निकट हैं और श्रीहर्ष प्रकृति के स्थान पर मानवीय भावों के पंडित हैं। श्रीहर्ष के पांडित्य ने उनका सर्वत्र ही साथ दिया है, इस कारण उनके प्रकृति-वर्णनों में चरम का उक्ति-वैचित्र्य है जिसमें प्रकृति के रूप की सहजता बिलकुल खो गई है। यद्यपि यहाँ प्रकृति-वर्णन के प्रसंग में ही इस प्रकार शैली की परम्परा का रूप दिखाया गया है, फिर भी यह आदर्श और शैली की सम्बन्धात्मक परम्परा प्रकृति के सभी प्रकार के रूपों में समान रूप से पाई जाती है। चाहे प्रकृति का मानवीकरण रूप हो या उद्दीपन रूप हो, यह शैली का विकास सभी जगह मिलेगा।[1]

प्रकृति-रूपों की परम्परा

आलम्बन की सीमा—प्रथम भाग में कहा जा चुका है मानव और उसकी कला के विकास में प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति का पूरा हाथ रहा है। मानव के जीवन

१. इस विषय में लेखक का—'संस्कृत काव्य में प्रकृति-वर्णन की शैलियाँ' नामक प्रकरण देखना चाहिए (संस्कृत भाग)।

में सौन्दर्य की स्थापना करके उसे कलात्मक बनाने का श्रेय भी उसके चारों ओर फैली हुई प्रकृति को ही मिलना चाहिये। इस सौन्दर्यानुभूति का आलम्बन है प्रकृति, उसका व्यापक सौन्दर्य। परन्तु जब प्रकृति हमारे अन्य भावों पर प्रभाव डालती हुई विदित होती है, उस समय उसका उद्दीपन-रूप होता है। संस्कृत के काव्याचार्यों ने प्रकृति को उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत माना है परन्तु संस्कृत काव्यों की विशद शृंखला में सभी प्रकार के प्रकृति-रूप आते हैं। यहाँ एक बात तो स्पष्ट कर देना आवश्यक है। प्रकृति में ही हमारा जीवन-व्यापार चल रहा है, इस प्रकार मानव के आकार, स्थिति और भावों के तादात्म्य-सम्बन्ध के लिये और साधारणीकरण के लिए भी आधार-रूप से प्रकृति का वर्णन आवश्यक होता है। इस प्रकार के प्रकृति-वर्णन एक ओर पृष्ठभूमि के रूप में भावों को प्रतिध्वनित करते हैं और साथ ही दूसरी ओर उनका प्रभाव मानसिक भावों पर भी पड़ता है। फिर प्रकृति कभी वस्तु आलम्बन के रूप में और कभी भाव आलम्बन के रूप में उपस्थित होती है। शुद्ध उद्दीपन विभाव में आने वाली प्रकृति का रूप इससे भिन्न है, जिसमें प्रकृति केवल दूसरे भावों को उद्दीप्त करने की दृष्टि से चित्रित होती है।

उन्मुक्त आलम्बन—संस्कृत साहित्य में प्रकृति का उन्मुक्त आलम्बन रूप कम है, जिसमें भाव का आश्रय कवि या पाठक ही होता है। प्रकृति को आलम्बन मानकर कवि अपनी भाव-प्रवणता में प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति से अविभूत भावनाओं की अभिव्यंजना प्रकृति-चित्र की रूपरेखा के साथ करता है। परन्तु इस प्रकार के मनस्-परक प्रकृति-चित्र संस्कृत साहित्य में बहुत ही कम हैं। यह प्रकृति का प्रभावात्मक रूप गीतियों में अधिक व्यक्त हो उठता है। प्रकृति को पाकर कवि स्वयं अनुभूतिशील होता है और उस समय वह केवल भावों को अभिव्यक्त कर पाता है, प्रकृति के चित्र या तो रेखा-रूप में आधार प्रदान करते हैं या भावों को व्यंजित करते हैं। संस्कृत साहित्य में ऐसे गीति-काव्य का अभाव है, यद्यपि वैदिक साहित्य प्रकृति के उल्लास में डूबा हुआ ही विदित होता है। परन्तु यह उन्मुक्त भावों का काव्य-रूप जिसमें रूप से भाव-पक्ष अधिक होता है, संस्कृत की साहित्यिक परम्पराओं में नहीं आ सका है। सम्भव है उस समय की जन-भाषाओं में ऐसे गीत हों जो आज हमारे सामने नहीं हैं। संस्कृत साहित्य में इस भावना ने अन्य रूपों में अभिव्यक्ति का माध्यम ढूँढ़ा है।[1] वाल्मीकि 'रामायण' में कहीं-कहीं प्रकृति के उन्मुक्त आलम्बन चित्रों के साथ इस सौन्दर्यानुभूति की व्यंजना अवश्य आ जाती है। प्रकृति की वर्णना में कभी-कभी

---

१. द० लेखक का 'गीति-काव्य में प्रकृति का रूप और संस्कृति साहित्य' नामक निबन्ध (विश्व-भारती पत्रिका, श्रावण-आश्विन, २००३)।

पात्र की मनःस्थिति का रूप भी मिला हुआ है। काव्यों में इस प्रकार की व्यंजना पात्रों की पूर्व मनःस्थिति के उद्दीपन रूप में हुई है और या इस प्रकार के वर्णनों में आरोप की प्रवृत्ति अधिक है। कथानक के साथ प्रकृति का स्वतन्त्र आलम्बन जैसा रूप अवश्य मिलता है। उस समय या तो पात्र स्वयं ही वर्णन करते हैं और या वे वर्णनों से अलग-थलग रहते हैं। संस्कृत के महाकाव्यों में घटनाओं द्वारा कथानक के विकास से अधिक ध्यान वर्णन-सौन्दर्य पर दिया जाता रहा है। इस कारण ये वर्णन-प्रसंग भी वस्तु-स्थिति और भाव-स्थिति दोनों के आधार न होकर स्वतन्त्र लगते हैं। आदि काव्य में ऐसे वर्णनों को अधिक स्थान मिल सका है; उसमें दृश्यों की चित्रमय योजना की गई है। 'रामायण' में वस्तु-स्थिति, परिस्थिति और व्यापार-स्थिति के साथ वातावरण की योजना में रूप-रंग, ध्वनि-नाद, आकार-प्रकार और गंध-स्पर्श के संयोगों द्वारा चित्रों को स्पष्ट मनस्-गोचर बनाने का प्रयास किया गया है। पीछे उल्लेख किया जा चुका है कि साधारण चित्रमय वर्णनों को आलंकारिक योजना द्वारा व्यंजनात्मक बनाने का प्रयास चलता रहा है जो आगे चलकर रूढ़ि और वैचित्र्य की प्रवृत्ति में दिखाई देता है। साथ ही स्वतन्त्र वर्णनों को उद्दीपन की व्यापक-भावना के अन्तर्गत चित्रित करने की प्रवृत्ति का भी विकास होता गया है। यद्यपि पिछले महाकाव्यों में भी सर्ग के सर्ग सन्ध्या, प्रातः और ऋतु आदि के वर्णनों में लगाए गए हैं और उनका कोई विशेष सम्बन्ध भी कथा के विस्तार से नहीं लगता। फिर भी समस्त वर्णन व्यापक उद्दीपन के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं।

पृष्ठ-भूमि : वस्तु-आलम्बन—पहले ही कहा जा चुका है कि प्रकृति पृष्ठ-भूमि के रूप में भी कभी वस्तु-आलम्बन के रूप में और कभी भाव आलम्बन के रूप में उपस्थित होती है। प्रकृति समस्त मानवीय स्थितियों को आधार प्रदान करती है। अपने परिवर्तित रूपों में समय और स्थान का ज्ञान प्रस्तुत करती है। इन रूपों में प्रकृति स्वतन्त्र आलम्बन नहीं है, परन्तु स्थितियों के प्रसार में समवाय रूप से आलम्बन अवश्य है। 'महाभारत' में प्रकृति के रूप अपने रेखा-चित्रों में इसी प्रकार के हैं। ये चित्र पात्र की वस्तु-स्थिति और मार्ग के स्वरूप वातावरण आदि को सम्मुख लाने के लिए हैं। 'रामायण' में भी इस प्रकार के वर्णन स्थान-स्थान पर आए हैं। ये चित्र वन-गमन-प्रसंग के बाद के हैं। राम वन में विचरण कर रहे हैं, उस समय उनके मार्ग का और उसमें स्थित वन, पर्वत, निर्झरों का चित्र सम्मुख रखना स्थितियों की विभिन्न रेखाओं को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक था। 'रामायण' में समय और स्थान का वर्णन भी है जो अधिकांश स्थलों पर स्वतन्त्र रूप में ही है। इसी स्वतन्त्र प्रवृत्ति के कारण कदाचित् बाद के कवियों में प्रातः, सायं, सूर्योदय, चन्द्रोदय तथा ऋतु-वर्णनों के रूप किसी वस्तु-स्थिति आदि के आधार नहीं हो सके। क्रमशः इनका सम्बन्ध

कथानक की घटनाओं की पृष्ठ-भूमि में या पात्रों की स्थितियों के आधार रूप में नहीं के बराबर होता गया। कालिदास और अश्वघोष के काव्यों में इस प्रकार के वर्णनों का सम्बन्ध किसी सीमा तक आलम्बन की भावना से है। स्थान आदि के वर्णन इसी वस्तु-आलम्बन के अन्तर्गत हुए हैं, यद्यपि अपनी परम्परागत प्रवृत्ति के फलस्वरूप शैली में भेद अवश्य है। संस्कृत के नाटकों में समय और स्थान के इस प्रकार के आलम्बन-चित्र पात्रों और घटनाओं को आधार प्रदान करने के लिए दिए गए हैं। बाण की 'कादम्बरी' में प्रकृति की विस्तृत चित्र-योजना अपनी समस्त पूर्णता में घटना-स्थल स्पष्ट करने के लिये ही हुई है और वह वस्तु-आलम्बन की सुन्दरतम उदाहरण है। यद्यपि इन चित्रों में इतनी पूर्णता और इतना सौन्दर्य-विस्तार है कि वे स्वयं स्वतन्त्र-आलम्बन लगते हैं। परन्तु चित्र अपने क्रमिक-विकास में विशेष घटना-स्थिति की ओर चित्र-पट के दृश्यों की भाँति घूमते, केन्द्रित होते आते हैं। भारवि के 'किरातार्जुनीय' में अर्जुन के मार्ग का वर्णन भी किसी-किसी स्थल पर इसी प्रकार का है।

भाव-आलंबन (क)—कभी-कभी कवि प्रकृति के चित्रों को किसी मनःस्थिति विशेष की पृष्ठ-भूमि के रूप में प्रस्तुत करता है अथवा प्रकृति में पात्र विशेष के मनःस्थित भावों को प्रतिध्वनित करता है। ऐसी स्थिति में प्रकृति भाव आलम्बन के रूप में उपस्थित होती है। यह प्रकृति की पृष्ठ-भूमि किसी मनोभाव से निरपेक्ष होकर भी भाव-आलम्बन के रूप में रह सकती है, क्योंकि प्रकृति-सौन्दर्य में भावानुभूति के अनुकूल स्थिति उत्पन्न कर देने की शक्ति है। संस्कृत काव्यों में इस प्रकार का प्रकृति का भाव-आलम्बन रूप कम है और जो चित्र हैं उनमें प्रकृति अनुकूल स्थिति में ही है—वह कभी पात्र का स्वागत करती जान पड़ती है और कभी छिपे हुए उल्लास की भावना व्यंजित करती है। कालिदास ने 'रघुवंश' में और भारवि ने 'किरातार्जुनीय' में कुछ ऐसे प्रकृति के रूप दिए हैं। इनमें कहीं-कहीं तो केवल पाठक की मनःस्थिति को भाव के अनुरूप बनाने का प्रयास है और कहीं प्रकृति स्वयं इस भाव को प्रकट करती जान पड़ती है। मानवीय भावों के समानान्तर प्रकृति के चित्रों को उपस्थित करना भी इसी भाव-आलम्बन की सीमा में आ जाता है। कालिदास ने 'रघुवंश' में प्रातःकाल का वर्णन और ऋतु का वर्णन राजा के ऐश्वर्य के समानान्तर प्रस्तुत किया है। ये वर्णन भाव आलम्बन हैं क्योंकि प्रकृति के रूप-व्यापार उसी भाव में आत्मसात् हो जाते हैं। साथ ही स्वयंवर-प्रसंग के प्रकृति सम्बन्धी संकेतात्मक वर्णन भी वस्तु-आलम्बन और भाव-आलम्बन के अन्तर्गत आ जाते हैं जिनमें किसी स्थानकाल का रूप मिलता है।[1]

---

१. द्र० लेखक का 'संस्कृत के विभिन्न काव्यरूपों में प्रकृति', नामक लेख। (विश्व-भारती पत्रिका)

आरोपवाद : उद्दीपन की सीमा—मानव अपने दृष्टि-कोण से अपने मनोभावों के आधार पर ही सारे जगत् को देखता है। इस दृष्टि की प्रधानता के कारण ही उसे प्रकृति अपने भावों से अनुप्राणित लगती है और कभी अपनी जैसी क्रियाओं में व्यस्त जान पड़ती है। साथ ही जब वह अपनी भावानुभूति की ओर ध्यान देता है, उस समय प्रकृति उसके भावों को अनुकूल या प्रतिकूल होते हुए भी अधिक गम्भीर बनाती है। यही प्रकृति का उद्दीपन रूप है। प्रकृति के अनुप्राणित रूप और मानवीकरण में किसी दूसरी मनःस्थिति या भावों की स्थिति स्वीकृत है। इसके साथ जो सहचरण की भावना है उसमें प्रकृति का विशुद्ध रूप नहीं है। ऐसी स्थिति में प्रकृति किसी मनोभाव की सहायक न होकर, उनसे स्वयं प्रभावित रहती है। परन्तु व्यापक दृष्टि से इनका वर्णन फिर उसी प्रकार की मनःस्थिति उत्पन्न करता है जिससे प्रभावित वे चित्र थे। इस कारण उद्दीपन के अन्तर्गत इनको लिया जा सकता है। संस्कृत के महाकाव्यों में इस प्रकार के वर्णन आदि से अन्त तक पाये जाते हैं। इनकी प्रवृत्ति मानवीकरण की ओर अधिक रही है; साथ ही इस भावना में भी सुन्दर कल्पना और व्यंजना के स्थान पर रूढ़ि और चमत्कार का आश्रय अधिक होता गया है। कालिदास ही इस क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। भारवि और जानकीदास में भाव से अधिक आकार प्रधान होता गया, जो माघ में मधु-क्रीड़ाओं के रूप में अपने चरम पर पहुँचा है। प्रकृति सहचरण की भावना के साथ प्रकृति के पात्रों से स्नेह-सम्बन्ध स्थापित करके भाव व्यंजना करने की परम्परा चली है। इससे सम्बन्धित दूत-काव्यों की परम्परा में कालिदास के 'मेघदूत' में जो मधुर-भावना है वह अन्यत्र नहीं है। प्रकृति से सहचरण की भावना का स्रोत मानव की स्वच्छंद प्रवृत्ति में ही है। आदि प्रबन्ध-काव्य में राम सीता का समाचार प्रकृति से पूछते हैं; 'महाभारत' में भी दमयन्ती नल का समाचार प्रकृति के नाना रूपों से पूछती फिरती है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का सौन्दर्य प्रकृति की सहचरण-भावना में ही सन्निहित है। भवभूति के 'उत्तर राम-चरित' में प्रकृति के प्रति यही भावना प्रकृति-रूप पात्रों की उद्भावना भी करती है; और प्रकृति के चित्र तो इस भावना से अनुप्राणित हैं ही। 'विक्रमोर्वशीय' में इसी भावना के आधार पर एक अंक की समस्त वातावरण सम्बन्धी आयोजना की गई है जो अपने सौन्दर्य में अद्वितीय है।

विशुद्ध उद्दीपन विभाव—शुद्ध-उद्दीपन के अन्तर्गत आने वाले प्रकृति के वर्णन भाव की किसी पूर्व स्थिति को उत्तेजित करते हैं। ऐसी स्थिति में प्रकृति कभी अनुकूल और कभी प्रतिकूल चित्रित होती है। निरपेक्ष प्रकृति भी भावों की उद्वेगशील स्थिति में उद्दीपन का कार्य करती है। संस्कृत साहित्य में अधिकांश रूप से पहले दो रूप ही पाये जाते हैं। रामायण में वियोगी राम के द्वारा पम्पासर का वर्णन प्रकृति का निरपेक्ष रूप प्रस्तुत करता है। इस स्थल पर प्रकृति का निरपेक्ष रूप राम के हृदय में

दो मनोभावों का समानान्तर सामञ्जस्य उपस्थित करता है। परन्तु इस स्थल पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्रकृति ने राम के मनोभाव को अधिक गम्भीर रूप से पाठक के सामने नहीं प्रस्तुत किया। प्रकृति के उद्दीपन का स्वाभाविक रूप भी 'रामायण' में पाया जाता है। प्रकृति के परिवर्तित स्वरूप अपने संयोगों के साथ वेदना को घनीभूत करते हैं। महाकवि अश्वघोष के 'सौन्दरानन्द' में प्रकृति अपनी अनुकूल रूप-रेखा में वियोगी हृदय के साथ व्याकुल है। कुछ स्थलों पर कालिदास ने प्रकृति-चित्रों की उद्‌भावना स्वाभाविक रीति से भावों को उद्दीप्त करने के लिए की है। 'कुमारसम्भव' में वसन्त-वर्णन अपने समस्त विस्तार में उद्दीपन के रूप में प्रकृति का सुन्दरतम उदाहरण है। विध्वस्त अयोध्या और देवपुरी का वर्णन इसी दृष्टि से हुआ है। पहले ही कहा जा चुका है कि उद्दीपन रूप में प्रकृति मनोभावों को अधिक प्रगाढ़ करने में सहायक होती है, साथ ही अनुप्राणित प्रकृति की सहचरण भावना में जो आरोप की भावना है वह भी उसी प्रवृत्ति से सम्बन्धित है। इस कारण प्रकृति के उद्दीपन-रूप के वर्णन मिश्रित हैं। बाद के कवियों में प्रकृति का उद्दीपक स्वरूप भी रूढ़िवादी होता गया है। ये कवि प्रकृति के समस्त वर्णनों को उद्दीपन के रूप में ही खींच ले जाते हैं। महा-काव्यों में कथा-प्रसंग से अलग केवल काल्पनिक नायिकाओं को पृष्ठभूमि में लाकर प्रकृति के उद्दीपन रूप को उपस्थित किया गया है। यह उद्दीपन की प्रवृत्ति प्रारम्भ से पाई जाती है, क्योंकि मानवीय स्वच्छंद-भावना में भी किसी अदृश्य नायिका का रूप विद्यमान रहता है। रामायण के सुन्दर-काण्ड के वर्णनों में यह भावना पाई जाती है; साथ ही कालिदास के 'ऋतुसंहार' में सारी उद्दीपन की भाव-धारा किसी अदृश्य प्रेयसी को लेकर ही है। परन्तु बाद के कवियों ने वस्तु-वर्णन और काल-वर्णन को केवल इसी दृष्टि से प्रस्तुत करना आरम्भ किया है। यह प्रवृत्ति अपनी रूढ़िवादिता में यहाँ तक बढ़ी कि वर्णन-प्रसंगों में प्रकृति की भिन्न वस्तुओं का उल्लेख करके ही भावों का एकमात्र वर्णन किया जाने लगा। और कभी-कभी तो इन स्थलों पर केवल मानवीय मधु-क्रीड़ाओं का वर्णन मात्र प्रमुख हो उठता है। कलात्मक रूढ़ि-वादिता ने संस्कृत काव्यों को कभी उन्मुक्त वातावरण नहीं दिया जिसमें प्रकृति का स्वतंत्र आलम्बन-रूप या उद्दीपन रूप ही विशुद्ध हो सकता। ये काव्य अधिकाधिक कृत्रिम और अस्वाभाविक होते गये हैं। उनमें भावात्मकता के स्थान पर शारीरिक मांसलता है और वर्णनों की चित्रमयता और भावप्रवीणता के स्थान पर विचित्र कल्पना और स्थूल आरोपवादिता अधिक आती गई है।[1]

अलंकारों में उपमान—पिछली विवेचना में कहा जा चुका है कि स्वाभाविक

१. विशेष विस्तार से—'संस्कृत काव्य में प्रकृति' नामक लेखक की पुस्तक में विचार किया गया है।

मानसशास्त्र के आधार पर अलंकारों का प्रयोग भाव और वस्तु को अधिक स्पष्टता से अभिव्यक्त करने के लिए होता है। बाद में अलंकारों में वर्णन-वैचित्र्य का कितना ही विकास क्यों न हो गया हो परन्तु उनकी अन्तर्निहित प्रवृत्ति अभिव्यक्ति को अधिक व्यंजनात्मक करने की रही है। साहित्य में प्रकृति की चित्रमय योजना के द्वारा आलंकारिक प्रयोगों से वस्तु-स्थिति, परिस्थिति और क्रिया-स्थितियों को वातावरण के साथ अधिक भाव-गम्य बनाया गया है। इसके लिए जिन स्थलों पर प्रकृति के एक चित्र को स्पष्ट करने के लिए दूसरे दृश्य का आश्रय लिया गया है, वे चित्र सुन्दर बन पड़े हैं। ऐसे प्रयोग वाल्मीकि में भी मिलते हैं; परन्तु अश्वघोष और कालिदास में इनका विकास हुआ है। कालिदास में अलंकारों के ऐसे चित्रमय प्रयोग सर्वश्रेष्ठ बन पड़े हैं। भारवि और प्रवरसेन में अलंकारों का यह रूप रहा है, यद्यपि कल्पना अधिक जटिल होती गई है। माघ में यह प्रवृत्ति कम होती गई है। इन प्रयोगों में कहीं स्वतःसम्भावी रूपों की योजना का आश्रय लिया गया है और कहीं कविप्रौढोक्ति-सम्भव काल्पनिक रूपों की, जो अपने रंग-रूपों, आकार-प्रकार तथा ध्वनि गंध के संयोग में विभिन्न स्थितियों के आधार पर सम्भव हो सकते हैं। भारवि और माघ में प्रकृति उपमानों की योजना का यही दूसरा रूप अधिक पाया जाता है। इसके अतिरिक्त अलंकारों में मानवीय स्थितियों और क्रियाओं से भी साम्य उपस्थित किया गया है। इसमें अलंकारों में प्रकृति का प्रयोग मानवीकरण के रूप में होता है और कहीं रूपों को ही भावात्मक बनाने के लिए। बाद में इसमें भी कृत्रिमता और असाधारण की प्रवृत्ति आ गई है।

सौन्दर्य से वैचित्र्य (क)—अलंकारों में प्रकृति का उपयोग उपमानों के रूप में होता है। इसके अन्तर्गत मनोविज्ञान के साथ ही सौन्दर्यभाव का भी अन्तर्भाव है। अलंकार सादृश्य और संयोग के आधार पर सुन्दर और रमणीय भाव की अभिव्यक्ति करने वाली एक शैली है। वाल्मीकि, कालिदास, अश्वघोष और भास के आलंकारिक प्रयोगों में अधिकतर इस सौन्दर्य-भाव का विचार मिलता है। परन्तु बाद में अलंकारों में वैचित्र्य-भावना के विकास के साथ ही वस्तुत्व की विचित्र कल्पना और प्रेयत्व की कार्य-कारण सम्बन्धी ऊहात्मकता का आरोप होता गया। संस्कृत काव्यों की परम्परा में जो व्यक्ति या वस्तु के लिए प्रयुक्त उपमानों का सत्य है, वही वस्तु-स्थिति, परिस्थिति और क्रियास्थिति सम्बन्धी उपमानों की योजना के विषय में भी सत्य है। संस्कृत के कवियों में कला से कृत्रिमता की ओर, कल्पना से ऊहा की ओर जाने की प्रवृत्ति समान रूप से सभी क्षेत्रों में पाई जाती है।

भाव-व्यंजना और रूढ़िवाद (ख)—प्रकृति के विभिन्न रूपों के साथ हमारा भाव-संयोग भी होता है जिसका आधार हमारी अन्तर्वृत्ति की सौन्दर्यानुभूति है। इसीके आधार पर प्रकृति के उपमानों की विभिन्न योजनाओं द्वारा भावों की व्यंजना की

जाती है जो असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के अन्तर्गत आती है। अन्तर्वृत्ति का यह बाह्यरूप जो प्रकृति के विस्तार से तादात्म्य स्थापित कर रहा है, महाकवियों की ही भावुक दृष्टि में आ सका है। अधिकतर पहले कवि ही इन प्रकृति के रूपों के द्वारा मानवीय भावों को सुन्दर रूप से व्यक्त कर सके हैं। बाद के कवियों ने इस प्रकार के चित्र कम उपस्थित किये हैं और उनमें भी स्वाभाविकता के स्थान पर कष्ट कल्पना का प्रवेश हो गया है। माघ और श्रीहर्ष में कुछ स्थलों पर ऐसे स्वाभाविक स्थल भी आ गये हैं जो कालिदास के समक्ष रखे जा सकते हैं, परन्तु अपनी सामूहिक चेतना में वे रूढ़िवादी हैं।[1]

हिन्दी मध्य युग की भूमिका—संस्कृत की काव्य-शास्त्र सम्बन्धी परम्परा तथा उसके काव्य के विभिन्न रूप हिन्दी-साहित्य के मध्ययुग की भूमिका के समान हैं। परन्तु हम आगे देखेंगे कि यह भूमिका साहित्य के आदर्शों तक ही सीमित है। अन्य क्षेत्रों में इस युग के साहित्य ने स्वतन्त्र रूप से विभिन्न क्षेत्रों से प्रेरणा ग्रहण की है। संस्कृत-साहित्य के बाद के काव्य के समानान्तर प्राकृत और अपभ्रंश का साहित्य भी है। इन साहित्यों का एक भाग तो धार्मिक चेतना से पाली के समान प्रभावित रहा है। प्राकृत साहित्य में संस्कृत काव्यादर्शों का अनुकरण अधिक दूर तक हुआ है। अपभ्रंश साहित्य में संस्कृत साहित्य के आदर्शों का पालन तो मिलता है, पर एक सीमा तक इसमें स्वच्छन्द प्रवृत्तियों का समन्वय भी हुआ है। यह भावना जन-जीवन के सम्पर्क को लेकर है। परन्तु अपभ्रंश के काव्यों में (जिनमें प्रमुखता जैन काव्यों की है) धार्मिक प्रवृत्ति तथा साहित्यिक आदर्शों के अनुसरण के कारण स्वच्छदवाद को पूरा अवसर नहीं मिल सका। इस कारण उसमें प्रकृति सम्बन्धी किसी परम्परा का रूप स्पष्ट नहीं हो सका है। अगले प्रकरण में हम देखेंगे कि हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में काव्य को एक बार फिर अधिक उन्मुक्त वातावरण मिला।

---

१. 'वही'

द्वितीय प्रकरण

मध्ययुग की काव्य-प्रवृत्तियाँ

युग की समस्या—प्रकृति और काव्य के मध्य में मानव की स्थिति निश्चित है। काव्य में प्रकृति-रूपों की विवेचना के पूर्व काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियों से परिचित होना आवश्यक है। इन प्रवृत्तियों का अध्ययन मानव को लेकर ही सम्भव है और मानव का अध्ययन युग विशेष की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक चेतना में सन्निहित है। साहित्य आखिर अभिव्यक्ति तो उसी मानव जीवन की है। जिस युग के विषय में कहने जा रहे हैं, उस हिन्दी मध्ययुग के साहित्य के विषय में पिछले साहित्य के इतिहास-लेखकों का कथन था कि यह असहाय और पराजित जाति का प्रतिक्रियात्मक साहित्य है और इसी कारण इसमें भक्ति-भावना को प्रधानता मिली है।[1] पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस धारणा को भ्रम-मूलक सिद्ध किया है और मध्ययुग की भक्ति-भावना को साहित्यिक रूप में स्वीकार किया है।[2] स्वाभाविक रूप से राजनीतिक स्थिति तथा भारत में इस्लाम धर्म के प्रवेश का प्रभाव मध्ययुग के साहित्य पर अवश्य पड़ा है। इस युग के साहित्य पर जो प्रभाव इनका पड़ा है, उसपर आगे विचार किया जायगा। परन्तु इस युग की व्यापक भूमिका में युग की काव्य-प्रवृत्तियों को समझने के लिए आवश्यक है कि मध्ययुग की राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के साथ दार्शनिक, धार्मिक तथा कलात्मक पृष्ठ-भूमि को प्रस्तुत कर लिया जाय। वस्तुतः हिन्दी मध्ययुग का साहित्य इस सांस्कृतिक चेतना के आधार पर विकसित हुआ है।

शृंखला की कड़ी—इस विषय में एक बात का उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है। अभी तक हम मध्ययुग के साहित्य के साथ संस्कृत साहित्य की बात सोचने के अभ्यस्त रहे हैं। इस युग के साहित्य के पूर्व अपभ्रंश तथा प्राचीन हिन्दी का विशाल

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, मिश्रबन्धु, पंडित अयोध्या सिंह उपाध्याय तथा बाबू श्यामसुन्दरदास इसी मत के हैं। डा० रामकुमार भी राजनीतिक कारण को महत्व देते हैं।

२. हिन्दी-साहित्य की भूमिका

साहित्य है। चारण काव्यों के रूप में प्राचीन हिन्दी का बहुत कम साहित्य हमारे सामने है। भारतीय साहित्य की शृंखला की यह कड़ी अभी तक उपेक्षित रही है और इस कारण हिन्दी मध्ययुग की काव्यगत परम्पराओं की पूरी रूप-रेखा हमारे सामने नहीं आ सकी है।[१] धार्मिक भाव-धारा के विषय में भी पहले इसी प्रकार सन्देहात्मक स्थिति थी। इसी परिस्थिति के कारण ग्रियर्सन ने भक्ति को मध्ययुग की आकस्मिक वस्तु के रूप में समझा था। इधर दक्षिण के आलवारों की भक्ति परम्परा के प्रकाश में आने पर तथा सिद्धों और नाथों के अध्ययन की पृष्ठ-भूमि पर भक्ति-भावना का स्रोत अधिक निश्चित हो सका है। अपभ्रंश साहित्य के व्यापक अध्ययन से साहित्यिक परम्पराओं का क्रम उपस्थित हो सकेगा।[२] इस साहित्य में जन-सम्पर्क सम्बन्धी स्वच्छंद प्रवृत्तियाँ अवश्य मिलती हैं, यद्यपि कवियों के सामने साहित्यिक आदर्शों की परम्परा भी सदा रही है। सिद्धों और नाथों का एक वर्ग ऐसा अवश्य है जिसके सामने साहित्यिक बंधन नहीं था, परन्तु उसका अभिव्यक्ति का अपना ढंग था जिसमें जन-जीवन की बात न कही जाकर अपने मत और सिद्धान्त का प्रतिपादन ही है। जैन कवियों में धार्मिक चेतना अधिक है और राज्याश्रित कवियों के सामने संस्कृत तथा प्राकृत के आदर्श अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इसके उपरांत भी अपभ्रंश का कवि जन-जीवन से अधिक परिचित है और अपने साहित्य में अधिक उन्मुक्त वातावरण तथा स्वच्छंद भावना का परिचय देता है। हम देखेंगे कि इसी स्वच्छंद भावना को हिन्दी साहित्य के मध्ययुग ने और भी उन्मुक्त रूप से अपनाने का प्रयास किया है।

युग चेतना तथा राजनीति—यहाँ राजनीतिक परिस्थिति के रूप में एक बात का उल्लेख किया जा सकता है। हिन्दी-काव्य के मध्ययुग में कवियों के लिए विक्रम, हर्ष, मुंज और भोज जैसे आश्रयदाता नहीं थे और उनको अपने आश्रयदाता सामंतों के यश-गान का अवसर भी नहीं था। इस स्थिति को राजनीतिक प्रभाव के रूप में मुसलमानों के भारत-प्रवेश से सम्बन्धित माना जा सकता है। वस्तुतः मध्ययुग में हमको जीवन के सभी क्षेत्रों में जन-आन्दोलन के रूप में स्वच्छंदवादी प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। इस युग में, दर्शन, धर्म तथा समाज आदि क्षेत्रों में रूढ़ि का विरोध हुआ और नवीन आदर्शों की स्थापना हुई। इस वातावरण के निर्माण के लिए तत्कालीन राजनीतिक स्थिति अनुकूल हुई। मुसलमान शासक विदेशी होने के कारण अपने धर्म के पक्षपाती होकर भी यहाँ की परिस्थिति के प्रति उदासीन थे। मध्ययुग के पूर्व ही कुमारिल तथा शंकर

१. राहुल सांकृत्यायनः हिन्दी काव्य-धारा की भूमिका।

२. डा० रामसिंह तोमर का अपभ्रंश सम्बन्धी कार्य समाप्त हो गया है। आपका क्षेत्र विशेषतः जैन कथा-काव्य है। लेखक ने इस विषय में उनसे परामर्श लिया है। इधर अन्य ग्रन्थ भी प्रकाश में आये हैं।

ने बौद्धों को परास्त कर दिया था और राजपूत सामन्तों की सहायता से हिन्दू-धर्म का पुनरुत्थान हो चुका था। परन्तु न तो जनता के जीवन से बौद्धों का प्रभाव हट सका और न हिन्दू-धर्म की स्थापना से सामाजिक व्यवस्था का रूप ही निश्चित हो सका था। ऐसी स्थिति में राज्य-शक्ति भी विदेशी हाथों में चली गई। फिर तो धर्म को सामाजिक व्यवस्था का आधार बनाए रखना और अद्वैत दर्शन से धर्म के साधना-पक्ष का प्रतिपादन करना दोनों ही कठिन हो गया। परिणाम स्वरूप उस समय एकाएक दर्शन, धर्म और समाज सभी को जनरुचि का आश्रय ढूँढना पड़ा। इसका अर्थ है इनको अपनी व्यवस्था की रूप-रेखा प्रचलित समाज की प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर देनी पड़ी। साहित्य जीवन की जिन समष्टियों की अभिव्यक्ति है, वे सभी अपना संतुलन जन-जीवन के व्यापक प्रसार से कर रही थीं।

स्वच्छंद वातावरण (क)—ऐसी स्थिति में मध्य-युग के साहित्य को जन-आन्दोलन के स्वच्छंद झोंके ने एक बार हिला दिया।[1] संस्कृत साहित्य की संस्कार-वादी परम्परा में स्वच्छंदवाद को उन्मुक्त वातावरण नहीं मिल सका था। अपभ्रंश साहित्य में एक बार उसने प्रवेश करने का प्रयास किया है और मध्ययुग में इसको उन्मुक्त वातावरण भी मिल सका है, परन्तु यह प्रयास पूर्ण सफल नहीं हुआ। इस साहित्यिक आन्दोलन ने अपनी अन्य प्रेरणाएँ विभिन्न स्रोतों से प्राप्त की हैं और इस कारण उसमें विभिन्न रूप पाए जाते हैं। परन्तु इस समस्त काव्य की व्यापक भावना के अन्तराल में एक स्वच्छंद तथा उन्मुक्त प्रवृत्ति का आभास मिलता है। यहाँ इन शब्दों का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया गया है। स्वच्छंदवाद किसी साहित्य की देश-काल गत सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। वह तो व्यापक रूप से मानव-जीवन की स्वाभाविक तथा उन्मुक्त अभिव्यक्ति है। इस साहित्यिक प्रेरणा में रूढ़ियों के प्रति विद्रोह भी होता है।[2] आगे की विवेचना में हम देखेंगे कि मध्ययुग के जन-आन्दोलन ने इस युग के दार्शनिक, धार्मिक और सामाजिक वातावरण को स्वच्छंद बनाने में सहायता दी है और इन सबसे प्रेरणा पाकर इस युग का साहित्य भी मूलतः स्वच्छंदवादी ही है। फिर भी मध्ययुग की अधिकांश काव्य-परम्पराओं में इस प्रवृत्ति का विकास नहीं हो सका। इसका एक कारण काव्य में भक्ति की प्रमुखता में देखा जा सकेगा। लेकिन इस युग के काव्य पर भारतीय कला और साहित्य के आदर्शों का जो प्रभाव पड़ा है उसकी

---

१. हिन्दी-साहित्य की भूमिका: पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी: पृ० ५७

२. नेचुरलिज़्म इन इंगलिश पोइट्री: स्टफोर्ड ए० ब्रोक: पृ० २४—'मैंने अभी तक प्रकृतिवाद के विकास की बात कही है जिसमें काव्य का सम्बन्ध स्वच्छंद-भाव से है। और इसी कारण वह व्यापक मानव प्रवृत्तियों की उन्मुक्त अभिव्यक्ति है जिसमें अपने से पूर्व की रूढ़िवादी काव्य-भावना से विरोध भी है।'

विवेचना से यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो सकेगी।

युग की स्थिति और काव्य

दर्शन और जीवन—शंकर की दिग्विजय के बाद भारतवर्ष में बौद्ध-धर्म का नाश हो गया। इसका अर्थ केवल इतना है कि यहाँ दार्शनिक पंडितों तथा धार्मिक आचार्यों में बौद्ध-दर्शन तथा बौद्ध-धर्म की मान्यता नहीं रह सकी। परन्तु बौद्ध-धर्म का प्रभाव जनता पर ज्यों का त्यों बना था। इस प्रभाव का तात्पर्य आचारों तथा विश्वासों के विकृत रूप में लेना चाहिए।[१] जनता किसी भी धर्म के बौद्धिक-पक्ष पर अधिक ध्यान नहीं देती, फिर बौध धर्म तो विशेषतः संन्यासियों का धर्म था। जहाँ तक मस्तिष्क की समस्या थी, तर्क का क्षेत्र था, शंकर का अद्वैत अटल और अकाट्य था। परन्तु जीवन की व्यावहारिक दृष्टि से यह दर्शन दूर पड़ता है। मध्ययुग की जनता के लिए अपने बौद्धिक स्तर पर यह तत्त्ववाद ग्राह्य होना सम्भव नहीं था। जीवन के आध्यात्मिक पक्ष को स्पर्श करने के लिए भी जीवन की अस्वीकृति मध्ययुग के आचार्यों को सम्भव नहीं जान पड़ी। आध्यात्मिक साधना के लिए अद्वैत को विशिष्ट अर्थ में ही स्वीकार किया जा सकता है। इसी कारण रामानुजाचार्य तथा उनके परवर्ती आचार्यों ने विशिष्टाद्वैत का ही प्रतिपादन किया है। दार्शनिक प्रतिपादन की शैली तर्क है और इस कारण इन आचार्यों ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन तर्क के आधार पर किया है। अद्वैतवाद में जिस सीमा तक बौद्धिक कल्पना का चरम है, उस सीमा तक जीवन का व्यावहारिक समन्वय नहीं है। आत्मवान जीव स्वचेतना तथा रूपात्मक जगत् की अनुभूति को लेकर ही आगे बढ़ता है। जीवन के स्वाभाविक और स्वच्छन्द दर्शन में अद्वैत की व्यापक एकता का संकेत तो मिलता है, पर उसके लिए जगत् की रूपात्मक सत्ता को भ्रम मानना और अपनी स्वानुभूत आत्मा के व्यक्तित्व को अस्वीकार करना सरल नहीं है। इसलिए जब दर्शन धार्मिक जीवन और व्यक्तिगत साधना का समन्वय उपस्थित करना चाहता है, वह विभेदवादी लगता है। रामानुजाचार्य ने अपने विशिष्टाद्वैत में इसी एकता और भिन्नता का समन्वय उपस्थित किया है। रामानुज का ब्रह्म प्रकृति, जीव और ईश्वर से युक्त है। ईश्वर अपने पूर्ण स्वरूप में ब्रह्म से एक रूप है। भेद यह है कि ईश्वर धार्मिक साधना का आश्रय है और ब्रह्म तत्त्ववाद की त्रि-एकता का प्रतीक है। रामानुज का यह सिद्धान्त बिल्कुल नया हो, ऐसा नहीं है। इसमें जीव, प्रकृति और ईश को सत्य मानकर सब में ब्रह्म की अभिव्यक्ति स्वीकार की गई है। यह एक प्रकार से धार्मिक साधना के लिए शंकर के पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्यों का समन्वय समझा जा सकता है। इसमें संसार की रूपात्मक सत्ता का अर्थ

१. हिन्दी-साहित्य की भूमिका: पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी; पृ० ४।

लगाने के लिए माया का आश्रय भी नहीं लेना पड़ा है। आचार्य वल्लभ ने अपने पुष्टि-मार्ग के लिए जिस शुद्धाद्वैत का प्रतिपादन किया है उसका स्वरूप भी इसी प्रकार का है। शंकर ने सत्य के जिस अंशानुक्रम का उल्लेख किया है उसी को वल्लभ ने सत् (प्रकृति), चित् (जीव) और आनन्द (ईश) के रूप में स्वीकार किया है।[1] जीव में प्रकृति का अंश है इसलिए वह 'सच्चित' है और ईश में प्रकृति तथा जीव दोनों का तिरोभाव है इस लिए वह 'सच्चिदानन्द' है। इस प्रकार इसमें भी धार्मिक साधना का दृष्टिकोण प्रमुख है। इस समस्त तत्त्ववादी विचारधारा का कारण यही है कि दर्शन अपना मार्ग जीवन के व्यापक क्षेत्र में बना रहा था। ऐसी स्थिति में दर्शन में उन्मुक्त वातावरण की स्वीकृति सम्भव हो सकी, जिसके फल-स्वरूप मध्ययुग के तत्त्ववाद में यथार्थवादी अद्वैत का प्रतिपादन हुआ।

सहज आत्मानुभूति—अभी तक दार्शनिक आचार्यों के तत्त्ववाद का उल्लेख किया गया है। यदि हम मध्ययुग के साधक कवियों के दार्शनिक मत पर विचार करें तो इस यथार्थवादी अद्वैतवाद की बात और भी स्पष्ट हो जाती है। साथ ही मध्ययुग में दार्शनिक स्वच्छंदवाद की प्रवृत्ति भी अधिक व्यक्त हो जाती है। इन साधकों के दार्शनिक मत के साथ यह भी जान लेना आवश्यक है कि ये सहज आत्मानुभूति को ही ज्ञान (ब्रह्म-ज्ञान) का साधन स्वीकार करते हैं। संतों का 'सहज' ज्ञान यही आत्मा-नुभूति है। कबीर जब 'सहज' को आध्यात्मिक ज्ञान की सीढ़ी कहते हैं या दादू अधिक कवित्त्वपूर्ण शब्दों में आत्मानुभूति की झील कहते हैं, तो उसका भाव आत्मानुभूति ही है।[2] जब कहते हैं—'बोलना का कहिए रे भाई, बोलत बोलत तत्त नसाई' उस समय निश्चय ही उनका संकेत आत्मानुभूति की ओर है। प्रेममार्गी सूफ़ी कवियों ने भी ईश्वर को हृदय में बताया है। जायसी कहते हैं—'पिय हिरदय महँ भेट न होई। कोरे मिलाव कहाँ कहि रोई।' परन्तु इन कवियों ने साधना के भाव-पक्ष को ग्रहण किया है। इसी कारण आत्मानुभूति का विषय भावाभिव्यक्ति हो गया है। ज्ञान के विवेचना-त्मक पक्ष में सगुणवादी कवियों का भी यही मत है। तुलसीदास ने भक्ति के साथ ज्ञान को भी महत्त्व दिया है, पर वह ज्ञान का व्यापक रूप है, केवल व्यावहारिक नहीं। वैसे तुलसी भावात्मक भक्ति को प्रमुख मानते हैं और साथ ही 'विनयपत्रिका' में

---

१. ए कांस्ट्रक्टिव सर्वे ऑव उपनिषदिक फ़िलासफ़ी: आर० डी० रानाडे; पृ० २१०, २३२।

२. कबीर-ग्रंथा० पृ० ५६; १५—''इसी चढ़िबा ग्यान का, सहज दुलीचा डारि।'' और दादू की बानी (ज्ञान-सागर) पृ० ४२; ७०—

'दादू सरवर सहज का, तामैं प्रेम तरंग।
तह मन झूले आतमा, अपने साईं संग॥''

उन्होंने भेद-बुद्धि वाले ज्ञान को त्याज्य माना है ।[1] सूरदास ने भी सगुणवादी होने के साथ ही अपनी भक्ति में भावाभिव्यक्ति का साधन ग्रहण किया है और भगवान् के प्रेम को आत्मानुभूति के रूप में अन्तर्गत आनेवाली बताया है ।[2] इस प्रकार मध्ययुग के साधक कवियों ने अपनी अभिव्यक्ति में भाव-पक्ष को स्थान दिया है, साथ ही आत्मानुभूति को ज्ञान से अधिक महत्त्वपूर्ण माना है । इसका कारण यह है कि इन साधकों में कवि की अन्तर्दृष्टि अधिक है, दार्शनिक का तर्क कम और इन्होंने कवि की व्यापक अन्तर्दृष्टि से ही दार्शनिक प्रश्नों पर विचार किया है । भारतीय विचारों की परम्परा में दार्शनिक स्वच्छंदवाद का एक युग उपनिषद्-काल था । उपनिषद्-काल का द्रष्टा कवि और मनीषी था । उसके सामने जीवन और सर्जन का उन्मुक्त वातावरण था । उसने आत्मानुभूति में जिस क्षण सत्य का जो रूप देखा, उसे सुन्दर से सुन्दर रूप में अभिव्यक्त किया । यही कारण है कि उपनिषदों में विभिन्न सिद्धान्तों का मूल मिल जाता है । वस्तुतः सत्य की अनुभूति जब अभिव्यक्ति का माध्यम स्वीकार करती है, उस समय उसके रूपों में अनेकरूपता होना सम्भव है ।[3] हिन्दी मध्ययुग के साधक-कवियों की स्थिति भी लगभग ऐसी ही है । ये साधक द्रष्टा ही अधिक हैं, विचारक नहीं । यही कारण है कि इनके सिद्धान्तों में विचारात्मक एक-रूपता नहीं है । इनके पास दार्शनिक शब्दावली अवश्य थी, जिसका प्रयोग इन्होंने अपने स्वच्छन्द मत के अनुरूप किया है । इसके अनुसार इनको तत्ववाद के विभिन्न मतवादों में रखना इनकी उन्मुक्त अभिव्यक्ति के प्रति अन्याय करना है ।

समन्वय दृष्टि—भावाभिव्यक्ति का माध्यम स्वीकार करने पर इस युग का साधना-काव्य अनुभूति-प्रधान है । इनके विचार और तर्क इसीसे प्रेरणा ग्रहण करते हैं। इस आधार पर सभी परम्पराओं के साधक-कवि अपने विचार में समान लगते हैं। जो भेद हैं वह उनके सम्प्रदायों तथा साधना पद्धति के भेद के कारण हैं। इस युग के समस्त साधक कवियों की व्यापक प्रवृत्ति समन्वय तथा सहिष्णुता की है । इनमें जो जितना महान् कवि है वह उतना ही अधिक समन्वयशील है । परम सत्य की अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए समन्वय ही आवश्यक है, क्योंकि उसका बोध सीमा ज्ञान के

---

१. विनय-पत्रिका: पद १११—"केशव कहि न जाइ का कहिए ?
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोउ जुगल प्रबल करि मानै ।
तुलसीदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपुन पहिचानै ॥"

२. सूरसागर (वें० सं०) प्र०, पद २—
"अबगत गति कछु कहत न आवै ।
ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अंतर्गतही भावै ॥"

३. ए कांस्ट्रक्टिव सर्वे आव उपनिषदिक फ़िलासफ़ी: आर. डी. रानाडे ; पृ० १७८

द्वारा ही कराया जाता है। साथ ही भारतीय तत्ववाद के विभिन्न मतों से ये साधक परिचित थे और इन्होंने उनकी शब्दावली को पैत्रिक सम्पत्ति के समान पाया है। इस सारी परिस्थिति को यदि हम अपने सामने रखकर विचार करें तो हमें इनमें जो विरोधी बातों की कठिनाई जान पड़ती है, उसका हल मिल सकेगा।

विज्ञानात्मक अद्वैत—(क) अनुच्छेद चार में मध्ययुग के यथार्थवादी अद्वैत का उल्लेख किया गया है। परन्तु इसको भौतिक न समझकर विज्ञानात्मक ही मानना चाहिए। हिन्दी मध्ययुग के सभी साधक कवियों ने व्यापक विश्वात्मा की अद्वैत भावना पर विश्वास किया है। निर्गुण संतों में कबीर, दादू और सुन्दरदास आदि ने जिस परात्पर तथा इन्द्रियातीत का निरूपण किया है वह बहुत दूर तक अद्वैत है। जीव इस स्थिति में ब्रह्म से पूरी एकरूपता रखता है। अन्य जिन संतों में यह व्याख्या नहीं मिलती वे भी पूर्णतः 'भेदाभेदवादी' अथवा 'विशिष्टाद्वैतवादी' नहीं हैं। कुछ स्थलों पर अद्वैत की भावना जीव और ईश की एकरूपता में मिलती है। वस्तुतः इन संतों ने ब्रह्म की व्याख्या समान नहीं की है और वे अनुभूति की अभिव्यक्ति में अद्वैत भावना का स्वरूप भी प्रतिपादित नहीं कर सके हैं। कबीर, दादू तथा सुन्दरदास आदि कुछ ही साधकों ने एकात्म भाव की अभिव्यक्ति करने में एक सीमा तक सफलता प्राप्त की है।[1] परन्तु प्रेम साधना के मार्ग पर इन साधकों के विरह तथा संयोग के चित्रों में विशिष्टाद्वैती भावना ही प्रधान लगती है।[2] और सामाजिक धरातल पर भगवान् को सर्वशक्तिमान् स्वीकार करने पर ये अपने विनय के पदों में भेदाभेदवादी भी लगते हैं। सूफी प्रेममार्गी कवियों में भी हमको ये तीनों दृष्टिकोण मिलते हैं। विवेचना के रूप में इन्होंने विज्ञानात्मक अद्वैत की स्थापना की है और साधना-पक्ष में विशिष्टाद्वैत को स्वीकार किया है।[3] साथ ही बाशरा होने के कारण इनके मत में भेद-भाव की भी स्वीकृति है। राम और कृष्ण के सगुणवादी भक्तों ने भी स्थान-स्थान पर अद्वैत ब्रह्म का निरूपण किया है, वैसे साधना के क्षेत्र में वे विशिष्टाद्वैती और शुद्धाद्वैती हैं।[4] व्यापक रूप से इन सभी साधकों में एक से अधिक भावनाएँ मिलती हैं और एक सीमा तक इन सभी में इस बात को लेकर समानता भी है।

---

१. कबीर ग्र०; पृ० १७-७—"हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हेराई।
बूँद समानी समंद में सो कत हेर्‌या जाई।।"

२. वही, पृ० १०८—"काहे रे नलिनी तू कुम्हलानी तेरहि नाल सरोवर पानी। जल में उत्पत्ति जल में बास, जल में नलिनी तोर निवास।।"

३. जाय० ग्र०; पृ० १६३—"आपुहि आपु जो देखै चहा। आपुनि प्रभुत आपु सन कहा। सबै जगत दरपन की लेखा। आपुहि दरपन आपुहि देखा।।" वही पृ० १६८—"रहा जो एक जल गुपुत समुंदा। बरसा सहस अठारह बुंदा।।"

४. सूरसा०; पृ० २—"रूप रेख गुण जाति जुगति बिनु निरालम्ब मन चक्कृत धावै।।"

व्यापक समता—(ख) इन समस्त साधक कवियों में समानता पाई जाने का कारण है। इन्होंने सत्य की आत्मानुभूति व्यापक आधार पर प्राप्त की है, केवल उसको अपनी साधना में एक निश्चित रूप देने का प्रयास किया है और इसी कारण बहुत सी बातों में अन्तर आ गया है। यहाँ कुछ अन्य समान बातों का उल्लेख भी किया जाता है। मध्ययुग के लगभग सभी साधकों ने विश्व की व्यापक रूपात्मकता को किसी न किसी रूप में ईश्वर के विराट रूप की अभिव्यक्ति स्वीकार की है। सभी ने माया को कई रूपों में लिया है। माया के सम्बन्ध में उपनिषद्-साहित्य में भी यही स्थिति है।[1] इन्होंने माया को क्षणिकता, अज्ञान तथा आचरण सम्बन्धी दोषों के रूप में माना है। यद्यपि उस समय शंकर का मायावाद अधिक प्रसिद्ध था और इसका रूप भी इन साधकों के काव्य में मिलता है। प्रमुखतः माया को दो रूपों में स्वीकार किया गया है। माया का एक भ्रमात्मक पक्ष है जो जीव को ब्रह्म से अलग करता है और उसीके अन्तर्गत सामाजिक आचरण सम्बन्धी दोषों को लिया जा सकता है। दूसरे रूप में माया ईश्वर की शक्ति है जो विद्या है और जिसके सहारे सर्जन चक्र चलता है। माया का यह रूप जीव का सहायक है। इसके अतिरिक्त वेदांत दर्शन परिणामवादी नहीं है, फिर भी मध्ययुग के साधकों ने सृष्टि-सर्जन का स्वरूप सांख्य से स्वीकार किया है। लगभग इस युग के सभी साधकों ने कुछ भेदों के साथ सर्जन क्रम के लिए प्रकृति और पुरुष को स्वीकार किया है और महत् से अहं आदि की उत्पत्ति उसी क्रम से मानी है। कबीर तथा तुलसी आदि कुछ प्रमुख कवियों ने इसको रूपक माना है और अन्य कवियों ने मूल रूप में स्वीकार कर लिया है।[2]

उन्मुक्त दर्शन—(ग) इस समस्त व्याख्या से यह स्पष्ट है कि मध्ययुग के तत्त्व-वादी आचार्यों ने अपना मत कुछ भी स्थिर किया हो, इस युग के साधक-कवि किसी निश्चित मतवाद के बन्दी नहीं हैं। इन्होंने जीवन और जगत् को स्वच्छन्द रूप से उन्मुक्त भाव में देखा है और उसी आधार पर अपनी अनुभूतियों और विचारों को व्यक्त किया है। साथ ही इनके विचारों की पृष्ठ-भूमि में भारत की दार्शनिक विचार-धारा है। तत्त्ववाद के प्राचीन सिद्धान्तों को इन साधकों ने राष्ट्रीय सम्पत्ति के समान अपनाया है।[3] परन्तु इन सिद्धान्तों को अपनाने में इनका कोई तार्किक आग्रह नहीं है, ये तो केवल साधकों के अनुभूत सत्यों के रूप में व्यक्त हुए हैं। यही कारण है कि इन

१. का० स० उ० कि०; पृ० २२८

२. दि निर्गुण स्कूल ऑव पोइट्री; पी० डी० बड़थ्वाल; पृ० ५०

३. दि सिक्स सिस्टम्स ऑव इन्डियन फ़िलासफ़ी: मैक्समुलर; भूमिका से—"इन छओं सिद्धान्तों की विभिन्नता के पीछे, एक समान दर्शन की पूँजी है जो जन साधारण की अथवा राष्ट्र की कही जा सकती है।"

साधक-कवियों में आपस में तो साम्य और विरोध है ही, अपने विचारों में भी विरोधी स्थिति जान पड़ती है। उपनिषद्-कालीन द्रष्टाओं ने जीवन और सर्जन के प्रति अपनी जिज्ञासा से जो अनुभव प्राप्त किये थे, बाद के तत्त्ववादियों ने उन्हींका मनन करके अपने मतवादों का रूप खड़ा किया है।[1] परन्तु मध्ययुग के साधकों ने जीवन और समाज के उन्मुक्त वातावरण में फिर इन सिद्धान्तों को अपनी अनुभूति के आधार पर परखा है। इस युग में जीवन और सर्जन के साथ समाज का भी प्रश्न सामने आया है। इसके फलस्वरूप एक ओर दार्शनिक सीमा में ईश्वर की कल्पना में पिता तथा स्वामी का रूप सम्मिलित हो गया और दूसरी ओर धार्मिक क्षेत्र में आचार सम्बन्धी अनेक बातों का समन्वय किया गया है।

धर्म और समाज का नियमन—इस युग में दर्शन के समान ही धर्म की स्थिति थी। सामाजिक आचारों की व्यवस्था धर्म करता है, इस कारण यहाँ समाज और धर्म को साथ लिया जा सकता है। हिन्दी मध्ययुग के पूर्व सामाजिक स्थिति बड़ी अव्यवस्थित थी, और इसलिए पंडितों ने समाज में धार्मिक नियमन और व्यवस्था करने का प्रयास किया था। परन्तु ब्राह्मणों का समाज पर विशेष प्रभाव नहीं था और न उनके साथ राजशक्ति ही थी। ऐसी स्थिति में पंडितवर्ग ने समाज के प्रचलित आचार-व्यवहारों की व्यवस्था न करके उनकी स्वीकृति मात्र दी है।[2] परिणाम स्वरूप मध्ययुग में सामाजिक विशृंखलता के साथ धार्मिक अव्यवस्था भी बढ़ चुकी थी। हिन्दी के साधक कवियों में अधिकांश का स्वर इनके विद्रोह में उठा है। मध्ययुग के साहित्य में धार्मिक और सामाजिक नियमन विद्रोह तथा निर्माण दोनों ही आधारों पर किया गया है।

विद्रोह और निर्माण—(क) मध्ययुग के कवि के मन में वस्तु-स्थिति के प्रति विद्रोह है और साथ ही आदर्श के प्रति निर्माण की कल्पना है। केवल कुछ में विद्रोही स्वर अधिक ऊँचा और स्पष्ट है और कुछ में मानवीय आदर्श के निर्माण की व्यवस्था अधिक है। इस क्षेत्र में कबीर तथा अन्य सन्तों की वाणी अधिक स्वच्छंद है। कबीर ने किसी परम्परा का आश्रय नहीं लिया, इसी कारण धार्मिक रूढ़ियों के प्रति उनका खुला विद्रोह है। परन्तु इन संत कवियों ने केवल खंडन किया हो, ऐसा नहीं है। इन्होंने स्वाभाविक मानवीय धर्म का प्रतिपादन भी किया है। यह धर्म किसी शास्त्र-वचन की अपेक्षा न रख कर मानवीय आदर्शों पर आधारित है। इस युग की अन्य परम्पराओं के कवियों में शास्त्र-सम्मत होने की भावना है। परन्तु इन्होंने भी शास्त्र का संकुचित अर्थ नहीं स्वीकार किया है। इनके द्वारा स्वीकृत शास्त्र का अर्थ शुद्ध तात्त्विक दृष्टि से मानव-जीवन के सुन्दर और शिव आदर्शों का प्रतिपादन करनेवाला है। सूर, तुलसी

१. कां० स० उ० क्रि०; पृ० २१०
२. हि० सा० भू०; पृ० १३

तथा जायसी आदि विभिन्न धाराओं के साधकों में सत्य, अहिंसा और दया के प्रति समान रूप से आस्था है और साधु पुरुषों के प्रति महान् आदर-भाव भी पाया जाता है। तुलसी ने 'श्रुति सम्मत पथ' पर ही अधिक बल दिया है और 'वर्णाश्रम' की महिमा का उल्लेख भी किया है। परन्तु उनका कथन सामाजिक एकता और व्यवस्था की दृष्टि से है। वास्तव में तुलसी क्रांतिवादी सुधारक नहीं थे, वे परिष्कार के साथ व्यवस्था के पक्षपाती थे। एक सीमा तक इस सत्य का समर्थन संतों ने भी किया है कि धार्मिक मतों का विरोध और उनकी रूढ़िवादिता उनके शास्त्र-ग्रंथों के सत्यों से सम्बन्धित नहीं है। विरोध तो बिना विचार किए चलने से होता है।[1] जायसी के साथ अन्य सूफ़ी प्रेम-मार्गी भी समन्वयवादी व्यवस्थापक अधिक हैं। जायसी ईश्वर को प्राप्त करने के अनेक मार्ग स्वीकार करते हैं।[2] साथ ही इन्होंने तुलसी के समान धर्म ग्रंथों और पुरानी व्यवस्था पर अपनी आस्था प्रकट की है। सूरदास में यह समन्वय तथा उदारता की दृष्टि समान रूप से पाई जाती है; और मानवीय आदर्शों की स्थापना भी इन्होंने की है। भावात्मक गीतकार होने के कारण सूर में सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था का प्रश्न अधिक नहीं उठा है।

मानव-धर्म—(ख) ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि मध्ययुग के साधक कवियों ने धर्म को मानव के विकास का मार्ग माना है। इन्होंने धर्म को मानव समाज से सम्बन्धित करके देखा है। व्यक्तिगत तथा साम्प्रदायिक भेदों को छोड़कर इनकी व्यापक प्रवृत्ति यही है। साथ ही इनके काव्य में प्रमुख मानवीय आदर्शों को महत्त्व दिया गया है। सभी ने भगवान् को मानव मात्र का आराध्य माना है, सभी ने मानव मात्र को समान माना है। इन सभी साधकों ने आत्म-निग्रह, दया, सत्य तथा अहिंसा का उपदेश दिया है। साथ ही इन्होंने एक स्वर में धार्मिक विरोधों की निंदा की है और कुप्रवृत्तियों (मोह, ईर्ष्या, द्वेष आदि) से बचने को कहा है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में धार्मिक दृष्टि जीवन को सहज और स्वाभाविक रूप में ग्रहण करती है। सन्तों में इसकी प्रधानता है। परन्तु सामूहिक रूप से इन साधकों ने रूढ़िगत मान्यताओं को अस्वीकार किया है और समाज को नवीन दृष्टि से देखने का प्रयास किया है।

काव्य में स्वच्छंदवाद

साधना की दिशा—अभी तक युग की परिस्थिति की विवेचना की गई है और काव्य की प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति का उल्लेख किया गया है। काव्य बाह्य की प्रतिक्रिया ही नहीं है, वह अंतः का प्रस्फुरण भी है। साहित्य के इतिहासकारों ने मध्ययुग के

१. संतबानी संग्रह (भाग १); कबीर; पृ० ४६—"बेद कतेब कहहु मत झूठे, झूठा जो न बिचारे।"
२. जायसी-ग्र०; पद्मावत—"विधना के मारग हैं तेते। सरग नखत तन रोवाँ जेते।"

प्रारम्भिक भाग को भक्ति-काल कहा है, परन्तु इसको साधना-काल कहा जाय तो अधिक उचित है। इस काल के अधिकांश कवि साधक थे, और इन्होंने अपनी अनुभूति को ही काव्य में अभिव्यक्ति का रूप दिया है। इसलिए इनकी काव्य-भावना पर विचार करने के पूर्व, साधना की दिशा पर विचार कर लेना आवश्यक है। साधना का क्षेत्र व्यक्तिगत अनुभूतियों का विषय है। इस दृष्टि से सगुण भक्ति और निर्गुण प्रेम दोनों ही व्यक्तिगत साधना के रूप में मनस्-परक हैं। आत्माभिव्यक्ति के रूप में इस युग के काव्य में एक नया युग प्रारम्भ होता है। कुछ अन्य कारणों से यह प्रवृत्ति व्यापक नहीं हो सकी, जिनका अन्यत्र उल्लेख किया जाएगा। यह काव्य में आत्मानुभूति को अभिव्यक्त करने की शैली स्वतः ही स्वच्छंदवादी प्रवृत्ति की प्रतिपादक है। इसके अतिरिक्त इस साधना में जिन स्वाभाविक भावनाओं का आधार लिया गया है, वे भी जीवन से सहज सम्बन्धित हैं।

प्रेम और भक्ति—(क) जिस प्रेम या भक्ति को इस मध्ययुग के साधकों ने प्रमुखतः अपनी साधना का माध्यम स्वीकार किया है, उसके मूल में काम या रति की भावना अन्तर्निहित है।[1] साधना के दो रूप स्वीकार किए जा सकते हैं। एक तो विरक्ति जिसमें सांसारिक भावों को त्यागना साधना का लक्ष्य है; परन्तु सहज भावना के विरुद्ध यह साधना कठिन है। दूसरा साधना का रूप व्यापक रूप से अनुरक्ति के आधार पर माना जा सकता है। प्रेम-साधना में इस अनुरक्ति का अर्थ सांसारिक वस्तुओं के प्रति अनुराग नहीं है। इसका अर्थ स्वाभाविक वृत्तियों को संसार से हटाकर अपने आराध्य के प्रति लगाना है। मानव-भावों में रति या मादन भाव का बहुत प्रबल और महत्वपूर्ण स्थान है। इसी कारण इसके आधार पर साधना अधिक सरल समझी गई है। जो मनोभाव हमको संसार के प्रति बहुत अधिक अनुरक्त रखता है, यदि वही भाव ईश्वरोन्मुखी हो जाता है तो वह उस ओर भी गम्भीर वेग धारण करता है। सन्तों की 'बिरति' भी ब्रह्मोन्मुखी 'निरति' के लिए है। उनका प्रेम भी मानवीय सीमाओं में स्वाभाविक भावनाओं और मनोभावों को लेकर विकसित होता है। सगुणवादी माधुर्य-भाव के भक्तों तथा सूफ़ी प्रेमियों में भी साधना की आधार भूमि रति या मादन भाव है। जब इस भाव का आधार लौकिक रहता है, उस समय साधारण काम-कलाप या रति-क्रीड़ा में यह अभिव्यक्ति ग्रहण करता है। इस स्थिति में आलम्बन रूप के प्रत्यक्ष रहने पर, मनोभाव शारीरिक प्रक्रिया के रूप में अपनी गम्भीर सुखानुभूति को खो देता है। परन्तु जब भाव का आलम्बन अप्रत्यक्ष रहता है, उस समय मनोभावों की गम्भीरता सुखानुभूति के क्षणों को बढ़ाती है। साथ ही भाव के लिए आलम्बन का होना भी निश्चित है, इस कारण संतों में भी प्रेम-साधना के क्षणों में द्वैत भावना लगती है। परन्तु संतों का प्रेम किसी

१. तसव्वुफ़ अथवा सूफ़ीमत; चन्द्रबली पाण्डेय ; पृ० ११६-१७ : हिन्दी सा० भू० ; पृ० ७८।

प्रत्यक्ष आलम्बन को ग्रहण नहीं करता, उसमें आलम्बन का आधार बड़ा ही सूक्ष्म रहता है। और लगता है जैसे यह भाव किसी आलम्बन की भूली हुई स्मृति के प्रति है। इस अभिव्यक्ति से एक ओर तो सीमा के द्वारा असीम की व्यंजना हो जाती है और दूसरी ओर उनकी साधना में लौकिकता को अधिक प्रश्रय नहीं मिलता।

सूफ़ी साधकों का आधार अधिक लौकिक है। उसमें पुरुष-प्रेम की उन्मत्त-भावना ही 'इश्क मजाज़ी' से 'इश्क हक़ीक़ी' तक पहुँचाती है।[1] हिन्दी मध्ययुग के प्रेम-मार्गी साधकों ने भारतीय भक्ति भावना के माधुर्य-भाव को भी अपनी साधना में स्थान दिया है। यही कारण है कि उनके प्रबन्ध काव्यों में नारी प्रेम की रति-भावना को भी स्थान मिला है। परन्तु इन्होंने रति या मादन भाव को लौकिक से अलौकिक, अपने आलम्बन को प्रकृति में व्यापक रूप प्रदान करके ही बनाया है। दूसरी ओर उन्होंने भावाभिव्यक्ति में संयोग के क्षणों को अधिक गम्भीर बनाया है और वियोग के क्षणों को अधिक व्यापक रूप प्रदान किया है। माधुर्य-भाव की भक्ति भी इसी प्रकार अभिव्यक्ति का आश्रय ग्रहण करती है। परन्तु उसका आलम्बन व्यापक सौन्दर्य का प्रतीक है जो अपनी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में स्वयं अलौकिक हो उठता है। इस प्रकार सूफ़ी प्रेमी-साधकों और माधुर्य-भाव के भक्तों ने अपने इस भाव के लिए सौन्दर्य का अलौकिक रूप आलम्बन रूप से स्थापित किया है। तुलसी की भक्ति भावना में माधुर्य-भाव का आधार नहीं है, परन्तु प्रेम की व्याख्या और आलम्बन का सौन्दर्य रूप इनमें भी मिलता है। अपनी दास्य-भक्ति का स्वरूप तुलसी ने सामाजिक तथा आचारात्मक आधार पर ग्रहण किया है। परन्तु प्रेम की व्यथा और उसकी संलग्नता को तुलसी ने भी स्वीकार किया है।[2] कबीर, सूर तथा जायसी आदि ने इसी प्रकार अपने प्रिय को, अपने आराध्य को स्वामी रूप में देखा है और दया की प्रार्थना भी की है। इस प्रकार हिन्दी मध्ययुग में साधना सहज तथा स्वच्छंद रूप से चल रही थी।

सहज काव्याभिव्यक्ति (ख)—मध्ययुग के साधकों ने अपने साधना-मार्ग को सहज रूप से ही ग्रहण किया है; क्योंकि वह मानव की स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर आधारित है। इन्होंने इसका उल्लेख स्थान-स्थान पर किया है। साधना के इस सहज रूप के कारण इन साधकों की काव्याभिव्यक्ति जीवन की वस्तु है और हृदय को अभिभूत करती है। जिस प्रकार काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत 'रस-सिद्धान्त' में मानव की स्वाभाविक भावनाओं को आनन्द प्राप्ति का साधन कहा गया है, उसी प्रकार साधना की इस भाव-व्यंजना में मनोभावों की चरम अभिव्यक्ति है। रूपगोस्वामी ने इन दोनों

---

१. त० या सूफ़ी० : पृ० १२०

२. तु० दोहावली : दो० २७६—"चातक तुलसी के मते, स्वातिहु पियै न पानि। प्रेम तृषा बाढ़ति भली, घटे घटै की कानि।" (तथा इस प्रसंग के अन्य दोहे)

का समन्वय 'उज्ज्वल नीलमणि' में किया है।[1] प्रेम-साधना का यह रूप विभिन्न परम्पराओं में किसी भी स्रोत से क्यों न आया हो, अभिव्यक्ति में हमारे सामने दो बातें रखता है। पहले तो एक सीमा तक इन साधकों ने अपनी भावाभिव्यक्ति के द्वारा व्यक्तिगत मनस्-परक काव्य का रूप प्रस्तुत किया है, जिसमें गीतियों की विशेषताएँ मिलती हैं। इस युग के पूर्व भारतीय साहित्य में गीतियों का लगभग अभाव है। और दूसरे भाव-व्यंजना के रूप में सहज और स्वाभाविक मानवीय भावों की अभिव्यक्ति को काव्य में स्थान मिला। इसके पूर्व जैसा पिछले प्रकरण में कह चुके हैं, काव्य में कला तथा रूढ़िवाद की प्रमुखता थी। इस प्रकार अभिव्यक्ति के क्षेत्र में काव्य संस्कारवादी प्रभाव को बहुत कुछ छोड़कर स्वच्छन्द हो सकता है।

साधक और कवि—इस युग के स्वच्छंदवादी वातावरण के साथ ही, इस युग का साधक प्रमुखतः कवि है। तत्ववाद की सीमा में न तो हम उसे दार्शनिक कह सकेंगे, और न व्यक्तिगत साधना के संकुचित क्षेत्र में उसे साधक ही कहा जा सकता है। मध्ययुग के साधक कवियों ने सर्जन, जीवन और समाज पर स्वतंत्र रूप से विचार किया है। इसीलिए इन्हें विचारक और साधक से अधिक कवि ही स्वीकार करना है। इस बात का आग्रह कि ये उच्चकोटि के विचारक या साधक ही थे और उनका काव्य उनकी साधना अथवा विचारों की अभिव्यक्ति का साधन-मात्र है, मैं कहूँगा अनुचित है, साथ ही मध्ययुग के कवियों के प्रति अन्याय भी है। परन्तु जब मैं कहता हूँ ये पूर्णतः और प्रमुखतः कवि हैं उस समय यह नहीं समझना चाहिए कि ये कवि होने के साथ ही उच्चकोटि के विचारक अथवा साधक नहीं हो सकते। फिर यह भी कहा जा सकता है कि ऐसी स्थिति में जब वे साधक और कवि दोनों ही हैं, उनको साधक न कह कर कवि कहने का आग्रह क्यों? बात एक सीमा तक उचित है; परन्तु इसमें दो कठिनाइयाँ हैं। पहले तो ऐसे अनेक महान् साधक हो गए हैं जिनको अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए माध्यम की आवश्यकता नहीं हुई। दूसरे यह भी आवश्यक नहीं है कि साधना की अनुभूति के अनुसार साधक की अभिव्यक्ति हो सके। वस्तुतः अभिव्यक्ति का जो रूप हमारे सामने है वह उपकरणों के माध्यम में आ सका है; और साधक की कवित्व प्रतिभा ही उसको अपनी अभिव्यक्ति के उपकरणों के प्रति अधिक सचेष्ट तथा जागरूक रख सकी है। इसी कारण इस युग के कवियों में जो प्रतिभा-सम्पन्न थे, वे ही महान् साधक भी लगते हैं क्योंकि उनकी सशक्त अभिव्यक्ति में साधना का गम्भीर रूप आ सका है। इसके साथ ही समन्वय की दृष्टि तथा जीवन के प्रति जागरूकता का यह भाव भी इनको कवि के रूप में ही हमारे सामने उपस्थित करता है।

उपकरण : भाषा—मध्ययुग के ये साधक-कवि अपने विचारों में स्वच्छंद हैं;

१. सूर-साहित्य; पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी : पृ० ८४

साथ ही भाषा के जिस उपकरण को इन्होंने अपनी अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार किया है उसे भी जनता से ग्रहण किया गया है। वस्तुतः इनका काव्य भाषा, छंद, शैली, भाव तथा चरित्र आदि की दृष्टि से अपने से पूर्व के काव्य से नवीन और मौलिक दिखाई देता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस स्वच्छंद काव्य के पीछे कोई परम्परा नहीं है। जैसे इन कवियों के विचारों का स्रोत पिछले दार्शनिक विचारकों में मिल जाता है, परन्तु इससे इनकी उन्मुक्त प्रवृत्ति में कोई बाधा नहीं होती, इसी प्रकार यदि साहित्य के क्षेत्र में भी इनके पीछे एक परम्परा है, तो यह स्वाभाविक है और इससे इनकी मौलिकता और स्वच्छंदता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। भाषा की दृष्टि से मध्ययुग के कवियों की भाषा जनता के निकट की ही नहीं, वरन् साहित्यिक रूप में जनता की ही भाषा है। अपभ्रंश को जन-भाषा के रूप में माना जाता है। परन्तु अधिकांश में अपभ्रंश काव्य की भाषा जन-भाषा के आधार पर प्रचलित भाषा स्वीकार की जा सकती है। अपभ्रंश का सामन्ती काव्य तथा सिद्धों का काव्य प्रादेशिक भेदों के साथ प्रचलित भाषा के इसी रूप से सम्बन्धित है। इस भाषा के समान मध्य-युग के संतों की भाषा तथा रीति-कालीन ब्रज भाषा को माना जा सकता है। प्रचलित भाषा में जनता के सामने विचार रखे जा सकते हैं और दरबारी भाषा में रीति तथा अलंकारों को निभाया जा सकता है। परन्तु जन-भावना की अभिव्यक्ति जन-भाषा में अधिक गम्भीर तथा सुन्दर हो सकती है। इसके लिए कवि साहित्यिक परिष्कार के साथ जन-भाषा को अपना लेता है। यही कारण है कि मध्ययुग के कवियों की भाषा जन-भाषा है। इस युग के उत्तरार्द्ध में रीति की रूढ़ि के साथ भाषा भी जनता से दूर होकर कृत्रिम होती गई है।

जहाँ तक छंद का प्रश्न है, वह बहुत कुछ शैली के साथ सम्बन्धित है। इन कवियों ने भावाभिव्यक्ति के स्थलों पर पद शैली का प्रयोग किया है। पद शैली का विकास निश्चय ही तत्कालीन लोक-गीतों तथा भारतीय संगीत के योग से माना जाना चाहिए। जब कवि अपनी अभिव्यक्ति के लिए वस्तु-परक कथानकों और चरित्रों का आश्रय लेता है, उस समय दोहा-चौपाई की शैली प्रयुक्त हुई है। दोहा-चौपाई जन-समाज में अधिक प्रचलित हो सके हैं। एक तो कथानक के प्रवाह के लिए जैसे संस्कृत में अनुष्टुप्-छंद अधिक उपयुक्त है, वैसे ही हिन्दी में यह छंद शैली उपयुक्त सिद्ध हुई है। दूसरे जैन-साहित्य ने इसका प्रचार अपने कथानकों में पहले से किया था। सत्यों के उल्लेख तथा विचारों को प्रकट करने के लिए दोहों में संक्षेप तथा प्रभाव दोनों ही पाया जाता है, और दोहों का सम्बन्ध जन-गीतियों के छंद से है। इस प्रकार मध्य-युग के काव्य की प्रवृत्ति भाषा, छंद तथा शैली की दृष्टि से स्वच्छंद-वादी है। इसकी भाषा जन-समाज की भाषा है; इसके छंद और इसकी शैली में जीवन

को उन्मुक्त रूप से देखने का प्रयास है।

स्वच्छंद जीवन—यह तो काव्य की अभिव्यक्ति के माध्यम का प्रश्न हुआ। पर काव्य भावना का क्षेत्र है जो कवि की आत्मानुभूति तथा भावाभिव्यक्ति से सम्बन्धित है और वह भावना जीवन को लेकर ही है। ये भाव काव्य में कभी तो कवि के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित होकर मनस्-परक स्थिति में व्यक्त होते हैं और कभी अन्य चरित्रों से सम्बन्धित वस्तु-परक स्थिति में। इन दोनों स्थितियों के अतिरिक्त एक ऐसी भी स्थिति होती है जिसमें कवि अपने मनोभावों को अध्यन्तरित कर किसी चरित्र के भावों के माध्यम से प्रकट करता है। कवि की स्वानुभूति की मनस्-परक अभिव्यक्ति, भारतीय साहित्य में सबसे पहले मध्ययुग के काव्य में मिलती है।[1] इस अभिव्यक्ति के रूप में कवि को पूरी स्वच्छंदता मिलती है; और इस कारण इस काव्य में प्राणों की अधिक गहरी अनुभूति होती है। मीरा, आलम, रसखान तथा आनंदघन की काव्याभिव्यक्ति में प्राणों की गहरी संवेदना है। यही कारण है कि सूर, तुलसी के विनय के पदों में व्यापक तथा गम्भीर आत्म-निवेदन मिलता है। परन्तु जिन कवियों में अपने चरित्रों की भावना से पूर्ण तद्रूपता है; उनमें भी अपनी प्रतिभा के अनुरूप भावों की अभिव्यक्ति वैसी ही उन्मुक्त तथा सहज हो सकी है। सूर की गोपियों की भाव-व्यंजना में और विद्यापति की राधा की यौवन-सजगता में काव्य ऐसा ही स्वाभाविक है। इसी प्रकार की प्रवृत्ति जायसी की भावाभिव्यक्ति में स्थल-स्थल पर मिलती है। यहाँ पर एक बात का उल्लेख करना आवश्यक है। इस युग में कवि ने काव्य को मनस्-परक आधार तो दिया है; परन्तु उसका व्यक्तीकरण भावों के वस्तु-परक आधार पर ही हो सका है। इसलिए स्वानुभूति को व्यक्त करने वाले कवियों में भी विशुद्ध मनस्-परक अभिव्यंजना का रूप नहीं मिलता है। अर्थात् इस काव्य में मानसिक संवेदना से अधिक शारीरिक क्रियाओं तथा अनुभावों को चित्रित करने की प्रवृत्ति रही है और यह स्वच्छंदवादी प्रवृत्तियों की विरोधी शक्तियों में से एक मानी जा सकती है।

अभिव्यक्त भावना (क)—जिन भावनाओं को इस काव्य में स्थान मिला है, वे जीवन की साधारण परिस्थितियों से सम्बन्धित हैं। इन भावनाओं में जीवन की सहज स्वाभाविकता है। प्रारम्भिक मध्ययुग की समस्त काव्य-परम्पराओं की प्रमुख प्रवृत्ति यही है। कबीर आदि प्रमुख संतों ने अपने रूपकों को साधारण जीवन से अपनाया है। ये रूपक साधारण जीवन के वातावरण में निर्मित हैं साथ ही इनमें भावनाएँ भी सहज-

---

१. यहां इसे साहित्य की व्यापक प्रवृत्ति के रूप में समझना चाहिए। द०—लेखक की पुस्तक 'प्रकृति और काव्य' (संस्कृत) में 'संस्कृत काव्य-रूपों में प्रकृति' नामक प्रकरण।

जीवन की है।[1] सूर का काव्य जन-जीवन की विभिन्न भाव-स्थितियों का स्वच्छन्द प्रगुम्फन है। सूर मानवीय भावों को सहज रूप से अनेक छायातपों में चित्रित करने में सिद्धहस्त हैं। भावों की परिस्थिति-जन्य विविधता और स्वाभाविक सरलता सूर में अनुपमेय है।[2] जायसी का कथानक यद्यपि प्रतीकात्मक है; पर भावों की स्वाभाविकता के लिए उन्हें प्रतीकार्थ को छोड़ना पड़ा है। व्यापक रूप से इन्होंने भारतीय जीवन के स्वाभाविक मनोभावों को उपस्थित किया है।[3] बाद में अन्य सूफ़ी प्रेममार्गियों में यह सहज तो नहीं रह सका पर उन्होंने अनुसरण जायसी का ही किया है। तुलसी परिस्थिति जन्य मनोभावों के क्रम को उपस्थित करने में सफल कलाकार हैं और उनमें परिस्थितियों के साथ मनोभावों का भी स्वाभाविक विस्तार है।[4] वैसे तुलसी का क्षेत्र भावना से अधिक चरित्र का है।

चरित्र-चित्रण—चरित्र का रूप भावों के माध्यम से सामने आता है। परन्तु जब हम चरित्र की बात कहते हैं उस समय भावों की समन्वित समष्टि का रूप हमारे सामने आता है। इस कारण सामाजिक जीवन का रूप देखने के लिए, उसके आदर्शों को समझने के लिए चरित्र ही अधिक व्यक्त आधार है। भाव तो मूलतः एक ही हैं। हमारे सामने इस युग के पूर्व का जितना भी साहित्य है, उसमें सभी चरित्र या तो अलौकिक हैं या महापुरुषों के हैं। इसके अतिरिक्त जो अन्य चरित्र हैं, वे भी उच्च वंश तथा ऐश्वर्य से सम्बन्धित हैं। अपभ्रंश जैन काव्यों के नायक साधारण होकर भी धार्मिक अलौकिकता से समन्वित हैं। इस प्रकार की परम्परा साहित्यिक आदर्श के रूप में स्वीकृत थी। मध्ययुग के काव्यों में इस आदर्श का रूप तो समान है, परन्तु इस प्रकार के चरित्रों में एक विशेष बात दृष्टिगत होती है और इस विशेषता का मूल जैन अपभ्रंश

---

१. संत कवियों की प्रमुख भावना स्त्री-पुरुष प्रेम को लेकर है। इस कारण वियोग-जन्य परिस्थितियों का रूप इनमें अत्यन्त स्वाभाविक है—

"देखो पिया काली मौ पै भरी।
सुन्न सेज भयानक लागी, मरी विरह की जारी।" (सं० बा० : भा० २ : पृ० १७२)

२. भावों के चित्रण के विषय में सूर की यह विशेषता है कि वे परिस्थिति के केन्द्र पर भावों को केन्द्रित कर देते हैं। उस स्थिति में ऐसा लगता है मानों भाव उसी से निकलकर चारों ओर फैलते जाते हैं और अपने प्रस्फुरण के अनेक छायातपों में प्रकट होते हैं। इस प्रकार सूर एक परिस्थिति को चुनकर अनेक लोगों के भाव को एक सम धरातल पर विभिन्न रूपों में प्रतिफलित करते हैं। उदाहरण के लिए बाललीला, माखनचोरी आदि को लिया जा सकता है, पर विरह-प्रसंग सबसे अधिक सुन्दर है।

३. जायसी ने नागमती के विरह-वर्णन में मनोभावों का सुन्दर तथा स्वाभाविक रूप दिया है।

४. सूर के विपरीत तुलसी में परिस्थिति की परिधि रहती है जिसमें से विभिन्न भाव निकलकर केन्द्रित होते रहते हैं। परिस्थिति भावों को घेरे रहती है और भावों की प्रतिक्रिया उसीसे चलती रहती है। उदाहरण के लिए धनुष-यज्ञ प्रसंग, राम-वन-गमन प्रसंग, कैकेयी प्रसंग आदि हैं।

काव्यों में मिलता है। चरित्र अपनी कथात्मक स्थिति में कुछ भी रहा हो, परन्तु कवि ने उसका चित्रण साधारण जीवन के आधार पर किया है। जैन काव्यों में साधारण जीवन से चरित्र लेकर उसे आदर्श और असाधारण के रूप में ग्रहण करते हैं। सूर के चरित्र-नायक कृष्ण लीलामय परम-पुरुष हैं; पर उनके चरित्र को उपस्थित करते समय कवि यह भुला देता है। सूर ने जिन चरित्रों को उपस्थित किया है, वे साधारण के साथ ही ग्राम के जीवन से सम्बन्धित हैं। जीवन की सहज स्वाभाविक स्वच्छन्दता उनके चरित्रों में गतिशील है। जहाँ चरित्र में अलौकिक का आभास देना होता है, उस स्थल को सूर अलग रखते हैं; और उस घटना या चरित्र के भाग का स्मरण पात्रों को नहीं रहता। कबीर और अन्य संतों ने जीवन के जितने भी चित्र उपस्थित किए हैं, वे सभी साधारण स्तर के हैं। जायसी तथा उस परम्परा के अन्य कवियों के पात्र राजकुमार तथा राजकुमारियाँ हैं; परन्तु उनका चित्रण साधारण व्यक्ति के जीवन के समान हुआ है। तुलसी के चरित्र अलौकिक हैं, राज-वंश के हैं, साथ ही आदर्शवादी भी हैं। परन्तु इन चरित्रों में राज्य ऐश्वर्य कहीं भी प्रकट नहीं होता और उनका आदर्श साधारण जीवन पर अवलम्बित है।

असफल आन्दोलन—इस युग की काव्य-भावना पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि इसमें पूर्णतः स्वच्छन्दवादी प्रवृत्तियों का समन्वय हुआ है। इसकी पृष्ठ-भूमि में जो विचार-धारा थी वह अन्य सिद्धान्तों से प्रभावित होकर भी स्वतन्त्र वेग से प्रवाहित हुई है। इससे सम्बन्धित साधना विभिन्न परम्पराओं से विकसित होकर भी जीवन की सहज स्वीकृति पर आधारित है। अन्त में हम देखते हैं कि काव्य की प्रमुख भावना में जन-जीवन के साधारण स्तर पर मानवीय भावनाओं का ही प्रसार है। परन्तु इस युग के काव्य में इतना व्यापी स्वच्छन्दवादी आन्दोलन होने पर भी, उसमें प्रकृति को उन्मुक्त रूप से स्थान नहीं मिल सका। जैसा प्रथम भाग में कहा गया है, मानव की सौन्दर्य-भावना के विकास में प्रकृति का अपना योग है और काव्य की सौन्दर्यानुभूति के आलम्बन में प्रकृति को अनेक रूप मिलते हैं। काव्य में जीवन की सहज अभिव्यक्ति के साथ प्रकृति का स्वच्छन्द रूप स्वाभाविक है। परन्तु हिन्दी मध्य-युग के काव्य में ऐसा नहीं हो सका। इसका क्या कारण है? वस्तुतः इस स्वच्छन्द-वादी आन्दोलन के साथ इस युग के काव्य में कुछ प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियाँ भी सन्निहित हैं। इन्हीं प्रवृत्तियों के कारण यह काव्य पूर्णतः स्वच्छन्दवादी नहीं हो सका और उसने उन्मुक्त रूप से प्रकृति को आलम्बन रूप में अपनाया भी नहीं।

प्रतिक्रियात्मक शक्तियाँ

साम्प्रदायिक रूढ़िवाद—मध्ययुग के काव्य में दर्शन और धर्म की व्याख्या जीवन के आधार पर की गई थी। परन्तु धर्म के अन्तर्गत आचारात्मक व्यवस्था का

रूप प्रधानता से आ जाता है। और इससे धर्म तथा साधना के क्षेत्र में साम्प्रदायिकता का विकास हुआ और इस युग के काव्य में यह प्रमुख प्रतिक्रियात्मक शक्ति रही है जिसने काव्य में स्वच्छन्दवाद को पनपने नहीं दिया। प्रत्येक धारा के प्रमुख कवियों में वातावरण अधिक उन्मुक्त है, परन्तु बाद में साधारण श्रेणी के कवियों में रूढ़ि का बन्धन अधिक कड़ा होता गया है। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप पिछले कवियों ने अपने काव्य का क्षेत्र जीवन की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति से हटाकर परम्परा को बना लिया। कबीर, दादू तथा नानक आदि कुछ प्रमुख संतों को छोड़कर बाद के अन्य संत कवियों ने अपने सम्प्रदाय का अनुसरण उधार के वचनों और व्यवहृत रूपकों के आधार पर किया है। सूर, नन्ददास आदि कतिपय कवियों को छोड़कर कृष्ण-काव्य में ऐसी ही परिस्थिति है। बाद में कृष्ण-काव्य के कवियों में साम्प्रदायिक आचारों आदि का वर्णन ही अधिक बढ़ता गया है। जायसी के बाद सूफ़ी प्रेममार्गी कवियों में भी अनुसरण तथा अनुकरण अधिक है। इन्होंने अपनी कथा के विभिन्न स्थलों तक को जायसी के अनुकरण पर सजाया है। राम-काव्य में तुलसी के बाद कोई उल्लेखनीय कवि भी नहीं दिखाई देता। और इसका कारण कदाचित् यह है कि तुलसी की परम्परा में कोई सम्प्रदाय नहीं था।

धर्म और विरक्ति—साम्प्रदायिकता के अतिरिक्त धर्म की प्रेरणा से उपदेशात्मक प्रवृत्ति अधिक बढ़ गई। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप खंडन और स्थापना की भावना इस युग के काव्य में विशेष रूप से दिखाई पड़ती है। इसके कारण काव्य में विवेचना और तर्क को अधिक स्थान मिल सका और ये जीवन की उन्मुक्त अभिव्यक्ति में बाधक ही सिद्ध हुए। संतों में यह प्रवृत्ति अधिक है इस कारण उनके साहित्य में कवित्व कम है। साथ ही साधना-पक्ष में आधार मानवीय भावना का होकर भी व्यापक रूप से मध्य-युग के काव्य का स्वर संसार से विरक्त होने का रहा है। इस विरक्ति-भावना के कारण इस काव्य में जीवन के प्रति आसक्ति का अभाव है। इन साधकों के लिए सांसारिकता का आधार अध्यात्म के लिए ही है। इस वातावरण में उन्मुक्त स्वच्छंदवाद की जीवन के प्रति अटूट आसक्ति को फैलने का अवसर नहीं मिल सका।

भारतीय आदर्श भावना—स्वच्छंदवाद की विरोधी शक्तियों में भारतीय कला की आदर्श-भावना भी है। भारतीय आदर्श-कला के क्षेत्र में व्यक्ति को महत्त्व नहीं देता। उसमें व्यापक भावना के लिए ही स्थान है। यह भावना आदर्श 'सादृश्य' की भावना है जो स्वर्गीय सौन्दर्य की आकृति की तदाकारता पर निर्भर है और यह 'सादृश्य' कवि के बाह्य अनुभव का फल न होकर आन्तरिक समाधि पर निर्भर है

जिसके लिए आत्मसंस्कार और आत्मयोग की आवश्यकता है।[1] इस कला के आदर्श के साथ ही कलाकार में आन्तरिक उल्लास की भावना भी भारतीय कला की विशेषता रही है। भारतीय कलाकार जीवन की संवेदना को दुःख के रूप में ग्रहण नहीं करता, वरन् उसको उल्लास में परिणत करता है। मध्ययुग के काव्य का प्रमुख भाग इस कला के आदर्शों से प्रभावित है। इतना ही नहीं, आराध्य की सौन्दर्य-व्यंजना में इसको और भी स्पष्ट रूप प्रदान किया गया है। इस आदर्श के फलस्वरूप मध्ययुग के काव्य के एक बड़े भाग में जीवन की स्वाभाविक भावनाएँ तथा प्रकृति का व्यापक सौन्दर्य केवल प्रतीक के अर्थ में ग्रहीत है। परिणाम-स्वरूप इस काव्य में जीवन और प्रकृति को प्रमुख स्थान नहीं मिल सका।

काव्यशास्त्र की रूढ़ियाँ—कहा गया है कि इस युग में काव्य साहित्यिक रूढ़ियों से मुक्त हुआ है। परन्तु वस्तुतः इस युग का काव्य साहित्यिक परम्परा का बहिष्कार नहीं कर सका है। कृष्ण-काव्य ने काव्य-शास्त्र के रस और अलंकार को विशेष रूप से अपनाया है। तुलसी ने इनका निर्वाह बहुत ही सुन्दर और सहज रूप से किया है और इससे स्पष्ट है कि वे काव्यशास्त्र की परम्परा को स्वीकार करके चले हैं। जायसी का शास्त्रीय ज्ञान कम है, फिर भी यथासम्भव उनका प्रयास भी इस विषय में रहा है। रस-सिद्धान्त अपने विकसित रूप में भक्ति-भावना से बहुत कुछ साम्य रखता है। आलंकारिक योजना आराध्य की रूप-साधना के लिए अधिक सहायक हो सकी है। इस प्रकार मध्ययुग के प्रारम्भ में काव्य के अन्तर्गत रस तथा अलंकार आदि को प्रश्रय मिल चुका था। बाद में रसानुभूति को अलौकिकता के स्थान पर लौकिक आधार अधिक मिलता गया; और अलंकारों की सौन्दर्य-योजना आराध्य को रूप दान करने के स्थान पर रूढ़िगत नारी के सौन्दर्य सँवारने में प्रयुक्त होने लगी। आगे मध्ययुग के उत्तरार्द्ध में यह प्रवृत्ति कुछ अन्य परिस्थितियों को पाकर रीति-काल के रूप में हमारे सामने आती है।

रीति-काल (क)—आमुख में हम कह चुके हैं कि मध्ययुग का पूर्वार्द्ध भक्ति-काल है और उत्तरार्द्ध रीति-काल। इस समस्त युग को मध्ययुग कहने के आग्रह के विषय में पहले ही कहा जा चुका है। यहाँ यह कहना ही पर्याप्त है कि भक्ति-काल में काव्य-शास्त्र की रूढ़ि का जो प्रतिक्रियात्मक रूप था वही रीति-काल में प्रमुख हो उठा। और इस कारण इस भाग में स्वच्छंदवाद को बिल्कुल स्थान नहीं मिला। अन्य परम्पराओं में धार्मिक तथा साम्प्रदायिक रूढ़िवाद को स्थान मिल चुका था और रीति की परम्परा प्रमुख हो उठी थी। यह रीति की भावना स्वयं में संस्कारवादी है और

१. ट्रान्सफारमेशन ऑव नेचर; कुमारस्वामी, पृ० ४८। द्र०—लेखक की 'प्रकृति और काव्य' (संस्कृत) नामक पुस्तक।

हिन्दी साहित्य में तो यह रूढ़ि के रूप में अधिक अपनाई गई है। यद्यपि रीति-काल में कवियों की प्रवृत्ति प्रमुखतः शास्त्रीय नहीं हो सकी; और यह उनकी भावमय स्वच्छंद प्रवृत्ति का संकेत देती है। फिर भी रीति स्वच्छंदवाद की विरोधी शक्ति के रूप में ही स्वीकार की जा सकती है।

× × ×

स्वच्छंदवाद का रूप—हमारे सम्मुख समस्त मध्ययुग अपनी काव्य-प्रवृत्तियों के साथ आ चुका है। हम देखते हैं कि इस युग के आरम्भ में काव्य स्वच्छंदवादी प्रवृत्तियों से विकसित हुआ है, साथ ही उसमें कुछ प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियाँ भी क्रिया-शील रही हैं और इन्होंने काव्य को पूर्णतः जीवन के उन्मुक्त धरातल पर नहीं आने दिया। परन्तु इन प्रवृत्तियों ने सभी कवियों को समान रूप से प्रभावित नहीं किया है। यही कारण है कि हमको विभिन्न काव्यधाराओं में स्वच्छंदवाद का रूप विभिन्न प्रकार से और विभिन्न अनुपातों में मिलता है। साथ ही कुछ कवि ऐसे भी हैं जो अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व के कारण किसी धारा के अन्तर्गत नहीं आते और जिनके काव्य में स्वच्छंदवाद का अधिक उन्मुक्त रूप मिलता है। कृष्ण-काव्य के वे कवि जो किसी सम्प्रदाय में नहीं हैं, अथवा जिन्होंने सम्प्रदाय के बन्धन को स्वीकार नहीं किया है इसी वर्ग के कवि हैं।[1] साथ ही प्रेम-काव्य की स्वतंत्र परम्परा भी इसी वर्ग में सम्मिलित की जा सकती है; जिनमें प्रेम की व्यंजना का आधार सूफ़ियों के प्रतीक नहीं है।[2] परन्तु इन सभी कवियों ने अपने समकालीन साहित्य से प्रेरणा ग्रहण की है और इस कारण ये एक सीमा तक ही स्वतंत्र कहे जा सकते हैं।

१. विद्यापति, मीरा, रसखान, आलम, आनंदघन, शेख तथा ठाकुर आदि इसी श्रेणी के उन्मुक्त कवि हैं।

२. 'ढोलामारू रा दूहा' तथा 'माधवानल कामकंदला' आदि

तृतीय प्रकरण

आध्यात्मिक साधना में प्रकृति-रूप

साधना-युग—हिन्दी-साहित्य के मध्ययुग का पूर्वार्द्ध धार्मिक काल है। इस काल का अधिकांश काव्य धार्मिक भाव-धारा से सम्बन्धित है। पिछले प्रकरण में इस ओर संकेत किया गया है कि इस काव्य में जिन धार्मिक भाव-धाराओं का विकास हुआ है उनकी पृष्ठभूमि में निश्चित दार्शनिक सिद्धान्त तथा आध्यात्मिक वातावरण था। इस काल के कवियों में बहुत कुछ काव्य सम्बन्धी प्रवृत्तियों का साम्य है। और इसका कारण उनकी अपनी स्वच्छन्दवादी प्रवृत्ति तथा तथ्यों को अनुभूति के माध्यम से ग्रहण करने की प्रेरणा है। परन्तु विभिन्न परम्पराओं से सम्बन्धित होने के कारण इनके काव्य पर उनके विचारों का प्रभाव निश्चित है। प्रतिभा-सम्पन्न कवि अपनी परम्परा में अपने सम्प्रदाय के प्रभाव को लेकर भी एक सीमा तक स्वतंत्र रह सके हैं। परन्तु बाद के कवियों में अपने सम्प्रदाय तथा अपनी परम्परा की रूढ़िवादिता अधिक है और साथ ही वे अपने आदर्श कवि के अनुकरण पर अधिक चलते हैं। प्रत्येक काव्य-परम्परा में एक महान् कवि प्रारम्भ में ही हुआ है और उसी का प्रभाव लेकर बाद के अधिकांश कवि चले हैं। इस कारण आदर्श कवि की रूढ़िवादिता को तो इन कवियों ने अपनाया ही, साथ ही उनका अनुकरण भी इनके लिए रूढ़ि हो गया है। स्वच्छन्दवाद की प्रतिक्रियात्मक शक्ति के रूप में धार्मिक साम्प्रदायिकता का उल्लेख हुआ है। कहा गया है कि स्वच्छन्द प्रवृत्ति तथा अनुभूति-जन्य समन्वय के कारण साधक कवि अपने दृष्टिकोण में व्यापक हैं। कबीर द्वैताद्वैत विवर्जित तथ्य को प्रतिपादित करके भी अद्वैत विचार को अपनाते हैं और साथ ही द्वैत-विहित प्रेम-साधना का प्रतिपादन करते हैं। प्रेम-मार्गी सूफ़ी कवि बाग़रा होकर भी भारतीय विचारों को स्थान-स्थान पर ग्रहण करते हैं। सूर वल्लभाचार्य के शिष्य होकर भी निर्गुण-ब्रह्म को अस्वीकार नहीं करते हैं और साथ ही वे दास्य-भक्ति का रूप भी उपस्थित करते हैं। तुलसी रामानन्द की शिष्य-परम्परा में माने जाते हैं; पर वे अद्वैत

तथा विशिष्टाद्वैत को स्वीकार करके आत्म-निर्भरा भक्ति का प्रतिपादन करते हैं। यह सब होते हुए भी इनके विचारों के आधार में कुछ निश्चित दार्शनिक सिद्धान्त हैं और अपनी समष्टि में इनकी अपनी अलग विचारावली है। विचार का यह रूप उनकी साधना को प्रभावित करता है और साधना का रूप आध्यात्मिक होता है। इस प्रकार प्रत्येक भाव-धारा का कवि अपने आध्यात्मिक वातावरण में दूसरी भाव-धारा से अलग है। इस भूमिका के आधार पर हमारे सामने दो प्रमुख बातें आती हैं। पहले तो ये समस्त धार्मिक परम्पराएँ स्वच्छन्दवादी प्रवृत्ति के मार्ग में प्रतिक्रिया के समान हैं। दूसरे प्रतिक्रिया के रूप में समान होकर भी ये अपने दृष्टिकोण में भिन्न हैं। इन दोनों बातों का प्रभाव इस युग के प्रकृति सम्बन्धी आध्यात्मिक रूपों पर पड़ा है।

साधना और प्रकृतिवाद

प्रकृति से प्रेरणा नहीं—प्रत्येक सम्प्रदाय की विचार-पद्धति और उसकी साधना का रूप निश्चित हो जाता है। आगे उसके मानने वालों को उनकी स्थापना करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जगत् और जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूति के आधार पर सत्यों का रूप उपस्थित करने की स्वतन्त्रता उनको नहीं मिलती। तर्क की जो परम्परा और विवेचना का जो रूप उनके पूर्व-विकसित हो चुकता है; वही उन्हें स्वीकार कर लेना होता है। ऐसी स्थिति में जगत् का दृश्यात्मक रूप प्रकृति उस विचारक तथा साधक के लिए न तो कोई प्रश्न उपस्थित करती है और न कोई प्रेरणा देती है। इस प्रकार हिन्दी मध्ययुग की काव्य-भावना में प्रकृति के प्रति उन्मुक्त जिज्ञासा के रूप में कभी स्वच्छन्दवाद का रूप नहीं आ सका। राम, कृष्ण और प्रेमाख्यान काव्य की भाव-धाराओं में पूर्व निश्चित दार्शनिक सिद्धान्तों का ही समन्वय और प्रतिपादन हुआ है। संत अपने विचारों में स्वतन्त्र अवश्य लगते हैं, पर उनकी विचार-परम्परा का भी एक स्रोत है, साथ ही उनकी स्वतन्त्रता विचारात्मक स्थापना तथा विरोध पर ही अधिक आधारित है। क्योंकि इन समस्त कवियों ने विचार और साधना का रूप गुरु-परम्परा से स्वीकार किया है, इस कारण इनका आध्यात्मिक क्षेत्र भी पूर्व निश्चित तथा स्वतःसिद्ध रहा है। यह साधक कवि अपने चारों ओर के जगत् तथा जीवन से प्रेरणा न प्राप्त करके अपनी साधना के लिए आध्यात्मिक वातावरण उसी परम्परा के अनुसार ग्रहण करता है। फलस्वरूप मध्ययुग का कवि प्रकृति के दृश्य-जगत् को कभी प्रमुखतः अपनी अनुभूति का, अपने काव्य का विषय नहीं बना सका।

अध्यात्म का आधार—अभी कहा गया है कि मध्ययुग के कवियों ने सम्प्रदाय और परम्परा का अनुसरण किया है, और इसलिए उनको प्रकृति से प्रेरणा प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला। परन्तु पिछले प्रकरण में हम कह चुके हैं कि इन कवियों की

प्रवृत्तियाँ किसी भी परम्परा की बन्दी नहीं हैं। प्रश्न उठ सकता है कि यह विरोध क्यों है। वस्तुतः जब हम कहते हैं कि इन्होंने परम्परा का अनुसरण किया है, उस समय अंध अनुसरण से मतलब नहीं है। यह अनुसरण इतना ही है कि उनकी विचारधारा का आधार बनकर प्राचीन विचारधारा आती है। इसकी स्वतन्त्र प्रवृत्ति का अर्थ है कि इन कवियों में सभी सिद्धान्तों के विभिन्न सत्यों को समन्वित रूप से देखने की शक्ति थी। इस क्षेत्र में धार्मिक काल के साधक कवि के प्रकृतिवादी होने के विषय में सबसे बड़ी बाधा थी, उसका विचारात्मक होना। यह इस युग के काव्य की स्वच्छन्द-भावना के विरोध में सबसे बड़ी प्रतिक्रियात्मक शक्ति रही है; और जिसका उल्लेख पीछे किया गया है। वस्तुतः जैसा प्रथम भाग के प्रथम प्रकरण में संकेत किया गया है, आध्यात्मिक भावना का विकास मानव के अन्दर दार्शनिक चेतना से पूर्व ही हो चुका था। और इस आध्यात्मिक चेतना का आधार बाह्य जगत् के प्रभाव ही कहे जा सकते हैं। जिस जाति ने इस आध्यात्मिक भावना को प्रमुख रखकर ही बार-बार दार्शनिक चेतना का प्रश्न उठाया है; उसमें प्रकृति का प्रश्न, उसके प्रति जिज्ञासा का भाव प्रबल हो उठता है। एक बात और भी है। सभी देशों और सभी कालों में दार्शनिक चेतना और दार्शनिक भावना इतनी प्रबलता से उसके कवियों को प्रभावित भी नहीं करती। ऐसा तो मध्ययुग में रीतिकाल में देखा जा सकता है। एक सीमा तक दार्शनिक परम्पराओं के प्रभाव से मुक्त कवि दार्शनिक चेतना की ओर बढ़ता है, तो वह प्रकृति और जगत् के माध्यम से आगे बढ़ता है। योरुप तथा इंगलैंड के स्वच्छन्द-युग के कवियों का प्रकृति-सम्बन्धी आकर्षण इसी सत्य की ओर संकेत करता है। बाद में जब दार्शनिक चेतना विकसित होने लगती है, उस समय आध्यात्मिक साधना अन्तर्मुखी हो उठती है। इस सत्य के लिए हम भारत के प्राचीन आध्यात्मिक इतिहास को सामने रख सकते हैं।

अनुभूति का आधार—विचार—वैदिक-काल प्रकृतिवादी कहा जा सकता है। उसमें प्रकृति की विभिन्न शक्तियों की उपासना की जाती थी। उस युग की प्रार्थनाओं के मूल में धार्मिक अध्यात्म-भावना का विकास वस्तु-परक आधार पर हो रहा था।[1] प्रथम भाग के प्रथम प्रकरण में इस बात का उल्लेख किया गया है कि दिक्काल की अस्पष्ट भावना और माध्यमिक गुणों की भ्रामक स्थिति ने आदि मानव के मन में अपने चारो ओर फैली हुई प्रकृति के प्रति एक भय की भावना उत्पन्न कर दी थी।

---

१. कां० स० उ० फि० ; आर० डी० रानाडे ; प्रक०—'दि बैक ग्राउन्ड ; पृ० २—'सबसे पूर्व हमको जानना चाहिए कि ऋग्वेद प्रकृति-शक्तियों के व्यक्तीकरण का बहुत बड़ा प्रार्थना-संग्रह है। इस प्रकार वह धार्मिक चेतना के विकास की प्रारम्भिक स्थिति प्रस्तुत करता है जो धर्म का बाह्य वस्तु-परक आधार कहा जा सकता है। दूसरी ओर उपनिषद् में धर्म का मनस्-परक आधार है।'

बाद में व्यक्तिकरण के आधार पर मानव ने उसे अधिक प्रत्यक्ष रूप से देखा होगा। प्रकृति-पूजा में यही सत्य सन्निहित है।[1] प्रकृति के व्यक्तिकरण के आधार पर ईश्वर की भावना का विकास हुआ है; और इस आध्यात्मिक भावना के मूल में बाह्य दृश्य-जगत् था। परन्तु दार्शनिक चेतना के विकास में यह बहिर्मुखी भावना अन्तर्मुखी होती गई—और बाह्य प्रकृति की प्रेरणा का स्थान आत्म-विचार ने लिया है। इस आत्म-चेतना के उत्पन्न हो जाने पर प्रकृति के देवताओं का आतंक तथा आकर्षण जाता रहा है। और उपनिषद्-कालीन ऋषियों ने दृश्यात्मक जगत् के प्रकृति-विस्तार में अपनी आत्म-चेतना का विस्तार देखा।[2] इस सीमा पर उपनिषद्कार अपने दृष्टिकोण में सर्वेश्वरवादी हो चुका था। परन्तु आत्मचेता दार्शनिक के लिए अब प्रकृति में विशेष आकर्षण नहीं रह गया था; वह प्रकृति की ओर विशेष ध्यान नहीं दे सका। उसके लिए प्रकृति दृश्यमान् भासमान् रह गई थी जो सांसारिक भ्रम के रूप में है।[3] फिर भी इस काल में आत्मानुभूति के आधार पर सर्वचेतनवादी मत था। ऋषियों की दार्शनिक चेतना में अनुभूति प्रधान थी। लेकिन हिन्दी-साहित्य का भक्तियुग जिस वेदान्ती दार्शनिक आधार पर खड़ा है उसकी समस्त प्रेरणा विचारवादी और तर्क-प्रधान है और मध्य-युग की आध्यात्मिक साधना भावात्मक होकर भी बुद्धिवादी दर्शन के आधार पर खड़ी है। वैदिक युग में दृश्यात्मक प्रकृति ही आध्यात्मिक भावना और वातावरण की आधार थी। उपनिषद् काल में आत्मानुभूति से दार्शनिक चिंतन आरम्भ होता है, परन्तु दृश्य-जगत् में आत्म-प्रसार देखने के लिए आधार था। हिन्दी मध्ययुग में उपनिषद्-कालीन अनुभूत सत्यों की स्थापना तो हो सकी, पर उनका आधार तर्क रहा है। इसका कारण यह था कि पिछले सिद्धान्तों के सामने अपना मत रखना था। फिर इसी दार्शनिक स्थापना के आधार पर इस युग की साधना की नींव पड़ी है।[4] ये साधक-कवि इस क्षेत्र में अपने आचार्यों के

---

१. वर्शिप ऑव नेचर : जे० जी० फ्रेज़र: इन्ट्रोडक्शन; पृ० १६—'सर्वप्रथम प्रकृति-पूजा के विषय में जिससे मेरा मतलब प्रकृति के रूपों की पूजा से है, सप्राण चेतना मानी जाती है, जो मानव को हानि पहुँचाने या उपकार करने की इच्छा या शक्ति से सम्बन्धित है। ...इस प्रकार जिसको हम प्रकृति-पूजा कहते हैं, प्रकृति के रूपों के व्यक्तीकरण पर आधारित है।'

२. कां० स० उ० फि० ; आर० डी० रानाडे ; प्रक०—'दि बैकग्राउन्ड' ; पृ० ३।

३. उपनिषदों में 'माया' शब्द का प्रयोग कई भावों तथा अर्थों में हुआ है। उनमें भासमान् भ्रम के अर्थ में भी 'माया' का प्रयोग कई स्थलों पर मिलता है। श्वे० उप० में कहा गया है—[ईश्वर का ध्यान करने से, उससे युक्त होने पर और उसके अस्तित्व में प्रवेश पाने पर ही संसार के महान भ्रम से छुटकारा मिलता है।] 'तस्याभिध्यानात् योजनात् तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' (१'१०)

४. कां० स० उ० फि० ; आर० डी० रानाडे : प्रक०—दि बैक ग्राउन्ड, पृ० ११—'लगभग बारहसौ वर्ष बाद, जब दूसरी बार वेदान्त-दर्शन के निर्माता उपनिषद्-कालीन ऋषियों के द्वारा प्रस्तुत आधार पर अपने सत्यों को स्थापित करने लगे, तो फिर नए धर्म के पुनरुत्थान का रूप प्रकट हुआ। पर इस बार के पुनरुत्थान में धर्म का रूप रहस्यात्मक से अधिक बौद्धिक था।'

प्रतिपादित सत्यों की अपनी अनुभूति से आध्यात्मिक साधना का विषय बनाते हैं। उपनिषद् काल में अन्तर्मुखी अनुभूति से विचार की ओर बढ़ा गया था, पर इस मध्य-युग में विचार से भावानुभूति की ओर जाने का क्रम हो गया। परिणाम स्वरूप इस युग के कवियों की भाव-धारा में प्रकृतिवाद को स्थान नहीं मिल सका, वे प्रकृति से अपना सीधा सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सके।

ब्रह्म का रूप—भारतीय प्रमुख विचार-परम्पराओं में ब्रह्म परम तत्व स्वीकार किया गया है और प्रकृति तो उसका आवरण है, बाह्य स्वरूप है या उसकी शक्ति की अभिव्यक्ति है। किसी रूप में हो प्रकृति उसी परम तत्त्व को लेकर है। हिन्दी मध्ययुग के भक्त कवियों का मत इसी दार्शनिक पृष्ठभूमि पर बना है और इस कारण इनके काव्य में प्रकृति का रूप इन विचारों से बहुत दूर तक प्रभावित है। हम देखते हैं कि वैदिक प्रकृतिवाद उस युग के देवताओं के व्यक्तीकरण से आगे बढ़कर एक देववाद के रूप में उपस्थित हुआ था और यही एकदेववाद वैदिक एकतत्ववाद तक पहुँच गया था। यह वैदिक एकतत्त्ववाद या अद्वैतवाद का रूप बाह्य जगत् या प्रकृति से ही प्राप्त हुआ था। उसके आधार में प्रकृति का व्यापक विस्तार था। परन्तु उपनिषदों का चरम-तत्त्व अन्तर्मुखी सत्य हो उठा है। उपनिषदों में सप्रपंच अथवा सगुण तथा निष्प्रपंच अथवा निर्गुण दोनों ही रूपों में चरम-तत्त्व का वर्णन मिलता है। बाद में शंकर ने उपनिषदों के आधार पर निष्प्रपंच निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन किया और इसीलिए उन्होंने जगत् की उत्पत्ति के लिए, अनेकता की प्रतीति के लिए माया का सिद्धान्त स्वीकार किया है। उपनिषदों में सप्रपंच की भावना के साथ दार्शनिक चेतना अनुभूति के आधार पर विकसित हुई है। इस कारण उनमें प्रकृति के माध्यम से चरम-तत्त्व की कल्पना तक पहुँचने के लिए प्रेरणा मिलती है।[1] इन स्थलों पर ऋषियों की दृष्टि सर्वेश्वरवादी है। बाद में परिस्थिति बदल चुकी थी। जिस मायावाद का प्रतिपादन शंकर ने किया है वह उसी रूप में उपनिषदों में नहीं मिलता। पर दृश्यात्मक के अर्थ में और भ्रम के रूप में इसका मूल उपनिषदों में है। यही विचार जगत् की रूपात्मकता की व्याख्या करने के लिए मायावाद में आता है और यह भारतीय विचार-परम्परा में किसी न

१. विभिन्न उपनिषदों में इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं जिनमें प्रकृति में व्यापक सत्ता का आभास मिलता है। 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः।' (बृहदा० ३।८।९) [हे गार्गि, इस अक्षर रूप परम तत्व के शासन में सूर्य और चन्द्रमा धारण किए हुए स्थित है]

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात् स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः।

अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा। (मुण्ड० २।१।९)

[इसीसे समस्त पर्वत और समुद्रों की उत्पत्ति हुई, इससे सभी रूपों की नदियाँ बहती हैं। सारी औषधियाँ और रस इसीसे निकलते हैं। सभी प्राणवानों में परिवेष्ठित होकर यह आत्मा स्थित है]

किसी प्रकार से निवृत्ति भावना से सम्बन्धित अवश्य रहा है। बौद्ध-धर्म की निवृत्ति भावना ने संसार की परिवर्तनशीलता तथा क्षणिकता से जो रूप पाया है, वह उपनिषद् में भी पाई जाती है। बाद में बौद्ध-धर्म के साथ ही साथ यह भावना भारतवर्ष में अधिक व्यापक हो उठी। बौद्ध-धर्म का प्रभाव समाप्त हो गया पर संसार-त्याग की भावना जनता में बनी रही। शंकर के मायावाद की ध्वनि ऐसी ही है, साथ ही निर्गुण संतों के माया का रूप भी यही था। ब्रह्म की निष्प्रपंच भावना का विकास हो चुका था, उसके अनुसार दृश्य-जगत् माया के रूप में मिथ्या या भ्रम स्वीकार किया गया।[1] इसके कारण हिन्दी मध्ययुग की एक प्रमुख काव्य-धारा में प्रकृति के प्रति, सीधे अर्थों में कोई आकर्षण नहीं रहा है। शंकर के बाद अन्य वेदान्तियों ने ब्रह्म को सप्रपंच भी माना है और इस प्रकार माया को भी सत्य रूप में स्वीकार किया है। सगुण भक्त-कवियों ने प्रकृति को असत्य नहीं माना, परन्तु यहाँ उनका विचार व्यावहारिक समन्वय उपस्थित करने का है। अन्ततः वे निर्गुण को ही स्वीकार करते हैं। साथ ही जिस सगुण ब्रह्म की स्थापना वे करते हैं, प्रकृति उसकी शक्ति से संचालित है और उसके इंगित मात्र पर नाचने वाली नटी है। इस प्रकार सगुणवादियों में प्रकृतिवाद को फिर भी स्थान नहीं मिल सका, यद्यपि इन्होंने उसके रूप और उसकी दृश्यात्मकता को अस्वीकार भी नहीं किया है।

ईश्वर की कल्पना—हम देख चुके हैं कि परम-तत्त्व-रूप ब्रह्म को एक बार पहिचान लेने के बाद भारतीय तत्त्ववाद के इतिहास में आदि तत्त्व के बारे में तर्क चले हैं; पर ब्रह्म विषयक प्रश्न प्रकृति के समक्ष उसके माध्यम से नहीं उठ सके। प्रकृति का उन्मुक्त-क्षेत्र उस जिज्ञासा की प्रेरणा-शक्ति नहीं हो सका।[2] इसके साथ ही ईश्वर की कल्पना के विकास ने प्रकृति के प्रति उपेक्षा को और भी दृढ़ कर दिया है। विचारक स्वयं आदि तत्त्व के विकार को लेकर व्यस्त था और जनता को उसने ईश्वर की कल्पना देकर संतुष्ट कर दिया था। ईश्वर या भगवान् की भावना जनता में एक बार प्रचलित हो जाने के बाद, उसमें किसी जिज्ञासा या किसी प्रश्न के लिए स्थान नहीं रह जाता। जिस प्रकार आदि तत्त्व की खोज में, आत्मानुभूति के आधार पर परम आत्मवान् ब्रह्म की कल्पना सामने आई है; उसी प्रकार प्रकृति शक्तियों के व्यक्तीकरण और सामूहीकरण को जब मानवी आधार मिल गया तब ईश्वर का रूप सामने आता

---

१. कां० स० उ० फ़ि०; आर० डी० रानाडे; प्रक०—'दि रूट्स् ऑव फ़िलासफ़ीस्'

२. कठोपनिषद् पूछता है—'क्या सूर्य अपनी शक्ति से चमकता है। क्या चन्द्रमा और तारे अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान हैं? क्या बिजली अपनी स्वाभाविक चमक से चमकती है? और आगे चलकर वह कहता है—'न तत्र सूर्यो भाति न चंद्रतारकं नेमा विद्युतो भाति कुतोऽयमग्निः। तमेव भांतमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' (कठो० २।२।१५)

है। इस स्थल पर प्रथम भाग के द्वितीय प्रकरण का उल्लेख कर देना आवश्यक है। उसमें विस्तार से विवेचना की गई है कि मनस् तथा वस्तु की क्रिया-प्रतिक्रिया किस प्रकार एक ही वस्तु-स्थिति से दो सत्यों का बोध कराती है। वैदिक युग में बहुदेववाद एकदेववाद में परिवर्तित हो चुका था; और जिस समय से एक देवता को सर्वोपरि मानने की भावना उत्पन्न हो जाती है, उसी समय से ईश्वर की कल्पना का प्रारम्भ मानना चाहिए। वैदिक मंत्रों में ही प्रकृति की भौतिक-शक्ति की कल्पना से क्रमशः देवता का व्यक्तीकरण भावात्मक होता गया है और इस व्यक्तीकरण में आचरणात्मक गुणों तथा आध्यात्मिक चरित्रों का संयोग होता गया।[1] इस सीमा पर वैदिक ऋषि एक देवता की शक्ति-कल्पना में दूसरे देवता की शक्ति का योग भी करने लगे थे। देवता के साथ कर्ता और कारण की भावना जुड़ गई और साथ ही मूल्यों की जीवन-सम्बन्धी व्यवस्थाओं से भी उसका संयोग हो गया। देवता के व्यक्तीकरण की इस प्रकृति और समाज की सम्मिलित स्थिति को ईश्वर के रूप में समझा जा सकता है। ईश्वर के आचरणात्मक व्यवस्थापक रूप के मूल में आदिम मानव की प्रकृति-शक्तियों के प्रति भय की भावना सन्निहित है। बाद में सामाजिक आधार पर मानवीय मनोभावों का संयोग व्यक्तीकरण के साथ हुआ है।[2] वैसे वैदिक युग में भी मानवीय भावों के व्यक्तीकरण रूप देवताओं का उल्लेख हुआ है।

इस प्रकार ईश्वर की धार्मिक कल्पना, वैदिक एकदेववाद के विकसित होते रूप में समस्त भौतिक तत्त्वों के कर्ता का रूप और उस व्यक्तीकरण में आचरणात्मक व्यवस्थापक और भावात्मक उपास्य के रूप के मिल जाने से प्राप्त हुई है। यद्यपि उपनिषद्-कालीन द्रष्टा आत्मानुभवी दार्शनिक हैं, ईश्वर की पूर्ण कल्पना का विकास इसी युग में हुआ है। श्वेताश्वेतर उपनिषद् में ईश्वर की कल्पना है।[3] आगे चलकर पौराणिक-युग में यह कल्पना त्रिदेवों के रूप में पूर्ण होती है। ईश्वर स्रष्टा है, पालन-कर्ता है और साथ ही संहार भी करता है। इसमें सर्जन और विनाश प्रकृति का योग है और पालन की भावना मानवीय है। भारतीय दर्शन की कोई भी विचार-धारा रही हो; साधना में ईश्वर का स्वरूप कुछ भी माना गया हो; परन्तु भारतीय जनता में ईश्वर की भावना आज भी इसी रूप में चली आती है। इस प्रकार भारतीय विचारों और भावों दोनों में ईश्वर का दृढ़ आधार रहा है। इस आधार के बिना एक पग आगे

---

१. इन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन एण्ड एथिक्सः गॉडस् (हिन्दू)।

२. हिन्दू गॉडस् एण्ड हीरोज ; लियोनल डी० बार्नेट ; पृ० २०।

३. श्वेता० ३।२।३—'एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः। प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति संचुकोपान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः। विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः।'

बढ़ा ही नहीं गया है। परिणामस्वरूप धार्मिक काव्य के साधक-कवि को प्रकृति के प्रति जिज्ञासा नहीं हुई। तर्क और विशुद्ध ज्ञान के क्षेत्र में ब्रह्म था; तो व्यवहार की सीमा में भगवान् की स्थापना थी। सब कुछ करने वाला, रखने वाला और मिटाने वाला है ही; फिर प्रश्न उठता ही नहीं कि यह सब क्या है, कैसे हुआ और क्यों है? इधर हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में मुसलमानी एकेश्वरवाद का रूप भी जनता के सामने आ चुका था। भारतीय ईश्वर की कल्पना के आधार में अद्वैत ब्रह्म और आत्म-तत्त्व जैसी एकता की भावना रही है; परन्तु मुसलिम एकेश्वरवाद एकान्तरूप से एक की कल्पना लेकर चलता है जिसमें परिव्याप्त और परावर की भावना नहीं है। इसका ईश्वर एक शासक और अधिष्ठाता के रूप में है। हिन्दी मध्ययुग में इस भाव-धारा का प्रभाव कबीर आदि संतों पर केवल खंडनात्मक पक्ष तक ही सीमित है; पर सूफ़ी प्रेम-मार्गी कवियों में प्रत्यक्ष है। इस शासक रूप ईश्वर के समक्ष प्रकृति सर्जना का प्रश्न आता ही नहीं और प्रकृति के रूप के प्रति आकर्षण की समस्या उठती ही नहीं।

प्रेम-भावना—इस विषय में एक बात का उल्लेख करना आवश्यक है, जिसका मध्ययुग की आध्यात्मिक साधना में प्रकृति के रूपों पर विशेष प्रभाव पड़ा है। और इस कारण भी इस युग के काव्य में प्रकृतिवाद को स्थान नहीं मिल सका। हिन्दी साहित्य के मध्ययुग की साधना का रूप प्रेम है जिसका आधार 'रति' स्थायी भाव कहा जा सकता है। माधुर्य भक्ति प्रेम-साधना का एक रूप है। तुलसी की भक्ति-भावना अवश्य दास्य-भाव की है, परन्तु इसमें भी सामाजिक आधार पर एक महत् के प्रति प्रेम की भावना सन्निहित है। इस प्रकार इस युग की भाव-साधना पूर्ण रूप से सामाजिक आधार पर स्थापित है। प्रेमी साधक जब अपने आराध्य के प्रति आत्म-निवेदन करता है, उस समय वह मानवीय भावों का आधार ग्रहण करता है। मध्य-युग की भावात्मक उल्लास की साधना निवृत्ति-प्रधान साधना की प्रतिक्रिया थी। वैदिक युग की जीवन-सम्बन्धी उत्सुकता और शक्ति चाहना उपनिषद्-काल की अन्त-र्मुखी चिन्तनधारा में जीवन और जगत् से दूर हट गई। संसार की क्षणिकता और दुःखवाद से यह निवृत्ति की भावना बौद्ध-काल में अधिक बढ़ती गई। परन्तु जीवन के विकास और उसकी अभिव्यक्ति के लिए यह दुःखवाद और निवृत्ति-मार्ग अवरोध थे। यह परिस्थिति आगे नहीं चल सकी। जीवन को अपना मार्ग खोजना ही पड़ा।[1] मध्य युग में फिर जीवन और जगत् के प्रति जागरूकता बढ़ी। लेकिन समस्त पिछली विचार-धारा के फलस्वरूप इस आकर्षण का रूप दूसरा हुआ। इस नवजागरण के युग में अनन्त आनन्द और उल्लास के रूप में जीवन तथा जगत् दोनों को ग्रहण किया गया।

---

१. इसी प्रकार का आन्दोलन सिद्धों का भी कहा जा सकता है। परन्तु जीवन के आकर्षण में पतन की सीमा भी समीप रहती है। यह सिद्धों और भक्तों दोनों के आन्दोलनों में देखा जा सकता है।

और इस सब का केन्द्र हुआ भगवान् का रूप, जिससे इस आनन्द भावना के विस्तार में, अनन्त जीवन, चिर-यौवन तथा राशि-राशि सौन्दर्य उल्लसित हो उठा। यह नया जागरण, नया उत्थान ही हिन्दी साहित्य का भक्ति आन्दोलन था।[1] इस भाव-धारा के आधार में मानवीय भावों की प्रधानता है जो भगवान् के आनन्द रूप के प्रति संवेदनशील हो उठे हैं। फलस्वरूप इस युग में प्रकृतिवाद को स्थान नहीं मिल सका; काव्य में प्रकृति को प्रमुख स्थान नहीं मिला। आगे हम देखेंगे कि प्रकृति में जीवन का आनन्दोल्लास और यौवन-उन्माद का जो रूप इस काव्य में मिलता , वह या तो भगवान् के आनन्द से प्रतिबिम्बित लगता है और या वह मानवीय भाव-‌ उद्दीपन के अर्थ में प्रयुक्त है।

भारतीय सर्वेश्वरवाद—ऊपर जिन कारणों का उल्लेख किया गया है, समष्टि रूप से उनसे हिन्दी साहित्य के मध्ययुग के धार्मिक काव्य का प्रकृति-सम्बन्धी दृष्टिकोण निश्चित होता है। वस्तुतः ये कारण वैदिक युग से भारतीय विचार-धारा को प्रमुख प्रेरणा देनेवाली प्रवृत्तियों के रूप में रहे हैं। भारतीय चिंतन-धारा में ब्रह्म की इतनी स्पष्ट-भावना और ईश्वर का इतना व्यक्त रूप रहा है कि भारतीय सर्वेश्वरवाद में ब्रह्म की भावना और ईश्वर का रूप ही प्रथम है, प्रत्यक्ष है। और प्रकृति उसी भावना में, उसी रूप में अन्तर्व्याप्त है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं किया जाता। पाश्चात्य सर्वेश्वरवाद प्रकृति के माध्यम से एकत्व और एकात्म की ब्रह्म-भावना को समझने का प्रयास बाद तक करता रहा है। इसी कारण उनके काव्य में प्रकृति में ब्रह्म-चेतना के परिव्याप्त होने की भावना अधिक मिलती है। प्रमुख भारतीय मत से प्रकृति तो दृश्यमान् है, भ्रामक है, और उसकी सत्ता व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य है। प्रतिदिन के व्यवहार में सामने आनेवाले यथार्थ को स्वीकार भर कर लिया गया है। प्रकृति में जो सत् है वह जीव और ईश्वर दोनों का अंश है; इसलिए वह कभी जीव की दृष्टि से देखी जाती है और कभी ईश्वर के रूप में अन्तर्भूत हो उठती है। व्यापक भारतीय मत से प्रकृति का यही सत्य है।[2] पूर्व और पश्चिम को लेकर प्रकृति के सम्बन्ध में यह बहुत बड़ा अन्तर है। हम देख चुके हैं कि प्रारम्भिक वैदिक युग में भारतीय सर्वेश्वरता की भावना प्रकृति के माध्यम से ही किसी व्यापक सत्ता की ओर बढ़ी थी। परन्तु एक बार ब्रह्म-तत्त्व स्वीकार हो

---

१. दि भक्ति कल्ट इन एन्शेन्ट इण्डिया; भागवत कुमार शास्त्री; इन्ट्रोडक्शन; पृ० १२ और १६।

२. इन्साइ० रि० एथि०: गॉड्स् (हिन्दू)—'व्यापक रूप से पाश्चात्य सर्वेश्वरवाद ईश्वर को प्रकृति में परिव्याप्त मानता है : पर भारतीय के लिए प्रकृति ईश्वर में अन्तर्भूत हो जाती है।...इस प्रकार सिद्धान्त से, दृश्यात्मक सत्य के समन्वय के प्रयास में साथ ही चरम सत्य को प्रस्तुत करने में प्राकृतिक सृष्टि का कोई वास्तविक अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाता।'

जाने पर ईश्वर की कल्पना पूरी हो जाने के बाद भारतीय विचार में सर्वेश्वरता तथा काव्य-रूप में प्रकृतिवाद के लिए स्थान नहीं रह जाता। प्रकृति का दृश्यमान् सत्य केवल परिवर्तनशील है, क्षणिक है; वह व्यापक न होकर केवल कारणात्मक और सापेक्ष है। ऐसी स्थिति में प्रकृतिवाद भारतीय दृष्टि से केवल एक मानसिक भ्रम स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुतः मध्ययुग के निर्गुणवादी सन्तों की दृष्टि से प्रकृति भ्रम है, मिथ्या है, और सगुणवादी भक्तों की दृष्टि में प्रकृति का सारा स्वरूप ईश्वर-सिद्धान्त में निलय हो जाता है।[1]

इन सिद्धान्तों के आधार पर हम आगे की विवेचना में देखेंगे कि जिस काव्य परम्परा में ब्रह्म (और ईश्वर का भी) का जो रूप स्वीकार किया गया है उसमें प्रकृति का रूप उससे प्रभावित है। साथ ही ऊपर की समस्त विवेचना को लेकर हम इन सिद्धान्तों को आधार रूप से प्रस्तुत कर सकते हैं। हिन्दी मध्ययुग के साधना काव्य में ब्रह्म की भावना और ईश्वर के रूप के प्रत्यक्ष रहने के कारण इस युग के सर्वेश्वरवाद में ईश्वर में प्रकृति का अन्तर्भाव है। ईश्वर प्रकृति में परिव्याप्त है और इस प्रकार इस युग के काव्य के आध्यात्मिक वातावरण के लिए दार्शनिक तथा साधनात्मक दोनों पक्षों में प्रकृतिवाद उपयुक्त नहीं हो सका। इस युग के काव्य में आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रकृति कभी मूल प्रेरणा के रूप में नहीं आ सकी। फिर भी हिन्दी मध्ययुग की आध्यात्मिक साधना और उसके आधारभूत दर्शन में माया के रूप में प्रकृति नितान्त भ्रम तथा असत्य नहीं है। सन्तों को छोड़कर अन्य साधकों ने प्रकृति को सत् (सत्य) के रूप में लिया है। परन्तु हम आगे देख सकेंगे कि प्रकृति उनके ईश्वर रूप में अन्तर्भूत ही हो उठती है।

संत साधना में प्रकृति-रूप

सहज जिज्ञासा—संत साधकों की विशेषता उनकी साधना तथा विचार-पद्धति का सहज रूप है। 'सहज' शब्द संत-काव्य की आधार-शिला है। इनकी विचारधारा की पृष्ठ-भूमि में अनेक परम्पराएँ हैं, पर इन्होंने अपनी समन्वित दृष्टि से इन सब को अपने सहज सिद्धान्त के अनुरूप कर लिया है। अपनी विचार-पद्धति में कबीर नाथ-पंथियों से बहुत दूर तक प्रभावित हैं; परन्तु साधना के क्षेत्र में इन्होंने अनुभूति और प्रेम का मार्ग चुना है। और संतों के इस मार्ग में सभी सिद्धान्त सहज होकर ही उपस्थित होते हैं। कबीर आदि संतों में विरोध दिखाई देने का कारण भी यही है।[2]

---

१. इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी आव दि हिन्दू डाक्ट्रिन; रेना ग्यूनान; दि क्लैसिकल डिस्क्रिप्शन; पृ० ४२।

२. कबीर; ह० प्र० द्वि०; अ० ५—'निरंजन कौन है', पृ० ६८।

हम देख चुके हैं कि पिछले युगों में प्रकृति के उन्मुक्त क्षेत्र से जिज्ञासा हट चुकी थी और सृष्टि तत्त्व का निरूपण तर्क तथा अनुमान के आधार पर होने लगा था। संत साधक भी इस तर्क तथा विचार की परम्परा को छोड़कर उन्मुक्त होकर प्रकृति के सामने नहीं खड़ा हो सका। परन्तु अपनी सहज भावना में वह प्रकृति के प्रति आग्रही अवश्य दिखाई देता है। कबीर पूछ उठते हैं—

प्रथमे गगन कि पुहुमी प्रथमे; प्रथमे पवन कि पाणी।
प्रथम चन्द कि सूर प्रथम प्रभु; प्रथमे कौन बिनाणी।
प्रथमे दिवस कि रैणि प्रथमे प्रभु; प्रथमे बीज कि खतं।
कहै कबीर जहाँ बसहु निरंजन; तहाँ कछु आहि कि शून्यं।

इस पद के अन्तर्गत नाथपंथी सृष्टि-प्रतीकों का आधार होने पर भी, साधक का ध्यान निश्चय ही व्यापक विश्व-सर्जना पर है। प्रभु की सर्वप्रथम भावना के सामने उसको यह प्रश्न अधिक जचता नहीं। फिर भी उसका प्रश्न है—नश्वर सर्जना में प्रथम कौन माना जाय? दादू अधिक तार्किक नहीं हैं; और इसलिए वे सर्जन-क्रम के प्रति अधिक प्रत्यक्ष रूप से प्रश्नशील हुए हैं—'हे समर्थ, यह सर्जन देखा नहीं जाता। कहाँ से उत्पत्ति होती है और कहाँ निलय होता है? पवन और पानी कहाँ से हुए और पृथ्वी-आकाश का विस्तार जाना नहीं जाता। यह शरीर और प्राण का आकाश में संचरण कैसे हुआ? यह एक ही अनेक में कैसे प्रकट हो रहा है; फिर यह विभिन्नता एक में कैसे विलीन हो जाती है? सृष्टि तो स्वयं, चकित मुग्ध है; हे दयालु इसका नियमन किस प्रकार करते हो?'[१] यहाँ साधक के मन में सर्जन के प्रति जिज्ञासा है, आश्चर्य है; पर उसके सामने अपने 'प्रभु' की भावना भी स्पष्ट है। इस कारण प्रकृति के रूपों तथा स्थितियों के प्रति जिज्ञासा केवल उनके उत्तर को स्पष्ट करने के लिए है।

आराध्य की स्वीकृति—(क) और यह उनके आराध्य की भावना इनके सामने प्रत्यक्ष रहती है। वास्तव में प्रकृति के प्रति जिज्ञासा भी संत साधक में ब्रह्म-विषयक प्रश्न को लेकर ही है। संत साधकों को प्रकृति के रूप के प्रति कोई आकर्षण नहीं; और कोई कारण भी नहीं, जब उनको अपनी साधना का विषय उससे परे ही मिलता है। संत साधक प्रकृति की क्रियाशीलता और परिवर्तनशीलता के आधार पर स्रष्टा की कल्पना दृढ़ करना चाहता है। वह सर्जन के विस्तार में पृथ्वी, आकाश या स्वर्ग में अपने अलख देव को देखना चाहता है। वह जल, थल, अग्नि और पवन में व्याप्त हो

१. शब्दा०; दादू; पद ५४

रहे अपने आराध्य को पूछता है; और सूर्य चन्द्र की निकटता में उसे खोजता है।[1] साधक के समक्ष सर्जन के प्रति जिज्ञासा अधिक दूर तक चल भी नहीं सकती, क्योंकि उत्तर उसके सामने प्रत्यक्ष है—

> आदि ᐟति सब भावै घड़ै, ऐसा समरथ सोइ।
> करम नहीं सब कुछ करै, यौं कलि धरी बनाइ॥ (दादू)

एकेश्वरवादी भावना—सर्जन के प्रति प्रश्न ने और ब्रह्म की प्रत्यक्ष भावना ने साधकों को स्रष्टा के प्रश्न पर पहुँचाया है। इस सीमा पर वे एकेश्वरवादी जान पड़ते हैं। यह भावना विचार के क्षेत्र में कबीर में भी मिलती है और अन्य संत-कवियों में अपने-अपने विचारों के अनुसार पाई जाती है। दादू के अनुसार प्रकृति सर्जना का रचयिता राम है—'जिसने प्राण और पिंड का योग किया है उसी को हृदय में धारण करो। आकाश का निर्माण करके उसे तारकों से जिसने चित्रित किया है। सूर्य-चन्द्र को दीपक बनाकर बिना आलंबन के उन्हें वह संचरित करता है। और आश्चर्य! एक शीतल तथा दूसरा उष्ण है; वे अनन्त कला दिखाते हुए गतिशील हैं। और यही नहीं, अनेक रंग तथा ध्वनियों वाली पृथ्वी की, सातों समुद्रों के साथ जिसने रचना की है। जल-थल के समस्त जीवों में जो व्याप्त होकर उनका पालन करता है। जिसने पवन और पानी को प्रकट किया है और जो सहस्र धाराओं में वर्षा करता है। नाना प्रकार के अठारह कोटि वृक्षों को सींचने वाले वही है।'[2] परन्तु संतों का यह एकेश्वरवाद मुसलिम एकेश्वरवाद से नितान्त भिन्न है। उसमें ईश्वर का विचार एकछत्र सम्राट के समान है जिसकी शक्तियाँ असीम और अप्रतिहत हैं। परन्तु व्यापक होने की भावना उसमें नहीं पायी जाती। यहाँ दादू कहते हैं—'पूरि रह्या सब संगा रे'। इस प्रकार संत प्रकृति में जिस स्रष्टा की भावना पाते हैं वह उपनिषदों में उल्लिखित तथा भारतीय विचार-धारा से पुष्ट सप्रपंच-भावना के समान है।[3] सुन्दरदास में इसका और भी प्रत्यक्ष रूप मिलता है, क्योंकि अद्वैत भावना का उनपर अधिक प्रभाव है। उनका सप्रपंच ब्रह्म—'आकाश को तारों से विभूषित करता है और उसने सूर्य-चन्द्र को दीपक बनाया है।

---

१. शब्दा०; दादू; पद ५८—

> 'अलख देव गुर देहु बताय। कहाँ रहौ त्रिभुवन पति राय।
> धरती गगन बसहु कविलास। तीन लोक मैं कहाँ निवास॥
> जल थल पावक पवना पूर। चंद सूर निकट कै दूर।
> मंदर कौण कौण घरबार। आसण कौण कहाँ करतार॥
> अलख देव गति लखी न जाइ। दादू पूछै कहि समुझाइ॥

२. शब्द०; दादू; पद ३४३।

३. दि निर्गुण स्कूल आव हिन्दी पोएट्री; पी० डी० बड़थ्वाल; प्र० २, पृ० २८।

सप्त द्वीपों और नव खंडों में उसने दिन-रात की स्थापना की है और पृथ्वी के मध्य में सागर और सुमेरु की स्थापना की है। अष्ट-कुल पर्वतों की रचना उसने की है जिनके मध्य में नदियाँ प्रवाहित हैं। अनेक प्रकार की विविध वनस्पतियाँ फल-फूल रही हैं जिनपर समय-समय पर मेघ आकर वर्षा करते हैं।"[1] वस्तुतः यहाँ स्रष्टा प्रकृति के आश्रय से अपने ही गुणों को प्रसरित करता है। वह अपने से अलग-थलग सृष्टि का कर्त्ता नहीं है। आगे हम देखेंगे कि सूफ़ी प्रेममार्गियों से इस विषय में इनका मतभेद है।

प्रवहमान् प्रकृति—संतों ने संसार को क्षणिक माना है, परिवर्तनशील स्वीकार किया है। प्रकृति की परिवर्तनशीलता दार्शनिक चेतना की प्रेरक शक्ति रही है। आत्म-तत्त्व के स्थायित्व को स्वीकार करने के लिए भी यह एक आधार रहा है। हम पहले ही संकेत कर चुके हैं कि मध्ययुग के साधकों ने विचार-परम्परा से ही सत्य को ग्रहण किया है। यही कारण है कि वे विश्व-परिवर्तनों की ओर ध्यान रखते हुए भी उन-पर अधिक ठहर नहीं सके; और उन्होंने उसके परिवर्तन तथा उसकी क्षणिकता में आत्म-तत्त्व का संकेत नहीं दिया है। बात यह है कि इनके पूर्व ही अद्वैतवाद ने दृश्यमान् जगत् की क्षणिकता के साथ उसको अनुभव करनेवाली आत्मा को सत्य स्वीकार किया था। उपनिषद्-काल से यह सत्य दृश्यमान् प्रकृति के परे आत्म-तत्त्व के रूप में स्वीकृत चला आया है।[2] इस कारण संतों ने जीवन के विस्तार में ही अधिक परिवर्तन दिखाया है; उनके काव्य में प्रकृति की दृश्यात्मकता नहीं है। फिर भी प्रतीकात्मक कल्पना में प्रवहमान् प्रकृति का रूप यत्र-तत्र मिल जाता है। सुन्दरदास विश्व-सर्जन की कल्पना एक महान् वृक्ष के समान करते हैं। यह वृक्ष चिर नवीन है; इसमें एक ओर सघन फल-फूलों का बसंत है तो साथ ही झरते हुए पत्तों का पतझड़ भी है। ऐसे विश्व तरु की मूल अनन्त व्यापी काल में प्रसरित है। परन्तु परिवर्तन सत्य नहीं है, क्योंकि जो सत्य है वह शाश्वत भी है। शाश्वत का आरम्भ नहीं होता; जिसका

१. ग्रन्था० सुन्दर० ; गुन उत्पत्ति निसानी का पद। सर्जन के सम्बन्ध में सुन्दरदास में एक पद और मिलता है—'नटवर राच्यो नटेव एक' (राग रासभरी, पद ५), इसमें भी सोपाधि गुणात्मक सर्जन की बात कही गई है।

२. इंडियन फ़िलासफ़ी: एस० राधाकृष्णन् : (द्वि० भाग) अष्टं प्रक०, पृ० ५६२—"सत्य के आधार पर विचार करने पर, अनुभवों का संसार अपने रूपात्मक स्वभाव को प्रकट करता है। सभी विशेष वस्तुएँ और घटनाएँ जानने वाले मनस् के विरोध में वस्तु-रूप में स्थित हैं। जो कुछ ज्ञान का विषय है, सभी नाशवान् है। शंकर का मत है कि सत्य और भासमान्, तथ्य और द्रष्टा मनस (ज्ञाता) तथा दृश्य विषय (ज्ञेय) के सम रूप हैं। जब कि प्रत्यक्ष-बोध के विषय असत्य हैं; आत्मा जो द्रष्टा है और जो प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, सत्य है। (दि फ़िनामेनल्टी ऑव दि वर्ल्ड) : बृहदारण्यक (४।३।उ० (२—६) में जनक के पूछने पर याज्ञवल्क्य आत्म-प्रकाशित की ओर संकेत करते हैं।

आरम्भ और अन्त होता है वह शाश्वत सत्य नहीं हो सकता। इसलिए यह भ्रम है, माया है। सुन्दर कहते हैं—

मन ही के भ्रम तें जगत यह देखियत,
मन ही को भ्रम गये जगत बिलात है।

(सुन्द० ग्र०; चाण० अं०, २५)

यहाँ जगत् का अर्थ है सृष्टि, सर्जन।

आत्म-तत्त्व और ब्रह्म-तत्त्व का संकेत—(क) इस प्रवहमान् परिवर्तनशीलता के स्थायी आत्म-तत्त्व से परिचित होना ही सत्य ज्ञान है। सुन्दर प्रकृति-रूपक में इसी ओर संकेत करते हैं—'देखो और अनुभूति ग्रहण करो। प्रत्येक घट में आत्माराम ही तो निरन्तर बसंत खेलता है। यह कैसा विस्तार है जिसका अन्त ही नहीं आता। इस चार प्रकार के विस्तारवाली सृष्टि में चौरासी लाख जीव हैं। नभचारी, भूचारी तथा जलचारी अनेक रचनाएँ हुई हैं। पृथ्वी, आकाश, अग्नि, पवन और पानी ये पाँचों तत्त्व निरन्तर क्रियाशील हैं। चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र-मंडल, सभी देव-यक्ष आदि अनंत हैं। ये सब हैं, परन्तु इनका अस्तित्व क्षणिक है, परिवर्तनशील है। जैसे समुद्र में राशि-राशि फेन, असंख्य बुद्बुद् और असंख्य लहरें बनकर मिट जाती हैं, और तत्त्व-रूप तरुवर एक रस स्थिर है, पर पत्ते झर-झर पड़ते हैं। यह क्रीड़ा का प्रसार ज्यों का त्यों फैला हुआ है और अनन्त काल बीत चुका है। परन्तु सभी संत यह जानते हैं कि ब्रह्म का विलास ही अनन्त और अखंडित है।''[1] फिर जब क्षणिकता और प्रवहमान के परे आत्म-तत्त्व सन्निहित है जो ब्रह्म से बसंत खेलता है, तो निश्चय ही 'माया' को, 'अविद्या' को अलग करना होगा। सत्य की अनुभूति के लिए अविद्या को दूर करना आवश्यक है, ऐसा वेदान्त का मत भी है—'शंकर का मत है कि हम सत्य का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते, जब तक हम अविद्या के अधिकार में हैं जो विचार की तार्किक प्रणाली है। अविद्या आत्मानुभूति से पतन है, यह ससीम की मानसिक व्याधि है जो आध्यात्मिक सत्य को सहस्रों भाग में कर देती है। प्रकाश का छिपना ही अन्धकार है। डायसन जैसा कहते हैं, अविद्या ज्ञान की अदृश्यता है; मनस का वह घुमाव है जिससे वस्तुओं को दिक्-काल-कारण के माध्यम के अतिरिक्त देखना असम्भव हो जाता है।''[2] संत माया की सर्जनात्मक शक्ति का उल्लेख नहीं करते; परन्तु उसके अविद्या रूप को वेदान्त के समान ही स्वीकार करते हैं जो अपने आकर्षण से आत्मानुभूति से वंचित रखती है। दादू

---

१. अन्था०; सुन्द०: राग रामकली पद ६

२. इंडियन फिलासफी; एस० राधाकृष्णन्: प्रक० अर्द्ध—'अद्वैत वेदान्त'—'अविद्या'; पृ० ५७४—५।

प्रकृति-रूपक में उसी माया को, अविद्या को, जीव के बन्धन के रूप में चित्रित करते हैं :—

> मोह्यो मृग देखि बन अंधा, सूझत नहीं काल के कंधा।
> फल्यो फिरत सकल बन माहीं, सिर साधे सर सूझत नाहीं ॥[1]

यह काल का परिवर्तन ही है जो सभी को नष्ट करने के लिए तत्पर रहता है, और उसी की ओर दादू ध्यान ले जाना चाहते हैं। परिवर्तन पर विश्वास करने पर कोई आत्माराम को कैसे जान सकेगा। प्रकाश को छिपाना ही तो अंधकार है। दादू इसी प्रवहमान् प्रकृति को देख रहे हैं—'(जीवन—) रात्रि बीत चली, अब तो जागो (ज्ञान का प्रकाश ग्रहण करो), यह जन्म तो अंजलि में भरे पानी के समान ठहरेगा नहीं। फिर देखते नहीं यह अनंत काल घड़ी-घड़ी करके बीतता जाता है; और जो दिन जाता है वह कभी लौटता है ? सूर्य-चन्द्र भी दिन-दिन घटती आयु का स्मरण ही दिलाते हैं। सरोवर के पानी और तरुवर की छाया को देखो ! क्या होता है ? रात-दिन का यही तो चक्र है; यह प्रसरित काल काया को निगलता चला जाता है। हे हंस पथिक ! विश्व से प्रस्थान करने का समय उपस्थित है; और तुमने आत्माराम को पहिचाना ही नहीं।'[2] संतों के अनुसार सब जा रहा है, बदल रहा है और नष्ट हो रहा है। धरती, आकाश, नक्षत्र सभी तो इस प्रवाह में बहे जा रहे हैं। पर इस सब के पीछे एक है जो इस व्यापार-योजना को चलाता हुआ भी रहनशील है; जो सभी उपादानों के बिना भी रहता है—और वह है आत्माराम।[3] यहाँ यह संकेत कर देना आवश्यक है कि कबीर आदि सन्तों ने नाथ-पंथियों की भाँति ब्रह्म का रूप द्वैताद्वैतविलक्षण माना है। परन्तु संतों ने इसे निषेधात्मक 'कुछ नहीं' के अर्थ में ग्रहण नहीं किया है; उनके लिए तो यह परम-सत्य है। आगे प्रकृति के माध्यम से ब्रह्म निरूपण के प्रसंग में इसपर अधिक प्रकाश पड़ सकेगा।

आध्यात्मिक ब्रह्म की स्थापना—संत अपने सिद्धान्त के अनुसार अद्वैतवाद को स्वीकार करके नहीं चलते। वे अपने निर्गुण ब्रह्म को द्वैत तथा अद्वैत दोनों से परे मानते हैं, और इसी को द्वैताद्वैतविलक्षण कहा गया है। पर यह द्वैताद्वैतविलक्षण,

---

१. शब्दा: दादू; पद ३३।

२. वही : पद १५७।

३. वही : पद २२५ :—

> 'रहसी एक उपावण हारा, और चलसी सब संसारा।
> चलसी गगन धरणी सब चलसी, चलसी पवन अरु पाणी।
> चलसी चन्द सूर पुनि चलसी, चलसी सबै उपाणी।
> दादू देखु रहै अविनासी, और सबै घट बीना।'

भावाभावविनिर्मुक्त है क्या ? विचार करने से स्पष्टतः यह वेदान्त के अद्वैत की ब्रह्म-कल्पना के समान ठहरता है। उनका ऐसा विचार इसलिए रहा है कि इन्होंने नाथ-पंथी तर्क-शैली को अपनाया है और वे सत्-असत् के अभाव को स्वीकार करके चलने-वाली बौद्धों की शून्यवादी परम्परा से प्रभावित थे। इसके अतिरिक्त जब संत अद्वैत का विरोध करते हैं, तो वे उसे द्वैत का विपर्ययार्थी मान लेते हैं और इससे प्रकट होता है कि संत शंकर के अद्वैतवादी तर्कों से पूर्ण परिचित नहीं थे। इसके अतिरिक्त संत अनुभूति के विषय को तर्क के चक्कर में डालने के विरोधी हैं, यद्यपि इस विषय में शंकर के समान मौन वे स्वयं भी नहीं रहे हैं। इन संतों ने निर्गुणरूप में जिस ब्रह्म की स्थापना की है, वह तत्त्वतः अद्वैत के स्थापित ब्रह्म के समान है। केवल भेद यह है कि शंकर ने व्यावहारिक क्षेत्र के ईश्वर की स्वीकृति दी है और संतों ने इसकी कल्पना को अपनी ब्रह्म भावना के साथ मिला लिया है। वे दोनों में भेद मान कर नहीं चलते। कबीर प्रकृति की रूपाकार दृश्यमान् सीमाओं में उसीका उल्लेख करते हैं—'हे गोविन्द, तू एकान्त निरंजन रूप है। यह तेरी रूपाकार दृश्यमान् सीमाएँ और ये ज्ञात चिह्न कुछ भी तो नहीं—यह सब तो माया है। यह समुद्र का प्रसार, पर्वतों की तुंग श्रेणियाँ और पृथ्वी-आकाश का विस्तार क्या कुछ है ? यह सब कुछ नहीं है। तपता रवि और चमकता चन्द्र इन दोनों में कोई तो नहीं है, निरन्तर प्रवाहित पवन भी वास्तविक नहीं। नाद और बिन्दु जिनसे सर्जन कार्य चलता है; और काल के प्रसार में जो पदार्थों का निर्माण-कार्य चल रहा है, यह सब भी क्या सत्य है ? और जब यह प्रतिबिम्बमान् नहीं रहता, तब तू ही, रामराय रह जाता है।'[1]

सर्जना की अस्वीकृति तथा परावर—(क) कबीर के अनुसार ब्रह्म प्रकृति-तत्त्वों की नश्वरता के परे है। अद्वैत मत ब्रह्म को इसी प्रकार स्वीकार करता है। अगर ससीम मानव ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करले, तो या उसका ज्ञान और उसकी बुद्धि असीम है और या ब्रह्म ही ससीम है। प्रत्येक शब्द, जिसका प्रयोग किसी वस्तु के लिए किया जाता है, वह उस वस्तु का जाति, गुण, क्रिया अथवा स्थिति सम्बन्धी निश्चित ज्ञान का संकेत करता है। पर ब्रह्म इन सब प्रयोजनात्मक विभेदों से परे है, और प्रयोगात्मक स्थितियों के विरोध में है।[2] संतों ने इसी को व्यक्त करने के लिए प्रकृति-रूपों की निषेधात्मक व्यंजना की है, और यह उनके सहज के अनुरूप है। दादू के अनुसार—'यह समस्त अहं का विस्तार भ्रम की छाया है, सर्वत्र राम ही व्याप्त हो रहा है। यह सर्जन का समस्त विस्तार—धरणी और आकाश, पवन और प्रकाश, रवि-शशि और तारे सब इसी अहं

१. ग्रंथा०; कबीर; पद २१९
२. शंकर गीता-भाष्य; अध्य० १३;१२।

का पंच-तत्त्व रूप प्रसार है—माया की मरीचिका है।'[1] हम कह चुके हैं कि संत ब्रह्म को द्वैताद्वैतविलक्षण मानते हुए भी अभाव या शून्य के अर्थ में नहीं लेते। परन्तु वे निषेधात्मक रूप में ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। वस्तुतः जब उसे सत् और असत् दोनों में बाँधा नहीं जा सकता; तब यही कहा जा सकता है ब्रह्म क्या नहीं है, और जो वह नहीं है। वह स्थायित्व और परिवर्तन दोनों से परे है। वह तो न पूर्ण है, न ससीम है न असीम, क्योंकि यह सब अनुभवों के विरोधों पर ही आधारित है।[2] सुन्दरदास का ब्रह्म प्रकृति की सर्जनात्मक अतद्व्यावृत्ति में अपने को प्रकट करता है—

सोई है सोई है सोई है सब मैं।
कोई नहिं कोई नहिं कोई नहिं तब मैं॥
पृथ्वी नहिं जल नहिं तेज नहिं तन मैं।
बायु नहिं व्योम नहिं मन आदि मन मैं॥[3]

यहाँ अतद्व्यावृत्ति का अर्थ भारतीय तत्त्ववाद के अनुसार निषेधात्मकता से है। इसी प्रकार गुन-निर्गुन की बात को लेकर प्रकृति के तत्वों के निर्माण-कार्य को अस्वीकार करके रैदास भी परावर को स्थापना करते हैं—'पंडित, क्या कहा जाय, रहस्य खुलता नहीं और कोई समझाकर कहता नहीं। भाई, चंद और सूर सत्य नहीं, न रात-दिन ही; और न आकाश में उनका संचरण ही। वह न शीतल बायु है और न उष्ण-कठोर है। वह कर्म की व्याधि से भी अलग है। वह धूप और धूल से भरा हुआ आकाश भी नहीं है; और न पवन तथा पानी से आवृरित है। उसको लेकर गुन-निर्गुन का प्रश्न नहीं उठता। तुम्हारी बात का चातुर्य कहाँ है।'[4] इस समस्त अतद्व्यावृत्ति भाव के साथ संतों के लिए ब्रह्म-तत्त्व परावर सत्य और परम अनुभूति का विषय रहा है।

अज्ञात सीमा : निर्मल-तत्त्व—(ख) इस अतद्व्यावृत्ति में प्रकृति का समस्त रूप और क्रम विलीन हो जाता है। फिर संत अपने ब्रह्म की अज्ञात सीमा का निर्देश किए बिना नहीं रहता। दादू उसकी सीमा का उल्लेख प्रकृति की अदृश्य सीमा के परे करते हैं,—'वह निर्गुण अपनी विधि में निरंजन जैसा स्वयं में पूर्ण है। इस निर्मल-तत्त्व रूप ब्रह्म की न उत्पत्ति है और न कोई रूपाकार। न उसके जीव है और न

१. शब्दा०; दादू; पद ३१४।

२. इ० फि० : एस० आर० कृष्णन् : प्रक० ८ : पृ० ५३६ (नोट)—'उपनिषद् और साथ ही शंकर ब्रह्म के सत् और असत् दोनों ही रूपों को अस्वीकार करते हैं, जिनसे हम अनुभव के क्षेत्र में परिचित हैं।'

३. ग्रन्था०; सुन्द०; राग भैरव, पद ४।

४. बानी : रैदास ; पद ११।

शरीर। काल की सीमा और कर्म की शृंखला से वह मुक्त है। उसमें शीतलता और घाम का कोई विचार नहीं और न उसको लेकर धूप-छाया का ही प्रश्न उठता है। —जिसकी गति की सीमा पृथ्वी और आकाश के परे है; चन्द्र और सूर्य की पहुँच के जो बाहर है। रात्रि और दिवस का जिसमें कोई अस्तित्व नहीं है; पवन का प्रवेश भी जहाँ नहीं होता। कमलों की शारीरिक प्रक्रिया से वह मुक्त है, वह स्वयं में अकेला अगम निगम है; दूसरा कोई नहीं है।"[1] यहाँ हम देखते हैं कि प्रकृति के प्रसार से परे वर्णन करके भी दादू ब्रह्म को रूप दान करते हैं। दरिया साहब ब्रह्म की अतद्व्यावृत्ति भावना के साथ भी उसे कुछ ऐसे गुणों के माध्यम से व्यक्त करते हैं जिनको वे सगुणात्मक प्रकृति से परे समझते हैं। वे निर्गुण, गुणातीत को व्यक्तिगत साधना का विषय बनाते हैं; और उसके रूप की कल्पना धूप-छाँह से हीन वृक्ष के रूप में करते हैं। साथ ही अमृत फल और अनंत सुगन्ध की कल्पना भी उससे जोड़ते हैं।[2] वस्तुतः यह भी अरूप को रूप-दान ही है, असीम को सीमा में बाँधना ही है।

सर्वमय परम सत्य (ग)—पीछे कहा गया है कि कबीर ने ब्रह्म को इन्द्रियातीत और परावर माना है और सत्-असत् से परे स्वीकार किया है। परन्तु जब वे उसकी व्याख्या करते हैं तो उसे किसी सीमा में बाँधते हैं। वे अपनी प्रकृति-रूपक की शैली में ब्रह्म को परम रूप में स्वीकार करते हैं—'जिसने इस भासमान् जगत् की रचना केवल कहने-सुनने को की है, जग उसीको भूला हुआ पहिचान नहीं पाता। उसने सत्, रज, तम में माया का प्रसार कर अपने को छिपा रखा है। स्वयं तो वह आनन्द-स्वरूप है; और उसमें सुन्दर गुण-रूप पल्लवों का विस्तार फैला है। उसकी तत्त्व-रूप शाखाओं में ज्ञान-रूपी फूल है और राम नाम रूपी अच्छा फल लगा हुआ है। और यह जीव-चेतना रूपी पक्षी सदा ऐसा अचेत रहता है कि भूला हुआ है, उसका बास हरि-तरुवर पर है। हे जीव, तू संसार की माया में मत भूल, यह तो कहने-सुनने की भ्रमात्मक सृष्टि है।[3] रहस्यवादी की अनुभूति में ब्रह्म सत्य ऐसा ही लगता है। शंकर के अनुसार, इस सांसारिक नामरूप ज्ञान से परे होकर भी ब्रह्म रहस्यानुभूति प्राप्त करने वाले

---

१. शब्दा०; दादू; पद ६६।

२. शब्द; दरिया० (बिहार):—

"गुन बकसिही भ्रम नसिही, लखि हौ आपन पास हे।
अछै बिरिछ तँर लै बैठि हौ, तहँवा धूप न छाह रे॥
चाँद न सूरज दिवस नहि तहवाँ, नहि निसु होत बिहान रे।
अमृत फल मुख चाखन दैही, सेज सुगन्ध सुहाय रे॥"

३. क० ग्रंथा०; कबीर; सप्तपदी रमैणी से।

साधकों के लिए परम काम्य सत्य है।[1] रोडल्फ ओटो के अनुसार अतद्व्यावृत्ति की (निषेधात्मक) भावना बहुधा एक ऐसे अर्थ का प्रतीक बन जाती है जो एकान्त अकथनीय होकर भी उच्चतम अंशों में पूर्ण-रूप से निश्चयात्मक है।[2] इसी दृष्टि से संत साधक के लिए ब्रह्म सर्वमय होकर विश्व में प्रकृति-रूपों में दिखाई देने लगता है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म के प्रकाश से विश्व प्रकाशमान् हो उठता है और उसी की गति से गतिशील धरणीदास का निर्गुण ब्रह्म—'सकल विश्व में इस प्रकार व्याप्त हो रहा है, जैसे कमल जल के मध्य में सुशोभित हो। एक ही डोरा जैसे मणियों के बीच में व्याप्त रहता है; एक सरोवर में जैसे अनन्त हिलोरें उठती रहती हैं। एक भ्रमर जिस प्रकार सभी फूलों के पास गुंजन करता है। एक दीपक सारे घर को जैसे प्रकाशित करता है। ऐसे ही वह निरंजन सबके साथ है—क्या पशु-पक्षी और क्या कीट-पतंग।'[3]

विश्व-सर्जन की आरती—(घ) ब्रह्म की इसी व्यापक भावना को संतों ने आरती के प्रसंग में भी प्रस्तुत किया है। इन्होंने इस आरती का जिस प्रकार उल्लेख किया है, उसमें मानों विश्व-रूप प्रकृति ही ब्रह्म की चिरन्तन आरती के समान है। कभी प्रकृति के समस्त रूप उस आरती के उपकरण बन जाते हैं; और कभी समस्त प्रकृति रूपों में आरती की व्यापक भावना ब्रह्म की अभिव्यक्ति बन जाती है। किसी-किसी स्थल पर साधक अपने हृदय में नाम-साधना की आरती सजाता है, और अन्तर्मुखी साधना के उपकरणों की योजना में, आरती की कल्पना समग्र विश्व को प्रतिभासित करने वाले प्रकाश से उद्भासित हो उठती है। इस आरती की योजना से समस्त विश्व उस परमब्रह्म का प्रतिरूप हो जाता है।[4] यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि संतों ने इस प्रकार रूपकमयी व्यंजना तो की है; परन्तु प्रकृति के प्रसार में व्याप्त ब्रह्म-भावना की ओर उनका ध्यान नहीं है। वे तो अन्तर्मुखी साधना और अनुभूति पर विश्वास रखकर चलते हैं। प्रकृतिवादी दृष्टि से उनका यह अन्तर है। यही कारण है

---

१. शंकरभाष्य छान्दो० उ० (८।१।१)—'दिग्देशगुणगतिफलभेदशून्यं हि परमार्थसद् अद्वैतम् ब्रह्म मन्दबुद्धिनाम् असद् इव प्रतिभाति।'

२. दि आइडिया ऑव दि होली; रोडल्फ ओटो; पृ० १८६।

३. बानी धरनीदास; बोधलीला से।

४. शब्द०; तुलसी०: आरती; बानी०; मलूक०; आरती० अंग ४ और बानी: गरीब०; आरती से—

"ऐसी आरति त्रिभुवन तारै। तेज पुंज तहँ प्रान उतारै॥"

"ऐसी आरति हियो लखाई। परखो जोति अधर फहराई।
धरती अंबर उदित प्रकासा। तापर सूर करै परकासा॥" (मलूक०)
"नूर के दीप नूर के चौरा। नूर के पुहुप नूर के भौंरा।
नूर की झाँझ नूर की माला। नूर के संख नूर की झालर॥" (गरीब०)

कि संतों के इन वर्णनों में प्रकृति-रूप का संकेत भर है; उनमें सौन्दर्य-योजना का अभाव है।

आत्मा और ब्रह्म का सम्बन्ध—शारीरिक बन्धन में आत्मा जीव है। आत्मा और ब्रह्म जीव और ईश के सम्बन्ध की सीमा ही आध्यात्मिक साधना की माप है। इस कारण यहाँ देखना है कि संतों ने आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए प्रकृति का माध्यम कहाँ तक स्वीकार किया है। विचार किया गया है कि संतों को आत्मा और ब्रह्म की अद्वैत-भावना की अनुभूति, उपनिषद्-कालीन ऋषियों की भाँति जीवन और जगत् से न मिल कर, विचार और परम्परा के आधार पर ही अधिक हुई है। इन्होंने ब्रह्म ज्ञान के लिए आत्मानुभूति को स्वीकार किया है। इस प्रकार इनके लिए प्रकृति का कोई महत्व नहीं है। केवल जब इन्होंने अपनी आत्मानुभूति को व्यक्त करने के लिए माध्यम स्वीकार किया है उस समय ब्रह्म और जीव की एकात्मकता के लिए प्रकृति के उपमानों और रूपकों की योजना की है। इस एकात्म और अद्वैत भावना का संकेत पिछले रूपों में मिल चुका है। संत साधक इस 'एकमेक' की भावना में ब्रह्म को परम-सत्य और आत्म तत्त्व के रूप में उपस्थित करता है। कबीर नश्वर प्रकृति में ब्रह्म की समस्त अतद्व्यावृत्ति भावना के साथ भी उसे आत्मानुभूत सत्य स्वीकार करते हैं—'संतो, त्रिगुणात्मक आधार के नष्ट होने पर यह जीव कहाँ स्थिर होता है ? कोई नहीं समझाता। शरीर, ब्रह्माण्ड, तत्व आदि समस्त सृष्टि के साथ सृष्टा भी नश्वर है; उसका भी अस्तित्व सिद्ध नहीं। रचना के अनस्तित्व के साथ रचयिता का प्रश्न भी व्यर्थ है। परन्तु संतो, बात यह है कि प्राणों की प्रतीति जो सदा साथ रहती है, इसी आत्म-तत्व में सभी गुणों का तिरोभाव हो जाता है। इसी आत्म-तत्व के द्वारा गुणों और तत्वों के सर्जन तथा विनाश का क्रम चलता है।'[1] कबीर यहाँ जिस आत्म-तत्व को 'प्राणों की प्रतीति' के रूप में स्वीकार करते हैं; वह शंकर के अद्वैत की ब्रह्म और जीव विषयक एकरूपता है।

भौतिक-तत्वों के माध्यम से—संत-साधक पंच तत्वों के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं; परन्तु जीव और ब्रह्म का एकात्म भावना को व्यक्त करने के लिए वे उनको रूपकों में ग्रहण कर लेते हैं। कबीर को अपनी अभिव्यक्ति में जल-तत्व का आश्रय लेना पड़ता है—

पाणी ही तै हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछू कह्या न जाइ॥[2]

---

१. ग्रंथ० ; कबीर : पद ३२।

२. वही; परचा० अं० १७, अन्यत्र कबीर कहते हैं—
"ज्यूं जल मैं जल पैसि न निकसै कहै कबीर मन माना।" (पद २६२)

इसी आत्म-तत्व और ब्रह्म-तत्व के द्वयात्मक भेद को प्रकट करने के लिए, तथा उनके अन्ततः अभेद को प्रस्तुत करने के लिए, कबीर अद्वैत वेदान्त के प्रचलित रूपक को अपनाते हैं,—

जल में कुंभ कुंभ में जल, बाहरि भीतरि पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यहु तत कथौ गियानी॥[1]

इसी प्रकार आकाश-तत्व से कबीर इसी सत्य का संकेत करते हैं—'आकाश, पाताल तथा समस्त दिशाएँ गगन से आपूरित है; समस्त सर्जन और सृष्टि गगनमय है। परमेश्वर तो आनन्दमय है; घट के नष्ट होने से आकाश तो रह जाता है।'[2] ब्रह्म की कल्पना में यहाँ आनन्द का आरोप साधक की अपनी एकात्म भावना का रूप है। दादू की कल्पना जल और आकाश दोनों तत्वों का आधार ग्रहण करती है—'जल में गगन का विस्तार है और गगन में जल का प्रसार है; फिर तो एक की ही व्याप्ति समझो।'[3] परन्तु यह भी स्पष्ट है कि इस मिलन के भाव को प्रकट करने के लिए संत ऐसा लिखते हैं। वैसे वे इन समस्त तत्व-गुणों के नष्ट हो जाने पर ही मिलन को मानते हैं।

परम-तत्व रूप—(ख) इस प्रकार संत तत्वों से परे मानकर भी जीव और ब्रह्म को एक स्वीकार करते हैं। इस एकता को व्यक्त करके के लिए दादू तेज-तत्व की कल्पना करते हैं, हम पीछे निर्मल तत्व का उल्लेख भी कर चुके हैं—

ज्यों रवि एक अकास है, ऐसे सकल भरपूर।
दादू तेज अनंत है, अल्लह आले नूर।[4]

परन्तु वस्तुतः मिलन जभी होगा—जब इन सब तत्वों से, इन समस्त द्वयात्मक गुणों से जीव छूट जायगा और उसको उसी समय सहज रूप से प्राप्त कर सकेगा। 'पृथ्वी और आकाश, पवन और पानी का जब अस्तित्व निलय हो जायगा; और नक्षत्रों का लोप हो जायगा उस समय हरि और भक्त ही रह जायगा।'[5] यहाँ 'जन' की स्वीकृति अद्वैत की विरोधी भावना नहीं मानी जा सकती और तत्वों की अस्वीकृति अभावात्मक भी नहीं कही जा सकती। साधारणतः संतों ने आध्यात्मिक क्षेत्र में जीव और ब्रह्म की 'एकमेक' भावना को प्रकट करने के लिए व्यापक प्रकृति-तत्वों का आश्रय लिया है

१. वही; पद ४५ और अन्यत्र लौ० अं०; सं० ७१,७२ बूँद और समुद्र।
२. वही; पद ४४।
३. शब्दा; दादू; वि० अं० से।
४. वही; तेज० अं०; पद ८६।
५. ग्रन्था०; कबीर; पद० २६।

और इन सब के साथ साधक का अपने आराध्य के प्रति विश्वास बना है जिसे हम अभावात्मक सत्य की सीमा तो निश्चय ही नहीं मान सकते। कुछ संत अपने अद्वैत सिद्धान्त में ब्रह्म को 'चिदानन्दघन' कहते हैं; और इससे इनके समन्वयवादी मत का ही संकेत मिलता है।[1] फिर भी वे एक ही अनुभूत सत्य की बात कहते हैं।

भावाभिव्यक्ति में प्रकृति-रूप—अभी तक संतों के आध्यात्मिक विचारों की अभिव्यक्ति के विषय में कहा गया है। अब देखना है कि संत-साधकों ने अपनी अनुभूति को व्यक्त करने के लिए प्रकृति-रूपकों का माध्यम किस सीमा तक स्वीकार किया है। संतों की अन्तर्मुखी साधना में अलौकिक अनुभूति का स्थान है। और उसीकी व्यंजना के लिए प्रकृति-रूपों का आश्रय लिया गया है। परन्तु ये चित्र तथा रूपक इस प्रकार विचित्र और अलौकिक हो उठे हैं कि इनमें सहज सुन्दर प्रकृति का आधार किस प्रकार है यह समझना सरल नहीं है। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि इन संतों पर नाथ-पंथी योगियों तथा सिद्ध साधकों का प्रभाव अवश्य था। इन्होंने उनके बाह्याचारों के प्रति विद्रोह किया है; परन्तु इनकी साधना का एक रूप यह भी था। इस कारण संतों की अभिव्यक्ति पर इस परम्परा के प्रतीकों का प्रभाव है। व्यापक दृष्टिकोण के कारण इनकी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में रूढ़ि के स्थान पर व्यापक योजना मिलती है; फिर भी अभिव्यक्ति का आधार और उसकी शब्दावली वैसी ही है। पहले यह देखना है कि संतों ने अपनी प्रेम-साधना को प्रकृति के माध्यम से किस प्रकार स्थापित किया है। इसी आधार पर हम आगे देख सकेंगे कि किस सीमा तक इनके प्रकृति-रूपक सिद्धों और योगियों की साधना परम्परा से ग्रहीत हैं और किस सीमा तक ये प्रेम-व्यंजना के लिए स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त हुए हैं।

प्रेम की व्यंजना—(क) संत-साधकों के प्रेम की व्याख्या सम्बन्धी रूपक योगियों के प्रतीकों से लिए गए हैं। परन्तु संत सहज की स्वीकृति मानकर चलता है; इस कारण इन रूपकों में प्रकृति के विस्तार के माध्यम से अर्थ ग्रहण करके ही प्रेम की व्यंजना की गई है। साथ ही इन्होंने प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए स्वतन्त्रतापूर्वक अन्य रूपों को भी चुना है। कबीर 'प्रेम को हृदय-स्थित कमल मानते हैं जिसमें सुगन्धि ब्रह्म की स्थिति है; और मन-भ्रमर जब उससे आकर्षित होकर खिच जाता है, तो उस प्रेम को कम लोग ही जानते हैं।'[2] कमल को लेकर ही कबीर प्रेम की व्याख्या अन्यत्र भी

१. ग्रन्था०; सुन्दर० ; ज्ञान समुद्र—'है चिदानन्दघन ब्रह्म तू सोई।
देह संयोग जीवत्व भ्रम होई॥'

२. ग्रंथा०, कबीर : पर० अं० ७। दादू भी इसी प्रकार कहते हैं—
"सुख सरोवर मन भ्रमर, तहाँ कवल करतार।
दादू परिमल पीजिए, सम्मुख सिरजन हार॥" (पर० अं०)

करते हैं—'निर्मल प्रेम के उगने से कमल प्रकाशित हो गया; अनन्त प्रकाश के प्रकट होने से रात्रि का अन्धकार नष्ट हो गया।'[1] संत-साधक को यौगिक अनुभूति की क्षणिकता को लेकर अविश्वास है। 'इंगला-पिंगला' और 'अष्ट कमलों' के चक्कर में भी वह नहीं पड़ता।[2] परन्तु साधक कमलों के माध्यम से प्रेम की सुन्दर व्याख्या करता है। कबीर कमलिनी रूपी आत्मा से कहते हैं—हे कमलिनी, तू संकोचशील क्यों है, यह जल तेरे लिए ही तो है। इसी जल में तेरी उत्पत्ति हुई है और इसीमें तेरा निवास है। जल का तल न तो संतप्त हो सकता है; और न उसमें ऊपर से आग ही लग सकती है। हे नलिनी, तुम्हारा मन किस ओर आकर्षित हो गया है।[3] इसमें आत्मा के ब्रह्म-संयोग के साथ प्रेम का रूप भी उपस्थित हुआ है। संतों की प्रेम-साधना में कोमल कल्पना के लिए स्थान रहा है। इन्होंने हंस और सरोवर के माध्यम से प्रेम तथा संयोग की अभिव्यक्ति की है। इन समासोक्तियों और रूपकों में प्रेम सम्बन्धी सत्यों और स्थितियों का उल्लेख है; साथ ही प्रेम की अनुभूति की व्यञ्जना भी सुन्दर हुई है—'सरोवर के मध्य, निर्मल जल में हंस केलि करता है; और वह निर्भय होकर मुक्ता-समूह चुगता है। अनन्त सरोवर के मध्य जिसमें अथाह जल है हंस संतरण करता है—उसने निर्भय अपना घर पा लिया है, फिर वह उड़कर कहीं नहीं जाता।'[4] दादू इस प्रकार अनन्त ब्रह्म में जीवात्मा की प्रेम-केलि की ओर संकेत करते हैं। कबीर भी पूछ उठते हैं कि हंस सरोवर छोड़कर जायगा कहाँ। इस बार बिछुड़ जाने पर पता नहीं कब मिलना हो। इस अनन्त सागर में क्रीड़ा की अनुभूति पाकर हंस अन्यत्र जायगा नहीं—प्रेम की अनुभूति का आकर्षण ऐसा ही है—

मान सरोवर सुभग जल, हंसा केलि कराहि।
मुक्ताहल मुकता चुगै, अब उड़ि अनत न जाहि॥[5]

शांत भावना—(ख) संतों ने प्रेम को समस्त आवेग में भी शांत और शीतल माना है। उनकी प्रेम-व्यञ्जना में सांसारिक जलन आदि का समावेश नहीं है। इसी

१. वही; पर० अं० ४५।

२. शब्द०; कबीर से—"अवधू, अच्छरहू सों न्यारा।
इंगला बिनसै पिंगला बिनसै, बिनसै सुषमनि नाड़ी।
जब उनमनि तारी टूटै, तब कहँ रही तुम्हारी॥"

३. ग्रंथा०; कबीर।

४. बानी०; दादू; पद ६८।

५. बीजक; कबीर; रमैनी १५—"हंसा प्यारे सरवर तजि कहाँ जाय।
जेहि सरवर बिच मोतिया चुगत हो ता बहुबिधि केलि कराय॥"
तथा ग्रंथा०; कबीर०; पर० अं० ३६।

कारण प्रेम की स्थिति को संत-साधक बादल के रूपक में प्रस्तुत करते हैं। बादल के उमड़ते विस्तार में, उसकी घुमड़ती गर्जना में पृथ्वी के वनस्पति-जगत् को हरा-भरा करने की भावना ही सन्निहित है। कबीर बताते हैं—'गुरु ने प्रसन्न होकर एक ऐसा प्रसंग सुनाया, जिससे प्रेम का बादल बरस पड़ा और शरीर के सभी अंग उससे भीग गए।...प्रेम का बादल इस प्रकार बरस गया है कि अन्तर में आत्मा भी आह्लादित हो उठी और समस्त वनराजि हरी-भरी हो गई।'[1] इन संत-साधकों में प्रेम की व्याख्या कबीर में मिलती है और दादू प्रेम की अनुभूति को व्यक्त करने में सर्वश्रेष्ठ हैं। इन्होंने प्रेम की व्यञ्जना करने में प्रकृति के व्यापक क्षेत्र से रूपक चुने हैं। दादू अपने प्रेम का आदर्श, चातक, मीन तथा कुरल पक्षी आदि के माध्यम से उपस्थित करते हैं। 'विरहिणी कुरल पक्षी की भाँति कूकती है और दिन-रात तलफ कर व्यतीत करती है और इस प्रकार राम प्रेमी के कारण रात जागकर व्यतीत करती है। प्रिय राम के बिछोह में विरहिणी मीन के समान व्याकुल है, और उसका मिलन नहीं होता। क्या तुमको दया नहीं आती। जिस प्रकार चातक के चित्त में जल बसा रहता है, जैसे पानी के बिना मीन व्याकुल हो जाती है और जिस प्रकार चंद-चकोर की गति है; उसी प्रकार की गति हरि ने अपने वियोग में दादू की कर दी है।...प्रेम लहर की पालकी पर आत्मा जो प्रिय के साथ क्रीड़ा करती है, उसका सुख अकथनीय है। यह प्रेम की लहर तो प्रियतम के पास पकड़कर ले जाती है और आत्मा अपने सुन्दर प्रिय के साथ विलास करती है।'[2] इस प्रकार प्रेम की व्यापक साधना, उसका उल्लास, उसकी तन्मयता और एकनिष्ठा आदि का उल्लेख संतों ने प्रकृति के व्यापक क्षेत्र से चुने हुए प्रचलित रूपकों के आधार पर किया है। जैसा हम देखते हैं इस क्षेत्र में अन्य संतों का योग कम है। दादू की प्रेम-व्यञ्जना ने प्रकृति का अधिक आश्रय लिया है और ये रूढ़ियों से भी अधिक मुक्त हैं।

रहस्यानुभूति व्यञ्जना—हम कह चुके हैं कि संतों ने यौगिक परम्परा को साधना का प्रमुख रूप नहीं स्वीकार किया है। इस कारण योगियों की समाधि और लय सम्बन्धी अनुभूतियों को संत-साधक एक सीमा तक ही स्वीकार करते हैं। वस्तुतः योगियों की साधना रहस्यात्मक ही है जिसमें वह आत्मानुभूति द्वारा ब्रह्मानुभूति प्राप्त करता है। परन्तु मानव के ज्ञान की शक्ति परिमित है, उसके बोध की सीमाएँ बंधी हुई हैं। इस कारण अपनी अनुभूति के व्यक्तीकरण में योगियों को भी भौतिक जगत् का आधार लेना पड़ता है, यद्यपि ये अनुभव ज्ञान को इससे ऊपर की स्थिति मानते हैं। ससीम कल्पना मानवीय विचार और मानवीय अभिव्यक्ति से अलग नहीं की जा सकती

१. शब्दा०; दादू० ; वि० अं०, पर० अं०, सु० अं० से।

२. वही०; गुरु० अं० २६, ३४।

और इस कारण आध्यात्मिक अनुभव का सीधा वर्णन नहीं हो सकता। यह सदा ही रूपात्मक और व्यंजनात्मक होगा।[1]

तत्त्वों से सम्बन्धित व्यंजना—(क) जिस अन्तर्साक्ष्य की बात ये योगी करते हैं, उसमें भौतिक तत्त्वों का ही आश्रय लिया गया है। इसीके आधार पर सृष्टि-कल्पना में शिव और शक्ति, नाद और बिन्दु की योजना की गई है। योगी अपनी अनुभूति के क्षणों में नाद (स्फोट) का आधार ग्रहण किए रहता है और उससे उत्पन्न प्रकाश का ध्यान करता है। शिव और शक्ति की क्रिया-प्रतिक्रिया से उत्पन्न जो अनाहत नाद समग्र विश्व और निखिल ब्रह्मांड में व्याप्त हो रहा है, उसको यह बहिर्मुखी जीव नहीं सुन पाता। परन्तु योगियों के अनुसार साधना द्वारा सुषुम्ना का पथ उन्मुक्त हो जाने पर यह ध्वनि सुनाई देने लगती है। वस्तुतः भौतिक तत्त्वों में ध्वनि सब से अधिक सूक्ष्म तत्त्व है और इसी कारण अन्तर्मुखी साधना में उसका उतना महत्त्व स्वीकार किया गया है और उसको ब्रह्मानुभूति के समकक्ष स्थान दिया गया है। इसके बाद बिन्दुरूप प्रकाश का स्थान आता है। शब्द-तत्त्व पर स्फोट को अखण्ड सत्ता के रूप में ब्रह्म-तत्त्व मानने का कारण भी यही है। योगियों ने स्वर या नाद को विभिन्न प्रकार से विभाजित किया है—

> **आदौ जलधि-जीमूत-भेरी-झर्झर-संभवाः।**
> **मध्ये मर्दल-शंखोत्था: घंटा-काहलजास्तथा॥**
> **अन्ते तु किंकणी-वंश-वीणा-भ्रमरनिस्वनाः।**
> **इति नानाविधाः शब्दाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः।**[2]

हठयोग के नाद-बिन्दु को संत-साधकों ने ग्रहण किया है, परन्तु इनके अनुभूति चित्र स्वतंत्र हैं। योगियों ने ध्वनि और प्रकाश की व्यापक भावना का आधार ग्रहण किया है और इस कारण अपनी अभिव्यक्ति में भौतिक तत्त्वों और इन्द्रियों से ऊपर नहीं उठ सके हैं। संत-साधक ध्वनि-प्रकाश को व्यापक आधार प्रकृति-चित्रों की गम्भीरता में देते हैं, साथ ही इनको अन्तिम नहीं स्वीकार करते। दादू की प्रकाशमयी सुन्दरी का पति भी प्रकाशमय है और उनका मिलन स्थल भी प्रकाशमान् हो रहा

१. मिस्टीसिज्म: इवलीन अन्डरहिल ; पृ० १५०-१।

२. हठ०: ४।८४, ८५ : सुन्दरदास अपने 'ज्ञान-समुद्र' के अन्तर्गत इनको इस प्रकार विभाजित करते हैं—(१) शंख (३) मृदंग (४) ताल (५) घंटा वीणा (७) भेरि (८) दुंदुभी (९) समुद्र (१०) मेघ : चरणदास 'ज्ञान स्वरोदय' वर्णन के अन्तर्गत (१) भ्रमर (२) घुंघुरू (३) शंख (४) घंटा (५) ताल (६) मुरली (७) भेरि (८) मृदंग (९) नफीरी (१०) सिंह : 'हंसनाद उपनिषद्' में (१) चिड़िया (२) चोल्ह (३) क्षुद्रघंटिका (४) शंख (५) बीन (६) ताल (७) मुरली (८) मृदंग (९) नफीरी (१०) बादर की ध्वनि।

है। वहाँ पर अनुपम बसंत का शृंगार हो रहा है।'[1]

इन्द्रिय-प्रत्यक्षों का संयोग—(ख) संतों की रहस्याभिव्यक्ति नाद और प्रकाश के माध्यम से कम हुई है; परन्तु जब अनुभूति अलौकिक प्रकृति-रूपों में उपस्थित होती है तो उस समय इनका योग हो जाता है। अपनी अभिव्यक्ति में उन्मुक्त होने के कारण संतों की अनुभूति में नाद से अधिक प्रकाश और इन दोनों से अधिक स्पर्श का आनन्द छिपा हुआ है। यही कारण है कि साधक बादल की गरज और बिजली की चमक से अधिक वर्षा की शीतलता का अनुभव कर रहा है। वस्तुतः संत-साधक की अन्तर्मुखी साधना आँख बन्द करने और प्राण-वायु को केन्द्रित करने पर विश्वास लेकर नहीं चलती; वह तो जीवन के प्रवाह से सहज-सम ही उपस्थित करना चाहती है। इसीके फलस्वरूप इनकी अनुभूति के अलौकिक प्रकृति-चित्रों में इन्द्रिय-बोधों का स्वतन्त्र हाथ रहा है। कबीर अपनी अनुभूति में गरज और चमक के साथ भीजने का आनन्द अधिक ले रहे हैं—

गगन गरजि मघ जाइये, तहाँ दीसै तार अनंत रे।
बिजुरी चमकै घन बरषि है, तहाँ भीजत हैं सब संत रे॥[2]

दादू भी जहाँ बादल नहीं है वहाँ झिलमिलाते बादलों को देख रहे हैं। जहाँ वातावरण निःशब्द है वहाँ गरजन सुन रहे हैं। जहाँ बिजली नहीं है वहाँ अलौकिक चमक देख हैं और इस प्रकार परमानन्द को प्राप्त कर रहे हैं। परन्तु वे अत्यन्त तेजपुंज प्रकाश में ज्योति के चमकने और झलमलाने के साथ आकाश की अमरबेलि से झरने वाले अमृत के स्वाद की कल्पना नहीं भूलते।[3] संतों में आनन्दानुभूति के साथ विभिन्न इन्द्रिय-प्रत्यक्षों का संयोग मिलता है, अधिकांश में वर्षा की अनुभूति के साथ स्पर्श-गुण का उल्लेख है। मलूकदास की 'सहज-समाधि लग जाने पर अनहद तूर्य बज रहा है, अनुभूति की अनंत लहरें उठती हैं और मोती की चमक जैसा कुछ बरस रहा है···वह ऐसी जगमगाती ज्योति को गगन-गुफा में बैठकर देख रहा है।'[4] यहाँ लहर और बरसने का भाव दोनों ही स्पर्श की अनुभूति की ओर संकेत करते हैं। कभी-कभी इन चित्रों की कल्पना के साथ अनुभूति अधिक व्यक्त हो उठती है और ऐसे स्थलों पर जैसे साधक का साथ कवि देता है। बुल्ला देखते हैं—'काली काली घटाएँ चारों दिशाओं से उमड़ती-घुमड़ती घेरती आ रही हैं, आकाश-मंडल अनाहत शब्द से व्याप्त हो रहा है। दामिनी जो चमक कर प्रकाशमान् हो उठी तो

---

१. बा०; दादू; तेज० अं० से।
२. ग्रन्थ०; कबीर०; पद ४।
३. बानी० दादू : ते० अंग से।
४. बानी०; मलूक०; शब्द १३।

ऐसा लगा त्रिवेणी स्नान हो रहा है। मन इस आनन्द की कल्पना में मग्न है।'[1] बिहार-वाले दरिया साहब योगियों की प्रतीक पद्धति पर अपनी कल्पना पूरी करते हैं—'यदि आत्मा उलट कर भँवर गुफा में प्रवेश कर सके तो चारों ओर जगमग ज्योति प्रकाश-मान् है। सुष्मना के आधार पर प्राणों को ऊपर खींचने पर, अनन्त बिजलियाँ और मोतियों का प्रकाश दिखाई पड़ता है''''अनुभूति के क्षणों में अमृत कमल अमृत-धार की वर्षा कर रहा है।'[2] यह कल्पना का आधिभौतिक के अलौकिक रूपों के निकट का चित्र है; परन्तु इसमें अनुभूति-जन्य प्रकाश और वर्षा का ही उल्लेख किया गया है।

हम प्रथम भाग में इस बात की ओर संकेत कर चुके हैं कि मानव और प्रकृति में एक अनुरूपता है और रंग-प्रकाश, नाद-ध्वनि का प्रभाव भी इन्द्रियों के लिए एक सीमा तक सुखकर है। अब यदि समझना चाहें तो देख सकते हैं कि रहस्यवादी संत-साधक अपनी अन्तःसाधना में, इन्हीं नाद और प्रकाश आदि की गम्भीर अनुभूतियों का, बाह्य वस्तु-परक आधार ग्रहण कर अपने मानसिक सम पर आनन्द रूप में प्रत्यक्षानुभूति करता है। यही कारण है कि इन अन्तर्मुखी साधकों ने प्रकाश तथा ध्वनि आदि अनुभूतियों के लिए बाह्य आधारों की आवश्यकता नहीं मानी। साथ ही यह स्मरण रखना चाहिए कि संत इन अनुभूतियों को अन्तिम नहीं मानते। यह भौतिक आधार अपनी व्याप्ति और गम्भीरता में भी क्षणिक है। जबकि आत्मा और ब्रह्म में तात्त्विक भेद ही नहीं स्वीकार किया जाता, ये प्रकाशानुभूतियाँ आदि तो आध्यात्मिक सत्य की वस्तु-परक आधार मात्र हैं। वस्तुतः रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति अपने प्रत्येक स्तर पर इस प्रकाशानुभूति से सम्बन्धित है। हिन्दी के संत-साधकों ने प्रकृति का यथार्थ आधार स्वीकार नहीं किया; परन्तु उसके माध्यम से जो ब्रह्मानुभूति की अभि-व्यक्ति की है, वह सहज प्रकाशानुभूति का रूप स्वीकार की जा सकती है।[3]

आधिभौतिक और अलौकिक रूप (ग)—इसीको जब संत-साधकों ने अधिक व्यक्त करना चाहा है तो वह आधिभौतिक और अलौकिक रूप धारण करता है। इन्होंने अपने चित्रों में योगियों के रूपकों से शब्द अवश्य लिए हैं, परन्तु इनमें नाद तथा ध्वनि

---

१. शब्द०; बुल्ला०; अरि छं० ३।

२. शब्द०; दरिया (बि०); बसंत २ : गरीबदास ने अपनी बानी में इसी प्रकार का अनुभूति-चित्र दिया है,—

> दुक उलट चसमैं सिंध मैं, झलकै झलावंत जोर वे।
> अजब रास बिलास बानी, चंद सूर करोर वे॥
> अजब नूर जहूर जोती, झिलमिलै झलकंत वे।
> हाजिर बनाव गरीब है, जँह देख आदि न अंत है॥ (बैत ३)

३. मिस्टिसिज्म : इवीलेन अन्डरहिल—'दि इल्यूमिनेशन आव दि सेल्फ', पृ० २८२।

के साथ रूप की दृश्यात्मकता अधिक प्रत्यक्ष हो उठी है। साथ ही इन्होंने अपने आनन्दोल्लास का भी संयोग इनके साथ उपस्थित किया है। इसका कारण है कि संत-साधना प्रेम के आधार पर है। उपनिषद्-कालीन रहस्यवादी के सामने दृश्यात्मक अनुभूति प्रत्यक्ष हो सकी थी और इसका कारण भी उनकी जगत् के प्रति जागरूकता है।[२] ये अलौकिक रूप भौतिक-जगत् को अस्वीकार करके आन्तरिक अनुभूति में प्राप्त हुए हैं, इसीलिए इनमें दृश्य-जगत् का आधार होकर भी उसका सत्य नहीं है। दृश्य-जगत् भ्रामक है, इसको अन्ततः सत्य नहीं स्वीकार किया जा सकता। यह तो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के आधार पर प्राप्त बोध मात्र है। इस विषय में प्रथम भाग के प्रथम प्रकरण में संकेत किया गया है। यही कारण है कि रहस्यवादी अपनी अन्तर्दृष्टि से अलौकिक आधिभौतिक रूपों की कल्पना करता है। ऐसी स्थिति में वह इन्द्रिय बोध की सीमा को पार करने लगता है और अलौकिक सत्यों का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करता है। परन्तु इससे इसको असत्य नहीं कह सकते, क्योंकि जानते हैं कि हमारा ज्ञान स्वयं सीमित है।[१]

विश्वात्मा की कल्पना—हम कह चुके हैं कि संत-साधक दृश्यमान जगत् को सत्य मानकर नहीं चलता और इसलिए ब्रह्म की व्यापक विश्व-भावना में अपनी अभिव्यक्ति का सामञ्जस्य भी ढूंढता चलता है। परन्तु संतों की सहज-भावना सीमा बनाकर नहीं चलती, उसमें विश्व की बाह्य रूपात्मकता की स्वीकृति भी मिल जाती है। ये साधक अलौकिक अनुभूति के क्षणों में भौतिक-जगत् का आश्रय तो लेते ही हैं, पर प्रकृति-सर्जना के विस्तार में विश्वात्मा को पाकर आह्लादित भी हुए हैं। पर इस प्रकार की कल्पना दादू जैसे प्रेमी साधक में ही मिलती है—'उस ब्रह्म से समस्त विश्व पूर्ण है—प्रकाशमान् सत्य उद्भासित होकर धारण कर रहा है—समस्त असुन्दर नष्ट होकर ईशमय हो रहा है। वह समस्त विश्व में सुशोभित है और सबमें छाया हुआ है। धरती-अम्बर उसीके आधार पर स्थिर हैं—चन्द्र-सूर्य उसकी सुध ले रहे हैं; पवन में वही प्रवहमान् है। पिंडों का निर्माण और तिरोभाव करता हुआ वह अपनी माया में सुशोभित है। जिधर देखो आप ही तो है, जहां देखो आप ही छाया हुआ है—उसको तो अगम ही पाया। रस में वह रूप होकर व्याप्त है, रस में वह अमृत रूप रसमय हो रहा है। प्रकाशमान् वह प्रकाशित हो रहा है; तेज में वह तेजरूप होकर व्याप्त हो रहा है।'[३] यह अनुभूति का रूप व्यापक प्रकृति में विराट्-रूप की योजना के समान है।

अतीत की भावना—संत-साधक अपनी समस्त अलौकिक अनुभूति में इस बात

१. कॉ० स० उ० फ़ि० : आर० डी० रानाडे; 'मिस्टिसिज्म', पृ० २४३।

२. मिस्टिसिज्मः इवीलिन अन्डरहिल : 'दि टर्निंग प्वाइन्ट' से।

३. बानी०; दादू० ; पद २३६।

के प्रति सचेष्ट है कि वह जिस अनुभूति की बात कर रहा है, वह अतीन्द्रिय जगत् से सम्बन्धित है। इस क्षेत्र में साधक प्रकृति के भौतिक प्रत्यक्षों को अस्वीकार करके अपनी अनुभूति को व्यक्त करने का प्रयास करता है। दादू अपनी अनुभूति में—'जहाँ सूर्य नहीं है वहाँ प्रकाशमान् सूर्य देखते हैं, जहाँ चन्द्रमा का अस्तित्व नहीं है वहाँ उसे चमकते पाते हैं—तारे जहाँ विलीन हो चुके हैं वहीं उन्हीं के समान कुछ झिलमिलाता है। यह वे आनन्द से उल्लसित होकर ही देख रहे हैं।''[1] 'एकमेक' की भावना को ही पूर्ण सत्य माननेवाले संत प्रत्यक्ष की अनुभूति को अन्ततः सत्य मानकर नहीं चलते। चरणदास इसी ओर संकेत करते हैं—'उस समय समस्त भौतिक रूपात्मकता लोप हो जाती है; न चंद्रमा ही दिखाई देता है और न सूर्य ही! आकाश के तारे भी विलीन हो जाते हैं। प्रकृति की समस्त रूपात्मकता नष्ट हो गई—न रूप का अस्तित्व है न नाम का। फिर इस स्थिति में जीव और ब्रह्म की, साहब और संत की उपाधियाँ भी लुप्त हो गई'।'[2] इसी सहज स्थिति का वर्णन नानक भी करते हैं जिसमें प्रकाशमान् तथा अलौकिक सृष्टि भी तिरोहित हो जाती है—ब्रह्म तथा जीव की स्थिति समाप्त हो जाती है। वस्तुतः संत-साधक का यही चरम सत्य है,—

उन्मनि एको एक अकेला; नानक उन्मनि रहै सुहेला।
उन्मनि अस्थावर नहिं जंगम; उन्मनि छाया महिलु बिहंगम॥
उन्मनि रवि की ज्योति न धारी, उन्मनि किरण न शशिहिं स्वारी।
उन्मनि निशि दिन ना उज्यारा, उन्मनि एकु न कीआ पसारा॥'[3]

परन्तु इस समस्त योजना में संतों ने अस्वीकार करके भी भौतिक-जगत् का ही तो माध्यम स्वीकार किया है। साधक अपनी ज्ञान की सीमाओं में कर ही क्या सकता है।

अतिप्राकृत का आश्रय—फिर भी संतों का चरम-सत्य ऐसा ही है। जो अगम है, अतीत है, जो इन्द्रियातीत है, परावर है संत उसी की अनुभूति को व्यक्त करना चाहता है। जब अभिव्यक्ति का प्रश्न है तो वह अपने प्रत्यक्ष के आगे जायगा कैसे? लेकिन उस अनुभूति की, चरम और परम अभिव्यक्ति साधारण तथा लौकिक के सहारे की भी नहीं जा सकेगी। यही कारण है कि अन्य रहस्यवादियों की भाँति संत-साधक अपनी अनुभूति को अतिप्राकृतिक रूपों की अलौकिक योजना द्वारा ही व्यक्त करते हैं। कबीर का यह अलौकिक चित्र जैसे प्रश्न ही बन जाता है—'राजाराम की कहानी समझ में आ गई। इस अमृत के उपवन को उस हरि के बिना कौन पूरा करता। यह तो एक ही तरुवर है जिसमें अनंत शाखाएँ फैल रही हैं और जिसकी शाखाएँ, पत्र और

१. वही०; तेज० अंग से।
२. भक्तिसागर; चरणदास; 'ब्रह्मज्ञान सागर' वर्णन से (पृ० ३)।
३. प्राणसंगली; नानक; प्रथम भाग (पृ० ५०)।

पुष्प सभी रसमय हो रहे हैं। अरे यह कहानी तो मैंने गुरु के द्वारा जान ली। इस उपवन में उसी राम की ज्योति तो उद्भासित हो रही है।....और उसमें एक भ्रमर आसक्त होकर पुष्प के रस में लीन हो रहा है। वृक्ष चारों ओर पवन से हिलता है—वह आकाश में फैला है। और आश्चर्य—वह सहज शून्य से उत्पन्न होनेवाला वृक्ष तो पृथ्वी-पवन सबको अपनेमें विलीन करता जाता है।'[1] इससे प्रत्यक्ष है कि संतों ने योगियों के रूपक व्यापक आधार पर स्वीकार किए हैं। दादू का अनुभूति चित्र विभिन्न प्रकृति-चित्रों को ही अलौकिक रूप प्रदान करता है। 'आत्मा कमल में राम पूर्ण रूप से प्रकट हो रही है, परम पुरुष वहाँ प्रकाशमान् है। चन्द्रमा और सूर्य के बीच राम रहता है, जहाँ गंगा-यमुना का किनारा है और त्रिवेणी का संगम है। और आश्चर्य —वहाँ निर्मल और स्वच्छ अपना ही जल दिखाई देता है जिसे देखकर आत्मा अन्त-मुँखी होकर प्रकाश के पुञ्ज में लीन हो जाती है।—दादू कहते हैं हंसा अपने ही आनन्दोल्लास में मग्न है।'[2] दादू ने इस चित्र में प्रतीकों का आश्रय लिया है, पर यह बाह्यानुभूति का अलौकिक संकेत ही अधिक देता है। गरीबदास 'गगन मंडल में पार-ब्रह्म का स्थान देखते हैं, जिसमें सुन्न महल के शिखर पर हंस आत्मा विश्राम करती है। यह स्थिति भी विचित्र है—अन्तर्मुँखी बंकनाल के मध्य में त्रिवेणी के किनारे मान-सरोवर में हंस क्रीड़ा करता है और वह कोकिल-कीर के समान बोली बोलता है। वहाँ तो सभी विचित्र है, अगम अनाहद द्वीप है, अगम अनाहद लोक है; फिर अगम अना-हद आकाश में अगम-अनाहद अनुभूति होती है।'[3]

अतिप्राकृतिक चित्रों में विचित्र वस्तुओं और गुणों का संयोग होता है। इनमें विचित्र परिस्थितियाँ उपस्थित की गई हैं, बिना कारण के परिणाम या वस्तु का होना बताया गया है। यह सब अलौकिक अनुभूतियों का परिणाम है जो प्रत्यक्ष को ही असीम का आधार देकर किसी अज्ञात और अलौकिक से अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहती हैं। कभी-कभी इन चित्रों में उलटबाँसी का रूप मिलता है। एक सीमा तक ऐसा कहा जा सकता है, परन्तु आगे देखेंगे कि उलटबाँसी में इनसे भेद है और इसका ऐसा लगना अलौकिकता के कारण है। धरनीदास के इस बिखरे हुए चित्र में कई प्रकार की योजनाएँ मिल जाती हैं—'गुरु का ज्ञान सुनकर त्रिकुटी में ध्यान करो—भ्रमर एक चक्र घूमता है, आकाश में घोष उड़ता है। चंद्र के उदय से अत्यधिक आनन्द होता है और मोती की धार बरसाती है। बिजली के चमकने से चारों ओर प्रकाश छाया हुआ है और उसके सौन्दर्य का प्रसार अनंत है। पाँच इन्द्रियाँ श्रमित हो गईं और पचीस का सृष्टि-क्रम रुक

---

१. ग्रन्था० कबीर; नानक ; प्रथम भाग (पृ० ५००)।

२. शब्दा; दादू; पद० ४३८।

३. बानी०; गरीबदास ; गुरु अं० ६२, ७३।

गया; प्रत्येक इन्द्रिय द्वार पर मणि-माणिक्य, मोती और हीरा झलमला रहे हैं। प्रत्येक दिशा में बिना मूल के फूल फूला है।....आकाश गुफा में प्रेम का वृक्ष फलने लगा, वहाँ सूर्य चंद्रमा का उदय नहीं होता, धूप छाया भी नहीं होती। हृदय उल्लसित हो गया, मन मग्न होकर उसकी ओर आकर्षित हो गया।...बिना मूल के फूल को खिला देखकर भ्रमर जाग्रत हो गया।'[1] इस प्रकार साधक प्रत्यक्ष-जगत् को अस्वीकार करके भी अपनी अलौकिक अनुभूति को व्यक्त करने में उसीका आधार लेता है।

रहस्यवादी भाव-व्यंजना—हम कह आए हैं कि संतों ने अपनी अभिव्यक्ति में प्रतीकों का उल्लेख अवश्य किया है; पर उनका उद्देश्य इस माध्यम से अलौकिक अनुभूति को व्यक्त करना है। साथ ही प्रतीकात्मकता से अधिक संतों का ध्यान इनकी संयोग-योजना की ओर है। फिर संत प्रेम-साधक हैं; उसकी साधना प्रमुखतः ज्ञानात्मक न होकर भावात्मक है। ऊपर के रूप-चित्रों में भाव के साथ ज्ञान भी प्रत्यक्ष हो उठता है। परन्तु दादू जैसे प्रेमी साधकों ने अपनी अनुभूति के चरम क्षणों में भी प्रेम की भावात्मकता को नहीं छोड़ा है—

बरसहि राम अमृत धार,
झिलिमिलि झिलिमिलि सींचन हारा।
प्राण बेलि निज नीर न पावै,
जलहर बिना कँवल कुम्हिलावै।
सूकै बेली सकल बनराई। रामदेव जल बरिखइ आई।
आतम बेली मरै पियासी। नीर न पावै दादू दास॥[2]

इस चित्र में अनुभूति की भावमयता अधिक है। अनुभूति के क्षणों में प्रेम-भाव का सबसे अधिक माध्यम स्वीकार करने वाले साधक दादू ही हैं। अलौकिक प्रतीकों से अनुभूति की भावुकता अधिक व्यक्त और स्पष्ट हो उठती है। परन्तु दादू स्वानुभूति को चित्रमय करने से अधिक उसके क्षणों के आनन्दोल्लास को प्रकट करते हैं और इसका कारण भी यही है कि इन्होंने प्रेम का आश्रय अधिक लिया है। 'अत्यन्त स्वच्छ निर्मल जल का विस्तार है, ऐसे सरोवर पर हंस आनन्द-क्रीड़ा करता है। जल में स्नान कर वह अपने शरीर को निर्मल करता है। वह चतुर हंस मनमाना मुक्ताहल चुनता है।' इसके आगे अनुभूति का रूप दूसरे चित्र का आश्रय ग्रहण कर लेता है—'उसी के मध्य में आनन्दपूर्वक विचरता हुआ भ्रमर रस-पान कर रहा है—राम में लीन भ्रमर कँवल का रस इच्छा-पूर्वक पी रहा है; देखकर, स्पर्शकर वह आनन्द भोग करता है; पर उसका

१. बानी०, धर्नीदास; ककहरा ३, ४, १०, १२, २२, २३।
२. बानी०; दादू; पद ३३३।

मन सदा ही सचेष्ट रहता है।' चित्र फिर बदलता है—'आनन्दोल्लसित सरोवर में मीन आनन्द-मग्न हो रही है, सुख के सागर में क्रीड़ा करती है जिसका न कोई आदि है न अन्त है। जहाँ भय है ही नहीं, वहाँ वह निर्भय विलास करती है। सामने ही स्रष्टा है, दर्शन क्यों न कर लो।'[1] इन परिवर्तित होते चित्रों में केवल अलौकिक रूप नहीं है, वरन् आनन्द तथा उल्लास के रूप में प्रेमी-साधक की अपनी अनुभूति का योग भी है। पिछले चित्रों में यह भावना प्रस्तुत अवश्य थी पर इतनी प्रत्यक्ष और व्यक्त नहीं।

दिव्य प्रकृति से—(क) इन्हीं प्रकृति-रूपों की भाव-व्यंजना के अन्तर्गत प्रकृति का दिव्य रूप आता है जिसमें अनन्त तथा चिर सौन्दर्य की भावना ब्रह्म विषयक आनन्दोल्लास का संकेत देती है। वस्तुतः इस प्रकार के रूप-चित्र कृष्ण-काव्य और प्रेमाख्यान-काव्य में ही अधिक हैं। संतों ने उनके ही प्रभाव से बाद में ग्रहण किया है। चरणदास ऐसी दिव्य-प्रकृति की कल्पना करते हैं—

दिव्य वृन्दावन दिव्य कालिन्दी। देखें सो जीते मन इन्द्री॥
किनारे निकट वृक्षन की छाहीं। आय परी यमुना जल माहीं॥
झिलमिल शुभ की उठत तरंगा। बोलत दादू अरु सुर भंगा॥
बन घन कुञ्जलता छवि छाई। झुकी टहनी धरणी पर आई॥
नित बसंत जहँ गंध मुरारी। चलत मन्द जहँ पवन सुखारी॥[2]

इस लौकिक प्रकृति में दिव्य भावना के द्वारा चिरंतन उल्लास को उसी प्रकार व्यक्त किया गया है जिस प्रकार ऊपर के चित्रों में अलौकिक रूपों द्वारा। परन्तु इन समस्त भाव-व्यंजक प्रकृति-रूपों में प्रकृतिवादी उल्लास तथा आह्लाद की भावना से स्पष्ट भेद है। जैसे कहा गया है यहाँ ब्रह्म की भावना प्रत्यक्ष है और प्रकृति माध्यम के रूप में ही उपस्थित हुई है।

साधना में उद्दीपक प्रकृति-रूप—संतों ने प्रेम का साधन स्वीकार किया है और माध्यम भी ग्रहण किया है। प्रेम की अभिव्यक्ति विरह भावना में चरम पर पहुँचती है। प्रकृति हमारे भावों की उद्दीपक है। व्यापक रूप से इस विषय की विवेचना अन्य प्रकरण में हो सकेगी। परन्तु आध्यात्मिक भावना के गम्भीर और उल्लसित वातावरण में प्रकृति का उद्दीपन रूप साधना से अधिक सम्बन्धित हो जाता है। इस सीमा में प्रकृति का उद्दीपन-रूप लौकिक भावों को स्पर्श करता हुआ अलौकिक में खो जाता है और साधक अपनी साधारण भाव-स्थिति को भूल जाता है। दरिया साहब (बिहार

---

१. बानी०; दादू; पद २४७।
२. भक्तिसागर; चरण०; ब्रजचरित, पृ० ६।

वाले) देखते हैं—'वसंत की शोभा में हंसराज क्रीड़ा कर रहा है; आकाश में सुर-समाज कौतुक क्रीड़ा करता है। सुन्दर पत्तेवाले सुन्दर वृक्षों की सघन शाखाएँ आपस में आलिंगन कर रही हैं। मधुर राग-रंग होता है; अनाहद नाद हो रहा है जिसमें ताल-भंग का प्रश्न नहीं उठता। बेला, चमेली आदि के नाना प्रकार के फूल फूल रहे हैं; सुगन्धित गुलाब पुष्पित हो रहे हैं। भ्रमर कमल में संलग्न है और उससे अपना संयोग करता है।'[1] इस चित्र में मधु-क्रीड़ाओं आदि का आरोप संयोग रति का उद्दीपन है, पर व्यंजना व्यापक आध्यात्मिक संयोग की करता है। सुन्दरदास की प्रकृति-रूप की योजना में, उसके व्यापक प्रसार में आध्यात्मिक प्रेम उल्लसित और आन्दोलित होकर अपने परम-साध्य संयोग को अनुभव करने के लिए उत्सुक होता है; उसके सुख को प्राप्त भी करता है। इसमें सहज आकर्षण के साथ सहज भावोद्दीपन की प्रेरणा भी है।[2] प्रकृति का समस्त रूप-शृंगार आध्यात्मिक प्रेम के उद्दीपन की पृष्ठ-भूमि बन जाता है।

अन्तर्मुखी साधना और प्रकृति—संतों की रहस्य-साधना में व्यावहारिक यथार्थ महत्त्व नहीं रखता। जो कुछ दृश्यमान् जगत् दिखाई देता है सत्य उसके परे है। इन्होंने अन्तर्मुखी साधना की बात कही है, जिसमें समस्त बाह्य प्रवृत्तियों को हटाकर ब्रह्मोन्मुखी करने की भावना है। जीव की सांसारिक प्रवृत्ति को उलटना ही तो इसका अर्थ है। और प्रकृति या दृश्यमान् जगत् भी इस मार्ग पर स्रष्टा की ओर प्रवाहित होता है। लेकिन अन्तर्मुखी वृत्ति में भी इन्द्रिय-प्रत्यक्षों का आधार तो उनके गुणों के माध्यम से लिया जा सकता है। यही कारण है कि संत-साधक कहता है—'साधक, यह बेड़ा तो नीचे की ओर चल रहा है—सत्य ही तो! साहब की सौगन्ध, इसके लिए नाविक की क्या आवश्यकता। पृथ्वी भी अन्तर्मुखी निलय की ओर जा रही है और शिखर भी। अधोगामिनी नदियाँ प्रवाहित हैं, जहाँ हीरे पन्नों का प्रकाश है और सेवक, नौका तो आँधी-पानी के बीच अधर ही में है। इसी अन्तः में सूर्य-चन्द्र हैं और चौदह भुवन इसी में हैं। इसी अन्तः में उपवन और बेलें पुष्पित हैं और कुआँ-तालाब भी। इसी अन्तर्मुखी भावना में आनन्दोल्लास में झुकता हुआ माली फूले हुए पुष्पों

---

१. शब्द०; दरिया० : बसंत ५।

२. ग्रंथा०; सुन्द० ; अथ पुरबी भाषा बरवै—

"गंगा जमुन दोउ बहिहय तोतवा-धार; सुमति नवरिया बैसल उतरन पार।
जलमहिं थावक प्रजल्यउ पुंज-प्रकास; कवल प्रफुल्लित भइल अधिक सुवास।
अंब डार पर बैसल कोकिल कीर; मधुर मधुर धुनि बोलइ सुखकर भीर।
सब केइ मन भावन सरस बसंत; करत सदा कौतूहल कामिनि कंत।
निशिदिन प्रेम हिंडुलवा दिहल मचाइ; सेई नारि सभागिनी झूलइ जाइ।"

को देखता घूमता है।"[1] गरीबदास जिस अचर की बात करते हैं, वह अन्तर्मुखी साधना का रूप है जिसमें प्रकृति का बाह्य-सौन्दर्य अन्तर्मुखी होकर साधक की अनुभूति से मिल जाता है। इस चित्र में रूपात्मकता अधिक और उल्लास कम है; पर सुन्दरदास के रूप-चित्र में उल्लास ही अधिक है—'इसी अन्तः में फाग और बसंत का उल्लास छाया हुआ है; और उसी में कामिनी-कंत का मिलन भी हो रहा है। अन्तः में ही नृत्य-गान होता है, उसी में बेन भी बज रही है। इसी शरीर के अन्दर स्वर्ग-पाताल की कल्पना और काल-नाश की स्थिति है। इसी अन्तः साधना में युग-युग का जीवन और अमृत है।'[2] इस कल्पना में उद्दीपन जैसा रूप है और प्रकृति-चित्रों का विस्तार नहीं है। इस अन्तर्मुखी-प्रकृति का प्रयोग जीव और ब्रह्म के संयोग में अधिक प्रत्यक्ष हो सका है। इस योजना में यह संयोग सहज हो जाता है। जब अन्तर्प्रत्यक्षों में प्रकृति के गुणों का संयोग उपस्थित होता है, उस समय बाह्य आधार तो छूट ही जाता है। और ब्रह्म-संयोग की अभिव्यक्ति सरल हो जाती है। दरिया साहब के अन्तर्मुखी प्रकृति-चित्रण में यह स्पष्ट है—

अपना ध्यान तुम आप करता नहीं,
अपने आप में आप देखा।
आप ही गगन में जगह है आप ही,
आप ही तिरकुटी भँवर पेखा॥
आप ही तत्व निःतत्व है आप ही,
आप ही सुन्न में शब्द देखा।
आप ही घटा घनघोर आप ही,
आप ही बुन्द सिन्धु लेखा॥[3]

इस प्रकार समस्त प्रकृति के सर्जन को, अपने अन्दर देखता हुआ साधक में ब्रह्म-रूप आत्मानुभूति प्राप्त करता है। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि संतों में ब्रह्म और आराध्य की भावना इतनी प्रत्यक्ष है कि प्रकृति-रूपक दूर तक नहीं चल पाते और वे हलके भी पड़ जाते हैं।

उलटबाँसियों में प्रकृति-उपमान—सिद्धों और योगियों की अपने सिद्धान्तों और सत्यों के कथन की शैली उलटबाँसी है। संतों ने इनसे ही ग्रहण किया है और यह इनके लिए आश्चर्य की बात नहीं।[4] पिछले अनुच्छेदों में हम देख चुके हैं कि संतों

१. बानी०; गरीबदास ; बेत १; पद ६।
२. ग्रंथा०; सुन्दर० ; राग सोरठ; पद ४।
३. शब्द०; दरिया० ; रेखता अष्टपदी; पद ८।
४. कबीर; पं० हजारी० द्वि० ; अध्य० ७; पृ० ८०।

ने परम्परा प्राप्त प्रतीकों को सहज-भाव के अनुकूल रूप में अपनाया है। उलटबाँसियों के प्रतीक और उपमानों का भी प्रयोग संतों ने इसी प्रकार किया है। योगियों से प्रतिद्वंद्विता लेने की बात दूसरी है, यहाँ प्रवृत्ति की बात कही गई है। कुछ में सत्यों का उल्लेख किया गया है, इनमें अधिकांश संसार और माया को लेकर हैं। कबीर कहते हैं— 'कैसा आश्चर्य है! पानी में आग लग गई, और जलाने वाला जल गया। समस्त पंडित विचार कर थक गए।' इसमें अंतः समाधिमुख की बात कही गई है; और वह वैचित्र्य का आश्रय लेकर। कबीर दूसरा आश्चर्य प्रकट करते हैं —'समुद्र में आग लग गई, नदियाँ जलकर कोयला हो गई; और जाग कर देखो तो सही, मछलियाँ वृक्ष पर चढ़ गई हैं।' माया के नष्ट होने से अन्तः समाधि की बात यहाँ प्रकृति की वैचित्र्य-भावना के आधार पर कही गई है। इन उलटबाँसियों में प्रकृति की विचित्र स्थितियों के माध्यम से सत्यों की व्यंजना की जाती है; और यह ढंग अधिक आकर्षक है। कबीर इसी प्रकार सत्य का संकेत देते हैं—'आश्चर्य की बात तो देखो—आकाश में कुँआ है वह भी उलटा हुआ और पाताल में पनिहारी है; इसका पानी कौन हंस पीयेगा; वह कोई विरला ही होगा।'[1]

प्रेम का संकेत (क)—परन्तु जब इन उलटबाँसियों में प्रेम की व्यंजना को स्थान मिलता है, तो इनमें वैचित्र्य के स्थान पर अलौकिक भावना रहती है। इस ओर पहले संकेत किया गया है। दादू के अनुसार—'यह वृक्ष भी अद्भुत है जिसमें न तो जड़ें और न शाखाएँ—और वह पृथ्वी पर है भी नहीं; उसीका अविचल अनंत फल दादू खाते हैं।'[2] परन्तु जब प्रेम और अनुभूति के चरम क्षणों में उलटबाँसी का रूपक भरा जाता है, उस समय अनुभूति की विचित्रता और अलौकिकता का योग भी सत्यों की विभिन्नता के साथ किया जाता है। दरिया साहब (बिहारवाले) की कल्पना में इसी प्रकार की उलटबाँसियाँ छिपी हैं—'संतो, निर्मल ज्ञान का विचार करके ही होली खेलो। कमल को जल से उजाड़ प्रेमामृत में भिगोकर अग्नि में आरोपित करो। अनंत जल के विस्तार में अपने भ्रमों को जला डालो। फिर सरिता में कोकिल ध्यान करेगा; और जल में दीपक प्रकाशित होगा। सभी संशय छोड़कर मीन ने अपना घर शिखर पर स्थिर किया है। दिन में चन्द्र की ज्योत्स्ना फैल गई और रात्रि में भानु की छबि छाई है। आँख खोलकर देखो तो सही। धरती बरस पड़ी, गगन में बाढ़ आती जा रही है, पर्वतों से पनाले गिरते हैं। अर्द्ध-सीपी की सम्पुट खुल गई, जिसमें मोतियों की लड़ी लगी हुई है। यह अगम की अनुभूति का भेद है, इसे सम्हाल कर ही समझा जा

१. ग्रंथा०; कबीर० ; ग्या० तथा पर० के अंग से।

२. बानी०; दादू ; अबवृक्ष १२, १३।

सकता है।"[1] इन उलटबाँसियों के प्रतीकों का सामञ्जस्य बैठाने से काम नहीं चल सकता; यह तो अलौकिक क्षणों की अनुभूति है, जो आत्मा को व्यापक रूप से घेरकर एक विचित्र जाल बिछा देती है। इस कल्पना में इस प्रकार के रूप भी हैं जिनमें प्रत्यक्ष-सत्ता को अस्वीकार करके ही कल्पना को स्थिर रखने का प्रयास किया जाता है। गरीबदास अन्तर्दृष्टि की दुरबीन से इसी अस्तित्वहीन सृष्टि की कल्पना में सत्य का प्रत्यक्ष करते हैं।[2] वस्तुतः यह सब अलौकिक सत्य की अनुभूति तथा अभिव्यक्ति से सम्बन्धित है।

चरम क्षण में रूपों का विचित्र संयोग—अभी तक विभिन्न रूपों को अलग-अलग विभाजित करके प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। परन्तु अनेक रूप आपस में मिल-जुलकर उपस्थित हुए हैं। अतिप्राकृतिक चित्रों के साथ उलटबाँसियों के संयोगों द्वारा संतों ने व्यापक सत्यों और गम्भीर अनुभूतियों को एक साथ अभिव्यक्त किया है। इस स्थिति में असाधारण चमत्कृत स्थिति की कल्पना द्वारा अनुभूति की असाधारण स्थिति का ही संकेत मिलता है। ऐसे पदों में साधना का रूप और अनुभूति की भावना का रूप मिल-जुल गया है—

इहि बिधि राम सूँ ल्यौ लाइ।
चरन पाषैं बूंद न सीप साइर, बिना गुण गाइ।
जहाँ स्वाती बूंदन सीप साइर, सहज मोती होइ।
उन मोतियन मैं नीर पायौ, पवन अंबर धोइ।
जहाँ धरनि बरसैं गगन भीजैं, चंद सूरज मेल।
दोइ मिलि जहाँ जुड़न लागे, करत हंसा केलि।
एक बिरष भीतर नदी चाली, कनक कलस समाइ।
पंच सुबटा आइ बैठे, उदै भई बन राइ।
जहाँ बिछुट्यौ तहाँ लाग्यो, गगन बैठो जाइ।
जन कबीर बटाउवा, जिनि लियो खाइ॥[3]

कबीर की इस सहज-लय में; बिना सीप, बूंद और सागर के संयोग के मोती उत्पन्न हो जाता है; और उस मोती की आभा से अन्तरात्मा आर्द्र हो उठी है। जहाँ लौकिक

---

१. शब्द०; दरिया (बि०) ; होली छन्द ३।

२. बानी०; गरीबदास ; बैंत पद ४

बंदे देख ले दुरबीन वे।
कर निगाह अगाह आसन, बरसता बिन बादर वे।
अधर बाग अनंत फल, कायम कला करतार वे।

३. ग्रंथा० ; कबीर ; पद २८०।

और अलौकिक का मिलन होता है, उस सीमा पर इन्द्रियों का विषय आत्मानन्द का विषय हो जाता है। आत्मा की वृत्तियाँ ब्रह्मोन्मुखी होकर प्रवाहित हैं—और नदी वृक्ष के भीतर समाई जा रही है, कनक कलस में लीन हुआ जा रहा है। पाँचों इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो उठीं—और उनके अन्तर्प्रत्यक्ष में दृश्य-जगत् भी अन्तर्मुखी होकर फैल गया।···लेकिन आश्चर्य, यहाँ तो जहाँ पक्षी का वास-स्थान था वही जल-कर भस्म हुआ जा रहा है और वे आकाश में स्थित हो गए हैं। इस प्रकार संतों की आध्यात्मिक-साधना के विकास क्रम के साथ चरम क्षणों की अनुभूति भी सन्निहित है, जो विभिन्न प्रकृति-रूपों के संयोग से व्यक्त की गई है। इसमें ज्ञान और प्रेम का रूप है, साथ ही अलौकिक तथा अन्तर्मुखी प्रकृति-रूपों के माध्यम से चरम लय की व्यंजना भी है।

चतुर्थ प्रकरण

आध्यात्मिक साधना में प्रकृति-रूप—२

प्रेमियों की व्यंजना में प्रकृति-रूप

फ़ारस के सूफ़ी कवि—पिछले प्रकरण की विवेचना में हम देख चुके हैं कि मध्ययुग की प्रत्येक धारा के पीछे एक परम्परा रही है जिससे उसने प्रभाव ग्रहण किया है। हिन्दी साहित्य के प्रेमी कवियों की, और विशेषतः सूफ़ी कवियों की आध्यात्मिक भावधारा में फ़ारस के सूफ़ी कवियों के आध्यात्मिक विचारों का प्रभाव रहा है। हिन्दी काव्य के सूफ़ी बाशरा हैं और इस कारण सामान्यतः वे कुरान और मुसलिम विचार-धारा को स्वीकार करके चले हैं। फ़ारसी सूफ़ी अपनी प्रेम-साधना में नितांत एकेश्वर-वादी तो नहीं रह सके हैं, परन्तु उन्होंने विचारों की प्रेरणा के रूप में एकेश्वरवाद को छोड़ा नहीं है। उनके आध्यात्मिक प्रकृति-रूपों में इसका बहुत अधिक प्रभाव है। पृष्ठभूमि में एकेश्वर की भावना प्रस्तुत रहने के कारण फ़ारस के सूफ़ी कवियों के सामने प्रकृति की सप्राण योजना, उसका चेतन प्रवाह नहीं आ सका; वे उसको कर्त्ता और रचयिता के भाव से ही अधिक देख सके है। फिर भी फ़ारसी कवि उन्मुक्त होकर प्रकृति से प्रेरणा ले सका है और उसके सामने उसका विस्तृत सौन्दर्य रहा है। उनकी प्रकृति-भावना में एकेश्वर की अलग-थलग सत्ता का आभास मिलता है। उनकी प्रेम-व्यंजना में अवश्य एकात्म-भावना मिलती है।[1]

एकेश्वरवादी भावना—इसी प्रकार की एकेश्वरवादी भावना हमको हिन्दी मध्ययुग के सूफ़ी प्रेम-मार्गी कवियों में भी मिलती है। वरन् इनका क्षेत्र-अधिक विचार-प्रधान है। इस कारण इनका प्रकृतिवादी दृष्टिकोण तो है ही नहीं, साथ ही इनमें प्रकृति के प्रति विशेष आकर्षण भी नहीं है। प्रकृति को लेकर हिन्दी के सूफ़ी कवि के मन

१. द्र० लेखक का फ़ारस के सूफ़ी प्रेमी कवियों की साधना में प्रकृति, नामक निबन्ध विश्ववाणीः जून १९४७।

में कोई प्रश्न नहीं उठता। वह कर्त्ता और रचयिता की निश्चित भावना को लेकर उपस्थित हो जाता है; और आरम्भ करता है—

सुमिरौं आदि एक करतारू। जेहि जिउ दीन्ह दीन्ह संसारू।
कीन्हेसि प्रथम जोति परकासू। कीन्हेसि तेहि पिरीत कैलासू॥
कीन्हेसि दिन दिनअर ससि राती। कीन्हेसि नखत तराइन पाँती।
कीन्हेसि धूप सीउ औ छाँही। कीन्हेसि मेघ, बीजु तेहि माँही॥[1]

इसी प्रकार जायसी सारे सर्जन को उसी रचयिता के माध्यम से गिना जाते हैं,—'उसी ने सातों समुद्र प्रसरित किए हैं, उसी ने मेरु तथा किष्किधा आदि पर्वतों को बनाया है। इन समस्त सर, सरिता, नाले, झरने, मगरमच्छ आदि को उसीने तो बनाया है। सीपी का निर्माण करने वाला तथा उसमें मोती डालने वाला तो वही है। इस समस्त सर्जना को करने में स्रष्टा को एक क्षण भी नहीं लगता; और उसने आकाश को बिना आश्रय के ही खड़ा किया है।'[2] इस वर्णना को उपस्थित करने में सूफ़ी प्रेमी कवियों में एकेश्वरवादी भावना सन्निहित है जिसमें सृष्टि से अलग स्रष्टा की कल्पना की गई है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जायसी आदि में एकात्म-भावना मिलती ही नहीं। भारतीय दर्शन के प्रभाव से, तथा प्रेम-व्यंजना के रूप में भी, सूफ़ी प्रेमी अद्वैत की व्यापक भावना को अपना लेते हैं—

परगट गुपुत सकल महँ पूरि रहा सो नाँव।
जँह देखौं तहँ आही दूसर नहि जँह जाँव॥[3]

परन्तु प्रमुख प्रवृत्ति में ये कवि एकेश्वरवाद के आधार पर ही चले हैं, जिससे इनकी प्रकृति-योजना में प्रकृतिवादी चेतना-प्रवाह नहीं आ सका है।

परिव्याप्त स्रष्टा (क)—यह तो इनकी प्रमुख प्रवृत्ति की बात है, जहाँ तक केवल प्रकृति के प्रति जिज्ञासा का प्रश्न है। परन्तु इस प्रवृत्ति में भी प्रकृति में व्यापक आत्म-भावना का रूप क्रमशः आने लगा है। हिन्दी-कवियों में इस भावना का होना स्वाभाविक है। दुखहरनदास अपनी 'प्रेम-कथा' में प्रकृति में व्याप्त ब्रह्म-भावना को ही प्रस्तुत करते हैं—'शशि, सूर्य और दीपक के समान प्रकाशित होने वाले तारों में उसी की ज्योति प्रकाशमान् है। सांसारिक प्रकाश तो देखे और पहिचाने जाते हैं; वह तो

---

१. ग्रंथा०; जायसी; पद्मावत; दो० १।

२. वही, दो० २ ; बाद के कवियों में भी यही भावना मिलती है। इन्द्रावती; नूरमोहम्मद ; स्तुति खंड ; दो० १२ में तुलनीय—

"धन्य आप जग सिरजन हारा। जिन बिन खम्भ अकास सँवारा॥
गगन की शोभा कीन्हे सितारा। धरती शोभा मनुष सँवारा॥"

३. ग्रंथा०; जायसी ; पद्मावत; २४ गंधर्बसेन-मंत्री-खंड; दो० ६।

ऐसा प्रकाश है जो विश्व में छिपा हुआ व्याप्त हो रहा है।' परन्तु भारतीय भावधारा में सृष्टा की कल्पना नवीन नहीं है। आगे कवि इसी प्रवाह में कहता है—'प्रभु, तुमने ही तो रात और दिन, सन्ध्या और प्रातः को रूप दिया है। यह सब शशि, सूर्य, दीपक और तारा आदि का प्रकाश तुम्हीं को लेकर तो है। तुम्हारा ही विस्तार पृथ्वी, सागर सरिता के विस्तार में हो रहा है।'[1] परन्तु इन दोनों प्रकार के प्रेमियों के स्रष्टा रूप में भेद प्रत्यक्ष है। सूफ़ियों का स्रष्टा अपने से अलग सर्जन करता है, जब कि स्वतन्त्र प्रेमी कवियों का स्रष्टा अपनी रचना में परिव्याप्त है। आगे चल कर सूफ़ी कवियों में व्याप्त ईश्वर की भावना का संकेत मिलता है। उसमान अपनी सर्जना का रूप उपस्थित करते हैं,—'उसने पुरुष और नारी का ऐसा चित्र बना दिया, जल पर ऐसा कौन सर्जन कर सकता है। उसने सूर्य, शशि और तारागणों को प्रकाशमान् किया; कौन है जो ऐसा प्रकाशमान् नग बना सकता है। उसने दृश्यमान् जगत् को काले-पीले श्याम तथा लाल आदि अनेक रंगों में प्रकट किया है। जो कुछ वर्णयुक्त रूपमान् है और विश्व में दिखाई देता है, उन सबको रचने वाला वह स्वयं अदृश्य और अरूप है। अग्नि, पवन, पृथ्वी और पानी (आकाश तत्त्व मुसलमानी दर्शन में स्वीकृत नहीं था) के नाना संयोग उपस्थित हैं; वह सभी में व्याप्त हो रहा है और उसको अलग करने में कौन समर्थ हो सकता है? वह रचयिता प्रकट और गुप्त होकर सर्वत्र में व्याप्त है। उसको प्रकट कहूँ तो प्रकट नहीं है और यदि गुप्त कहूँ तो गुप्त भी नहीं है।'[2] इस चित्र में व्यापक रचयिता के साथ एकात्म की भावना भी मिलती है। इसपर संत-साधकों का प्रभाव प्रकट होता है।

अन्य रूप—(ख) हिन्दी मध्ययुग के धार्मिक काव्य की विभिन्न धाराएँ आगे चल कर एक दूसरे से प्रभावित होती रही हैं; क्योंकि एक दूसरे से आदान-प्रदान चलता रहा है। 'नल-दमन' काव्य में परम्परा के अनुसार—'कीन्हेसि परथम जोति प्रकासू' से आरम्भ किया गया है; परन्तु इसमें सृष्टि कल्पना विशिष्टाद्वैती भावना से अधिक प्रभावित है,—

> **ज्यों प्रकास समान समाना। वहै जान तिन्ही अनमाना॥**
> **पै वह चेतन यह जड़ सोना। वह सजोत यह जोत बहूना॥**
> **जैसे कँवल सुरज मिलि खिलै। पै वा को गुन ताह न मिलै॥**
> **कँवल खिलै कछु सुरज न खिला। औ ताके सुख मिलै न मिला॥**
> **ज्यों चेतन जड़ माह समाना। अनमिल जाइ मिला सर जाना॥**[3]

---

१. पुहुपावती; दुखहरनदास; स्तुति-खंड।

२. चित्रावली; उसमान; स्तुति-खंड; दो० १-२।

३. नल-दमन; ईश-वंदना; पृ० १-२।

इस प्रकार विभिन्न भावनाओं से प्रभावित होकर इन प्रेमी कवियों ने प्रकृति की सर्जना का रूप उपस्थित किया है। परन्तु जैसा संकेत किया गया है इस वर्णना में प्रकृति के प्रति जिज्ञासा अथवा आकर्षण का भाव नहीं है। यह तो ब्रह्म विषयक जिज्ञासा को लेकर ही उपस्थित हुई है।

वातावरण निर्माण में आध्यात्मिक व्यंजना—प्रेम-काव्यों का आधार कथानक है। इन प्रबन्ध-काव्यों में प्रेमी कवियों ने अपनी साधना के अनुरूप सौन्दर्य की व्यापक योजना से विभिन्न रूपों में प्रेम की अभिव्यक्ति की है। वस्तुतः इन्होंने अपने काव्य के प्रत्येक स्थल में इसी आध्यात्मिक वातावरण को उपस्थित किया है। घटना स्थलों के प्रकृति-चित्रण में अलौकिक अतिप्राकृतिक रूपों को प्रस्तुत करके, उसकी चिरंतन भावना और निरंतर क्रियाशीलता से, तथा उसके अनन्त सौन्दर्य से आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण किया गया है। वस्तुतः प्रकृति के रूप और उसकी क्रियाशीलता में अलौकिक भाव उत्पन्न कर देना स्वयं ही आध्यात्मिकता के निकट पहुँचना है। आधिभौतिक प्रकृति जिन रूप-रंगों में उपस्थित होती है और जिन क्रिया-कलापों में गतिशील हो उठती है, वह धार्मिक परावर सत्य और पवित्र भावना के आधार पर ही है।[1] सूफी प्रेमाख्यानों में प्रकृति के माध्यम से आध्यात्मिक सत्य और प्रेम-व्यञ्जना दोनों को प्रस्तुत किया गया है। और इनका ऐसा मिला-जुला रूप सामने आता है कि कोई विभाजन की सीमा निश्चित नहीं की जा सकती। जायसी ने सिंहल-द्वीप के वर्णन में अलौकिक भावना के आधार पर ही आध्यात्मिक वातावरण उपस्थित किया है—'जब उस द्वीप के निकट जाओ तो लगता है स्वर्ग निकट आ गया है। चारों ओर से आम की कुंजों ने आच्छादित कर लिया है। वह पृथ्वी से लेकर आकाश तक छाया हुआ है। सभी वृक्ष मलयागिरि से लाए गए हैं। इस आम की बाड़ी की सघन छाया से जगत् में अन्धकार छा गया। समीर सुगन्धित है और छाया सुहावनी है। जेठ मास में उसमें जाड़ा लगता है। उसीकी छाया से रैन आ जाती है और उसीसे समस्त आकाश हरा दिखाई देता है। जो पथिक धूप और कठिनाइयों को सहन कर वहाँ पहुँचता है वह दुःख को भूलकर सुख और विश्राम प्राप्त करता है।"[2] इस वर्णना में अलौकिक वातावरण के द्वारा आध्यात्मिक शांति और आनन्द का संकेत किया गया है। प्रकृति की असीम व्यापकता, नितांत सघनता, चिरंतन स्थिति तथा स्वर्गीय कल्पना आध्यात्मिक वातावरण को प्रस्तुत करने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रसंग में कवि ने फल तथा फूलों के नामों के उल्लेख के द्वारा फुलवारी का वर्णन किया है (दो०४, १०)। परन्तु इस समस्त वर्णना में फूलने-फलने की व्यंजना में एक चिरंतन उल्लास तथा

१. नेचुरल पेन्ड सुपरनेचुरल; पृ० १८६।

२. ग्रंथा०; जायसी; पद्मावत; २ सिंहल-द्वीप वर्णन-खंड; दो० ३।

विकास की भावना सन्निहित है, जिसे कवि इस प्रकार आध्यात्मिक संकेत से उद्भासित कर देता है—

तेहि सिर फूल चढ़हिं वै जेहि माथे मनि भाग।
आछहि सदा सुगन्ध बहु जनु बसन्त औ फाग॥[1]

इसी प्रकार की भावना उसमान के फुलवारी वर्णन में लक्षित होती है। इस चित्रण में प्रकृति के उल्लास में प्रेम और मिलन की भावना सन्निहित है। इसमें साथ ही चिरन्तन प्रकृति का सौन्दर्य भी है। चित्रावली की बारी तो सिंहलद्वीप की आम्र-वाटिका के समान ही—

सीतल सघन सुहावन छाहीं। सूर किरिन तहँ संचरै नाहीं।
मंजुल डार पात अति हरे। औ तहँ रहहिं सदा फर फरे।
मूर सजीवन कलपतरु, फल अमिरित मधुपान।
देउ दहत तेहि लगि भजहिं, देखत पाइय प्रान॥[2]

इसमें जायसी के समान अधिक व्यक्त संकेत नहीं है; परन्तु अलौकिक रूप-योजना स्वयं संकेत ग्रहण करती है। इसी बारी के मध्य में 'चित्रावली की लगाई हुई फुलवारी है, जिसमें सोनजरद, नागकेसर आदि पुष्पित हैं, पुष्पित सुदर्शन को देखकर दृष्टि मुग्ध हो जाती है—कदम और गुलाल भी अनेक पुष्पों के साथ लगे हुए हैं; साथ ही बकुल की पंक्तियाँ सुगन्धित हो रही हैं। इसी फुलवारी में पवन रात्रि में बसेरा लेता है और वही प्रातःकाल उन पुष्पों की सुगन्धि के रूप में प्रकट होता है।' प्रकृति के इसी सौन्दर्य तथा उल्लास के साथ चिरंतन और शाश्वत की भावना को जोड़कर, कवि आध्यात्मिक आनन्दोल्लास को सूचित करता है—

उड़हिं पराग भौंरा लपटाहीं। जनु बिभूति जोगिन लपटाहीं।
भरकंडी भौंरन संग खेली। जोगिन संग लागि जनु बेली।
केलि कदम नव मल्लिका, फूल चंपा सुरतान।
छ ऋतु बारह मास तँह, ऋतु बसंत अस्थान॥[3]

सत्य और प्रेम (क)—इन सूफ़ी प्रेम-काव्यों के साथ ही स्वतन्त्र प्रेम-काव्यों में भी प्रकृति के उल्लास और अलौकिक सौन्दर्य के द्वारा प्रेम की आध्यात्मिक व्यंजना की गई है। प्रेम की अनुभूति अपने चरम क्षणों की व्यापकता और गम्भीरता में आध्यात्मिक सीमा में प्रवेश करती है। इसके अतिरिक्त इस परम्परा के कवियों ने

---

१. वहीः वही० ; दो० ११।
२. चित्रा०; उसमान ; १३ परेवा खंड; दो० १५८, ६।
३. वहीः वही ; दो० १५६।

एक-दूसरे का अनुसरण भी किया है। यहाँ इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक है कि प्रकृतिवादी रहस्यवाद तथा इन कवियों की भावना में समता है, पर इनकी विभिन्नता उससे अधिक स्पष्ट है। प्रकृतिवादी रहस्यवादी भी अपनी अभिव्यक्ति में प्रकृति के अलौकिक सौन्दर्य और उसमें प्रतिबिम्बित उल्लास का आश्रय लेता है। पर प्रकृतिवादी इसीके माध्यम से अज्ञात सत्ता की ओर आकर्षित होता है, और प्रेमी का आराध्य प्रत्यक्ष होकर इस प्रकृति सौन्दर्य के माध्यम को स्वीकार करता है। दुखहरन इसी प्रकार की व्यंजना करते हैं—'विशाल वृक्ष सदा ही फलनेवाले हैं, सभी घने और हरे-भरे हैं। इनकी जड़ें पाताल में और शाखाएँ आकाश में छाई हुई हैं।.......फिर इस बाग में एक फुलवारी है जो संसार को प्रकाशित कर रही है। पीले, श्वेत, श्याम, रक्ताभ आदि नाना भाँति के फूल जिसमें सुगन्धित हो रहे हैं......सभी भाँति के फूल विभिन्न रंगों में छाए हुए हैं, जिनको देखकर हृदय में उमंग उठती है। इनकी गंध का वर्णन अकथनीय है, जो गंध लेता है वही मोहित हो जाता है। इस फुलवारी में उन्मुक्त भ्रमर सुगन्ध लेता है और गुंजारता है। इसकी गंध तो पवन के लिए आश्रय है। जो इसके निकट जाता है, वह गंध के लगने से सुगंधित तेल हो जाता है। इस अलौकिक फुलवारी में सभी फूल सभी ऋतुओं में और सभी मासों में फूलते हैं और इन फूलों की सुगंध से संसार के पुष्प सुगंधित हो रहे हैं।'[1] इस चित्र में रंग-रूप-गंध आदि की अलौकिक योजना के साथ चिरंतन सौन्दर्य तथा अनन्त मिलन की भावना भी सन्निहित है, जो आध्यात्मिक सत्य के साथ प्रेम-साधना का योग है। सूफ़ी साधना में प्रेम की व्यंजना आध्यात्मिक सत्य हो जाती है। इस कारण स्वतन्त्र प्रेमियों तथा इनमें इस सीमा पर विशेष भेद नहीं है। कभी प्रेमी कवि प्रत्यक्ष रूप से सत्य तथा प्रेम के संकेत देने लगता है—

नगर निकट फूली फुलवारी। धन मालो जिन सींच सँवारी।
जिन सब पुहुप प्रेम अनुरागी। बैरागी उपदेस बिरागी।
कहै सिगार सिगार हार तन छारा। का सिगार भर आकसि हारा।
लाला कहै लाल तन सोना। पेम दाह डर बाग बिहूना॥[2]

यहाँ प्रकृति स्वयं आध्यात्मिक संदेश देती है। नूर मोहम्मद आध्यात्मिक सत्य की कल्पना फुलवारी के रूप में करते हैं, यहाँ फुलवारी अप्रस्तुत रूप में वर्णित है, प्रस्तुत आध्यात्म ही है। कवि का कहना है—'माली ने कृपाकर इस फुलवारी का साथ दिया है। ऐसे कठिन अवसर पर कोई भी साथ नहीं हुआ केवल फुलवारी ही हाथ रही। इसके अनन्त सौन्दर्य में वह अपूर्व रूप छिपा नहीं रह सकता, अपने आप प्रकट होने

१. पुहपा०; दुख० : अनूपगढ़ खंड से।
२. नल०; फुलवारी-वर्णन से।

का कारण उपस्थित कर देता है। जो इस फुलवारी के रूप और रस से प्रेम स्थापित करता है, वह प्रिय का दर्शन प्राप्त करता है। सृष्टि-कर्त्ता इस सौन्दर्य में छिपा नहीं रहता वह स्वयं ही अभिज्ञात होना चाहता है। इस सर्जन के द्वारा ही तो वह पहिचाना जाता है। मनुष्य पुष्प है और उसका प्रेम ही रस है, उसीको धारण कर वह सर्वत्र प्रकट हुआ है।'[1] आगे हम देखेंगे कि यह प्रकृति-रूप, परिव्याप्त सौन्दर्य के आधार पर तथा स्वर्गीय सौन्दर्य के प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर किस प्रकार सूफ़ी प्रेम-साधना की आध्यात्मिक-व्यंजना प्रस्तुत करता है। यहाँ वातावरण-रूप में प्रकृति किस प्रकार आध्यात्मिक संकेत करती है, इसीकी विवेचना की गई है।

अलौकिक सौन्दर्य (रूपात्मक)—प्रेमी साधकों ने सरोवर आदि के वर्णनों में अलौकिक वातावरण प्रस्तुत किया है। परन्तु इन आध्यात्मिक संकेतों में निर्मलता और सौन्दर्य का भाव अधिक है। जायसी 'मान-सरोवर' के व्यापक सौन्दर्य के विषय में कहते हैं—

मानसरोदक बरनौं काहा। भरा समुद अस अति अवगाहा।
पानि मोति अस निरमल तासू। अंब्रित आनि कपूर सुबासू।
फूला कँवल रहा होइ राता। सहस सहस पंखुरिन्ह कर छाता।
उलथहि सीप मोति उतिराहीं। चुगहि हंस औ केलि कराहीं।
ऊपर पाल चहूँ दिसि अंब्रित फल सब रूख।
देखि रूप सरवर कै गै पियास और भूख॥[2]

प्रकृति की इस अलौकिक योजना में आध्यात्मिक सौन्दर्य का रूप व्यापक होता है; और इस प्रकार प्रेमी-साधक अपने प्रेम के आलम्बन के लिए चिरंतन सौन्दर्य की स्थापना करता है। उसमान भी सरोवर के सौन्दर्य-वर्णन में अपने को असमर्थ पाते हैं। जिसके निकट चित्रावली रहती है वह सरोवर अपने विस्तार में स्वर्ग हो जाता है और वही सुख का समूह है। मानव क्या देवता भी उस पर मुग्ध हैं। इस सौन्दर्य-रूप के साथ चित्रावली के सम्पर्क का उल्लेख करके कवि उस सौन्दर्य की प्रतिछाया के निकट पहुँचा देता है जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे।[3] इसमें अलौकिक सौन्दर्य का रूप ही अधिक है।

---

१. इन्द्रा०; नूर० ; १ स्तुति-खंड; दो १७-१८।
२. ग्रन्था०; जायसी ; पद्मा०; २ सिंहल-द्वीप वर्णन खंड; दो० ३।
३. चित्रा०; उस० ; १३ परेवा-खंड; दो० १५४।

"अति अमोल औ अति बिस्तरा। सुक्रन जाइ बारहु त पारा।
जहाँ एक दिन करै निवासा। सोइ ठाँव होइ कविलासा।
सुख समूह सरवर सोई, जग दूसर कोउ नाहि।
मानुष कर कर पूछये, देवता देखि लोभाहि॥"

दुखहरनदास ने सरोवर-वर्णन में केवल अलौकिकता प्रस्तुत की है, उस के आधार पर प्रेम का संकेत लगाया जा सकता है—

तेहि सरवर मह अंबुज फूला। गुंजहि बहुतो मधुकर भूला।
सहस पाखुरीक अंबुज होई। छुवै न पावै ताकह कोई।
फूलि रहे कोई कँवल बास उठै महकार।
निरमल जलदरपन सम मीठा उचपहार॥[1]

'नलदमन' का कवि अपनी प्रवृत्ति के अनुसार सरोवर वर्णन में भी प्रेम का उल्लेख प्रकृति के माध्यम से प्रस्तुत करता है। उसके सामने आध्यात्मिक प्रेम का स्वरूप प्रकृति से अधिक प्रत्यक्ष है, और वह प्रकृति-वर्णन के माध्यम से उसी को उपस्थित करता है —'जलपूर्ण सरोवर का वर्णन नहीं किया जाता, जो प्रेमी को प्रेम सिखाता है, और अपने आप में प्रेम की अवस्थाओं को प्रकट करके दिखाता है। सरोवर का निर्मल जल मोती के समान उज्ज्वल है, ब्रह्म-ज्योति जिस प्रकार हृदय में समाई रहती है। सरोवर की गहराई का अनुमान लगाना कठिन है, मन का प्रेम रहस्य मन में ही छिपा रहता है। यद्यपि प्रेम की हिल्लोर उठती है, उल्लास के भाव से जल हटने नहीं पाता। कमल लाल है, प्रेम के कारण नेत्र लाल हो रहे हैं और पुतली के रूप में भ्रमर मित्र मस्त गुञ्जारते हैं। दो तो नेत्र हैं, फिर अनन्त कमलों का वर्णन कौन करेगा। प्रिय-दर्शन की लालसा से सरोवर नेत्रमय हो उठा है। फिर उस सरोवर के किनारे जो खग रहते हैं, वे सभी ज्ञानवान् हैं—उनके पंखों में जल प्रवेश नहीं करता, यद्यपि वे सदा जल में ही रहते हैं।'[2] इस वर्णन में कहीं तो समासोक्ति पद्धति से और कहीं रूपात्मक मानवीकरण से प्रेम की व्यंजना की गई है।

भावात्मक(क)—यहाँ तक प्रकृति-चित्रण में अलौकिक रूप के माध्यम से आध्यात्मिक व्यञ्जना का उल्लेख हुआ है। परन्तु प्रकृति स्वयं अपनी क्रियाशीलता में, उल्लास की भावना में मानव के समानान्तर लगती है। प्रथम भाग के द्वितीय प्रकरण में इसकी व्याख्या की गई है। इस सीमा पर मानव के समानान्तर प्रकृति आध्यात्मिक भावना से व्याप्त जान पड़ती है। अभी तक सत्य की बात ही अधिक कही गई है। इस सीमा में प्रकृति की क्रियाशीलता अपने उल्लास के साथ आध्यात्मिक रहस्य का रूप बन जाती है। भौतिक प्रकृति आधिभौतिक की उल्लास भावना के रूप में आध्यात्मिक हो उठती है।[3] जायसी सरोवर का वर्णन नहीं कर पा रहे हैं—'उसकी सीमाओं का कुछ वार-पार तो है नहीं। उसमें पुष्पित श्वेत कुमुद उज्ज्वल चमकते हैं, मानों तारों से खचित

१. पुह०; दुख० ; सरोवर-वर्णन से।
२. नल०; सरोवर-वर्णन से।
३. नेचुरल एन्ड सुपरनेचुरल; पृ० २२६।

आकाश हो। उसमें चकई चकवा नाना प्रकार से क्रीड़ा करते हैं—रात्रि में उनका वियोग रहता है और दिन में वे मिल जाते हैं। उल्लास में सारस कुररता है, उनका युग्म जीवन-मरण में साथ रहता है। अन्य अनेक पक्षी बोलते हैं; केवल मीन ही मौन भाव से जल में व्याप्त हो रही है।'[1] इस चित्र में पक्षी अपने क्रीड़ात्मक उल्लास में आध्यात्मिक प्रेम को व्यक्त करते हैं। 'चित्रावली' में भी कवि इसी प्रकार की भाव-व्यंजना सरोवर-वर्णन में करता है—'सरोवर में कमलिनियाँ पुष्पित हो रही हैं। जिनको देखकर दुःख दूर हो जाता है। श्वेत और लाल कमल फूले हुए हैं और भ्रमर रसमत्त होकर मकरन्द पीते हैं। दिन भर कमल और कुमुद फूला रहता है; रात भर चाँद और तारे विस्मृत होकर उस सौन्दर्य को देखते हैं। कमलों के तोड़ने से जो केसर गिर जाता है, उसकी गंध से पानी सुवासित है। हंस के झुण्ड चारो ओर क्रीड़ा करते हुए बोलते हैं, चकई और चक्रवाक के जोड़ा तैरते हैं। जिसको याद करते ही हृदय शीतल हो जाता है, उसी जल को चातक आकर पीता है। जितने प्रकार के जल-पक्षी होते हैं, वे सभी वहाँ क्रीड़ा करते हुए अत्यन्त सुशोभित हुए। आनन्द और उल्लास के साथ सभी क्रीड़ा करते हैं। भ्रमर कमलों पर गुंजारते हैं। वहाँ रात-दिन आनन्द होता है जिसे देख कर नेत्र शीतल होते हैं।'[2] इस प्रकृति-रूप में जो पुष्पित, सुगंधित, क्रीड़ात्मक तथा उल्लासमयी भावना है, वह आध्यात्मिक सत्य का प्रतीक है। अन्य वर्णनों में प्रेमी कवियों ने पक्षियों की विविध क्रीड़ाओं तथा उनके स्वरों की योजना से उल्लास की भावना में आध्यात्मिक प्रेम-साधना को व्यक्त किया है। इसमें भी जायसी ने अधिक व्यक्त रूप से प्रेम-भावना का संकेत दिया है, क्योंकि उन्होंने पक्षियों की बोली का अर्थ व्यक्त रूप से लगाया है—'वहाँ अनेक भाषा बोलने वाले अनेक पक्षी रहते हैं, जो अपनी शाखाओं को देख कर उल्लसित हो रहे हैं। प्रातःकाल फुलसुंघनी चिड़िया बोलती है; पंडुक भी कहता है—'एक तू ही है'।....पपीहा 'पी कहाँ है' पुकार उठता है, गडुरी 'तू ही है' कहती है, कोयल कुहुक कर अपने भावों को व्यक्त करती है। भ्रमर अपनी विचित्र भाषा में गुंजारता है।' आगे कवि स्पष्ट कर देता है—'जितने पक्षी हैं, सभी इस कुञ्ज में आ बैठे हैं, और अपनी भाषा में ईश का नाम ले रहे हैं।'[3] इस वर्णना में जायसी ने जहाँ तक सम्भव हुआ है पक्षी के स्वर से ही अभिव्यक्ति की है। उसमान पक्षियों के कोलाहल में सन्निहित उल्लास तथा आनन्द से यही संकेत देते हैं। इन्होंने किसी प्रकार का आरोप नहीं किया है, वरन् नाद-ध्वनियों में जो स्वाभाविक उल्लास है उसी का आश्रय लिया है—

---

१. ग्रन्था०; जायसी ; पद्मा० ; २ सिंहल-द्वीप-वर्णन, दो० ६।

२. चित्रा०; उस ; १३ परेवा-खंड ; दो० १५५।

३. ग्रन्था०; जायसी ; पद्मा० ; २ सिंहलद्वीप-वर्णन ; दो० ५।

कोकिल निकर अंमिरित बोलहि। कुंज कुंज गुंजरत बन डोलहि।
खंजन जहँ तहँ फरकि देखावें। दहिअल मधुर बचन अति भावें।
मोर मोरनी निरतहि बहुताई। ठौर ठौर छबि बहुत सोहाई।
चलहि तरहि तहँ ठमुकि परेवा। पंडुक बोलहि मृदु सुख-देवा।[1]

प्रेम-सम्बन्धी व्यंजना (ख)—जायसी की शैली में 'नलदमन' काव्य में आध्यात्मिक भावना उपस्थित की गई है। अभी तक प्रकृति में व्यक्त होती सत्ता के प्रति उल्लास की भावना ही व्यंजित हुई है। परन्तु 'नलदमन' में प्रेम-व्यंजना पर अधिक बल दिया गया है, यद्यपि इसमें उपदेशात्मक प्रवृत्ति ही अधिक है—'शाखाओं पर पक्षी एकत्र होकर बैठे हैं, सभी प्रेम से युक्त भाषा में बोलते हैं। पांडुक प्रेम व्यथा से रोता है और जग में 'एक तू ही है' ऐसी रटना लगाए है। चातक अपने प्रियतम में जी लगाए है और रात-दिन 'पीव-पीव' कूकता रहता है। महर पक्षी प्रेम-दाह से दग्ध हो रहा है और पीड़ा से नित्य 'दही' पुकारता है। मोर भी कठिन दुःख देनेवाले प्रेम के कारण दिन-रात 'मेउँ-मेउँ' पुकारता है। कोकिल विरह से जलकर काली हो गई है और सारे दिन 'कुहू-कुहू' पुकारती रहती है।'[2] इसमें कवि ने आध्यात्मिक व्यंजना में प्रेम के उल्लास को व्यक्त किया है। लेकिन अपनी कवित्व प्रतिभा के साथ जायसी रहस्यवादी अध्यात्म को प्रस्तुत करने में सर्वश्रेष्ठ हैं। इनमें प्रेम का अलौकिक तथा रहस्यवादी रूप अधिक मिलता है। कहीं-कहीं जायसी ने आध्यात्मिक प्रेम से वातावरण को उद्भासित कर दिया है—और ऐसे स्थलों पर जैसा कहा गया है प्रकृति का अतिप्राकृत-रूप अलौकिक रंग-रूपों, नाद-ध्वनियों में उल्लास की भावना को व्यंजित करता हुआ उपस्थित होता है। जायसी के चित्र में केवल प्रेम की व्यंजना नहीं वरन् प्रेमानुभूति के चरम क्षणों की अभिव्यक्ति है। रतनसेन की सिंहल-यात्रा समाप्त होने को है; साधक के पथ की समस्त बाधाएँ समाप्त हो चुकी हैं। अंत में सिंहल-द्वीप के पास का मानसरोवर आ जाता है जो प्रेम-साधना के चरम-स्थल के निकट की स्थित है। प्रकृति के शांत तथा उल्लसित वातावरण से प्रेमानुभूति की अभिव्यक्ति होती है—

देखि मानसर रूप सोहावा। हिय हुलास पुरइन होइ छावा।
गा अँधियार, रैनि-मसि छूटी। भा भिनसार किरिन-रवि फूटी।
कवल बिगस तस बिहँसी देहीं। भौंर दसन होइ कै रस लेहीं।

१. चित्रा०, उस० ; १२ परेवा-खंड ; दो० १५७।
२. नल० ; उपवन-वर्णन से।

भौंर जो मनसा मानसर, लीन्ह् कँवल रस आइ।
घुन जो हियाव न कं सका, भूर काठ तस खाइ॥[1]

इस चित्र में प्रकाश, रूप-रंग, विकास, गुंजार और क्रीड़ा आदि की योजना द्वारा जो अलौकिक रूप उपस्थित किया गया है, वह प्रेम-साधना की चरम-स्थिति का द्योतक है। इस सीमा पर साधक अपने प्रियतम की झलक पाता है। यही सिंहल का दृश्य है जो अपनी चित्रमयता में अलौकिक है। इसमें कवि प्रेमानुभूति को व्यक्त करता है—'आज यह कहाँ का दृश्य सामने दृश्यमान् हो उठा है। पवन सुगंध और शीतलता ला रहा है जो शरीर को चंदन के समान शीतल कर रहा है। ऐसा तो शरीर कभी शीतल नहीं हुआ, मानों अग्नि में जले हुए को मलय समीर लग रहा हो।....और सामने तो अद्भुत दृश्य है—प्रकाशमान् सूर्य निकलता चला आ रहा है और अन्धकार के हट जाने से संसार निर्मल प्रत्यक्ष हो उठा है। आगे मेघ-सा कुछ उठ रहा है और उसमें बिजली चमक कर आकाश में लगती है। उसी मेघ के ऊपर मानों चन्द्रमा प्रकाशित हो रहा है और यह चन्द्रमा ताराओं से युक्त है। और भी अनेक नक्षत्र चारों ओर प्रकाश कर रहे हैं—स्थान-स्थान पर दीपक ऐसे जल रहे हैं। ' दक्षिण दिशा में स्वर्ण पर्वत दिखाई देता है'' और वसंत ऋतु में जैसी सुगंध आती है, वैसी ही गंध संसार में छाई है।'[2] इस आलंकारिक वर्णन में कवि ने अलौकिक के सहारे आध्यात्मिक साधना का चरम, प्रेम की रहस्यानुभूति को व्यक्त किया है।

प्रतिबिम्ब भाव (ग)—प्रथम भाग के पंचम प्रकरण में मानवीय जीवन और भावना का प्रतिबिम्ब ग्रहण करती हुई प्रकृति का उल्लेख किया गया है। इसकी व्यापक भावना में आध्यात्मिक संकेत समन्वित किए जा सकते हैं। इस प्रकार का सफल प्रयोग जायसी ही कर सके हैं। प्रकृति जब मानवीय भावों को प्रतिबिम्बित करती उपस्थित होती है; उस समय आध्यात्मिक प्रेम की भावना उसके व्यापक विस्तार में प्रतिघटित हो जाती है। उस समय गिरगिट अपनी विरह-वेदना में रंगों को बदलता जान पड़ता है। मयूर विरह-वेदना के पाश में बन्दी लगता है और उसी बन्धन के कारण वह उड़ भी नहीं पाता। पंडुक, तोता आदि के गले में उसी प्रेम का चिह्न है। इस प्रकार प्रकृति मानवीय प्रेम-विरह के प्रतिबिम्ब रूप में आध्यात्मिक प्रेम की पृष्ठभूमि बन जाती है।[3] प्रकृतिवादी रहस्यवादी इस प्रकार के प्रतिबिम्ब भाव में केवल

---

१. ग्रन्था०; जायसी : पद्मा०; १५ सात-समुद्र-खंड ; दो० १०।

२. वही० : वही०; २६ सिंहलद्वीप-खंड; दो० १।

३. वही० : वही०; ६ राजा-सुआ-संवाद-खंड; दो० ३—

"पेम सुनत मन भूल न राजा। कठिन पेम सिर देइ तौ छाजा।
पेम-फाँद जो परा न छूटा। जीउ दीन्ह पै फाँद न टूटा।

जीवन की छाया देखता है, सूफ़ी-साधक उस प्रतिबिम्बित जीवन को आराध्यमय स्वीकार कर के चलता है।

सौन्दर्य आलम्बन—प्रेमी साधक जिस साधना को स्वीकार कर के चलता है; वह एक अज्ञात प्रियतम को प्रेम का आलम्बन मानती है। प्रेमी अपने प्रेम के आलम्बन का प्रतीक सांसारिक (लौकिक) सौन्दर्य के रूप में स्वीकार अवश्य करता है; परन्तु उसकी समस्त साधना आध्यात्मिक प्रेम से सम्बन्धित है जिसमें लौकिक भी अलौकिक हो जाता है, जगत् का सौन्दर्य ही प्रिय का सौन्दर्य हो उठता है। जब प्रेम-भावना आलम्बन खोजती है उस समय सौन्दर्य की स्वीकृति स्वाभाविक है। परन्तु प्रेम सीमा से असीम, व्यक्त से अव्यक्त की ओर बढ़ता है; उसी प्रकार आलम्बन का सौन्दर्य भी लौकिक से अलौकिक हो उठता है। सूफ़ी प्रेमी-साधकों की सौन्दर्य-योजना को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है। इस दिशा में निर्गुण संतों और सगुण भक्तों से इनका भेद है। संत साधकों ने रूप की कोई भी सीमा स्वीकार नहीं की है। यही कारण है कि उनकी सौन्दर्य-योजना अलौकिक ही अलौकिक है। उनके चित्रों में रूप और रंग का प्रयोग मन में एक चमत्कृत भावना उत्पन्न कर देता है। परन्तु सूफ़ी साधकों ने अपना प्रतीक और साथ ही अपनी साधना का रूप संसार से ग्रहण किया है। फलस्वरूप इनकी सौन्दर्य-योजना रूप को पकड़ने का प्रयास है; उसको सीमा में घेरने का भी प्रयत्न है। प्रतीक-नारी के सौन्दर्य से यह व्यापक सौन्दर्य प्रकृति में फैल कर आध्यात्मिक संकेत ग्रहण करता है। नारी इनकी साधना का प्रतीक है; उसका सौन्दर्य, आदर्श सौन्दर्य ही अपने चरम पर अलौकिक होकर व्यापक व्यंजनात्मक सौन्दर्य हो जाता है। यही कारण है कि इन कवियों ने नख-शिख के रूप में जो सौन्दर्य-वर्णन किया है वह व्यापक होकर प्रकृति के विस्तार में खो जाता है। उससे न तो कोई रूप ही बनता है और न कोई क्रमिक स्वरूप ही उपस्थित होता है। प्रकृतिवादी साधक प्रकृति के विस्तार में अज्ञात के सौन्दर्य को फैला देखता है; वह उसी के सौन्दर्य से किसी सत्ता का आभास पाता है। और सूफ़ी साधक अपने प्रतीक के सौन्दर्य को उसी सौन्दर्य में प्रतिघटित देखता है। ईरान के सूफ़ी प्रेमियों ने प्रकृति के सौन्दर्य में इसी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति पाई थी।[1] यही सौन्दर्यकी व्यापक भावना, उसका

जान पुकार जो भा बनवासी। रोंव-रोंव परे फाँद नगवासी।
पाखन्ह फिरि फिरि परा सो फाँदू। उड़ि न सकै अरुझा भा बाँदू।
तीतर-गिउ जो फाँद है, नित्त पुकारै दोख॥
सो कित हँकारि फाँद गिउ, मेलै कित मोरै होइ मोख॥"

१. द्र० लेखक का 'ईरानी सूफ़ियों की प्रेम-साधना में प्रकृति के रूप' नामक लेख : विश्ववाणी: जून १९४७।

प्रतिबिम्बित भाव, तथा उसकी (साधक रूप) समस्त सृष्टि पर प्रभावशीलता, हमको हिन्दी के सूफ़ी प्रेमी-कवियों के काव्य में विस्तार से मिलती है। यह सौन्दर्य इनकी प्रेम-भावना का आलम्बन है। प्रकृति का सौन्दर्य प्रियतम का रूप है या उसी के सम्पर्क से उद्भासित है। सौन्दर्य की स्थापना के साथ सूफ़ी साधक उसके प्रभावों का उल्लेख अधिक करता है; क्योंकि उसकी प्रेम-वेदना में इसीका अधिक स्थान है।

भावात्मक सौन्दर्य का प्रभाव—(क) सूफ़ी कवि जब सौन्दर्य की भावात्मक कल्पना करता है, उस समय प्रकृति की दृश्यात्मकता को सामने रख कर उसे व्यक्त करना चाहता है। वह कभी प्रकृति के सौन्दर्य को अपने आराध्य (नारी-रूप) के महान् सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब बताता है और कभी इसकी प्रभावात्मक शक्ति का उल्लेख ही करता है। जायसी नवजात पद्मावती में अनन्त सौन्दर्य की कल्पना करते हैं—'यह सौन्दर्य तो मानों सूर्य की किरण से ही निकाला गया है—और सूर्य का ऐश्वर्य तो कम ही है। इससे तो रात्रि भी प्रकाशमान हो उठी; और यह प्रकाश भी स्वर्गीय आभा से युक्त है। यह रूप-सौन्दर्य इस प्रकार प्रकट हुआ····उसके सामने पूर्णिमा का शशि भी फीका हो गया। चन्द्रमा इसीसे घटता-घटता अमावस्या में विलीन हो जाता है···। इस सौन्दर्य में पद्म-गंध है। जिससे संसार व्याप्त हो रहा है और सारा संसार भ्रमर हो गया है।'[1] इस सौन्दर्य में कोई रूप नहीं है और कोई आकार भी नहीं है। यह अपनी भावात्मकता में विश्व-सर्जन को व्याप्त ही नहीं करता, वरन् अपने प्रभाव से प्रभावित भी कर रहा है। वस्तुतः इन कवियों के सौन्दर्य-चित्रण को रूप, भाव तथा प्रभाव आदि के अनुसार विभाजित करना कठिन है; क्योंकि ये सब मिल-जुल जाते हैं। सूफ़ी कवियों ने सौन्दर्य के भावात्मक-पक्ष को ऐसा ही व्यापक और प्रभावशील चित्रित किया है। 'चित्रावली' में रानी चित्र मिटाने आई है, पर उसके सौन्दर्य के सामने मुग्ध है,—

देखा चित्र एक मनियारा। जगमग मंदिर होइ उजियारा।
जिमि-जिमि देखें रूप मुख, हिये छोह अति होइ।
पानी पानिहिं लै रही, चित्र जाइ नहिं धोइ॥

आगे इस सौन्दर्य की आध्यात्मिक व्याप्ति का और भी प्रत्यक्ष संकेत मिलता है—'ज्यों-ज्यों चित्र धोया जाता है, लगता है सूर्य को राहु ग्रस्त कर रहा हो। ज्यों-ज्यों चित्र मिटता है, आँखों में ही अँधेरा छाता जाता है।' इसके बाद जब चित्रावली आकर उस चित्र को नहीं पाती तो उसका शरीर पत्ते के समान हिल जाता है। 'वह सूर्य के सामान प्रकाशमान् चित्र कहाँ गया, जिसके बिना पूर्णिमा अमा हो जाती है।'[2]

---

१. ग्रंथा०; जायसी० ; पद्०; ३ जन्म-खंड: दो० २।

२. चित्रा०; उस० ; ११ चित्रावलकोन-खंड: दो० १३१ और १२ चित्र-धोवन-खंड: दो० १३२।

इस चित्र में व्यापक प्रभावशीलता का रूप है। नूर मोहम्मद ने नख-शिख वर्णन को अधिक विस्तार नहीं दिया है, परन्तु उसमें रूप-सौन्दर्य का एक मौलिक अर्थ सन्निहित है और यह सौन्दर्य के प्रभाव के रूप में है। इन्द्रावती में स्वयं सौन्दर्य की चेतना जाग्रत होती है। दर्पण में अपने सौन्दर्य से उसे प्रेम की अनुभूति प्राप्त होने लगती है। आगे कवि कहता है 'यह सौन्दर्य की चेतना ही है जो प्रेम है और अपने ही सौन्दर्य द्वारा प्रिय-प्रेम की अनुभूति के बीच कोई नहीं है। यह प्रेम की व्याप्ति ही सौन्दर्य-भावना है जो प्रिय का ही रूप है, उसीकी अज्ञात स्मृति है।'[1] इस प्रकार अव्यक्त भावना सौन्दर्य का संकेत ग्रहण करती है। इसी प्रभावशील सौन्दर्य का रूप जायसी मानसरोवर के प्रसंग में उपस्थित करते हैं। 'इस सौन्दर्य के स्पर्श मात्र से मानसर-निर्मल हो गया और उसके दर्शन मात्र से रूपवान् हो उठा। उसकी मलय समीर को पाकर सरोवर का ताप शांत हो गया।'[2] इसके आगे प्रकृति के समस्त सौन्दर्य को कवि इसी आध्यात्मिक सौन्दर्य के प्रतिबिम्ब-रूप में देखता है—'उस चन्द्रलेखा को देखकर ही सरोवर के कुमुद विकसित हो उठे'''उस सौन्दर्य के प्रकाश में तो जिसने जहाँ देखा वहाँ विलीन हो गया। उस सौन्दर्य में प्रतिबिम्बित होकर जो जैसा चाहता है सौन्दर्य प्राप्त करता है। सारा सरोवर उसी के सौन्दर्य से व्याप्त हो उठा है। उसके नयनों को देख-कर सरोवर कमलों से पूरित हो गया; उसके शरीर की निर्मलता से उसका जल निर्मल हो रहा है। उसकी हँसी ने हंसों का रूप धारण कर लिया है और दाँतों का प्रकाश नग तथा हीरा हो गया है।'[1] उसमान ने भी 'चित्रावली' में एक स्थल पर रूप-सौन्दर्य का वर्णन प्रमुखतः न करके, उसके प्रभाव का ही उल्लेख किया है। यह सौन्दर्य अनंत और व्यापक है जिसके प्रकाशित होने पर सभी जगत् आश्चर्य-चकित रह जाता है—

चित्रावली झरोखे आई। सरग चाँद जनु दीन्ह दिखाई।
भयो अँजोर सकल संसारा। भा अलोप दिनकर मनियारा।[3]

---

१. इन्द्रा०; नूर० ; ६ पाती-खंड; दो० ७-८—

"रूप समुद्र अहै वह प्यारी। जब सों प्रेम परा सिर भारी।
तासों लेन लहर अठिलानी। व्याकुल भै मन बीच मथानी॥
कोऊ नाहीं बीच मों, अपने रूप लोभान।
अपनो चित्र चितेरा, देखि आप अरुझान॥"

२. ग्रंथा०; जायसी ; पद०; मानसरोवर खंड; दो० ८। जायसी आध्यात्मिक प्रभावशील सौन्दर्य को प्रस्तुत करने में अद्वितीय हैं। राघवचेतन ४१ 'पद्मावती-रूप-चर्चा-खंड' में व्यापक व्यंजना से सौन्दर्य-वर्णन आरम्भ करता है। वह इस व्यापक भावना को रूप और स्पर्श गुण में व्यक्त करता हुआ उसकी प्रभावात्मकता की ओर ही आकर्षित करता है। इसी प्रकार 'चित्रावली' में परेवा भी राजकुमार के सामने सौन्दर्य के प्रभाव का वर्णन गन्ध-गुण के माध्यम से करता है (१३ परेवा०; दो० १७३)।

३. चित्रा०, उस०; ३० दरसन-खण्ड; दो० २७७।

संकेत-रूप और प्रकृति में प्रतिबिम्ब भाव (ख)—यहाँ तक व्यापक सौन्दर्य की भावना और उसकी प्रभावशीलता पर विचार किया गया है। इस सौन्दर्य में आकार या रूप की भावना किसी सीमा में प्रत्यक्ष नहीं होती। यह केवल भावात्मक है जो कभी रूप, कभी प्रकाश और कभी गन्ध आदि के अलौकिक विस्तार में आध्यात्मिक प्रभाव उत्पन्न करता है। हम जानते हैं कि सूफ़ी प्रेमी कवियों ने प्रतीकों का आश्रय लिया है। जब लौकिक प्रतीक का आधार है, एक नारी (नायिका) की कल्पना है, तो सौन्दर्य प्रत्यक्ष रूप और आकार भरेगा। लेकिन सौन्दर्य यहाँ भी अपनी व्यापकता में, आध्यात्मिक चमत्कार की अलौकिक सीमाओं में, रूप भरकर भी रूप नहीं पाता; आकार धारण करके भी कोई प्रत्यक्ष आकार सामने नहीं उपस्थित कर पाता। यह बात हम संक्षिप्त रूप-चित्रों और विस्तृत नख-शिख वर्णनों में देखेंगे। इन समस्त रूप के संकेतों में प्रकृति उसका प्रतिबिम्ब ग्रहण करती है। प्रकृति-जगत् उसी असीम और चरम सौन्दर्य की छाया है, उसी के प्रभाव से समग्र विश्व आकर्षित हो उठता है। पद्मावती यौवन में प्रवेश कर रही है। जायसी उस सौन्दर्य की कल्पना करते हुए उसके प्रभाव और प्रकृति पर उसके प्रतिबिम्ब का उल्लेख करते हैं—'विधि ने उसको अत्यंत कलात्मक ढंग से रचा है। उसके शरीर की गंध से संसार व्याप्त है। भ्रमर चारों ओर से उसे घेरे हुए हैं। बेनी नागिन मलयागिरि में प्रवेश कर रही है'''उस पद्मनी के रूप को देखकर संसार ही मुग्ध हो उठा है। नेत्र आकाश के विस्तार में फैलकर खोजते हैं, पर संसार में कोई नहीं दिखाई देता।'[1] यहाँ उत्प्रेक्षाओं को व्यक्त न करके कवि सौन्दर्य को प्रकृति के व्यापक माध्यम से व्यंजित करता हुआ, उसके प्रतिबिम्ब के साथ प्रभाव का संकेत भी करता चलता है। इस अलौकिक सौन्दर्य में व्यक्त रूप तथा आकार नहीं है; सूफ़ी साधक आध्यात्मिक प्रियतमा के सौन्दर्य को सीमाओं में बाँध भी कैसे सकता। उसमान चित्रावली के रूप की बात कहते हैं, उसमें किंचित् शरीर के साथ शृंगार का वर्णन मिल गया है। परन्तु न तो शरीर में आकार है और न शृंगार में रंग-रूप; इसमें केवल चमत्कार की अलौकिकता व्यापक प्रभाव लेकर उपस्थित हुई है। चित्रावली दर्शन के लिए झरोखे पर आती है—'उसके शरीर पर बहुमूल्य चीर है, मानों लहरें लेता हुआ सागर चंचल हो रहा हो। मुख के दिव्य प्रकाश को देखकर चकोर चकित रह गया, मानों चन्द्रमा ने प्रकाश किया। माँग सुन्दर मोतियों से युक्त है, नक्षत्रमालाओं ने मानो शशि को आकर प्रणाम किया है।''''गरदन में मुक्ता-माला है, मानों देव-सरि सुमेरु पर गिरी है।'[2] इसमें व्यक्त उत्प्रेक्षाओं के द्वारा जो चमत्कृत सौन्दर्य की योजना हुई है, वह भी आध्यात्मिक प्रभावशील सौन्दर्य का

---

१. ग्रन्था०; जायसी : पद०; ३ जन्म-खण्ड, दो० ६।

२. चित्रा०; उस० : २० दरसन-खण्ड, दो० २७३।

रूप है। नूर मोहम्मद अपने नख-शिख वर्णन को रूप-संकेत में समाप्त कर देते हैं। वे रूप की साधारण रेखाओं के सहारे दिव्य-भावना को प्रस्तुत करते हैं—

भरना ता मुख मान को, मनमाँ रहा समाइ।
बूड़ी लोचन पूतरी, आँसू दृगमों जाइ॥
धन को बदन सुरज की चाँदू। अलकावर नागिन की फाँदू।
नैना मृग कि हैं मतवारी। की चंचल खंजन कजरारी।[1]

एक स्थान पर नूर मोहम्मद भावात्मक सौन्दर्य को प्रकृति से एक रूप करके व्यक्त करते हैं—'इन्द्रावती का मुख पुष्प है तो उसके कपोल कली हैं, उसकी छबि और शोभा निर्मल है। आश्चर्य है! इस सौन्दर्य का कोई अनुमान ही नहीं लगा पाता। पुष्प है, पर विकसनशील भावना को लेकर कली के समान है। कली है, परन्तु उसमें पूर्ण-विकास की भावना विद्यमान है। वह रूप-सौन्दर्य फुलवारी है; और उसका रूप फुलवारी की शोभा है।'[2] यहाँ उपमान आध्यात्मिक सौन्दर्य की योजना करते हैं और व्यंजित सौन्दर्य ही आध्यात्मिक प्रकाश है। उसमान कुँअर को चित्रावली की याद फुलवारी के माध्यम से दिलाते हैं और उस समय फूल आदि में चित्रावली का रूप ही प्रतिबिम्बित हो रहा है। पर यह रूप स्मृति ही दिलाता है—

जूही फूल दिष्टि भरि हेरा। लखे भाव चित्रावली केरा।
अली माल फूलन पर हेरी। होइ सुरति अलकावलि केरी॥
जाहि होइ चित की लगन, मूरख सों सों दूरि।
जान सुजान चहूँ दिसि, वोहि रहा भरि पूरि॥[3]

वस्तुतः सूफ़ी प्रेमी प्रकृतिवादी रहस्यवादियों की भाँति ज्ञात प्रकृति से अज्ञात की ओर नहीं बढ़ते; वे तो उस अज्ञात को प्रकृति में प्रतिबिम्बित देखते हैं। इसी कारण उनमें प्रकृति-रूपक अधिक दूर नहीं चल पाते, उनका आराध्य व्यक्त हो उठता है।

सौन्दर्य से मुग्ध और विमोहित प्रकृति—(ग) ऊपर के रूप-चित्रों के समान वे चित्र भी हैं जिनकी सौन्दर्यात्मक व्याप्ति में प्रकृति केवल प्रभावित ही नहीं वरन् मुग्ध तथा विमोहित लगती है। यहाँ रूप-सौन्दर्य के समस्त प्रसंग में उपमानों की योजना में रूप के प्रकृति-चित्रों का उल्लेख किया गया है। वस्तुतः यह समस्त-योजना साधारण आलंकारिक अर्थ में नहीं मानी जा सकती, इसी कारण आध्यात्मिक व्यंजना में

---

१. इन्द्रा०; नूर० ; पाती-खण्ड; दो० ३-४।
२. वही; मालिन-खण्ड; दो० २।
३. चित्रा०; उस० ; २५ हस्ती-खंड; दो० ३१५।

इसको प्रकृति-रूपों में स्वीकार किया गया है। प्रकृति की अप्रस्तुत-योजना को इन काव्यों में क्यों प्रमुखता मिली इसकी ओर कई बार संकेत किया गया है। जायसी पद्मावती के सौन्दर्य के साथ प्रकृति का विमुग्ध रूप प्रस्तुत करते हैं—'सरोवर के निकट पद्मावती आई, उसने अपना जूड़ा खोलकर केशमुक्त कर दिए। मुख चन्द्रमा है—शरीर में मलयगिरि की सुगन्ध आती है और उसको चारों ओर से नागनियों ने छा लिया है।' कवि उत्प्रेक्षाओं के सहारे सौन्दर्य के प्रभाव की व्यंजना भी करता है—'बादल घुमड़ कर छा गए—और संसार पर उसकी छाया पड़ गई। आश्चर्य! इसके समक्ष चन्द्र की शरण राहु ले रहा है। प्रकाशमान सौन्दर्य के सामने सूर्य की कला छिप गई। नक्षत्रमालिका को लेकर चन्द्रमा उदित हुआ है। उसको देखकर चकोर अपने को भूल उसकी ओर एकाग्र हो गया।' उपमानों की रूप-कल्पना के बाद कवि प्रकृति को प्रत्यक्ष आनन्दोल्लास में मग्न देखता है—

> सरवर रूप बिमोहा, हिए हिलोरहि लेइ।
> पाँव छुवै मकु पावौं, एहि मिसि लहरहि देइ॥

प्रकृति के उल्लास को कवि और भी व्यक्त करता है। अनन्त सौन्दर्य के सामने जैसे प्रकृति-सौन्दर्य चंचल और विमुग्ध हो उठता है। यहाँ चकई के रूप में प्रकृति ही मुग्ध और चकित है।'[1] इस प्रकार का चित्र उसमान ने 'सरोवर-खंड' में उपस्थित किया है। उसमें संकेतात्मक रेखाओं से प्रकृति-सौन्दर्य में प्रभाव के साथ मुग्ध भाव भी सन्निहित है। चित्रावली अपनी सखियों के साथ सरोवर में प्रवेश करती है—'सभी कुमारियाँ स्वर्ण वल्लरियों के रूप में फैल गईं, मानों कमलिनियाँ तोड़ कर जल में डाल दी गई हैं। वे मानों चन्द्रमा के साथ स्वर्ग की तारिकाएँ हैं और वे नभ में क्रीड़ा करती हुई सुशोभित हैं। हंस उनकी शोभा को देख सरोवर छोड़कर चले गए। कच रूपी विषधर ने सरोवर को डस लिया है; उस विष को उतारने की जड़ी तो मन्त्र जानने वाले के पास है। उस चित्रावली के नखशिख से उठने वाली सौन्दर्य की लहर सरोवर के समस्त विस्तार में फैल गई है।'[2] यहाँ प्रकृति आध्यात्मिक सौन्दर्य से मुग्ध ही नहीं वरन् विमोहित हो उठी है। नूर मोहम्मद ने 'नहान-खंड' में इसी प्रकार की व्यंजना की है, परन्तु उनकी प्रवृत्ति उपदेशात्मक अधिक है। इस सौन्दर्य की कल्पना के साथ प्रकृति

---

१. ग्रन्था०; जायसी; प०; ४ मानसरोवर-खण्ड: दो० ४—५।

> "सरवर नहि समाइ संसारा। चाँद नहाइ पैठ लेइ तारा।
> धनि सो नीर ससि तरई ऊई। अब कित दीठ कमल औ कुई।
> चकई बिछुरि पुकारै, कहाँ मिलौं हो नाह।
> एक चाँद निसि सरग मह, दिन दूसर जल माह॥"

२. चित्रा०; उस०; १० सरोवर खण्ड; दो० १०८।

में मुग्ध होने का भाव तो है, पर उल्लास की भावना अधिक व्यक्त नहीं है—'इन्द्रावती ने अपनी केश-राशि मुक्त कर दी, उस समय मेघ की घटा में चन्द्रमा जैसे प्रकाशित हो उठा। जब रानी ने जल में प्रवेश किया, जल चन्द्रमा के प्रकाश से उद्भासित हो गया। उसको धारण कर सरोवर आकाश के समान था जिसमें कुमारी चन्द्रमा के समान सुशोभित हुई। इस प्रकार आकाश में सूर्य और जल में चन्द्रमा उदित है और कमल तथा कुमुद दोनों पुष्पित हैं, क्योंकि दोनों के प्रिय उनके पास हैं।'[१]

नख-शिख योजना : वैभव और सम्मोहन—सूफ़ी साधकों ने इन सांकेतिक रूप-चित्रों के अतिरिक्त नखशिख के विस्तृत वर्णन भी किए हैं। इन शरीर के अंग-प्रत्यंगों के वर्णनों में प्रेमी कवियों ने किसी प्रकार का आकार या व्यक्तिगत रूप उपस्थित करने का प्रयास नहीं किया है। वरन् पिछले जिन सौन्दर्य-चित्रों का उल्लेख किया गया है, उनमें सौन्दर्य की व्यापक व्यंजना रहती है। लेकिन नख-शिख के रूप में सौन्दर्य की कोई भी कल्पना प्रत्यक्ष नहीं हो पाती। इनमें एक ओर प्रकृति-उपमानों की योजना से आध्यात्मिक वैभव प्रकट होता है और दूसरी ओर उस का आकर्षण तथा सम्मोहन व्यक्त होता है। वस्तुतः नख-शिख वर्णन ऐसी स्थिति में किए गए हैं, जब किसीपर रूप का आकर्षण डालना है। इन समस्त प्रेमाख्यानों में नख-शिख वर्णनों की दो परम्पराएँ हैं। सूफ़ी भाव-धारा से प्रभावित काव्यों में नख-शिख वर्णन आध्यात्मिक रूप के आकर्षण और उसकी सम्मोहक शक्ति की व्यंजना को लेकर चलता है। इनमें जायसी का अनुसरण अधिक है। यह बात 'चित्रावली,' 'इन्द्रावती' तथा 'युसुफ जुलेखा' के वर्णनों से प्रत्यक्ष है। दूसरी परम्परा में स्वतन्त्र प्रेमी कवि हैं जिन्होंने प्रेम के आलम्बन-रूप में नख-शिख का वर्णन किया, इनमें 'नल-दमन काव्य' 'पुहुपावती', 'माधवानल कामकंदला' तथा 'विरहवारीश' आदि का नाम लिया जा सकता है। रूप-सौन्दर्य के लिए इन दोनों परम्पराओं ने प्रकृति उपमानों का प्रयोग एक ही प्रवृत्ति के अनुसरण पर किया है, इसलिए इनमें विशेष भेद नहीं जान पड़ता। परन्तु स्वतन्त्र कवियों में व्यापक प्रभावों को व्यंजित करने की भावना बहुत कम है, साथ ही रीति-काव्य के प्रभाव में चमत्कार उनकी प्रवृत्ति भी है। सूफ़ी कवियों में आध्यात्मिक व्यंजना को प्रस्तुत करने वाले प्रमुख कवि जायसी हैं। अन्य कवियों में अनुसरण अधिक है। 'युसुफ़ जुलेखा' के कवि निसार में यह अनुकरण सब से अधिक है।

जायसी की नख-शिख कल्पना—(क) जायसी ने नख-शिख के रूप में सौन्दर्य की जो कल्पना की है उसमें प्रकृति-उपमानों की योजना के माध्यम से उस अलौकिक रूप के ऐश्वर्य तथा सम्मोहन के साथ उसके आकर्षण का उल्लेख भी है।—'वेणी के

१. इन्द्रा०; नूर० ; १२ नहान-खण्ड; दो० १।

खुलने से स्वर्ग और पाताल दोनों में अंधेरा छा जाता है और अष्टकुल नागों का समूह इन्हीं केशों में उलझा हुआ है। ये केश मानों मलयागिरि पर सर्प लगे हैं।[1] उसमान ने भी केशों की समानान्तर कल्पना की है—

प्रथमहिं कहौं केस की सोभा। पन्नग जनों मलयागिरि लोभा।
दीरघ बिमल पीठि पर परे। लहर लेंहि बिषधर बिषभरे॥[1]

रूप-सौन्दर्य का वर्णन करते हुए दुखहरन दास भी केशों का वर्णन इसी प्रकार करते हैं। सौन्दर्य की व्यंजना इनका प्रमुख उद्देश्य है, परन्तु व्यापक प्रभाव का उल्लेख भी मिलता है—

कारे सघन रही जौ राटा। रैन अमावसो पावस घटा।
परही छुटी जो कबहु केसा। रबी छपाइ होई घनी सुपेसा॥[2]

इसी प्रकार जायसी माँग को 'दीपक मानते हैं जिससे रात्रि में भी मार्ग प्रकाशित हो जाता है। मानों कसौटी पर खरे सोने की लकीर बनी हो या घने बादलों में विद्युत की रेखा खिंची हुई हो।.......और मस्तक द्वितीया के चन्द्रमा के समान है उसका प्रकाश तो संसार में व्याप्त है—सहस्र-किरण भी उसके सामने छिप जाता है।...भौंह तो मानों काल का धनुष है, यह तो वही धनुष है जिससे संहार होता है।....आकाश का इन्द्र-धनुष तो उसीकी लज्जा से छिप जाता है।......और नेत्र, वे तो मानो दो मानसरोवर लहरा रहे हैं। वे उछल कर आकाश में लगना चाहते हैं। पवन झकोरा देकर हिलोर देता है और उसे कभी पृथ्वी और कभी स्वर्ग ले आता है। नेत्रों के फिरते ही संसार चलायमान हो जाता है। जब वे फिर जाते हैं तो गगन भी निलय होने लगता है।......बरूनी, वे तो बाण हैं जिनसे आकाश का नक्षत्र-मंडल बेधा हुआ है।......और नासिका उसकी शोभा को कोई भी नहीं पाता; ये पुष्प इसीलिए तो सुगन्धित हैं कि वह उनको अपने पास करले। हे राजा, वे अधर तो ऐसे अमृतमय हैं कि सभी उनकी लालसा करते हैं, सुरंग बिम्बा तो लज्जावश बनों में जाकर फलता है। उसके हँसते ही संसार प्रकाशित हो उठता है—ये कमल किसके लिए विकसित हैं और इनका रस कौन भ्रमर लेगा?......दाँतों की प्रकाश किरणों से रवि, शशि प्रकाशमान है और रत्न माणिक्य और मोती भी उसीकी आभा से उज्ज्वल हैं। स्वभावतः जहाँ वह हँस देती है, वहाँ ज्योति छिटककर फैल जाती है।......जिह्वा से अमृत-वाणी निकलती है जो कोकिल और चातक के स्वर को भी छीन लेती है। वह उस वंसत के बिना नहीं मिलता जिसमें लज्जावश चातक और कोकिल मौन होकर छिप जाते हैं। इस शब्द को जो सुनता है वह माता होकर घूम उठता है।......कपोल

१. चित्रा०; उस० ; १३ परेवा-खण्ड; दो० १७७।
२. पुहु०; दुख० ; सिंगार-खण्ड से।

पर तिल देखकर लगता है आकाश में ध्रुव स्थित है, आकाश रूपी सौन्दर्य उस पर मुग्ध होकर डूबता उतराता है पर तिल को दृष्टि-पथ से ओझल नहीं होने देता।.... कानों में कुंडलों की शोभा ऐसी भासित होती है, मानों दोनों ओर चाँद और सूर्य चमकते हैं और नक्षत्रों से पूरित हैं जो देखे नहीं जाते। मोतियों से जड़ी हुई तरकी पर जब वह आँचल बार-बार डालती है तो दोनों ओर जैसे विद्युत काँप-काँप उठती है। ...और उस सौन्दर्य की सेवा जैसे दोनों कानों में लगे हुए नक्षत्र करते हैं; सूर्य और चन्द्र जिसकी परिचर्या में हों ऐसा और कौन है ? उसकी ग्रीवा के सौन्दर्य से हार कर ही तो मयूर और तमचुर प्रातः संध्या पुकारा करते हैं।....उसकी भुजाओं की उपमा पद्मनाल नहीं है, इसी चिंता में वह क्षीण होता जाता है, उसका शरीर काँटों से बिंध गया है और उद्विग्न होकर यह नित्य साँस लेता है।—और उसकी वेणी ! मानों कमल को सर्प ने मुख में धारण कर लिया है और उस पर खंजन बैठे हैं।... उसकी कटि से हारकर सिंह वनवासी हो गया और इसी क्रोध में मनुष्य को खाता है।.... जिसके नाभि कुंड से मलय-समीर प्रवाहित है, और जो समुद्र के भँवर के समान चक्कर लगाती है। इस भँवर में कितने लोग चक्कर खा गए और मार्ग को पूरा न करके स्वर्ग को चले गए।"[1] इस समस्त वर्णन में प्रकृति का प्रयोग जैसा पहले ही संकेत किया गया है, दो प्रकार से हुआ है। पहले तो सौन्दर्य के ऐश्वर्य तथा प्रभाव को दिखाने के लिए उपमाओं तथा उत्प्रेक्षाओं आदि में प्रकृति के उपमानों का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार की प्रकृति-योजना में व्यापक सौन्दर्य और उसके व्यापक प्रभाव की अभिव्यक्ति हो सकी है। इन आलंकारिक प्रयोगों को प्रकृति-रूपों में इस लिए माना गया है कि यहाँ अलंकारों का प्रयोग व्यंगार्थ में हुआ है। कवि का मुख्य अर्थ इन चित्रों के माध्यम से व्यंजना करना ही है। दूसरे इस सौन्दर्य का प्रकृति पर प्रभाव अत्युक्ति, अतिशयोक्ति आदि के माध्यम से प्रकट किया गया है। कभी-कभी सौन्दर्य-योजना प्रकृति के माध्यम से की गई है; पर उसका प्रभाव मानव हृदय पर प्रतिघटित किया गया है। इस प्रकार नख-शिख वर्णन के प्रसंग चाहे प्रकृति

---

१. ग्रंथा०; जायसी०; प६०; १० नख-सिख-वर्णन-खंड। इसी प्रकार का वर्णन, ४० 'पद्मावती रूप वर्णन-खंड' में भी है जिसमें प्रभावशीलता अधिक है—

"माँग जो मानिक सेंदुर-रेखा। जनु बसंत राता जग देखा।
भोर साँझ रबि होइ जो राता। ओहि रेखा राता होइ गाता।"

राघव चेतन के वर्णन की यह प्रवृत्ति है कि उसमें सौन्दर्य का प्रभाव अधिक दिखाने का प्रयास किया गया है जब कि हीरामनि ने प्रकृति पर अधिक प्रभाव दिखाया है। राघव चेतन मानव के प्रभाव के लिए प्रकृति से अवश्य उपमा देता है—

"बिरवा सूख पात जस नीरू। सुनत बैन तस पलुह सरीरू।
बोल सेवाति-बंद जनु परहीं। स्रवन-सीप-मुख मोती भरहीं।"

के माध्यम से रूप और सौन्दर्य की योजना की दृष्टि से हों, अथवा प्रकृति उपमानों के माध्यम से उस सौन्दर्य की प्रभावशीलता के विचार से हों, आध्यात्मिक सौन्दर्य और प्रेम की व्यंजना को लेकर ही चलते हैं।

अन्य कवि और नख-शिख—(ख) अन्य कवियों में यही भावना मिलती है, केवल अपनी प्रतिभा के अनुसार उनको सफलता मिल सकी है। परन्तु उनपर जायसी का प्रभाव प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। माँग का उल्लेख करते हुए उसमान कहते हैं—

सूर किरन करि बालहि धारा। स्याम रैनि कीन्हों दुइ धारा।
पंथ अकास बिकट जग जाना। को न आइ बोहि पंथ भुलाना।

इस 'माँग' के सौन्दर्य को प्राप्त करना कठिन है; और फिर—

बेनी सीस मलयगिरि सीसा। माँग मोति मनि माथें सीसा।
सूर समान कीन्ह बिधि दीया। देखि तिमिर कर फाट्यो हीया।
स्याम रैनि मँह दीप सम, जेहि अँजोर जग होइ।
अछत भुअँगम माँहि बसि, दिया मलीन न होइ॥

इस प्रकार सौन्दर्य की भावना प्रकृति में व्यापक प्रभाव के रूप में प्रकट हो रही है। आगे उसमान जायसी का अनुसरण करते हैं—'मस्तक द्वितीया का चन्द्र है, जग उसी की बन्दना करता है; उसकी समता कौन करेगा, द्वितीया में ही पूर्णिमा की ज्योति भासमान है। वह ललाट जैसे भाग्य से पूर्ण दीपक हो, जिससे तीनों लोक प्रकाशमान हैं।' यह सौन्दर्य प्रकाशमान ही नहीं वरन् वन्दनीय भी है। कभी-कभी परवर्ती कवियों ने किसी वर्णन में केवल सौन्दर्य के आधार पर प्रकृति उपमानों की योजना से आध्यात्मिक सत्य का संकेत दिया है। निसार ने अधिकतर तो जायसी का अनुसरण किया है। परन्तु कहीं-कहीं उन्होंने ऐसा चित्र उपस्थित किया है जिसमें केवल सौन्दर्य की व्यापकता है—

। सुरसरि जमुना बिच देखा।
औ ता महँ गुँथे गज मोती। राहु केतु महँ नखत के जोती।
दुओ दस घन बाहर जस छावा। मध्य कौंध चमकं दिखरावा।
दामिन अस मह माँग सोहाई। केस घमंड घटा जस छाई।[1]

भौंहों को लेकर उसमान ने भी धनुष की उत्प्रेक्षा दी है और उसका प्रभाव भी व्यापक बताया है—'यह तो बक है, मानों धनुष ताना गया है। इन्द्र का धनुष तो उसको देखकर लज्जित हो जाता है। यह तो मानों संसार के लिए काल हो, जो रात-दिन

१. युसुफ और जुलेखा; निसार; जुलेखा-बरनन-खण्ड।

चढ़ा रहता है। इस धनुष ने युद्ध में कामदेव को पराजित किया है।' और नेत्र अपने सौन्दर्य में—'लाल कमल में जैसे मधुप बंद हों। कहते लज्जा आती है, वह उनके सौन्दर्य की बराबरी में कहाँ ! कमल तो चन्द्रमा को देखकर कुम्हला जाते हैं; और वे शशि के साथ भी प्रफुल्लित रहते हैं।' इसके साथ ही कवि उत्प्रेक्षा से उसके प्रभाव का संकेत देता है—

दोउ समुद्र जनु उठहिं हिलोरा। पल महं चहत जगत सब बोरा।

दुखहरन दास ने सूफी आध्यात्मिक व्यंजना का आश्रय नहीं लिया है, परन्तु वे प्रेम की महिमा के साथ सौन्दर्य की व्यापकता का उल्लेख करते हैं—'इन नेत्रों का सौन्दर्य तो ऐसा है; लगता है दोनों नेत्र दो समुद्र हैं जो हिलोर ले रहे हैं, जिसके प्रसार में पृथ्वी, आकाश और सारा विश्व डूबता जा रहा है।' कवि इस सौन्दर्य की कल्पना इस प्रकार पूरी करता है—

कंदहु चंद सुरुज दोउ, साजि धरो करतार।
मूंदे जग अंधियार होइ, खोलत सभ उजियार॥[1]

आगे उसमान परम्परा के अनुसार वर्णन करते हैं—'कपोल पर तिल इस प्रकार शोभा देता है, मानों मधुकर पुष्प पर मोहित हो रहा है।···यदि यह तिल न होता तो प्रकाशहीन स्थिति में कोई किसी को पहिचानता भी नहीं, उसी एक तिल की परछाहीं से सबके नेत्रों में प्रकाश है।···कवि नासिका को फूल के समान कहते हैं पर पुष्प तो इसी लज्जा से पृथ्वी पर च्युत हो जाता है।···और अधर ! उनके सामने विद्रुम तो कठोर और फीके हैं, वे तो सजीव, कोमल, रंगमय तथा हृदय को कष्ट देनेवाले हैं···· बिंबा उसकी तुलना क्या करेगा, वह तो लज्जा से बन में जा छिपा है।···उसके मुख-चन्द्र से संसार प्रकाशमान् है, और अमृत तुल्य अधर प्राणदान करता है।' आधिभौतिक प्रकृति चित्रों की योजना से उसमान ने दाँतों की कल्पना में आध्यात्मिक संकेत दिए हैं—'देवताओं ने चंद्रमा में क्यारियाँ बनाई हैं, और अमृत सानकर बारी को ठीक किया है। उसमें दाड़िम के बीज लगाए हैं जिनकी रखवाली काले नाग करते हैं। वे रात-दिन उसके पास रहते हैं, नहीं तो शुक, पिक या खंजन उनको चुन लें।' कवि सौन्दर्य की इस अतिप्राकृत कल्पना के साथ व्यापक प्रभाव का उल्लेख भी करता है—

इक दिन बिहँसी रहसि कं, जोति गई जग छाइ।
अब हूँ सौंरत वह चमक, चौंधि चौंधि जिय जाइ॥

'नल दमन काव्य' में 'दसन' को लेकर सौन्दर्य और प्रभाव संबन्धी उत्प्रेक्षायें की गई हैं। सौन्दर्य को लेकर, प्रकृति के माध्यम से उसके व्यापक प्रभाव की बात कहना इन

१. पुहु०; दुख० ; सिंगार-खंड।

कवियों का उद्देश्य है—'दाँत जैसे हीरा छील कर गढ़े गए हों'''बोलते ही संसार में प्रकाश हो जाता है, लगता है जैसे शशि में कौंधा चमक गया हो; और जो वह हँस कर बोलती है वही चंचल होकर चपला के रूप में चमक उठता है। इसीके आगे कवि उत्प्रेक्षा द्वारा प्रकृति पर प्रतिबिम्बित सौन्दर्य की व्यंजना करता है,—

देख दसन दुति रतन दुर, पाहन रहे समाइ।
तिनहिं लाज चपला मनों, निकसत औ छिपि जाइ॥[1]

रसना को लेकर सभी कवियों ने वाणी का उल्लेख किया है, पर उसमें प्रभाव की बात विशेष है। उसमान ने उसे सौन्दर्य रूप देने का प्रयास भी किया है,—

जेहि भीतर रसना रस भरी। कौल पाँखुरी अमिरित भरी।
दसन पाँति महँ रही छिपानी। बोलत सो जनु अमिरित बानी॥
उकतिन बोलत रतन अमोलो। आँब चढ़ी जनु कोइल बोलो।

परन्तु इसमें अमृत्व तथा जिलाने की बात ही अधिक महत्वपूर्ण हो उठी है—

त्यौं-त्यौं रतन जियावई, ज्यों ज्यों मारहिं नैन।

वाणी के प्रसंग में 'नल दमन काव्य' में प्रकृति को लेकर अधिक व्यंजक उक्तियाँ है—'वाणी की मधुर रसज्ञता को प्राप्त करने के लिए मृग नेत्र के रूप में आये हैं। पिकी लज्जित होकर काली हो गई, और उसने नगर को छोड़कर वन में विश्राम लिया है'; और—

स्वांत बुंद लिय बैन सुन, चातक मिटो पियास।
सुस्रन सीप होइ उतरी, दुहों कूल तिन्ह आस।[1]

इसी प्रकार उसमान चिबुक को 'अमृत तुल्य मानते हैं और उसे कूप के समान कहते हैं, जिसमें पड़कर मन डूबता उतराता है।' कान और उसमें पहिनी हुई तरकी का वर्णन भी इन्हीं सौन्दर्य उपमानों के आधार पर व्यापक आकर्षण को लेकर हुआ है,—

निसि दिन मुकता इहै गुनाहीं। खंजन झाँकि-झाँकि जिमि जाहीं।
कंचन खुटिला जान बखाना। गुरु सिथ देइ लाग ससिकाना।

आगे इसी भाव-धारा में कवि वर्णन करता जाता है—'नाचते हुए मोर ने ग्रीवा की समता की, और इसी कारण वह सिर धुनकर रो उठा। शंख भी उसकी समता नहीं कर सका और वह प्रातः संध्या चिल्ला उठता है।'''गले में सुन्दर हँसुली है, उसकी समानता चन्द्रमा और सूर्य भी नहीं कर पाते, इसी लिए वे राहु की शंका से छिप जाते हैं। और भुजाएँ कमल-नाल हैं जिनके हृदय में छिद्र हैं।' कुच का वर्णन जायसी के

---

१. नल०; सिंगार-वर्णन।
२. वही०; वही०।

समान उसमान ने भी सौन्दर्य में प्रभाव उत्पन्न करके उपस्थित किया है—'बारीक वस्त्र में इस प्रकार झलकते हैं, मानों अन्दर दो कमल की कलियाँ हों; मुक्ताहलों के बीच में उनकी शोभा इस प्रकार की है, मानों चक्रवाक का जोड़ा बिछुड़ गया हो।' और उनका प्रभाव तो ऐसा है—

होइ भिखारी सब चहहिं, जाइ पसारन हाथ।

और 'नाभि तो सिंधु में भँवर के समान है, जिसमें गिरकर फिर निकलना नहीं होता; खिलती हुई कली सुशोभित हो, और जिसकी गंध आज भी भ्रमर ने प्राप्त न की हो। क्षीर सिन्धु से जब मथानी निकाली गई, तो वह जहाँ पहले खड़ी थी, वही भँवर यह नाभि है—जो उस नाभि कुंड में पड़ जाय वह बाहर निकल नहीं सकता।'''गमन करते समय जंघा की शोभा ऐसी है कि गज और हंस का मद दूर हो जाता है। गज लज्जित होकर शीश धुनता है, और हंस मानसरोवर डूबने चले गए हैं।'[1] इस प्रकार इन सूफ़ी कवियों तथा एक सीमा तक स्वतन्त्र कवियों ने भी प्रकृति उपमानों के द्वारा अलौकिक ऐश्वर्य और प्रभाव का वर्णन किया है। और साथ ही वह सौन्दर्य प्रकृति पर प्रतिबिम्बित होकर उसे मुग्ध और विमोहित करता है। यह समस्त सौन्दर्य इनके आध्यात्मिक प्रेम का आलम्बन है। इस आध्यात्मिक भावना के क्षेत्र में प्रकृति के लिए अतिप्राकृत हो उठना स्वाभाविक है, यह संतों के विषय में हम देख चुके हैं। उन्होंने व्यक्त रूप से लौकिक आश्रय नहीं लिया था। परन्तु सूफ़ी प्रेमियों का लौकिक आधार प्रत्यक्ष है, और यही कारण है कि इनकी अलौकिक कल्पना नख-शिख की सीमाओं में आने का प्रयास करती है।

प्रकृति और पात्र—हिन्दी मध्ययुग के सूफ़ी तथा अन्य प्रेमी कवियों ने लोक-प्रचलित परम्पराओं से बहुत कुछ ग्रहण किया है। इनमें से एक परम्परा प्रेमाख्यानों में प्रकृति-पात्रों को ग्रहण करने की है। इन कवियोंने इनको आध्यात्मिक प्रतीक के अर्थ में लिया है। जायसी का सुआ गुरु के समान है, वह आध्यात्मिक साधना का सहायक है; पर वह स्वयं पद्मावती को अपना गुरु (आराध्य) कहता है। इसी प्रकार अन्य काव्यों में अति-प्राकृत पात्रों का उल्लेख है। 'चित्रावली' में देव राजकुमार को चित्रसारी ले जाता है। फिर इसमें हाथी, पक्षी आदि का भी अतिप्राकृत के रूप में उल्लेख है। इस प्रकार इन्होंने लौकिक परम्परा को आध्यात्मिक व्यंजना के लिए प्रयुक्त किया है। यह इनकी व्यापक प्रवृत्ति भी है। इन्होंने रूपकातिशयोक्ति से परिस्थिति के अनुकूल प्रकृति-पात्रों से आध्यात्मिक वातावरण प्रस्तुत किया है। इन वर्णनों में पात्रों के नाम के स्थान पर कवि प्रकृति-रूपों का प्रयोग करता है। इस प्रकार के उपमानों के प्रयोग से स्थितियों और भावों पर आध्यात्मिक प्रकाश आ जाता है। ऐसे प्रयोग सभी कवियों

१. चित्रा०; उस० ; १२ परेवा-खंड में समस्त नख-शिख का प्रसंग है।

के काव्य में फैले हुए हैं। 'मानसरोवर-खंड' में जायसी पद्मावती के साथ सखियों की कल्पना एक बार 'जनु फुलवारि सबै चलि आई' के रूप में कर लेते हैं; और आगे चित्र को प्रकृति उपमानों के रूप में पूरा करके आध्यात्मिक वातावरण प्रस्तुत करते हैं—

कोई चंपा कोई कुंद सहेली। कोइ सुकेत करना रस बेली।
कोई कूजा सद वर्ग चमेली। कोई कदम सुरस रस-बेली।
चली सबै मालति संग, फूली कँवल कुमोद।
बेधि रहे गन गंधरब, बास परमदामोद॥[1]

इसी प्रकार की व्यंजना अन्यत्र सखियाँ पद्मावती को सम्बोधित करने में सन्निहित करती हैं—'हे पद्मिनी तू कँवल की कली है; अब तो रात्रि व्यतीत हो गई प्रातः हुआ, तू अब भी अपनी पंखड़ियों को नहीं खोलती जब सूर्य उदित हो गया है।' इस पर 'भानु का नाम सुनते ही कमल विकसित हो गया, भ्रमर ने फिर से मधुर गंध ग्रहण की।'[2] आगे अन्योक्ति या समासोक्ति के द्वारा कवि प्रेम और आध्यात्मिक व्यंजना को एक साथ उपस्थित करता है—'भ्रमर यदि कमल को प्राप्त करे, तो यह उसकी बड़ी मानना और आशा है। भ्रमर अपने को उत्सर्ग करता है, और कमल हँसकर सुगन्ध दान देता है।'[3] इसमें भ्रमर और कमल के आश्रय से एक ओर पद्मावती और रत्नसेन का और दूसरी ओर साधक तथा उसकी प्रेमिका का उल्लेख है। इसी प्रकार के प्रयोग उसमान भी स्थान-स्थान करते हैं—'ससि समीप कुमुदिन मुँह खोला' या इसी खंड में आगे सखियों का फुलवारी के रूप में कवि वर्णन करता है—

खेलत सब निसरीं जेहि ओरी। होत बसंत आव तेहि ओरी।
मधुकर फिरहिं पुहुप जनु फूले। देवता देखि रूप सब भूले।[4]

इसी प्रकार एक भाव स्थिति का रूप प्रकृति-उपमानों के आश्रय से उपस्थित किया गया है—

सुनि कै कौंल बिकल होइ गई। मानहुँ साँझ उदय ससि भई।
मधुकर भँवै कंज ब रागा। कंजक मन सूरज सों लागा।[5]

इसमें प्रेम की व्यंजना के माध्यम से आध्यात्मिक सीमा का संकेत है।

प्रकृति उपमानों से व्यंजना—प्रेमी कवियों की व्यापक प्रवृत्ति है कि वे अपने

---

१. ग्रंथा०; जायसी०; पद्०, ४ मानसरोवर-खंड, दो० १।
२. वही; वही; २४ गंधर्वसेन-मन्त्री-खंड; दो० १२।
३. वही; वही; २७ पद्मावती-रत्नसेन-भेंट-खंड; दो० १६।
४. चित्रा०; उस०; चित्रावली-जागरण-खंड; दो० ११७।
५. वही; वही; २७ सोहित खंड; दो० ३८६।

आलंकारिक प्रयोगों में प्रकृति उपमानों की योजना से प्रेम, सत्य आदि के आध्यात्मिक संकेत देते हैं। इनकी विस्तार में विवेचना करना न सम्भव है और न आवश्यक ही। इन उपमानों के माध्यम से रूपक, रूपकातिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति तथा अन्योक्ति आदि में प्रेम यौवन आदि की व्यंजना की गई है। जायसी प्रेम की तीव्रता का उल्लेख करते हैं—

सरग सीस धर धरती, हिया सो पेम समुंद।
नैन कौड़िया होइ रहे, लेइ लेइ उठहि सो बुंद।[1]

फिर अन्यत्र इसी प्रेम को सरोवर, कमल, सूर्य, आदि की कल्पना में व्यंजित करते हैं। इसमें लुप्तोपमा के द्वारा जो रूपकातिशयोक्ति उपस्थित की गई है, उससे व्यंजना का सौन्दर्य बढ़ गया है।[2] प्रेम की आध्यात्मिक स्थिति, यौवन की विकलता को कवि ने समुद्र की गम्भीरता के माध्यम से व्यक्त किया है।[3] इस प्रकार की प्रेम और विरह आदि सम्बन्धी व्यंजनाएँ लगभग सभी कवियों ने प्रकृति-उपमानों के माध्यम से की है। उसमान प्रेम की व्याकुलता को सूर्य, कमल और भ्रमर के माध्यम से व्यक्त करते हैं—

सोई सविता बाहरें, रहेउ कौल कुम्हिलाइ।
भोर भौंर तन प्रान भा, निकसै कहँ अकुलाइ॥

और विरह की व्यापकता को इस प्रकार व्यक्त करते हैं —

बिरह समुद्र अथाह देखावा। औधि तीर कहुँ दृष्टि न आवा।
सुरति समिरन लहरैं लेई। बूड़त कोऊ न धीरज देई।[4]

नूर मोहम्मद ने कमल के प्रतीकार्थ से स्वप्न में आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना की है—

कमल एक लागा जल माहीं। आधा बिकुसा आधा नाहीं।
मधुकर एक आइ रस लीन्हा। लै रसबास गवन पुनि कीन्हा।[5]

इन कवियों के आलंकारिक प्रयोग कमल, सूर्य, भ्रमर, चातक, चकोर चन्द्रमा, सागर, सरोवर तथा आकाश आदि को लेकर व्यंजक हो उठते हैं। समासोक्ति के द्वारा 'नल

---

१. ग्रंथा०; जायसी; पद०; १३ राजा-गजपति-संवाद; दो० ४।
२. वही; वही; १६ सिंहलद्वीप-वर्णन-खंड; दो० २—
"गगन सरोवर ससि-कँवल, कुमुद-तराइन्ह पास।
तू रवि ऊआ भौंर होइ, पौन मिला लेइ बास॥"
३. वही; वही; १८ पद्मावती-वियोग खंड; दो० ६—
"धरिउँ अथाह, धाइ हौं जोबन-उदधि गँभीर।
तेहि चितवौं चारिहु दिस, को गहि लावै तीर॥"
४. चित्रा०; उस० ; ४० हंस-खंड; दो० ५४६।
५. इन्द्रा०; नूर० ; ५ फाग-खंड; दो० २१।

दमन काव्य' में मिलन को व्यक्त किया गया है,—

मिला कँवल मधुकर कर जोरा। सेज सरोवर लीन्ह हिलोरा।
भँवर समाइ कँवल मह रहै। कँवल सो सिमिट भँवर कह गहै।[1]

जीवन और जगत् का सत्य—साधना सम्बन्धी सत्यों के अतिरिक्त प्रेमी साधकों ने जीवन और जगत् के सत्यों का उल्लेख भी इसी प्रकार प्रकृति उपमानों की योजना से किया है। इन्होंने साधना के मार्ग की कठिनाइयों का जो वर्णन किया है; उसका उल्लेख अन्य प्रकरण में किया जायगा। यहाँ जीवन और सर्जन में दिखाई देनेवाली क्षणिकता, परिवर्तनशीलता आदि को व्यक्त करनेवाले प्रयोगों को देखना है। प्रकृति सम्बन्धी इन दृष्टान्तों, रूपकों और समासोक्तियों में भी व्यंजना आध्यात्मिक जीवन के प्रति ही की गई है। जीवन और उसके सम्बन्धों के विषय में उसमान कहते हैं—'कहाँ के लोग और कहाँ के सम्बन्ध—जिस प्रकार दिन बीतने पर अँधेरा छा जाता है; पक्षी वृक्षों पर आकर बसेरा लेते हैं। फिर दिन होने पर सूर्य प्रकाशित होता है, नेत्र-कमल फिर विकसित हो जाते हैं। रवि के प्रसाद से मार्ग सूझ जाता है, रात्रि का अँधकार मिट जाता है।—पक्षी वृक्ष की डाल छोड़कर जहाँ से आए थे चले जाते हैं।'[2] इसमें प्रकृति के दृष्टान्त से परिवर्तन और क्षणिकता तथा परम-सत्य का संकेत किया गया है। सांसारिक प्रेम की क्षणिकता की ओर संकेत करता हुआ कवि लिखता है,—

ना सो फूल न सो फुलवारी।....दृष्टि परी सब बारी।
ना वह भौंर जाहि रँग राती। बिहरै लाग कौंल की छाती।[3]

पीछे कहा गया है कि नूर मोहम्मद में उपदेशात्मक प्रवृत्ति अधिक है; इसलिए साधना विषयक उपदेशों में प्रकृति का आश्रय भी उन्होंने अधिक लिया है। प्रकृति के व्यापक विस्तार से कवि क्षणिकता और परिवर्तन का स्वरूप उपस्थित करता है—'तुम नरमी हो, चिन्ता कुछ नहीं है। यह तो नियम है....अन्त में रंगमय पुष्प कुम्हला ही जाते हैं। फूल पहले दिन सुन्दर लगता है—दूसरे दिन उसका रंग फीका हो जाता है। पूर्ण चन्द्रमा जो इतना सुन्दर है—दिन-दिन घटता है। हे सभगे! और सब वृक्षों की ओर देखो—पत्ते लगते हैं और झरते भी हैं, जो वृक्ष की शाखा हरी-भरी है, उसमें पतझर होने वाला ही है।'[4] प्रकृति के माध्यम से कवि ने सांसारिक यौवन की

१. नल०; पृ० १०१।
२. चित्रा०; उस०; १४ उद्योग-खंड; दो० २१८।
३. वही; वही; २१ कुटीचर-खंड; दो० १४।
४. इन्द्रा०; नूर०; ५ फाग-खंड; दो० १४।

क्षणिकता का उल्लेख किया है। 'फुलवारी खण्ड' में प्रकृति-व्यापारों के द्वारा कवि पात्र के मुख से व्यंजना कराता है—'धन्य है मधुकर और धन्य है पुष्प, जिसपर उसका मन भूला रहता है। संसार में भ्रमर और पुष्प का प्रेम सराहनीय है। भ्रमर को पुष्प की चिन्ता है; और पुष्प अपनी गंध तथा अपने रस का समर्पण उसे करता है।'[१] यहाँ प्रेम की आध्यात्मिक स्थिरता का उल्लेख किया गया है। पर क्षणिक और नश्वर सृष्टि के माध्यम से स्रष्टा का संकेत भी दिया गया है।

यह जग है फुलवारी, माली सिरजन हार।
एक एक सो सुन्दर, लावत ताहि मझार॥
जौरन यह जगती हम पाई। नितु एक आवे नितु एक जाई।
केतिक बरन के फूलन फूले। केतिक की लालस मन भूले।[२]

इस प्रकार प्रकृति उपमानों का यह आलंकारिक प्रयोग साधना के मार्ग को परिष्कृत और स्पष्ट करने के लिए हुआ है।

१. वही; वही; ७ फुलवारी खंड; दो० ५।
२. वही; वही; ७ फुलवारी-खंड; दो० २५।

पंचम प्रकरण

आध्यात्मिक साधना में प्रकृति-रूप—२

भक्ति-भावना में प्रकृति-रूप

रूप की स्थापना—सगुणात्मक भक्ति में ईश्वर की कल्पना पूर्ण गुणों में की गई है और साथ ही अवतार के रूप में ईश्वर का मानवीय व्यक्तीकरण हुआ है। रामानुज के विशिष्टाद्वैत के अनुसार ब्रह्म, जीव और प्रकृति तीनों सत्य हैं और अपनी सत्ता में अलग होकर भी ब्रह्म में जगत् सन्निविष्ट है। ब्रह्म (विशेष्य) का जीव और जगत् (विशेषणों) से अलग करके वर्णन नहीं किया जा सकता। ब्रह्म में समस्त सर्जन का अन्तर्भाव हो रहा है। ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है, पर वह ब्रह्म निर्गुण और निर्विशेष नहीं है। वह तो सविशेष अर्थात् विशिष्ट है।[1] उनके अनुसार ब्रह्म पूर्ण व्यक्तित्व है और अन्य जीव अपूर्ण रूप से व्यक्ति हैं। व्यक्तित्व प्राप्त होने से उसमें पूर्ण गुणों की कल्पना सन्निहित है; जब कि जीव उन्हीं गुणों की पूर्णता प्राप्त करने में प्रयत्नशील है। वस्तुतः जैसा तीसरे प्रकरण के प्रारम्भ में कहा गया है यह ब्रह्म के व्यक्तित्व के विकास का सामाजिक क्षेत्र है। इस व्यक्तित्व के सामाजिक गुणों, शक्ति, ज्ञान और प्रेम के अतिरिक्त भगवान् के व्यक्तित्व में अवतारवाद के साथ रूपात्मक गुणों की कल्पना भी सन्निहित है। जब ब्रह्म भगवान् के रूप में साधना का आश्रय होता है, उस समय सामाजिक भावों के रूप में उस व्यक्तित्व से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। परन्तु इन भावों के लिए आलम्बन का रूप भी आवश्यक है। और इस रूप की कल्पना प्रकृति के सौन्दर्य के माध्यम से कवि करता है। प्रकृति के नाना रूपों से ही मानवीय सौन्दर्य रूपों की स्थिति है; और रूप की सौन्दर्य योजना में भक्त कवि फिर इन्हीं रूपों का आश्रय लेता है।[2] दार्शनिक दृष्टि से

---

१. इंडियन फ़िलासफ़ी (भाग २); एस० राधाकृष्णन्; नवम प्रकरण; पृ० ६८३-६।

२. प्रथम भाग के चतुर्थ प्रकरण में सौन्दर्यानुभूति और प्रकृति पर विचार किया गया है।

प्रकृति ईश्वर का निवास स्थान या शरीर मानी गई है। सगुण भक्ति के दास्य-भाव और माधुर्य-भाव का आश्रय भगवान् का जो व्यक्तित्व है, उसमें अपनी-अपनी सीमाओं के अनुसार चरित्र और रूप का आश्रय लिया गया है। हिन्दी सगुण भक्त कवियों ने प्रेम-भक्ति का आश्रय लिया है और यही कारण है कि उनके काव्य में भगवान् के रूप-सौन्दर्य की स्थापना प्रमुखतः मिलती है।

प्रकृतिवादी सौन्दर्योपासना और सगुणवादी रूपोपासना—रूप-सौन्दर्य में प्रकृति-रूपों की योजना पर विचार करने के पूर्व, प्रकृतिवादी सौन्दर्योपासना और सगुणवादी रूपोपासना के सम्बन्ध को समझ लेना आवश्यक है। हम कह आए हैं, भारतीय भक्ति-युग के साहित्य में भगवान् की प्रत्यक्ष भावना के कारण प्रकृतिवाद को स्थान नहीं मिल सका। वैदिक प्रकृतिवाद के बाद साहित्य में उसकी स्थापना नहीं हो सकी। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि प्रकृति का सौन्दर्य-भाव आध्यात्मिक साधना का विषय नहीं बन सका। आगे की विवेचना में हम देखेंगे, प्रकृति का राशि-राशि विकीर्ण-सौन्दर्य भक्तों की भावना का आलम्बन हुआ है। पर यह समस्त सौन्दर्य उनके आराध्य के रूप-निर्माण को लेकर ही है। पीछे के प्रकरणों में प्रकृति की रूप-योजना का आध्यात्मिक रूप देखा गया है। पर उन साधकों में अपने उपास्य के आकार का आग्रह नहीं था। इस कारण उनकी सौन्दर्य-योजना में प्रकृति का रूप अरूप तथा अतिप्राकृत की ओर अधिक झुका हुआ है। लेकिन सगुण भक्तों की रूप-साधना में प्रकृति के सौन्दर्य का मूर्त रूप भी प्रत्यक्ष होकर सामने आया है। फिर भी प्रकृतिवादी तथा वैष्णव सौन्दर्योपासना में एक प्रकार की अनुरूपता मिलती है, जो समानान्तर होकर भी प्रति-कूल दिशा में चलती है। प्रकृतिवादी कवि प्रकृति के फैले हुए सौन्दर्य के प्रति सचेष्ट और आकर्षित होकर उसकी क्रियाशीलता पर मुग्ध होता है। उसके माध्यम से किसी अज्ञात सत्ता की ओर वह अग्रसर होकर उसकी अनुभूति प्राप्त करता है। वैष्णव भक्त के लिए यही अज्ञात ज्ञात है, परिचित है। उसका साक्षात् उसे है। वह अपने आराध्य के व्यक्तित्व-आकर में जिस सौन्दर्य का अनन्त दर्शन पाता है उसमें प्रकृति का सारा सौन्दर्य अपने आप प्रत्यक्ष हो उठता है। रूप-सौन्दर्य की विवेचना में हम देखेंगे कि उसके विभिन्न रूप प्रकृतिवादी भावना के समान स्थिर, सचेतन और सप्राण, अनन्त और अलौकिक रूपों से सम्बन्धित हैं। प्रकृतिवादी दृष्टि की तुलना रूप-सौन्दर्य तक ही नहीं सीमित है, वरन् प्रकृति-चित्रण में प्रतिबिम्बित आह्लाद और उल्लास की भावना से भी की जा सकती है। प्रकृतिवादी रहस्यवादी प्रकृति के सचेतन-सप्राण सौन्दर्य में एक ऐसा सम प्राप्त करता है जो तर्क से परे होकर आन्तरिक आनन्द का कारण

बन जाता है।[1] इसीके विपरीत वैष्णव भक्त-कवि अपने आराध्य की प्रत्यक्ष सौन्दर्य भावना से ऐसा सम स्थापित करता है कि उस क्षण प्रकृति भी आनन्द भावना से उल्लसित हो उठती है।

रूप में शील और भक्ति—सगुणात्मक भक्ति रूप की साधना है, उसमें भगवान् के व्यक्तित्व की स्थापना है। और व्यक्तित्व अपने मानवीय स्तर पर रूप को लेकर ही स्थिर है। वैष्णव कवि अपने आराध्य के व्यक्तित्व को स्थापित करके चलता है और इस व्यक्तित्व का आलम्बन रूप है, जो भावात्मक साधना में सौन्दर्य का ही अर्थ रखता है। इनमें दो प्रकार के भक्त व्यापक रूप से कहे जा सकते हैं। रूप-सौन्दर्य की भावना और स्थापना सभी कवियों में पाई जाती है। परन्तु अपनी भक्ति के अनुरूप दास्यभाव की साधना करने वाले कवियों ने रूप के साथ भगवान् की शक्ति और उनके शील का समन्वय किया है। तुलसी और सूर के विनय के पदों से यह प्रत्यक्ष है। अपने आराध्य के रूप के साथ, तुलसी के सामने उनका शील, उनकी शक्ति भी है—'संसार के भयानक भय को दूर करने वाले कृपालु भगवान् रामचन्द्र का हे मन भजन कर! वे कितने सुन्दर हैं, कमल के समान लोचन हैं, कमल के समान मुख है, हाथ भी कमल के समान हैं और उनके पैर भी लाल कमल के समान हैं। उस नील नीरद के समान शरीर वाले की शोभा तो अनेक कामदेवों से भी अधिक है। जानकीनाथ के शरीर पर पीतांबर तो मानों विद्युति छटा वाला है। ऐसे सौन्दर्य मूर्त्ति, सूर्य-वंश में श्रेष्ठ, दानव तथा दैत्यों के वंश को नष्ट करने वाले शक्तिमान को, हे मन भज।'[2] इस पद में तुलसी ने सौन्दर्य की कल्पना के साथ शक्ति का समन्वय भी किया है। 'विनयपत्रिका' में राम के शील, उनकी करुणा आदि का अधिक उल्लेख है; रूप तो कहीं-कहीं झलक भर जाता है। इसी प्रकार सूर के विनय सम्बन्धी पदों में भी रूप से अधिक भगवान् की करुणा, उदारता, शक्ति और शील की बात कही गई है। सूर विनय के प्रसंग में भगवान् के चरित्र का ही उल्लेख करते हैं—

—प्रभु को देखो एक सुभाई।
अति गंभीर उदार उदधि सरि जान शिरोमणि राई।
तिनको सो अपने जनको गुण मानत मेरु समान।

---

१. हिन्दू मिस्टिसिज्मः महेन्द्रनाथ सरकार; प्रक० २—'फ़ेज ऑव इमीडियेट इक्सपीरियन्स'; पृ० ७—

"ऐसा प्रकृति का सप्राण अध्यात्म-दृश्य (vision) रहस्यात्मक चेतना को स्पर्श करता है—जो तार्किक चेतना से भिन्न है। यह प्रकृतिवादी रहस्यवाद कहा जा सकता है और काव्यात्मक सौन्दर्य तथा माधुर्य के समान है। द्रष्टा सचेतन सप्राण प्रकृति का सत्य के दर्पण के समान अनुभव करता है। प्रकृति चेतन-शक्ति से स्थानान्तरित न होकर उसी से आपूरित हो जाती है।"

२. विनय०; तुलसी; पद ४५।

सकुचि समुद्र गनत अपराधहिं बूंद समान भगवान।
बदन प्रसन्न कमल ज्यों सन्मुख देखत हौं हौ जैसे।[1]

इस पद में सूर अपने आराध्य के मुख-कमल के सौन्दर्य को प्रत्यक्ष सम्मुख देखते हुए भी उनके शील पर अधिक मुग्ध हैं। इस प्रसंग में यदि रूप की कल्पना होती भी है तो वह शक्ति और शील का स्मरण दिलाती है—'चरण-कमलों की वन्दना करता हूँ। कमलदल के आकार वाले नेत्र हैं जिससे ऐसे सुन्दर श्याम की त्रिभंगी सुन्दर छवि प्राणों को प्यारी है। जिन कमल-चरणों ने इतनों को तारा है, वे क्या सूरदास के त्रिविध ताप नहीं हरेंगे।'[2] परन्तु दास्य भक्ति के अतिरिक्त भक्ति साधना के अन्य रूपों में भगवान् के व्यक्तित्व में सौन्दर्य की योजना प्रमुख है।

रूप-सौन्दर्य—माधुर्य भाव के आलम्बन रूप में भगवान् की कल्पना सौन्दर्यमयी होना स्वाभाविक है। यह सौन्दर्य कल्पना प्रकृति में अपना रूप भरती है। प्रकृति के अनंत रंग-रूप, उसकी सहस्र-सहस्र स्थितियाँ उपमानों की आलंकारिक योजना में रूप को सौन्दर्य दान करती हैं। सौन्दर्य-चित्रण में प्रयुक्त उपमानों की विवेचना अलंकारों के अन्तर्गत की जा सकती है। परन्तु आध्यात्मिक सौन्दर्य की इस कल्पना में भगवान् का रूप केवल अलंकार का विषय न होकर साधना का आलम्बन है। भक्त कवि अपने आराध्य के रूप को अनेक अवस्था, स्थिति तथा परिस्थितियों में रखकर देखता है और उस चिर नवीन रूप की अभिव्यक्ति प्रकृति के माध्यम से करता है। वह उस सौन्दर्य को व्यक्त करके भी व्यक्त नहीं कर पाता और स्वयं मुग्ध-मौन हो उठता है। मध्ययुग के उत्तर रीति काल में सौन्दर्य कल्पना का आलम्बन तो यही रहा, पर साधक का मुग्ध भाव नहीं मिलता। भक्त कवियों ने कृष्ण के रूप का वर्णन विभिन्न अवस्थाओं और स्थितियों में किया है। साथ ही उनके रूप-सौन्दर्य को विभिन्न छायातपों में भी उपस्थित किया गया है। सूर रूप-सौन्दर्य के वर्णन में अद्वितीय हैं। एक ही स्थिति को अनेक प्रकारों से उद्भासित करने की प्रतिभा सूर में ही है। तुलसीदास ने 'गीतावली' में इसी शैली को एक सीमा तक अपनाया है।

रूप में आकार और व्यक्तित्व—संतों और प्रेमी-साधकों के विषय में कहा गया है कि उनके सामने जो रूप था उसमें आकार की सीमाएँ नहीं हैं। परन्तु भक्त कवियों के रूप में आकार सन्निहित है। उनके सामने सौन्दर्य की प्रत्यक्ष कल्पना है जिसमें रूप के साथ आकार की सीमाएँ भी हैं। साथ ही यह भी समझ लेना आवश्यक है कि इस रूप में व्यक्तित्व का आरोप नहीं है और उसके आकार में सीमाओं का बन्धन भी नहीं है। सौन्दर्य की अनन्त और अलौकिक भावना में रूप खोकर अरूप हो जाता है और

१. सूरसागर; प्र० स्कं०; पद ८।
२. सूरसागर; प्र० स्कं; पद ३६।

उसके सप्राण-सचेतन आकार में सीमा से असीम की ओर प्रसरित होकर मिट जाने की संभावना बनी रहती है। सूरदास के लिए आराध्य के स्थिर-सौन्दर्य पर रुकना कठिन है। यही कारण है कि उनके चित्रों में चेतन, अनन्त और अलौकिक सौन्दर्य की ओर क्रमशः बढ़ने की प्रवृत्ति है। सीमा के अनुसार भक्त कवियों की रूपोपासना के विषय में यही कहा जा सकता है। रीति काल के कवियों में वस्तु रूप स्थिर-सौन्दर्य को अलौकिक या चमत्कृत भावना में परिसमाप्त करने की प्रकृति पाई जाती है। साथ ही इस काल की अलौकिक भावना चमत्कार से सम्बन्धित है। तुलसी अवश्य अपने आराध्य के स्थिर-सौन्दर्य पर रुकते हैं, क्योंकि उन्हें रूपकार के साथ शील तथा शौर्य का समन्वय भी करना था। लेकिन इनके सौन्दर्य में भी अनन्त की भावना साथ चलती है। तुलसी ने 'रामचरित-मानस' में राम के रूप और आकार के साथ व्यक्तित्व जोड़ने का प्रयास किया है। 'रामचरित-मानस' प्रबन्ध काव्य है और नायक के रूप में राम के रूपाकार में व्यक्तित्व का संकेत देना कवि के लिए आवश्यक हो उठा है। फिर भी कवि ने इन वर्णनों में अनन्त सौन्दर्य के संकेत सन्निहित कर दिए हैं। राम के नख-शिख का समस्त रूपाकार अपने व्यक्तित्व के साथ भी सौन्दर्य को सीमाएँ नहीं दे सका....वह उसे पाने के प्रयास में अलौकिक और अनन्त होकर अरूप ही रहा। तुलसी प्रसिद्ध प्रकृति-उपमानों में राम के रूप की कल्पना करते हैं—

काम कोटि छबि स्याम सरीरा। नील कंज बारिद गंभीरा।
अरुन चरन पंकज नख जोती। कमल दलन्हि बैठे जनु मोती॥

परन्तु इस सौन्दर्य के वर्णन में रंग-रूपों के आधार पर कोई चित्र उपस्थित करने से अधिक कवि का ध्यान कभी 'नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहा' कभी 'बिप्र चरन देखत मन लोभा' और कभी 'अति प्रिय मधुर तोतरे बोला' पर जाता है। कवि का मन आराध्य के रूप से ऐसा उद्भासित हो रहा है कि उसको मौन होना पड़ता है—

रूप सकहि नहिं कहि श्रुति सेषा। सो जानइ सपनेहुँ जेहि देखा।[1]

वस्तु-रूप स्थिर सौन्दर्य—वैष्णव भक्त-कवि अपने आराध्य के आकर्षक-रूप सौन्दर्य की स्थापना करता है, लेकिन उसके साथ ठहर नहीं पाता। प्रकृतिवादी साधक भी प्रकृति के रूपात्मक सौन्दर्य से आकर्षित होता है, परन्तु आगे अपनी चेतना के सम पर उसके सौन्दर्य को सर्वचेतनामय कर देता है। फिर भी व्यापक सौन्दर्य योजना में वस्तु-रूप के स्थिर खंड-चित्र आ जाते हैं और ये प्रकृति उपमानों की

---

१. रामचरितमानस; तुलसी; बाल०, दो० १९९। तुलसी के इन रूप-वर्णनों में वर्णन-स्थिति का दृष्टिबिन्दु विशेष महत्व रखता है। उन्होंने जिस दृष्टि से अथवा जिस वस्तु-स्थिति के अनुसार राम के रूप का वर्णन किया है, वहीं से उनको प्रारम्भ भी किया है (पुरगमन; बा० दो० २१९; उपवन-प्रसंग; बा०; दो० २३३)

आलंकारिक योजना पर ही निर्भर हैं। वस्तुतः सौन्दर्य के प्रकृति सम्बन्धी स्थिर उपमानों को ये वैष्णव कवि अपनी साधना में इस प्रकार मिला चुके हैं कि उनके बिना एक पग आगे चलते ही नहीं। इन कवियों में ये उपमा और रूपक बिना प्रयास के आते जाते हैं और इनके प्रयोगों को हम रूढ़ि-रूप या फ़ार्मल कह सकते हैं। लेकिन इन भक्तों के साथ ये सजीव हैं। इनकी रूप-साधना के साथ एकाकार होकर ये सजीव ही नहीं वरन् अमृत-प्राण हो चुके हैं। वैष्णव भक्त कवि कमल-मुख, कमल-नयन, कमल-पद सहज भाव से कहता जाता है। परन्तु इन रूपक और उपमाओं के अतिरिक्त कवि कभी-कभी स्थिति आदि को लेकर वस्तूत्प्रेक्षा आदि के द्वारा स्थिर-सौन्दर्य की कल्पना कर लेता है। ये रूप की स्थितियाँ सारे भक्ति-काव्य में व्यापक रूप से फैली हैं और इनमें अधिकांश अनन्त-सौन्दर्य की भावना में डूब जाती हैं। सूर के चित्र में बालकृष्ण की लट केन्द्र में है—

लट लटकनि मोहन मसि बिंदुका तिलक भाल सुखकारी।
मनहुँ कमल अलिशावक पंगति उठति मधुप छबि भारी।

फिर केन्द्र में छोटे दाँतों की चमक आ जाती है—

अल्प दसन कलबल करि बोलनि नहि बिधि परति बिचारी।
निकसत ज्योति अधरनि के बिच ह्वै बिधु में बीजु उज्यारी।[1]

इसी प्रकार यमुना तट पर खड़े होकर ब्रजनारियों के विहार को देख रहे कृष्ण के सौन्दर्य के विषय में सूर कल्पना करते हैं—'मोर मुकुट को धारण किए हुए हैं; कानों में मणि-कुंडल और वक्ष पर कमलों की माला सुशोभित है, ऐसे सुन्दर सलोने श्याम के शरीर पर नवीन बादलों के बीच में बगलों की पंक्ति सुशोभित है। वक्षस्थल पर अनेक लाल पीले श्वेत रंग की बनमाला शोभित है, लगता है मानों देवसरि के किनारे नाना रंग के तोते डर छोड़कर बैठे हैं। पीताम्बर युक्त कटि पर इस प्रकार क्षुद्रघंटिका बज रही है, मानों स्वर्ण-सरि के निकट सुन्दर मराल बोलते हैं।'[2] तुलसीदास 'गीतावली' में राम के सौन्दर्य की कल्पना इस प्रकार अधिक करते हैं, क्योंकि उनके राम में कृष्ण जैसी क्रीड़ात्मकता नहीं है। इस स्थिति में कृष्ण के सचेतन गतिशील सौन्दर्य के समक्ष तुलसी राम का ऐश्वर्यशील सौन्दर्य उपस्थित कर सके हैं। इसका कारण है। तुलसी की दास्य-भक्ति ऐश्वर्य की रूप-साधना है, जब कि कृष्ण-भक्त कवियों की साधना में लीलामय सौन्दर्य का माहात्म्य है। तुलसी राम के रंग के विषय में प्रकृति उपमानों की योजना करते हैं—'कामदेव और मोर की चन्द्रिकाओं की आभा के सौन्दर्य का भी राम के शरीर की ज्योति निरादर करती है—और नीलकमल, मणि, जलद इनकी

---

१. सूरसागर ; दस० स्कं०, पद १४०।
२. वही० : दश० स्कं०, पद १२६३।

उपमाएँ भी कुछ नहीं हैं।' रंग के बाद कवि मुख पर आता है—'नील कमल से नेत्रों के भ्रू पर काजल का टीका सुशोभित है, मानों रसराज ने स्वयं चन्द्र-मुख के अमृत की रक्षा के लिए रक्षक रखा है, ऐसी शोभा के समुद्र राम लला हैं।' इसके आगे के चित्र में अलकावली के सौन्दर्य को प्रस्तुत करने के लिए गम्योत्प्रेक्षा के द्वारा गतिशीलता का भाव व्यक्त किया गया है—'गभुआरी अलकों में सुन्दर लटकन मस्तक पर शोभित है, मानों तारागण चन्द्रमा से मिलने को अंधकार विदीर्ण करते हुए मार्ग बनाकर चले हैं।'[1] कभी तुलसी रूप की एक स्थिति को उत्प्रेक्षा के माध्यम से चित्रित करते हैं—

चारु चिबुक नासिका कपोल, भाल तिलक, भृकुटि।
स्रवन अधर सुन्दर, द्विज-छबि अनूप न्यारी।
मनहुँ अरुन कञ्ज-कोस मंजुल जुगपाँति प्रसव।
कुंदकली जुगुल जुगुल परम सुभ्रवारी।[2]

कहीं-कहीं ऐश्वर्य के वर्णन के अन्तर्गत रूप के स्थिर खण्ड-चित्र बहुत दूर तक आते गए हैं और सब मिलाकर चित्र एक व्यापक शील और सौन्दर्य का समन्वित भाव प्रदान करता है—'माई री जानकी के वर का रूप तो सुन्दर है। देखो! इन्द्रनील मणि के समान सुन्दर शरीर की शोभा मनोज से भी अधिक है। चरण अरुण हैं, अंगुलियाँ मनोहर हैं। द्युतिमय नखों में कुछ अधिक ही लालिमा है, मानों कमल पत्रों पर सुन्दर घेरा बनाकर मंगल नक्षत्र बैठे हैं। पीत जानु और सुन्दर बक्ष मणियों से युक्त हैं, पैरों में नूपुरों की मुखरता सोहती है, मानों दो कमलों को देखकर पीले पराग से भरे हुए अलिगण ललचा रहे हैं। स्वर्ण-कमलों की कोमल किंकनी मरकत शैल के मध्य तक जाकर भयभीत हो झुक गई है और उससे लावण्य चारों ओर विकसित हो रहा है।··· विचित्र हेममय यज्ञोपवीत और मुक्ता की बक्ष-माला तो मुझे बहुत भाती है, मानों बिजली के मध्य में इन्द्र-धनुष और बलाकों की पंक्ति आ गई है। शंख के समान कंठ है, चिबुक और अधर सुन्दर हैं और दाँतों की सुन्दरता को क्या कहा जाय, मानों वज्र अपने साथ विद्युत और सूर्य की आभा को लेकर पद्मकोष में बसा है। नासिका सुन्दर है और केशों ने तो अनुपम शोभा धारण की है, मानों दोनों ओर भ्रमरों से घिर कर कमल कुछ हृदय से भयभीत हो उठा है।'[3] इस वस्तु-रूप की स्थिर कल्पना में, कवि ने प्रौढ़ोक्ति के द्वारा जो प्रकृति-उपमानों की योजना की है वह स्वयं सौन्दर्य को अलौकिक की ओर ले जाती है। यह राम के ऐश्वर्य और सौन्दर्य के अनुरूप भी है। तुलसी के सौन्दर्य चित्र अधिकतर

१. गीता० तुलसी; बा०, पद २९।

२. वही; वही; बा०, पद २२।

३. वही; वही, बा०, पद १०६

ऐसे ही हैं।[1] कृष्ण-गीतावली में कृष्ण का रूप-वर्णन कम है पर जो चित्र हैं उनमें ऐश्वर्य के स्थान पर गतिशील चेतना अधिक है। तुलसी कृष्ण की उनींदी आँखों का चित्र उपस्थित करते हैं—

> **आजु उनींदे आए मुरारि।**
> **आलसवंत सुभग लोचन सखि छिन मूँदत छिन देत उघारी॥**
> **मनहुँ इन्दु पर खञ्जरीट दोउ कछुक अरुन बिधि रचे सँवारी॥**

यहाँ तक वस्तूत्प्रेक्षा में स्थिर रूप की कल्पना है; पर आगे—

> **कुटिल अलक जनु मार फंद कर गहे सजग ह्वै रह्यो सँभारी।**
> **मनहुँ उड़न चाहत अति चंचल पलक पंख छिन देत पसारी॥**[2]

इस चित्र में स्फुरणशील गति का भाव सन्निहित है। राम-भक्ति परम्परा में तुलसी के आगे कोई महत्त्वपूर्ण कवि नहीं हुआ है और कृष्ण-भक्त कवियों में सूर को छोड़कर अन्य किसी में सौन्दर्य का अधिक व्यक्त आधार नहीं है। बाद के भक्त कवियों का सौन्दर्य मानवी रूप और उसके शृंगार में ही अधिक व्यस्त रहा है। इनमें प्रकृति के माध्यम से सौन्दर्य की स्थापना वैसी व्यापक नहीं मिलती। आगे हम देखेंगे कि रीति-परम्परा के कवियों ने बाद के भक्त कवियों की रूप और शृंगार की भावना को चमत्कृत रूप में ग्रहण किया है।

सचेतन गतिशील सौन्दर्य—भक्त की सौन्दर्य-भावना रूप, आकार और रंग आदि तक ही सीमित नहीं है। यह सौन्दर्य रूपमय होकर भी गतिमय तथा स्फुरणशील है। वस्तुरूप की स्थिरता में सौन्दर्य सीमित हो जाता है और कम लगने लगता है। इसी कारण भक्तों के सौन्दर्य का आदर्श स्थिरता से गति की ओर है। यह गति चेतना का भाव है जिसे अधिकतर कवियों ने गम्योत्प्रेक्षा के माध्यम से व्यक्त किया है। सूर के लीलामय कृष्ण के रूप में यह अधिक व्यक्त हो सका है और सूर प्रकृति-उपमानों की उत्प्रेक्षाओं से इसको प्रस्तुत करने में प्रमुख हैं। प्रकृति के क्रिया-व्यापार और उसकी गतिशील चेतना इस सौन्दर्य-योजना का आधार है। हम प्रथम भाग में कह चुके हैं कि प्रकृति मानव-जीवन के समानान्तर है। और इसी आधार पर प्रकृतिवादी कवि प्रकृति को रूपात्मक सौन्दर्य के साथ सप्राण और सचेतन देखता है।

---

१. तुलसी के इस प्रकार के कुछ चित्र बालकाण्ड के अन्तिम पदों में अधिक विस्तृत हैं। उत्तर-काण्ड में भी इस प्रकार के पद हैं। पद २ (भोर जानकी जीवन जागे) से आरम्भ होकर पद १६ (देखो रघुपति-छवि अतुलित अति) तक इसी प्रकार सौन्दर्य के वस्तु-रूप खंड-चित्र हैं। इनमें उपमानों की प्रौढ़ोक्ति सम्बन्धी योजना से ऐश्वर्य और शीलयुक्त रूप उपस्थित किया गया है जिसमें अलौकिक भावना भी है।

२. कृ० गीता०; तुलसी; पद २१।

तुलसी के राम लीलामय नहीं हैं, परिणामस्वरूप उनको अपने आराध्य के सौन्दर्य को सचेतन चित्रित करने का आग्रह नहीं है। परन्तु उनमें इन चित्रों का नितान्त अभाव नहीं है—'शिशु स्वभाव से राम जब अपने हाथों से पैर को पकड़कर मुँह के निकट ले आते हैं, तो लगता है मानों दो सुन्दर सर्प शशि से कमलों में सुधा ग्रहण करते हुए सुशोभित हैं। वे ऊपर खेलौना देख किलकी भरते हैं और बार-बार हाथ फैलाते हैं मानों दोनों कमल चन्द्रमा के भय से अत्यन्त दीन होकर सूर्य से प्रार्थना करते हैं।'[1] इन रूप-चित्रों में स्थिति के साथ गति की व्यंजना भी है। सूर इस प्रकार की व्यंजना करने में अद्वितीय हैं। इन्होंने अपने लीलामय आराध्य के सौन्दर्य को इस प्रकार अधिक चित्रित किया है, यद्यपि उसमें अनन्त और अलौकिक होने की प्रवृत्ति है। कृष्ण की लीला में गतिमय चेतना का भाव छिपा हुआ है, उनका चित्र इसीसे स्फुरणशील हो जाता है। सूर की उर्वर कल्पना में कृष्ण का रूप-सौन्दर्य, चाहे बाल-क्रीड़ा के समय का हो, या गोपी-लीला के समय का हो, या गोचारण के बाद का हो अथवा रास के समय का हो, प्रत्येक स्थिति में एक गति और क्रिया की भावना से युक्त हो जाता है। इस रूप की उद्भावना के लिए सूर प्रकृति-उपमानों की योजना के लिए स्वतःसम्भावी अथवा प्रौढ़ोक्ति संभव आधार ग्रहण करते हैं और चित्र को गति तथा सप्राण भावना से सजीव कर देते हैं। अन्य कृष्ण-भक्त कवियों में यह कौशल कम है। बाद के कवियों में यत्र-तत्र सूर का अनुकरण मिल जाता है। गदाधर कल्पना करते हैं—

मोहन बदन की शोभा।
जाहि निरखत उठत मन आनंद की गोभा।
भौंह सोहन कहा कहूँ छबि भाल कुंकुम बिंदु।
स्याम बादर रेख पय मानों अबही उदयों इंदु।
ललित लोल कपोल कुंडल मानों मकराकार।
युगल शशि सौदामिनी मानों नाचत नट चटसार।[2]

इसमें बादर की रेखा पर उदित चन्द्रमा स्थिर-सौन्दर्य का रूप है और सौदामिनी की चटसार में शशि का नृत्य गतिशीलता का भाव देता है। परन्तु सूर में ऐसे चित्रों का व्यापक विस्तार है। बाललीला के क्रीड़ाशील रूप-चित्रण में अनेक सौन्दर्य-चित्र हैं—'नीलवर्ण कृष्ण को जब जननी पीले वस्त्र से आच्छादित करती है तो एक अद्भुत चित्र की कल्पना उठती है, मानों तड़ित अपने चंचल स्वभाव को छोड़कर नील बादलों

१. गीता०; तुलसी; बा०, पद २०। तुलनीय सूर के पद १४३, स्कं० दशम।
२. कीर्तनसंग्रह (भाग ३ उत्त०); पृ० १६।

पर नक्षत्रमाला की शोभा देखती है।'[1] इस प्रकृति की प्रौढ़ोक्तिसम्भव कल्पना में गतिमय सौन्दर्य का अद्भुत भाव है। कामदेवों के समूह की छाई हुई छवि के माध्यम से कवि अलौकिक भावना का संकेत देता है।—'माई री, सुन्दरता के सागर को तो देखो! बुद्धि-विवेक तो उसका पार ही नहीं पाता; और चतुर मन आकाश के समान प्रवास्त आश्चर्य चकित फैल जाता है। वह शरीर अत्यंत गम्भीर नील सागर है और 'कटिपट पीली उठती हुई तरंगें हैं। वे जब इधर-उधर देखते हुए चलते हैं तो सौन्दर्य अधिक बढ़ जाता है''''समस्त अंग में भँवर पड़ जाते हैं और उसमें नेत्र ही मीन है, कुंडल ही मकर है और सुन्दर भुजाएँ ही भुजंग हैं।'[2] इस रूपक में वस्तु-स्थितियों के द्वारा प्रकृति-रूप सौन्दर्य की गतिशील व्यंजना कवि करता है, सागर अपने सौन्दर्य-भाव के साथ तरंगित हो उठता है। सौन्दर्य के इस रूप को जैसे कवि बार-बार सम्बोधित कर उठता है—'देखो, यह शोभा तो देखो। यह कुंडल कैसा झलक रहा है, देखो तो सही। यह सौन्दर्य कोई नेत्रों से देखेगा कैसे, पलक तो लगती नहीं। सुन्दर-सुन्दर कपोल और उसमें नेत्र हैं इस प्रकार चार कमल हैं। मानों मुखरूपी सुधा-सरोवर में मकर के साथ मीन क्रीड़ा करती है। कुटिल अलकें, स्वभावतः हरि के मुख पर आ गई हैं, मानों कामदेव ने अपने फंदों से मीनों को भयभीत किया है।'[3] सूर फिर दूसरे कोण से कुंडल की शोभा की ओर संकेत कर उठते हैं—'देख! लोल कुंडलों को तो देखो। सुन्दर कानों में पहन रखा है और कपोलों पर उनकी झलक पड़ती है। मुखमंडल रूपी सुधा-सरोवर को देखकर मन डूब गया—और यह मकर जल को झकझोरता हुआ छिपता प्रकट होता है। यह मुख कमल का विकासमान सौन्दर्य है जिस पर युवतियों के नेत्र भ्रमर हैं और ये पलकें प्रेम-लहर की तरंगें हैं।'[4] वह समस्त सौन्दर्य इस प्रकार व्यक्त होता है कि अपनी चंचलता में अधिक आकर्षक हो उठता है और देखने वाले की पकड़ में भी नहीं आता।—'चतुर नारियाँ उस सौन्दर्य को देखती हैं, मुख की शोभा में मन अटककर लटका हुआ है और हार नहीं मानता। श्याम शरीर की मेघमयी आभा पर चन्द्रिका झलकती है। जिसको बार-बार देखकर नयन चकित हो रहे हैं और स्थिर नहीं होते। श्याम मरकत-मणि के बड़े नग हैं और सखा नाचते हुए मोर हैं—इसे देखकर अत्यधिक आनन्द होता है। कोई कहता है सुरचाप गगन से प्रकाशित हुआ है—इस सौन्दर्य को देखकर गोपियाँ कहीं हर्षित और

१. सरसा०; दशमस्कं, पृ० १४३—'आंगन चलत घुटुरुवन धाय।'
२. वही; वही, पद ७२४।
३. कीर्त० (भा० ३ उत्त०); पृ० १७—'देखिरी देख कुंडल झलक।'
४. कीर्त० (भाग ३ उत्त०); पृ० १८—'देखिरी कुंडल लोल।'

कहीं उदास हैं।"[1] इसमें 'झलकते', 'नाचते' और 'प्रकाशित' आदि में गति का सौन्दर्य है। रास के प्रसंग में यह सौन्दर्य-चित्रण और भी प्रत्यक्ष हो उठता है—

देखो माई रूप सरोवर साज्यो।
ब्रज बनिता बार वारि वृन्द में श्री ब्रजराज बिराज्यो॥
लोचन जलज मधुप अलकावली कुंडल मीन सलोल।
कुच चक्रबाल बिलोकि बदन बिधु बिहरि रहे अनमोल॥
मुक्तामाल बाल बग-पंगति करत कुलाहल कूल।
सारस हंस मध्य शुक सैना बैजयन्ति समतूल॥
पुरइन कपिश निचोल बिबिध रंग बिहँसत सचु उपजावै।
सूरश्याम आनदकंद की शोभा कहत न आवै॥[2]

इस रास-लीला में कृष्ण का रूप-सौन्दर्य प्रकृति के उपमानों से जैसे नृत्य कर उठा है। विभिन्न रंगों के छाया-प्रकाश के साथ पक्षियों के कोलाहल का आरोप सौन्दर्य की चेतना से सम उपस्थित करता है। यह स्फुरणशील चिरनवीन सौन्दर्य भक्त की पकड़ के बाहर का है; और इसीलिए सूर के शब्दों में 'कहत न आवै'। उस आनन्दकंद के विविध विलास को कोई कहेगा भी कैसे।

अनन्त और असीम सौन्दर्य—जब सौन्दर्य ठहरता नहीं, वह परिवर्तित होकर नवीन हो जाता है, उस समय उसमें सीमा से असीम की ओर और रूप से अरूप की ओर जाने की प्रवृत्ति होती है। सूर के पिछले चित्रों में यह भावना हम देख चुके हैं। चित्रों में गति का भाव असीम और अरूप की ओर ले जाता है। सूर के सामने आराध्य का रूप अत्यधिक प्रत्यक्ष है और उसको देखकर मति मुग्ध हो जाती है, बुद्धि स्तब्ध रह जाती है। इस प्रकार सूर के चेतनशील चित्रों में भी अनन्त की व्यंजना है। तुलसी में लीलामय की भावना के साथ गति का रूप भी नहीं है। इन्होंने राम के ऐश्वर्य रूप को ही असीम और अनन्त चित्रित किया है। इस अनन्त सौन्दर्य की कल्पना में प्रकृति-उपमानों की साधारण सौन्दर्य-बोध की भावना कुंठित हो जाती है, उनकी योजनाओं में सन्निहित गतिशीलता परिवर्तन के साथ जड़ तथा स्थिर हो जाती है, परन्तु आराध्य का सौन्दर्य उनकी सीमाओं का अतिक्रमण करके भी चिर नवीन है। प्रकृतिवादी के सामने जब प्रकृति की सचेतन भावना के आगे उसका सौन्दर्य प्रसरित हो जाता है, उस समय यह सौन्दर्य भाव इन्द्रियों की सीमा में अनन्त और असीम हो उठता है। वैष्णव कवि की स्थिति भी ऐसी है, वह अपने आराध्य को रूप से अरूप और सीमा से असीम में देखता है। इस रूप को व्यक्त करने के लिए वह प्रकृति की उसी असीम सौन्दर्य भावना

१. वही: पृ० १७—'निरखत रूप नागरि नार।'
२. सूरसा०; दशम स्कं०, पृ० ४३८।

को ग्रहण करता है। इस अभिव्यक्ति में भक्त कवि शृंगार, कामतरु, कामदेव, ऋतु-राज तथा नन्दन वन आदि स्वर्गीय कल्पनाओं का आश्रय लेता है और आकर्षण के उल्लास को मिला देता है। समस्त चित्र में रूप और गति के उपमानों का योग तो रहता ही है। तुलसी 'राम की बाल-छवि का वर्णन किस प्रकार करें। यह सौन्दर्य तो सभी सुखों को आत्मसात् किए हुए है और सहस्रों कामदेवों की शोभा को हरण करता है; अरुणता मानों तरणि को छोड़कर भगवान् के चरणों में रहती है। रुनझुन करने वाली किंकिणी और नूपर मन को हरते हैं। भूषणों से युक्त सुन्दर श्यामल शिशु-वृक्ष अद्भुत रूप से फला हुआ है। घुटुरुओं से आँगन चलने से हाथ का प्रतिबिम्ब इस प्रकार सुशोभित होता है, मानों उस सौन्दर्य को पृथ्वी कमल-रूपी संपुटों में भर-भर कर लेती है।'[1] तुलसी के सामने 'लड़खड़ाते', किलकारी भरते' राम के सौन्दर्य का क्रीड़ात्मक रूप है जो कवि की प्रौढ़ोक्ति-संभव उत्प्रेक्षाओं के अनन्त सौन्दर्य में खो जाता है। आगे दूसरे चित्र में तुलसी के सामने—मुनि के संग जाते हुए दोनों भाइयों का सौन्दर्य है। 'तरुण तमाल और चम्पक की छवि के समान तो कवि स्वभावतः कह जाते हैं; शरीर पर भूषण और वस्त्र सुशोभित हो रहे हैं, सौन्दर्य जैसे उमंगित हो रहा है। शरीर में कामदेव और नेत्रों में कमल की शोभा आकर्षित कर रही है। पीछे धनुष, कर-कमलों में बाण और कटि पर निषंग कसे हैं; इस शोभा को देख कर समस्त विश्व की शोभा लघु लगती है।'[2] इस सौन्दर्य के चित्र में प्रकृति के उपमानों के स्थान पर स्वयं सौन्दर्य और लावण्य उल्लसित हो उठा है जिसके समक्ष विश्व का प्रत्यक्ष-सौन्दर्य फीका है। ऐसी स्थिति में प्रकृति-रूप का प्रयोजन ही नहीं रह जाता। तुलसी ने स्वर्गीय प्रतीकों के माध्यम से असीम की भावना प्रस्तुत की है—'हे सखी, राम-लक्ष्मण जब दृष्टि-पथ पर आ जाते हैं, उस समय उस सौन्दर्य के समक्ष लगता है जनकपुर में अनेक आत्म-विस्मृत जनक हो गए हैं। पृथ्वीतल पर यह धनुष-यज्ञ तो आश्चर्य देने वाला है, मानों सुन्दर शोभित देव-सभा में कामदेव का कामतरु ही फलित हो उठा है।'[3] यह भावात्मक रूप अनन्त की ओर प्रसरित है। इसके आगे एक चित्र में एक सखी दूसरी सखी को जिस सौन्दर्य की ओर आकर्षित करती है वह नितान्त भाव रूप है—

नेकु, सुमुखि चित लाइ चितौ, री।
राजकुँवर मूरति रचिबे को रुचि सुबरंचि स्त्रम कियो है कितै, री॥

---

१. गीता०; तुलसी ; बा०, पद २७।
२. वही; वही ; बा०, पद ७५।
३. वही; वही ; बा०, पद ७४।

नख सिख सुन्दरता अवलोकत कह्यो न परत सुख होत जितौ, री ।
साँवर रूप-सुधा भरिबे कहँ नयन-कमल-कल-कलस रितौ, री ॥[1]

इसमें रूप की रेखाएँ नहीं हैं, केवल 'रूप-सुधा' और 'नयन कमल-कलस' की परमपरित रूपात्मकता सौन्दर्य-भाव की व्यंजना करती है। सूर में रूप से अनन्त की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति उतनी नहीं है जितनी गतिशीलता को अनन्त की भावना में परिसमाप्त करने की। साथ ही आगे हम देखेंगे कि सूर में अलौकिक सौन्दर्य की कल्पना अधिक है। जहाँ सूर ने अनन्त सौन्दर्य को व्यक्त किया है, वहाँ भी प्रकृति-उपमानों के रूपात्मक चित्रों का आधार लिया है। सूर कहते हैं—'शोभा कहने से कही नहीं जाती; लोचनपुट अनन्त आदर से आचमन करते हैं पर मन रूप को पाता कहाँ है ?' आगे रूपात्मक चित्र आते हैं—'जलयुक्त घनश्याम के समान सुन्दर शरीर पर विद्युत के समान वस्त्र और वक्ष पर माला है। शरीर रूपी धातु शिखर पर शिखी-पक्ष लगता है पुष्प और प्रवाल लगे हैं''' कपोल पर कमल की किरण और नेत्र का सौन्दर्य लगता है कमलदल पर मीन हो।' फिर यही शोभा अनन्त सौन्दर्य में इस प्रकार लीन हो जाती है—

प्रति प्रति अंग अंग कोटिक छबि सुनि सखि परम प्रबीन ।
अधर मधुर मुसकानि मनोहर कोटि मदन मन हीन ।
सूरदास जहाँ दृष्टि परत है होत तहीं लवलीन ॥[2]

वस्तुतः इस अनन्त सौन्दर्य में दृष्टि टिकती नहीं, वह जहाँ का तहाँ लीन होकर आत्म-विस्मृत हो जाती है। यही इस सौन्दर्य का प्रभाव है और चरम सीमा भी।

अलौकिक सौन्दर्य कल्पना—रूप से अरूप और सीमा से असीम के साथ भक्त कवि सौन्दर्य की अलौकिक कल्पना करता है। इस विषय में संतों के प्रसंग में पर्याप्त उल्लेख किया गया है। यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि रूप-सौन्दर्य की व्यंजना जब आधार छोड़ना भी नहीं चाहती और साधारण प्रत्यक्ष के स्तर से अलग रहना चाहती है, तब वह अलौकिक कल्पना का आश्रय लेती है। तुलसी को रूप का उतना मोह नहीं है; इसी कारण उनकी सौन्दर्य भावना अनन्त में व्यंजित होती है, उसे अलौकिक का अधिक आश्रय नहीं लेना पड़ता। सूर ने अपने रूप-चित्रों को अलौकिक उद्भावना में अधिक प्रस्तुत किया है। इसमें रूप-व्यंजना का माध्यम स्वीकार करने के साथ परम्परा का अनुसरण भी समझा जा सकता है। इन अलौकिक चित्रों में भी दो प्रवृत्तियाँ प्रत्यक्ष हैं। एक में सौन्दर्य की रूप-भावना है जो प्रकृति-उपमानों द्वारा प्रस्तुत की गयी है। इसमें अधिकतर रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग हुआ है जिसमें उपमेय अदृश्य रहता है। केवल उपमानों से चित्र अलौकिक हो उठता है। सूर अलौकिक सौन्दर्य

१. वही; वही ; बा०, पद ७४ ।
२. सूरसा०; दशम०, स्कं० पद ४२५ ।

की ओर संकेत करते हैं—'उस सौन्दर्य को देखो, कैसा अद्भुत है—एक कमल के मध्य में बीस चन्द्रमा का समूह दिखाई देता है; एक शुक है, मीन है और दो सुन्दर सूर्य भी हैं।'[1] इसी प्रकार दूसरे स्थल पर—

नंद नंदन मुख देखो माई।
अंग अंग छबि मनहु उये रवि शशि अरु समर लजाई।
खंजन मीन कुरंग भृंग बारिज पर अति रुचि पाई॥[2]

आदि में उपमानों की विचित्र योजना अलौकिक सौन्दर्य की व्यंजना करती है। दूसरे प्रकार के चित्रों में रहस्य की भावना अलौकिकता के साथ पाई जाती है। इसमें अलौकिकता के आधार पर सौन्दर्य के विचित्र सामंजस्यों का रूप आता है। एक सीमा तक इनमें उलटबांसियों का भाव मिलता है और यह सूर के समस्त दृष्टकूटों के रूप-चित्रों के बारे में कहा जा सकता है। यह भाव विद्यापति के पदों में भी है, इससे यह प्राचीन परम्परा का अनुसरण लगता है। विचित्रता का आकर्षण इसका प्रमुख आधार है। जब सूर कहते हैं—'यह सौन्दर्य तो अनोखा बाग है। दो कमलों पर गज क्रीड़ा करता है और उसपर प्रेमपूर्वक सिंह विचरण करता है; सिंह पर सरोवर है, सरोवर के किनारे गिरिवर है जिस पर कमल पुष्पित है। उस पर सुन्दर कपोत बसे हैं और उनपर अमृत फल लगे हैं। फल पर पुष्प लगा है, पुष्प पर पत्ते लगे हैं और उसपर शुक, पिक, हिरन और काग का निवास है। चन्द्रमा पर धनुष और खंजन हैं और उनपर एक मणिधर सर्प है। इस प्रकार सौन्दर्य की इस अलौकिक आभा में प्रत्येक अंग की शोभा अलग-अलग है, उपमाएँ क्या बराबरी कर सकेंगी। इन अधरों के सौभाग्य से विष भी सुधारस हो जाता है।'[3] इस चित्र में रूपकातिशयोक्ति के द्वारा वैचित्र्य का भाव उत्पन्न किया गया है, जिसमें प्रकृति-रूपों की अद्भुत योजना हृदय को अलौकिक सौन्दर्य से भर देती है। इस प्रकार के अधिकांश रूप-चित्र नारी (राधा) सौन्दर्य को लेकर हैं।

युगल सौन्दर्य—जिस प्रकार इन भक्त कवियों ने आराध्य के सौन्दर्य को विभिन्न प्रकृति-उपमानों की योजनाओं से चित्रित किया है; उसी प्रकार इन्होंने युगल आराध्य के रूप-सौन्दर्य को प्रस्तुत किया है। जिन समस्त प्रकृति-रूपों का उपयोग पिछले चित्रों में किया गया है, उन सबका प्रयोग युगल के सौन्दर्य को व्यंजित करने में हुआ है। सूर ने राधाकृष्ण की युगल मूर्ति का चित्रण अनेक प्रकार से किया है। इसका

---

१. वही ; वही, पृष्ठ १३६—'देखो सखी अद्भुत रूप अनूप।'

२. वही ; वही; पद ७१२।

३. वही; वही, पद १६८०। इस प्रकार अन्य अनेक पद हैं। पृ० ३१०—'बिराजत अंग-अंग रति बात।' पृ० ४७१—'देख सखी पंच कमल द्वै शम्भु।'

कारण है कि उनकी लीलाभक्ति, जिसमें भगवान् अपने भक्त के साथ निरन्तर लीला-मग्न हैं। तुलसी की भक्ति-भावना में न लीला का माहात्म्य है और न युगल सौन्दर्य का। 'गीतावली' में अवश्य राम और सीता के एक दो चित्र हैं जिनमें स्थिर रूपमयता से अनन्त में पर्यवसित होने की भावना है।...'राम और जानकी की जोड़ी सुशोभित है, क्षुद्र बुद्धि में उपमा नहीं आती। नील कमल और सुन्दर मेघ के समान वर है तथा विद्युत आभावाली दुलहिन है। विवाह के समय वितान के नीचे सुशोभित हैं, मानों कामदेव के सुन्दर मंडप में शोभा और शृंगार एक साथ छविमान है।'[1] इसमें शोभा और शृंगार में सौन्दर्य अरूप और अनन्त हो गया है। आगे के चित्र में सौन्दर्य की अमूर्त भावना अधिक प्रत्यक्ष है—

दूलह राम, सीय दुलही री।
घन-दामिनि-बर बरन-हरन-मन सुन्दरता नखसिख निबही, री।
सुखमा-सुरभि सिंगार-छीरि दुइ मयन अमिय-मय कियो है दही, री।
मथि माखन सिय राम सँवारे, सकल-भुवन-छबि मनहुँ मही, री।
तुलसीदास जोरी देखत सुख सोभा अतुल न जाति कही, री।
रूप-रासि बिरची बिरंचि मनो सिला-लवनि रति-काम लही, री।[2]

परन्तु सूर के युगल-चित्रों में गतिशीलता तथा अलौकिकता अधिक है और अरूप तथा अमूर्त की भावना उनसे व्यंजित है। साथ ही इनमें संयोग-मिलन का रूप अधिक है। क्रीड़ा में, बिहार में, लीला में, रास और विलास में राधा और कृष्ण की संयुक्त भावना भक्त के सामने आ जाती है। जिन प्रकृति-रूपों की उद्भावना से इन चित्रों को प्रस्तुत किया गया है, उनमें चेतन भावशीलता के साथ गतिमय उल्लास सन्निहित है। प्रकृतिवादी तादात्म्य की मनःस्थिति में प्रकृति-सौन्दर्य की यही स्थिति रहती है। भेद यह है कि प्रकृतिवादी साधक दृश्यात्मक सौन्दर्य से अनन्त सौन्दर्य की ओर बढ़-कर उससे तादात्म्य स्थापित करता है; उसके लिए प्रकृति आलम्बन है, प्रत्यक्ष है। भक्त कवि के लिये आराध्य का रूप प्रत्यक्ष है, प्रकृति-रूपों का प्रयोग उसको व्यक्त करने के लिए उपकरण के समान है। यही कारण है कि भक्त की अपने आराध्य से तादात्म्य स्थापित करने की भावना युगल-रूप के संयोग में अभिव्यक्ति ग्रहण करती है। यमुना में क्रीड़ा करते राधा-कृष्ण का चित्र सूर के सामने है—'उन्मुक्त रूप से सुन्दर यमुना-जल में श्यामा और श्याम विहार करते हैं। नील और पीत कमलों के ऊपर मानों प्रातःकालीन नीहार छाया है। श्री राधा अपने कर कमलों से बार-बार जल छिड़कती हैं, लगता है मानों पवन के संचरण से स्वर्णलता का मकरन्द झरता है

१. गीता०; तुलसी; बा०, पद १०३।
२. वही०; वही; बा०, पद १०४।

और अतिनी पुष्प के समान श्याम शरीर पर वे बूँदें एकान्त रूप से झलक उठती हैं, मानों सुन्दर सघन मेघ में प्रकाश-समूह बूँदों के आकार में बिखर गया है। और जब राधा को कृष्ण दौड़ कर पकड़ लेते हैं, उस समय शृंगार ही मुग्ध हो जाता है; मानों लालाभ जलद चन्द्रमा से मिलकर सुधाधर स्रवित करता है।"[1] इसमें क्रीड़ात्मक युगल का गतिशील सौन्दर्य है। आगे के चित्र में संयोग-मिलन की भावना को प्रकृति में प्रतिबिम्बित करके व्यंजित किया गया है—

किशोरी अंग अंग भेंटी श्यामहिं।
कृष्ण तमाल तरल भुज शाखा लटकि मिली जैसे दामहिं।
अचरज एक लतागिरि उपजे सोउ दीने करुणामहिं।
कहुक श्यामला साँवल गिरि की छायो कनक अगामहिं।[2]

इस मिलन-सौन्दर्य में अलौकिक व्यंजना और रहस्यात्मक भावना दोनों मिलती हैं। संयोग के एकान्त गोपनीय चित्र कूट के पदों में अलौकिक के साथ रहस्यात्मक हो उठते हैं। इनके आधार में वही भावना कार्य करती है जिसका उल्लेख किया गया है।[3] यहाँ इस प्रकार समस्त सौन्दर्य सम्बन्धी विवेचना में प्रकृति-उपमानों की योजना पर विचार किया गया है। और हम देखते हैं सौन्दर्य को रूप देने में प्रकृति-रूपों का महत्वपूर्ण योग है।

अन्य वैष्णव कवियों में—वैष्णव भक्तों के बाद अन्य वैष्णव कवियों की सौन्दर्य योजना के विषय में उल्लेख कर देना आवश्यक है। वस्तुतः भक्तों ने भारतीय रूप-सौन्दर्य वर्णन की परम्परा को अपनी साधना में अपनाया है, जो आगे चल कर रीतिकालीन वैष्णव कवियों में रूढ़िगत हो गई है। इन कवियों में भक्तों के सौन्दर्य का अरूप और असीम भाव आराध्य के मानवी शरीर की सीमाओं में अधिक संकुचित होता गया है। सूर के बाद भक्त कवियों में क्रमशः सौन्दर्य की व्यञ्जना के स्थान पर उसका रूपाकार अधिक प्रत्यक्ष होता गया है और शरीर के साथ अलंकारों का वर्णन भी अधिक किया जाने लगा। आगे चलकर रीतिकाल में यह प्रवृत्ति अधिक बढ़ती गई है। इस काल का स्वतन्त्र भक्त कवि कृष्ण के श्याम शरीर, मोर मुकुट और मकराकृत कुण्डलों पर अधिक आसक्त है; पर रीतिकालीन कवि आकार और शृङ्गार को प्रस्तुत करने में चमत्कृत उक्तियों का आश्रय लेता है। मीरा कृष्ण के सौन्दर्य की व्यंजना नहीं करतीं। उनकी प्रेम-साधना अतिमानवी कृष्ण को स्वीकार करके चलती है, जिसमें मोर-मुकुटधारी श्याम के रंग में वे तल्लीन और मद-मग्न हैं। इसी प्रकार आगे के

१. सूरसा० ; दश; पृ० ४५।—'श्यामा स्याम सुभग यमुना जल निर्भ्रम करत विहार।'
२. वही ; वही; पृ० ३९३।
३. वही : वही; पृ० ३१० में पद—'रसना युगल रस निधि बेलि।' देखना चाहिये।

उन्मुक्त प्रेमी कवि रसखान के सामने प्रिय का रूप है, पर उसके सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने के लिए उनको उपकरणों को जुटाने की आवश्यकता नहीं हुई—

कल कानन कुंडल मोर पखा उर पै बनमाल बिराजति है।
मुरली कर मैं अधरा मुसकानि तरंग महाछबि छाजति है॥
रसखान लखै तन पीत पटा दामिनि की द्युति लाजति है।
वह बाँसुरी की धुनि कान परैं कुलकानि हियो तजि भाजति है॥[1]

इसमें सौन्दर्य-मूर्ति अपनी भाव-भंगिमा में आकर्षक हो उठी है।

विद्यापति (क)—सूर के पूर्व होने पर भी विद्यापति भक्तों की परम्परा से अलग हैं। इन्होंने एकान्त प्रेम और यौवन की भावना के साथ सौन्दर्य का चित्रण किया है। प्रेम-भावना का सम्बन्ध सौन्दर्य और यौवन से घनिष्ट है और विद्यापति में यौवन का सौन्दर्य अपने चरम पर है। विद्यापति का प्रेम सांसारिक सीमाओं से घिरा हुआ है और अपनी समस्त गम्भीरता और व्यापकता में वह लौकिक ही है। इसीके अनुसार इनका सौन्दर्य गतिमय और स्फुरणशील भावना से युक्त होकर भी अनन्त की ओर नहीं जाता। भक्त सूर के चित्रों में यदि सौन्दर्य का अनन्त प्रसार है, तो विद्यापति के रूप-चित्रों में खो जाने और विलीन हो जाने की भावना अधिक है। सूर के सौन्दर्य में आत्मतल्लीनता है और विद्यापति के सौन्दर्य में यौवन का उल्लास। साथ ही विद्यापति में स्त्री-सौन्दर्य का आकर्षण अधिक है—'नीले वस्त्र से शरीर छिपा हुआ है, लगता है घन के अन्दर दामिनी की रेखा हो। ······कामिनी ने अपना आधा मुख हँसकर दिखाया और आधा भुजा में छिपा रखा है, जान पड़ता है चन्द्रमा का कुछ भाग बादल से ढका है और कुछ राहु द्वारा ग्रस्त है।'[2] फिर सौन्दर्य में शृंगारिक भावना की गोपनीयता के कारण रहस्यात्मक प्रवृत्ति भी मिलती है, जिसमें कवि रूपकातिशयोक्ति का आश्रय लेता है—

अभिनव एक कमल कुल सजनि दौना निमंक डार।
सेंहो फूल ओनहि सुखायल सजनि रसमय फूलल नेवार।[3]

रीतिकालीन कवि (ख)—सौन्दर्य की इसी पार्थिव-भावना ने भक्ति-साधना में प्रेम का अनन्त आश्रय और आलम्बन प्रस्तुत किया था। परन्तु धीरे-धीरे रीतिकाल के कवियों में यह भावना शारीरिक रूप-वर्णन तक सीमित हो गई और इस काल में सौन्दर्य केवल भाव-भंगिमाओं तथा विचित्र कल्पनाओं से सम्बन्धित रह गया। रीतिकाल के वैष्णव कवियों के सामने आराध्य का रूप तो रहा है, पर उनकी सौन्दर्य व्यंजना कृत्रिम तथा अलंकृत हो गई है। उसमें प्रकृति-उपमानों का आश्रय कम लिया गया है;

१. सुन्दरीतिलक; भा० हरिश्चंद्र; छंद ४०१
२. विद्यापति-पदावली; पद ८६।
३. वही; पद २६।

साथ ही उक्ति-वैचित्र्य के निर्वाह का आग्रह बढ़ता गया है। रीतिकालीन सौन्दर्य-चित्रण की परम्परा को भक्तिकाल से अलग नहीं माना जा सकता। परम्परा एक है, केवल व्यंजना में भेद है। केशव जैसे आचार्य के सामने भी कृष्ण का रूप है, चाहे वह परम्परा से ही अधिक सम्बन्धित हो—'चपला ही पट हैं, मोरपक्ष का किरीट शोभित है, ऐसे कृष्ण इन्द्रधनुष की शोभा प्राप्त करते हैं। (इस वर्षाकालीन गगन-चित्र के रूप में) कृष्ण वेणु बजाते, पद गाते, अपने सखा-रूपी मयूरों को नचाते हुए आते हैं। अरी, चातक के हृदय के ताप को बुझानेवाले इस रूप को देख तो सही—घनश्याम घने बादलों के रूप में वेणु धारण किए हुए वन से आ रहे हैं।'[1] इसमें स्पष्ट ही एक ओर भाव-भंगिमा की ओर अधिक ध्यान दिया गया है और दूसरी ओर उक्ति-निर्वाह पर कवि का विशेष ध्यान है। कभी-कभी कवि आलंकारिक प्रतिभा से सौन्दर्य की कल्पना करता है—'पीत वस्त्र ओढ़े हुए श्याम ऐसे लगते हैं, मानों नीलमणि पर्वत पर प्रभात का आतप पड़ गया हो' और कभी अलंकार-योजना के प्रयास में सौन्दर्य अलौकिक भी जान पड़ता है—

लिखन बैठि जाकी सबिहि, गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर ॥[2]

रीतिकाल में यही भावना बढ़ती गई है। मतिराम कृष्ण के सौन्दर्य को शृंगारिक वर्णनों तथा अनुभावों में व्यक्त करते हैं—

मोरपखा मतिराम किरीट मैं कंठ बनी बनमाल सोहाई।
मोहन की मुसकानि मनोहर कुंडल डोलनि मैं छबि छाई ॥
लोचन लोल बिसाल बिलोकनि को न बिलोकि भयो बस आई।
वा मुख की मधुराई कहा कहौं मीठी लगै अँखियान लुनाई।[3]

इस चित्र में प्रकृति-उपमानों के माध्यम से सौन्दर्य व्यंजना के स्थान पर भाव-भंगिमा के आकर्षण की ओर अधिक ध्यान है। इसका कारण भी प्रत्यक्ष है; इस काल में कृष्ण साधारण नायक के रूप में स्वीकार किए गए हैं। रीतिकालीन कवि कृष्ण को भगवान् स्वीकार अवश्य करता है, पर उनके रूप और चरित्र को साधारण नायक के रूप में ही ग्रहण करता है। साथ ही इन कवियों में आलंकारिक प्रवृत्ति के बढ़ जाने से सौन्दर्य को विचित्र रूप में अपनाने की भावना अधिक पाई जाती है। कवि के सामने सौन्दर्य की विचित्र कल्पना है और नायक-नायिका के प्रसंग को लेकर शृंगार के आलम्बन

१. रसिक-प्रिया: केशव; ७१।
२. बिहारी-सतसई ; दो० २१,१६५।
३. सुन्द०; मा० हरि० ; छंद ३५४

रूप में नायिका का सौन्दर्य उसके लिए अधिक आकर्षक हो गया है।[1] नारी सौन्दर्य में हाव-भाव के साथ वैचित्र्य की भावना अधिक है, प्रकृति का आश्रय नहीं के बराबर रह गया है।

× × ×

विराट-रूप की योजना—वैष्णव भक्तों ने भगवान् को रूप और गुण की रेखाओं में बाँध कर भी उसे अद्वैत माना है और विराट-रूप में उसे व्यापक असीम भी स्वीकार किया है। रामानुजाचार्य ने विश्व को ब्रह्म-विवर्त मानकर सत्य माना है; जब ब्रह्म सत्य है तो उसीका रूप विश्व-सर्जन भी सत्य है। इसी सत्य को लेकर भक्तों ने भगवान् की व्यापक भावना के साथ विराट प्रकृति-योजना उपस्थित की है। वल्लभाचार्य के अनुसार लीला में प्रकृति का सत् भगवान् के सत् का ही रूप है। इस प्रकार राम और कृष्ण दोनों ही भक्तों के सामने भगवान् का विराट रूप प्रत्यक्ष है जिसमें प्रकृति का समस्त विस्तार समा जाता है। प्रकृतिवादी प्रकृति में एक विराट योजना पाकर किसी व्यापक अज्ञात सत्ता का आभास पाता है। परन्तु भक्त का भगवान् अपनी विराट भावना में प्रत्यक्ष है और प्रकृति उसीके प्रसार में लीन होती जान पड़ती है। तुलसी ने राम के विराट स्वरूप का संकेत कई स्थानों पर किया है। काकभुशुंडि गरुड़ से कहते हैं—'हे पक्षिराज, उस उदर में मैंने सहस्र-सहस्र ब्रह्मांडों के समूह देखे। वहाँ अनेक लोकों की सर्जना चल रही थी जिनकी रचना एक से एक विचित्र जान पड़ती थी। करोड़ों शंकर और गणेश वहाँ विद्यमान थे; वहाँ असंख्य तारागण, रवि और चन्द्रमा थे और असंख्य लोकपाल, यम तथा काल थे। असंख्य विशाल भू-मंडल और पर्वत थे और अपार वन, सर, सरि आदि थे। इस प्रकार वहाँ नाना प्रकार से सृष्टि का विस्तार हो रहा था।'[2] इसी प्रकार भगवान् के विराट रूप की व्याप्ति कौशल्या के सामने भी है—

> **देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।**
> **रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥**

---

१. हजारा; हाफिज खां ; कृष्ण की छवि वर्णन के कवित्तों में इस प्रकार के उदाहरण अनेक हैं। कृष्ण कवि इस प्रकार वर्णन करते हैं—

> "मैं निरख्यो ब्रजराज लला द्युति पुंज हिए हित नाजि रहे हैं।
> कृष्ण कहै दृगदीरघ देखि प्रभात के पंकज लाजि रहे हैं॥
> मंजुल कानन में मकराकृत कुंडल यों छवि छाजि रहे हैं।
> मानो मनोज धरयो हिय में अरु द्वार निशान बिराजि रहे हैं॥"

२. रामचरितमानस; तुलसी : उत्त०, दो० ८०।

अगनित रबि ससि सिव चतुरानन। बहु गिरि सरित सिंधु महि कानन।
कालकर्म गुन ग्यान सुभाऊ। सोउ देखा जो सुना न काऊ॥[1]

समान रूप से सूर में भी भगवान् कृष्ण के विराट रूप की योजना प्रकृति में प्रतिघटित की गई है। इस विराट रूप में लगता है प्रकृति का निलय ब्रह्मभावना के साथ हो जाता है। कथानक के प्रसंग में यह चित्रण आध्यात्मिक छायातप का कार्य करता है। 'माटी को' प्रसंग में बड़ी ही स्वाभाविक स्थिति में विराट की यह भावना—

बदन उघारि देखायो त्रिभुवन बन घन नदी सुमेर।
नभ शशि रवि मुख भीतर है सब सागर धरनी फेर॥[2]

आकर जननी को आश्चर्य-चकित कर देती है और उससे 'मीठी खाटी' कुछ भी कहते नहीं बनती। सूर इस प्रसंग में कई पदों में विभिन्न भाव-स्थितियों के साथ इस भावना को उपस्थित करते हैं और अंत में स्वयं कह उठते हैं—

देखो रे यशुमति बौरानी।
जानत नाहिं जगतगुरु माधो यहि आवे आपदा निशानी।
अखिल ब्रह्मांड उदर गति जागी ज्योति जल थलहिं समानी।[3]

इस प्रकार भगवान् के विराट-स्वरूप में प्रकृति-सर्जना सिमट जाती है और यह प्रकृति में व्यापक ब्रह्म-भावना का अभ्यन्तरित रूप है।

प्रकृति का आदर्श रूप—भक्त कवियों ने अपने आराध्य के सम्पर्क में प्रकृति को आदर्श रूप में उपस्थित किया है। जब प्रकृति भगवान् के सम्पर्क में आती है या उनके सामने होती है, उस समय उसमें परिवर्तन और क्षणिकता के लिये स्थान नहीं रह जाता। इस सीमा में प्रकृति चाहे राम के निवास-स्थल के रूप में हो अथवा राम-राज्य में स्थित हो; उसमें चिरन्तन-सौन्दर्य और सजीवता पाई जाती है। कृष्ण की लीला-स्थली गोकुल हो या वृन्दावन, सर्वत्र प्रकृति में चिर वसंत की भावना रहती है। यह प्रकृति का आदर्श रूप सभी भक्त कवियों में मिलता है। परन्तु तुलसी के राम आदर्श हैं और इनके अनुसार प्रकृति लीलामय की क्रीड़ास्थली नहीं है। इस कारण इनके प्रकृति-रूपों में अधिकतर आदर्श-भावना मिलती है। इनमें उल्लसित भावमयी प्रकृति के स्थल कम हैं। तुलसी में आदर्श प्रकृति के स्थल वन-प्रसंग में तथा राम-राज्य के प्रसंग में मिलते हैं। वाल्मीकि ने वन-प्रसंग के अनेक प्रकृति-स्थलों को

---

१. वही; वही; बा०, दो० २०१–२।
२. सूरसा०; दशम स्कं०; पृ० १६५—'खेलत स्याम पारि के बाहर—।'
३. वही; वही; पृ० १६६—'मो देखत यशुमति तेरे ढोटा अबही माटी खाई।' में भी यही भावना है।

सुन्दर रूप से चित्रित किया है। परन्तु तुलसी के सामने राम को लेकर ही सब कुछ है, यदि प्रकृति है तो वह भी राम को लेकर ही। उसमें यथातथ्य चित्रण सत्य नहीं, भगवान् के साथ वह चिर-नवीन और चिरन्तन है—'वह वन-पथ और पर्वत मार्ग धन्य है जहाँ प्रभु ने चरण रखे हैं। वन में विचरण करने वाले विहंग और मृग धन्य हैं जिन्होंने प्रभु के सौन्दर्य को देखा है।' आगे यह वर्णन इस प्रकार है—'जब से राम इस वन में आकर रहे हैं, तभी से वन-प्रकृति आनन्दमयी हो गई है। नाना प्रकार के वृक्ष फलने-फूलने लगे; सुन्दर बेलियों के वितान आच्छादित हो गए; सभी वृक्ष कामतरु हो गए; मानों देव-वन छोड़कर चले आए हैं। सुन्दर भ्रमरावलियाँ गुंजार करती हैं और सुखद त्रिविध समीर चलता है। नीलकंठ तथा अन्य मधुर स्वर वाले शुक, चातक, चकोर आदि भाँति-भाँति के पक्षी कानों को सुख देते हैं।'[1] इसी प्रकार राम के मार्ग में प्रकृति निरंतन आदर्श भावना के साथ बिखरी है—

राम सैल बन देखन जाहीं। जँह सुख सकल सकल दुख नाहीं।
झरना झरहिं सुधासम बारी। त्रिविध तापहर त्रिविध बयारी।
बिटप बेलि तृन अगनित जाती। फल प्रसून पल्लव बहु भाँती।
सुन्दर सिला सुखद तरु छाहीं। जाइ बरनि बन छबि केहि पाहीं।
सरनि सरोरुह जल बिहग, कूजत गुंजत भृंग।
बैर बिगत बिहरत बिपिन, मृग बिहंग बहुरंग॥[2]

इस चित्र में आदर्श-भावना के साथ भगवान् के सामीप्य का सुख भी मिला हुआ है। गीतावली में चित्रकूट-वर्णन के प्रसंग में एक चित्र इस आदर्श से भी युक्त है।[3] परन्तु प्रकृति की यह निरन्तरता, चिर-नवीनता और आदर्श कल्पना राम के व्यक्तित्व से ही सम्बन्धित है। राम के अयोध्या लौट आने पर, राम-राज्य के अन्तर्गत प्रकृति में वही आदर्श-कल्पना सन्निहित है—'वन में सदा ही वृक्ष फूलते-फलते हैं; एक साथ हाथी और सिंह रहते हैं। खग-मृगों ने स्वाभाविक अपना द्वेष-भाव भुला दिया है, सबमें परस्पर प्रीति बढ़ गई है। नाना भाँति के पक्षी कूजते हैं और अनेक प्रकार के पशु

१. रामच०; तुलसी; अयो०, दो० १३६-७।
२. वही; वही; वही, दो० २४९।
३. गीता०; तुलसी०; अयो०, पद ४४—

चित्रकूट अति विचित्र, सुन्दर बन महि पवित्र।
पावनि पय सरित सकल, मल निकन्दिनी॥
मधुकर पिक बरहि मुखर, सुन्दर गिरि निर्भर भर।
जलकन घन छाँह, छन प्रभा न भान की॥
सब ऋतु ऋतुपति प्रभाउ, संतत बहै त्रिविध बाउ।
जनु बिहार-वाटिका नृप पंच बान की॥

आनन्दपूर्वक वन में विचरण करते हैं। शीतल सुगन्धित पवन मन्दगति से प्रवाहित होता है। भ्रमर गुंजारता हुआ मकरंद लेकर उड़ता है।'[1] इस आदर्श रूप में राम-राज्य की व्यवस्था का भाव भी छिपा है। प्रकृति भगवान् के सामने अपनी चिरंतना में मग्न है, साथ ही राम-राज्य के आदर्श के समानान्तर भी दिखाई देती है। 'गीतावली' के उत्तरकांड में इस प्रकार का प्रकृति-रूप आया है। तुलसी भक्ति को राम से अधिक महत्व देते हैं। इसीके अनुसार काकभुशुंडि के आश्रम का प्रकृति-वातावरण भक्ति के प्रभाव से द्वंद्वों और माया की नश्वरता से मुक्त है—

सीतल अमल मधुर जल जलज बिपुल बहुरंग।
कूजत कलरव हंस गन गुंजत मंजुल भृंग॥[2]

यह आश्रय अपनी स्थिरता में चिरंतन और अपने सौन्दर्य में चिरनवीन है।

कृष्ण-काव्य में (क)—कृष्ण-भक्त कवियों ने भी भगवान् के संसर्ग में प्रकृति को आदर्श रूप में उपस्थित किया है। परन्तु इनमें लीला की भावना प्रमुख है और इसलिए इनके काव्य में प्रकृति लीला की पृष्ठ-भूमि के रूप में प्रभावित, मुग्ध या उल्लसित हो उठती है। इन सभी कवियों ने वृन्दावन, यमुना, गोकुल आदि की आदर्श कल्पना की है। ये स्थल कृष्ण की नित्य लीला से सम्बन्धित होने के कारण चिरंतन प्रकृति के रूप हैं। सूर आदर्श वृन्दावन की कल्पना करते हैं—

वृन्दावन निजधाम कृपा करि तहाँ दिखायो।
सब दिन जहाँ बसंत कल्प वृक्षन सों छायो॥
कुंज अद्भुत रमणीय तहाँ बेलि सुभग रहीं छाइ।
गिरि गोवर्धन धातुमय झरना झरत सुभाइ॥
कालिंदी जल अमृत प्रफुल्लित कमल सुहाई।
नगन जटित दोउ कूल हंस सारस तहँ छाई॥
क्रीड़त श्याम किशोर तहाँ लिए गोपिका साथ।
निरखि सो छबि श्रुति थकित भई तब बोले यदुनाथ॥[3]

यही वृन्दावन है जिसमें कृष्ण की नित्य-लीला होती है और जहाँ भक्त भगवान् की लीला में आनन्द लेते हैं। परमानन्द भी इसी वृन्दावन में चिर सौन्दर्यमयी प्रकृति की आदर्श कल्पना करते हैं—'जिसका मंजुल प्रवाह है और अवगाहन सुखद है, ऐसी यमुना सुशोभित है। इसमें श्याम लहर चंचल होकर झलकती है और मंदवायु से प्रवाहित होती है। जिसमें कुमुद और कमलों का विकास हो रहा है; दसों दिशाएँ सुवासित हो

१. रामच०; तुलसी; उत्त०, दो० २३।
२. वही; वही; वही, दो० ५६।
३. सूरसा०; दशम स्कं०; पृ० ४६२।

रही है। भ्रमर गुंजार करते हैं और हंस तथा कोक का शब्द छन्दायमान हो रहा है। ...ऐसे यमुना के तट पर रहने की कामना कौन नहीं करता।'[1] यह यमुना का तट साधारण नहीं है; यह अपनी कल्पना में आध्यात्मिक लीला-भूमि है। आगे परमानन्द वृन्दावन की आदर्श उद्भावना करते हैं—'वन प्रफुल्लित है—यमुना की तरंगों में अनेक रंग झलकते हैं। सघन सुगन्धित दृश्य अत्यन्त प्रसन्न करने वाला सुहावना है। चिंतामणि और सुवर्ण से जटित भूमि है जिसकी छवि अद्भुत है। झूमती हुई लता से शीतल मंद सुगन्धित पवन आती है। सारस, हंस, शुक और चकोर चित्रमय नृत्य करते हैं और मोर, कपोत, कोकिल सुन्दर मधुर गान करते हैं। युगल रसिक के श्रेष्ठ बिहार की स्थली अपार छविवाली वृन्दा-भूमि मन-भावनी है, उसकी जय हो।'[2] गोविन्ददास युगल-आराध्य की लीला-भूमि को चिर-वसंत की भावना से युक्त करके चित्रित करते हैं—

ललित गति बिलास हास दंपति अति मन हुलास।
बिगलित कच-सुमन-बास स्फुरित-कुसुम-निकर तैसीहे शरदरैन भुनाई।
नव-निकुंज भ्रमरगुंज कोकिला-कल-कूजित-पुंज सीतलसुगंध मंद बहत
पवन सुखदाई।[3]

यह प्रकृति का आदर्श चित्र लीला की पृष्ठ-भूमि है और आध्यात्मिक वातावरण से युक्त है। इसी प्रकार रास के अवसर पर यमुना-पुलिन का चित्र कृष्णदास के सामने है—'यमुना-पुलिन के मध्य में रास रचा हुआ है; जल की शीतलता के साथ मन्द मलय पवन प्रवाहित हो रहा है; पुष्पों के समूह फूल रहे हैं। शरद की चाँदनी फैली है; भ्रमरावली जैसे चरणों की वन्दना कर रही है...कृष्ण की गयंदगति मानों शरद-चन्द्र के लिए फंदा है।'[4] यहाँ अनुकूल वातावरण उत्पन्न करने के साथ प्रकृति में आदर्श कल्पना है। यह समस्त प्रकृति का रूप यथार्थ से भिन्न होकर अलौकिक नहीं है। इनमें यथार्थ की चिर-नवीन और अनश्वर स्थिति को आदर्श के रूप में स्वीकार किया गया है। कृष्ण-भक्तों ने इस रूप को रूप-रंग आदि की गम्भीर प्रभावशीलता के साथ व्यक्त किया है; जब कि तुलसी के आदर्श में नियमन की भावना सन्निहित है।

प्रभावात्मक क्रीड़ाशील प्रकृति—हम कह चुके हैं कि सगुण-भक्तों के लिए प्रकृति की सार्थकता और उसका अस्तित्व भगवान् की कल्पना को लेकर है। भगवान् धराधाम पर लीला या चरित्र करने अवतरित हुए हैं—और प्रकृति उनसे प्रभाव ग्रहण

---

१. कीर्त० (भाग २ उत्त०); पृ० ८—'अति मंजुल जलप्रवाह'।
२. वही (वही); पृ० ८—'प्रफुल्लित बन विविध रंग'।
३. वही (वही); पृ० ३०२।
४. वही (वही); पृ० ३०१।

करती रहती है। भगवान् के सामने प्रकृति किस प्रकार गतिमान और क्रियाशील है, इसी ओर भक्तों का ध्यान जाता है। प्रकृतिवादी कवि अपने समक्ष प्रकृति में सहानुभूति और सचेतना का प्रसार पाकर उल्लसित या मुग्ध-मौन हो जाता है। वस्तुतः यह उसीकी अन्तः चेतना का बाह्य प्रतिम्बिब भाव है जो प्रकृति से तादात्म्य करता जान पड़ता है। इसी प्रकार की भावना दूसरे प्रकार से सगुण-भक्तों के प्रकृति-रूपों में मिलती है। प्रकृतिवादी के लिए आलम्बन प्रकृति है और तादात्म्य की भाव-स्थिति कवि की आत्मचेतना है। परन्तु यहाँ भगवान् के आलम्बन रूप के साथ प्रकृति सहचरी मात्र है। इस कारण प्रकृति का रूप भगवान् की भावना से प्रभावित होता है और उसीसे तादात्म्य स्थापित करता है। इस स्थिति में प्रकृति की सारी प्रभावशीलता, मुग्धता और उल्लास भगवान् के सामीप्य को लेकर है। प्रकृति का स्थान गौण होने के कारण, उसका चित्र प्रमुख भी नहीं होने पाया है। इस प्रसंग में यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि तुलसी की भक्ति-भावना में लीला के स्थान पर चरित्र का महत्त्व है। इस प्रकार तुलसी के प्रकृति-रूपों में उल्लास की भावना या मुग्धता का भाव नहीं मिलता जो कृष्ण के लीलामय रूप से सम्बन्धित है। तुलसी में भगवान् के ऐश्वर्य से प्रभावित और क्रियाशील प्रकृति का रूप अवश्य मिलता है और यह उनकी चरित्र-साधना के अनुरूप भी है।

ऐश्वर्य का प्रभाव (क)—राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति दोनों ही परम्पराओं में प्रकृति प्रभाव ग्रहण करती हुई उपस्थित हुई है। बार-बार आकाश से पुष्पवर्षा होती है; आकाश में देव विमानों पर आ जाते हैं, गन्धर्व गान करने लगते हैं। ये सब अतिप्राकृतिक रूप हैं जिनसे भगवान् का ऐश्वर्य प्रदर्शित होता है। तुलसी ने चित्रकूट में प्रकृति को राम के संकेत पर क्रियाशील उपस्थित किया है, जिसमें ऐश्वर्य की भावना व्यंजित होती है —'विपुल और विचित्र पशु-पक्षियों का समाज राम की प्रजा है।.... अनेक पशु आपस में वैर छोड़कर चरते हैं मानों राम की चतुरंगिणी सेना ही हो। झरना झरते हैं और मत्त हाथी गरजते हैं, ऐसा लगता है विविध निशान बजते हैं। चक्रवाक, चकोर, चातक, शुक, पिक के समूह कूजन करते हैं; मराल भी प्रसन्न मन है। भ्रमर समूह गान कर रहे हैं और मोर नाचते हैं। और मानों सुराज का मंगल चारों ओर फैला हुआ है।'[1] यह वर्णना आदर्श रूप के समान है, पर इसमें व्यंजना राम के ऐश्वर्य के प्रभाव की ध्वनित होती है। इसी प्रकार एक प्रकृति का चित्र गीतावली में भी है; उसमें भगवान् के असीम ऐश्वर्य का प्रभाव प्रकृति पर प्रतिबिम्बित हो रहा है—

आइ रहे जब तें दोउ भाई।
उकठेउ हरित भए जल-थलरुह नित नूतन राजीव सुहाई।
फूलत फलत पल्लवत पलुहत बिटप बेलि अभिमत सुखदाई।

---

१. रामच०; तुलसी: अयो०, दो० २३६।

सरित सरनि सरसीरुह-संकुल सदन सँवारि रमा जनु छाई।
कूजत विहंग मंजु गुंजत अलि जात पथिक जनु लेत बुलाई।[1]

जहाँ तक प्रकृति का भगवान् के प्रभाव से आन्दोलित हो उठने का प्रश्न है, तुलसी में ऐसे स्थल कम हैं। धनुष-भंग होने के समय अवश्य एक बार विश्व-सर्जन जैसे अस्थिर हो उठता है और इसी प्रकार जब राम सिन्धु पर क्रुद्ध होकर बाण संधानते हैं, उस समय समुद्र का अस्तित्व स्थिर हो जाता है। भगवान् राम को ऐश्वर्य-रूप में जभी कुछ आक्रोश आता है तुलसी की प्रकृति भयभीत और आंदोलित हो उठती है—

जब रघुबीर पयानो कीन्हों।
छुभित सिंधु डगमगत महीधर सजि सारँग कर लीन्हों।
सुनि कठोर टंकोर घोर अति चौंके बिधि त्रिपुरारि।
पवन पंगु पावक पतंग ससि दुरि गए थके बिमान।[2]

इसी प्रकार प्रकृति भगवान् के इंगित पर चलती है और यह भक्त की अपनी दृष्टि है।

लीला की प्रेरणा (ख)—सूर तथा अन्य कृष्ण-भक्तों ने भी भगवान् के प्रभाव में प्रकृति को क्रियाशील दिखाया है। ऐसे स्थलों पर वह कृष्ण की शक्ति से संचरित लगती है या उससे प्रेरित जान पड़ती है। अगले प्रकृति के मुग्ध या उल्लसित रूपों पर भी भगवान् का किसी न किसी प्रकार का प्रभाव है। परन्तु यहाँ प्रभाव से हमारा अर्थ है, प्रकृति का भगवान् की शक्ति से प्रेरित तथा क्रियाशील होना। बाल-रूप कृष्ण अँगूठा मुँह में डालते हैं और—'सिंधु उछलने लगा, कमठ अकुलाकर काँपने लगा। हरि के पाँव पीते ही, शेष अपने सहस्रों फनों से डोलने लगा। वट वृक्ष बढ़ने लगा; देवता आकुल हो उठे, आकाश में घोर उत्पात होने लगा—महाप्रलय के मेघ जहाँ-तहाँ आघात करके गरज उठे।'[3] इसी प्रकार की एक स्थिति परमानंददास ने उपस्थित की है। वसुदेव कृष्ण को लेकर भादों की अँधेरी रात में गोकुल जा रहे हैं और प्रकृति भगवान् की प्रेरणा से संचलित होती है—

आठें भादों की अँधियारी।
गरजत गगन दामिनी कौंधति गोकल चले मुरारी।
शेष सहस्र फन बूँद निवारत सेत छत्र सिर तान्यो।

१. गीता०; वही, अयो०, पद ४६।
२. वही; वही; सुन्द०, पद २५।
३. सूरसा०; दश०; पृ० १३६—'चरण गहे अँगुठा मुख मेलत।'

वसुदेव अंक मध्य जगजीवन कहा करैयो पान्यो।
यमुना थाह भई तिहिं औसर आवत जात न जान्यो।[1]

इन प्रकृति-रूपों के अतिरिक्त कृष्ण कंस के भेजे हुए जिन दैत्यों से ब्रज की रक्षा करते हैं वे प्रकृति सम्बन्धी प्रकोपों में प्रकट होते हैं। और उनको विध्वस्त करने में भगवान् की शक्ति का परिचय मिलता है। यह तो पहले ही संकेत किया गया है कि भगवान् की लीलाओं पर आकाश के देवता तथा अन्य प्रकृति से सम्बन्धित पात्र जय-जयकार करने लगते हैं।

लीला के समक्ष प्रकृति—हम जिस प्रकृति-रूप का उल्लेख करने जा रहे हैं, उसके आधार में आचार्य वल्लभ की लीला-भावना है। वल्लभ के अनुसार चित् और आनन्द से अलग प्रकृति सत् मात्र है। परन्तु जिस प्रकार जीव भगवान् की लीला में भाग लेकर आनन्द प्राप्त करता है; उसी प्रकार प्रकृति इस लीला की स्थली होकर आनन्द को अपने में प्रतिबिम्बित कर लेती है। यही कारण है, जब प्रकृति कृष्ण की रास-लीला या वंशी-ध्वनि के सम्पर्क में आती है, उस समय वह मौन-मुग्ध हो उठती है। यह मुग्धता केवल मौन ही नहीं हो जाती, वरन् स्वयं में आनन्दप्रद आकर्षण बन जाती है। आगे चलकर यह आनन्द की भावना उल्लास के रूप में प्रकृति में प्रतिघटित होती है। पहले प्रकृति के उसी रूप पर विचार करना है जो मुग्ध होकर मौन हो उठता है। तुलसी में यह रूप लीला से सम्बन्धित न होकर रूप-सौन्दर्य से सम्बन्धित है—'बन में मृगया खेलते हुए राम सुशोभित हैं, वह छवि वर्णन करते नहीं बनती। मृग और मृगी इस अलौकिक रूपक को देखकर, न तो हिलते हैं और न भागते हैं। उनको वह रूप पंचशायक धारण किए हुए कामदेव लगता है।'[2] भगवान् की लीला के सम पर प्रकृति का रूप कृष्ण-भक्त कवियों में ही आ सका है। यहाँ फिर प्रकृतिवादी दृष्टि से एक बार सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है। प्रकृतिवादी अपनी साधना में प्रकृति के माध्यम से एक ऐसा सम प्राप्त करता है कि उस भाव-स्थिति में प्रकृति तादात्म्य स्थापित करती हुई मुग्ध लगती है और आगे चलकर साधक के आनन्द का प्रतिबिम्ब ग्रहण कर उल्लसित भी होती है। परन्तु भक्त के सामने आराध्य का लीला-मय रूप है, उससे वह अपने मन का सम ढूंढ़ता चलता है। लीला के इसी सम पर उसकी प्रकृति मुग्ध-मौन है और आनन्द भावना में उल्लसित भी। प्रकृति के इस रूप को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, यद्यपि इन रूपों में एक दूसरे का अन्तर्भाव है। कुछ स्थलों पर प्रकृति कृष्ण की वंशी के प्रभाव से मुग्ध है और कहीं रास के समक्ष मौन-चकित है। इसके अतिरिक्त प्रकृति कभी वंशी के प्रभाव से मुग्ध है और

१. कीर्त० (भाग २ उत्त०); पृ० ६१।
२. कवितावली; तुलसी; अयो०, छंद २७।

कभी रास की क्रीड़ा से उल्लसित जान पड़ती है। इस प्रकृति-रूप पर आनन्द का प्रतिबिम्ब माना जा सकता है।

स्तब्ध और मौन-मुग्ध (क)—कृष्ण-भक्त कवियों के लिए वंशी भगवान् की आकर्षण-शक्ति का प्रतीक रही है, उसीसे समस्त सर्जन भगवान् की लीला की ओर आकर्षित होता है। यही कारण है कि वंशी की ध्वनि के प्रभाव में प्रकृति स्तब्ध है। सूर कहते हैं—'मेरे श्याम ने जब मुरली अधरों पर रख ली, उसकी ध्वनि सुनकर सिद्धों की समाधि टूट गई। सुनकर देव-विमान थकित हो गए, देव-नारियाँ स्तब्ध चित्र-लिखित रह गईं। ग्रह-नक्षत्र रासमय हो उठे···इसी ध्वनि में बँधे हुए हैं। आनन्द उमंग में पृथ्वी और समुद्र के पर्वत चलायमान हो गए। विश्व की गति विपरीत हो गई, वेणु की गति-कल्पना से झरना झरने लगे, गंधर्व सुन्दर ज्ञान से मुग्ध हो गए। सुनकर पक्षी और मृग मौन हो गए, फल और तृण खाना भूल गए।······द्रुम और बल्लरियाँ चंचल हो गईं और उनमें किसलय प्रकट हो गए। वृक्ष पत्तों में चंचल हैं, मानों निकट आने को अकुलाते हैं।····· सुनकर चंचल पवन थकित रह गया और नदी का प्रवाह रुककर स्थिर हो गया।'[1] सूर के इस प्रकृति-रूप में मुग्ध तथा स्तब्ध रह जाने का भाव अधिक व्यक्त होता है, फिर भी इसमें उल्लास का भाव निहित है। रास के अवसर पर मुरली का प्रभाव अधिक व्यापक और मुग्धकारी है; साथ ही आह्लाद की भावना भी मिली हुई है—

> **मुरली सुनत अचल थके।**
> **थके चर जल झरत पाहन बिफल वृक्षन फले।**
> **पय स्रवत गोधननि थनते प्रेम पुलकित गात।**
> **झरे द्रुम अंकुरित पल्लव बिटप चंचल पात।**
> **सुनत खग मृग मौन साध्यो चित्त की अनुहारि।**[2]

वस्तुतः प्रकृति की यह स्तब्ध-मौन स्थिति भी उल्लास की अतिशय भावना को लेकर है; केवल उल्लासमय प्रकृति-रूपों में प्रकृति की सप्राणता और गतिशीलता अधिक प्रत्यक्ष हो उठती है। यही कारण है कि प्रकृति के इन मुग्ध चित्रों में उल्लास का भाव मिल गया है। कृष्णदास रास के अवसर पर वंशी-ध्वनि के प्रभाव का उल्लेख करते हैं—'आज नन्दनन्दन गोवर्धन धारण करने वाले कृष्ण ने यमुना के पुलिन पर अधरों पर वंशी रखी—जिसको सुनकर देवांगनाएँ अपना घर छोड़कर आकाश से फूल बरसाने लगीं; इस ध्वनि को सुनकर बछड़े, पक्षी और मृग सभी ध्यान-मग्न हो गए;

---

१. सूरसा० ; दशम स्कं०; पृ० २३५—'मेरे साँवरे जब मुरली अधर धरी।'

२. वही; वही; पृ० ४४१।

सभी द्रुमवेलियाँ प्रफुल्लित हो गई······कमल-वदन को देखकर सहस्रों कामदेव मोहित हो गए।'[1] इस चित्र में मुग्ध-भाव के अन्तर्गत ही प्रकृति की तीन स्थितियों का समन्वय है—प्रकृति स्तब्ध है, उल्लसित है और भ्रमित भी है। हितहरिवंश भी इसी प्रकार के प्रकृति-रूप की ओर संकेत करते हैं—

मोहनी मदन गोपाल लाल की बाँसुरी।
मधुर श्रवण पुट सुनत स्वर राधिके करत।
रतिराज के ताप को नाश री।
शरद राका रजनी विपिन वृन्दा शरद अनिल।
तन मंद अलि शीतल सुवासी।
सुभग पावन पुलिन भृंग सेवत नलिन कल्पतरु।
रुचिर बलबीर कृतरास री।'[2]

नन्ददास ने 'रास पंचाध्यायी' में प्रकृति का रूप इसी प्रकार चित्रित किया है; साथ ही कुछ स्थलों पर रास के प्रसंग में उल्लास की भावना भी व्यक्त हुई है। रास की शोभा को देखकर प्रकृति मुग्ध हो उठती है—'मोहन ने अद्भुत रास की रचना की, संग में राधा और चारों ओर गोपियाँ हैं—एक ही बार मुरली के सुधामय स्वर से देवता मोहित हो गए; जल-थल के जीव भी मुग्ध हो गए; समीर भी थकित हो गया और यमुना उलटी प्रवाहित होने लगी।······ श्याम इस प्रकार निशा में विहार करते हैं।'[3]

आनन्दोल्लास में मुखरित (ख)—मुग्धता का यही भाव उल्लास में मुखरित और गतिशील हो जाता है। वंशी-ध्वनि से, रास-लीला के समक्ष अथवा अन्य लीलाओं के अवसर पर प्रकृति भगवान् के आनन्द का प्रतिबिम्ब ग्रहण करती हुई उल्लसित हो जाती है। प्रकृतिवादी अपने मन के आनन्दोल्लास को प्रकृति के गतिमय सौन्दर्य के माध्यम से व्यक्त करता है। लेकिन भक्ति-भावना में प्रकृति का उल्लास भगवान् के आनन्द-रूप का प्रभाव है। तुलसी के सामने भगवान् का लीलामय रूप नहीं है, इस कारण उनमें यह रूप नहीं मिलता। परन्तु भगवान् के ऐश्वर्य से उल्लास ग्रहण करती प्रकृति का रूप कहीं-कहीं मिल जाता है। 'गीतावली' में राम पथिक भेष में हैं—

देख राम पथिक नाचत मुदित मोर।
मानत मनहुँ सतड़ित ललित घन धनु सुरधनु गरजनि टंकोर।

---

१. कीर्त० (भाग १ उत्त०) ; पृ० ३०१—'आज नन्दनन्दन गोविन्द गिरिवर धरन'।

२. वहीं ; पृ० ३३४।

३. रास पंचाध्यायी: नन्ददास ; प्र० स्कं०।

कँधे कलाप बर बरहि फिरावत गावत कल कोकिल किसोर ॥
जहँ जहँ प्रभु विचरत तहँ तहँ सुख दंडक बन कौतुक न थोर।
सघन छाँह तम-रुचिर रजनी भ्रम बदन-चन्द चितवत चकोर।
तुलसी मुनि खग मृगनि सराहत भए हैं सुकृत सब इन्ह की ओर ॥'[1]

इस प्रकृति में उल्लास की भावना भगवान् के रूप और सामीप्य से सम्बन्धित है। परन्तु कृष्ण-काव्य में प्रकृति का रूप भगवान् की लीला से तादात्म्य स्थापित करता है। वंशी-वादन और रास-लीला के प्रसंग में प्रकृति के अधिकांश चित्रों में मुग्ध भाव के साथ उल्लास भी सन्निहित है। हितहरिवंश रास के प्रसंग में प्रकृति का उल्लेख करते हैं—'यमुना के तट पर आज गोपाल रसमय रास-क्रीड़ा करते हैं। शरत-चन्द्र आकाश में सुशोभित हो गया है, चंपक, बकुल, मालती के पुष्प मुकुलित हो रहे हैं और उनपर प्रमत्त भ्रमरों की भीड़ है। इन्द्र प्रसन्न होकर निशान बजाते हैं जिसको सुनकर मुनियों का भी धैर्य छूटता है। मग्नमना श्यामा मन की पीड़ा को हरती है।'[2] यहाँ प्रकृति की क्रियाशीलता में उल्लास की व्यंजना हुई है। गदाधर भी इसी प्रकार के प्रकृति-रूप का संकेत देते हैं—'आज मोहन ने रास-मंडली रची है। पूर्ण चन्द्र उदित है, निर्मल निशा है और यमुना का सुन्दर किनारा है। पवन के संचरण से द्रुम पंखे के समान जान पड़ते हैं...कुन्द, मन्दार और कमल के मकरन्द से आच्छादित कुंज-पुंजों में भ्रमर सुन्दर गुंजार करते हैं।'[3] इन प्रसंगों के अतिरिक्त बसंत, फाग और हिंडोला आदि लीलाओं में भी प्रकृति भावमग्न चित्रित की गई है। परन्तु ऊपर के दोनों प्रसंग आध्यात्मिक भावना से अधिक सम्बन्धित हैं और उनमें लीलामय भगवान् के सम्पर्क में प्रकृति के सत् को 'चिदानन्द' की ओर आकर्षित होते दिखाया गया है। बसंत आदि के प्रसंगों में प्रकृति का उल्लास उद्दीपन भावना से प्रभावित है और इनपर प्रचलित परम्पराओं का अधिक प्रभाव है। इनमें प्रकृति का प्रयोग भक्तों की मनःस्थिति में भगवान् की शृंगार-लीला के लिए प्रकृति उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत प्रयुक्त हुई है। नन्ददास बसंत के उल्लास का रूप उपस्थित करते हैं—

चल बन देख सयानी यमुना तट ठाढ़ी छैल गुमानी।
फूले कदम्ब गहर पलास द्रुम त्रिविध पवन-सुखकारी ॥
बहुरंग कुसुम पराग बहक रह्यो अलि लपेट गुंजत मृदुबानी।
करि कपोत कोकिला ध्वनि सुनि ऋतु बसंत लहकानी ॥'[4]

---

१. गीता० ; तुलसी ; अर०, पद १।
२. कीर्त० (भाग १) ; पृ० ३०७।
३. वही ; पृ० ३२४—'आज मोहन रची रासमंडली।'
४. वही ; पृ० ३२२।

यहाँ प्रकृति की भावात्मकता अन्य भाव-स्थिति को लेकर है, इसलिए इन रूपों की विवेचना 'उद्दीपन-विभाव में प्रकृति' नामक प्रकरण में की जायगी। फिर भी भगवान् की शृंगार-लीला में यह प्रकृति-रूप आध्यात्मिक भावना को उद्दीप्त करने के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

× × ×

इस समस्त विवेचना के पश्चात् हम देखते है कि मध्ययुग की आध्यात्मिक साधना में प्रकृति की परिकल्पना अनेक प्रकार से की गयी है। इन रूपों में प्रकृति प्रमुख नहीं है अर्थात् वह आलम्बन प्रमुखतः नहीं है। फिर भी रूपों में अनेकता और विविधता है और व्यापक दृष्टि से भगवान् के माध्यम से प्रकृति को महत्वपूर्ण स्थान भी मिला है। साथ ही इन कवियों तथा प्रकृतिवादियों की प्रकृति-परिकल्पना में एक प्रकार की समानान्तरता भी देखी जा सकती है।

षष्ठ प्रकरण

विभिन्न काव्य-रूपों में प्रकृति

काव्य की परम्पराएँ—हिन्दी साहित्य के मध्ययुग की प्रमुख प्रवृत्तियों के विषय में विचार करते समय उस युग की स्वच्छंदवादी भाव-धारा की ओर भी संकेत किया गया है। साथ ही उसकी विरोधी शक्तियों का उल्लेख किया गया है। इस पिछली विवेचना के आधार पर मध्ययुग के विभिन्न काव्य-रूपों और उनमें प्रयुक्त प्रकृति-रूपों पर विचार करना है। मध्ययुग के धार्मिक काल में हमको साहित्यिक अनुकरण की प्रवृत्ति मिलती है, जो आगे चलकर रीतिकाल में प्रमुख हो उठी है। इस कारण धार्मिक साहित्य में भी प्रकृति के रूपों का प्रयोग साहित्यिक रूढ़ियों के अन्तर्गत हुआ है। यद्यपि कहा गया है कि मध्ययुग के काव्य में प्रकृति के अनेक स्वच्छंद और उन्मुक्त रूप मिलते हैं। मध्ययुग के पूर्वार्द्ध धार्मिक काल में स्वच्छंद भावना का योग विभिन्न काव्य-रूपों में विभिन्न प्रकार से हुआ है। इन काव्य-रूपों के विकास में इस भावना का अपना योग रहा है। इस कारण इन काव्य-रूपों के अनुसार प्रकृति पर विचार करना अधिक उचित होगा। इन काव्य-रूपों की परम्पराओं में स्वच्छंदवादी प्रवृत्तियों के साथ प्रतिक्रियात्मक शक्तियों का हाथ रहा है। फलस्वरूप इनमें हम प्रकृति को मिश्रित सम्बन्धों में देख सकेंगे। जो काव्य परम्परा जिस सीमा तक जिन प्रवृत्तियों से प्रभावित हुई है, उसमें प्रकृति के रूप भी उसी प्रकार प्रभाव ग्रहण करते हैं। इस प्रकरण में मध्ययुग की समस्त काव्य परम्पराओं में प्रकृति के स्थान के विषय में विचार किया जायगा। परन्तु इस विवेचना में प्रकृति के उद्दीपन-रूपों को छोड़ दिया गया है, क्योंकि यह अगले प्रकरण का विषय है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इस प्रकरण में प्रकृति का आलम्बन सम्बन्धी दृष्टि-विन्दु है। वस्तुतः यहाँ विभिन्न-काव्य-रूपों में प्रकृति के प्रयोगों को स्पष्ट किया जायगा, साथ ही विशुद्ध उद्दीपन विभाव में आने वाले रूपों को छोड़कर अन्य रूपों को भी प्रस्तुत किया जायगा। यहाँ सुविधा के अनुसार मध्ययुग के समस्त काव्य-रूपों को चार परम्पराओं में विभाजित किया जा सकता है।

पहली परम्परा कथा-काव्य की है जिसमें कथानक और प्रबन्ध को लेकर चलने वाले काव्य हैं। दूसरी परम्परा गीति-काव्य की है जिसमें स्वतन्त्र तथा घटना-स्थिति आदि से सम्बन्धित पद-काव्य-रूप आता है। तीसरी परम्परा मुक्तक-काव्य की है जो गीति काव्य से एक सीमा तक समान है; परन्तु इसमें भाव-शीलता के स्थान पर छंद-मयता तथा कवित्व अधिक रहता है। चौथी परम्परा रीति-काव्य की है जिसमें काव्य-शास्त्र का प्रतिपादन हुआ है और स्वतन्त्र उदाहरण जुटाए गए हैं। इनके उदाहरण के छंद मुक्तकों के समान हैं, केवल उनमें कवित्व का चमत्कार तथा रूढ़ि-वादिता अधिक है।

कथा-काव्य की परम्परा

मध्ययुग के कथा-काव्य का विकास—जिस समय संस्कृत साहित्य में महा-काव्यों की परम्परा चल रही थी और उनका रूप अधिक अलंकृत होता जा रहा था, उसी समय अपभ्रंश साहित्य में 'रामायण' और 'महाभारत' के समान चरित-काव्यों (प्रबन्ध-काव्यों) का प्रचार हो गया था। इन चरित-काव्यों के प्रचार का कारण जैनों का इस माध्यम से अपने धर्म को जनता तक पहुँचाने का विचार था। इन काव्यों में दोहा-चौपाई छंद का प्रयोग भी मिलता है। इनके विषय में एक प्रमुख बात यह है कि इनमें कलात्मकता तथा आलंकारिता से अधिक ध्यान कथा और धार्मिक सिद्धान्तों की ओर दिया गया है। फिर भी अपभ्रंश के कवियों के सामने साहित्यिक परम्परा अवश्य थी। वर्णनों को लेकर यह बात स्पष्ट है, इनमें ऋतुओं, वन-पर्वतों तथा प्रातः-सन्ध्या आदि का वर्णन संस्कृत काव्यों के समान मिलता है। लेकिन ऐसा होने पर भी इन गाथा-काव्यों में कथात्मकता को लेकर लोक-रुचि का ध्यान है; साथ ही प्रकृति-रूपों में स्थान-स्थान पर स्वच्छंद भावना है और वर्णना में स्थानगत विशेषताओं का संयोग हुआ है। कथा के प्रति आकर्षण लोक की स्वाभाविक रुचि है। लोकगीतों में भी लोक-प्रचलित कथाओं का आधार रहता है। लोकगीतों की कथाओं में भावों का प्रगुम्फन और प्रकृति का वातावरण उन्मुक्त और स्वच्छंद रहता है। अपभ्रंश के प्रबन्ध-काव्यों में धार्मिक वातावरण है और सामन्ती कवियों में शृंगार की भावना अधिक है। इसी अपभ्रंश साहित्य के लगभग समानान्तर संस्कृत का पौराणिक साहित्य चलता है। एक सीमा तक ये दोनों साहित्य एक दूसरे से प्रभावित हुए हैं। हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक युग में रासो की परम्परा अपभ्रंश के सामन्ती वीर-काव्यों की परम्परा है। इसमें भी हमको शृंगार और वीर-रस की भावना प्रमुखतः मिलती है और साहित्यिक रूढ़ियों का अनुकरण तथा अनुसरण दोनों ही पाया जाता है।

हिन्दी साहित्य के मध्ययुग के कथा-काव्यों पर इन पिछली परम्पराओं का

प्रभाव है। वह प्रभाव कथा और उसके रूप से सम्बन्धित तो है ही; साथ ही राम-काव्य तथा सूफ़ी प्रेमाख्यानों में धार्मिक प्रतिपादन और साहित्यिक आदर्शों का पालन भी है। परन्तु जैसा द्वितीय प्रकरण में देखा गया है व्यापक रूप में इस युग के कथा-काव्य में उन्मुक्त वातावरण मिलता है। इस युग में 'ढोला मारूरा दूहा' जैसे कथात्मक लोकगीत भी मिलते हैं। इसमें भावों के साथ प्रकृति को भी उन्मुक्त वातावरण मिल सका है। वस्तुतः इस युग की कथात्मक लोक-भावना को समझने के लिए यह काव्य बहुत महत्वपूर्ण है। प्रेम-काव्यों में जिनमें सूफ़ी तथा स्वतन्त्र दोनों ही कथानक आ जाते हैं, यही भावना प्रचलित रूपों के साथ ग्रहण की गई है। इनमें साहित्यिक परम्परा की झलक किसी-किसी स्थल पर मिलती है। सूफ़ियों की आध्यात्मिक भावना बहुत कुछ स्वच्छंद भावना से तादात्म्य स्थापित करती है। तुलसी के 'रामचरित-मानस' में पौराणिक धार्मिक-प्रतिपादन शैली के साथ साहित्यिक आदर्शों को भी अपनाया गया है। अपनी प्रवृत्ति में आदर्शवादी होने के कारण, एक सीमा तक काव्य के स्वच्छंद वातावरण को अपनाकर भी तुलसी प्रकृति के प्रति उन्मुक्त नहीं हो सके हैं। इस मध्ययुग में संस्कृत महाकाव्यों के समान कोई रचना नहीं हुई है; लेकिन अलंकृत भावना को लिए हुए कुछ काव्य मिलते हैं। केशवदास की 'रामचन्द्रिका' और पृथ्वीराज की 'बेलि क्रिसन रुकमणी री' इस प्रकार के प्रमुख काव्य हैं। इनमें परम्परा-पालन तथा रूढ़िवादिता अधिक है, इसी कारण इनमें प्रकृति-वर्णना अलंकृत हो उठी है। इन काव्यों में हम देखेंगे संस्कृत महाकाव्यों के समान प्रकृति के स्थलों का चुनाव है और वर्णनों में वैचित्र्य की भावना भी है।

लोक-गीत तथा प्रेम-कथा काव्य—कथा-काव्यों में प्रेम-काव्य अपनी प्रवृत्ति और परम्परा दोनों में जन-जीवन के अधिक निकट है। इनमें जन-जीवन से सम्बन्धित प्रेम के संयोग-वियोग, दुःख-सुख के चित्रों का समावेश है। इसीके अनुसार इनमें जन-रुचि के अनुकूल कहानियों को लिया गया है। प्रेम-काव्यों की कथात्मक शृंखला में गीति-भावना का सम्मिलन हुआ है। जन-जीवन की निकटतम दुःख-सुख-मयी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के उन्मुक्त और स्वच्छंद वातावरण में ही गीतियाँ पलती हैं। जीवन की छोटी परिस्थिति भावना की हलकी अभिव्यक्ति से मिल-जुलकर जनगीतियों में आती है। वस्तुतः जीवन की यही परिस्थिति, भावना का यही रूप जन-कथा की लोकप्रियता के साथ हिलमिल जाता है। और तब वही जन-गीति कथात्मक हो उठती है। परन्तु अपने समस्त विस्तार में जन-गीति कथात्मक होकर भी कथामय नहीं हो पाती। जन-गीति और कुछ दूर तक काव्य-गीति भी, किसी वस्तु-स्थिति को आधार के रूप में ही ग्रहण करती है। यही कारण है कि इसमें कथा का रूप भाव-स्थितियों को आधार देने के लिए होता है। इसमें कथा अपने आप कहीं भी प्रमुख

नहीं होती। मध्ययुग के कथा-काव्य का सम्बन्ध इन गीतियों से अवश्य रहा है। प्रबन्धात्मक कथा-काव्यों की मूल प्रेरणा का स्रोत ये ही हैं। बाद में अवश्य इनको पौराणिक कथा-साहित्य का आधार और जैन कथा-परम्परा का रूप मिल सका है। इन कथा-काव्यों में प्रेम का उन्मुक्त वातावरण लोक प्रचलित कथा-गीतियों से अधिक सम्बन्धित है। इस प्रकार के कथात्मक गीति-काव्य के रूप में हमारे सामने केवल 'ढोला मारूरा दूहा' है जिसके आधार पर हम देख सकेंगे कि अन्य समस्त प्रेम-कथाओं का रूप किस प्रकार की स्वच्छंद भावना से विकसित हो सका है। इस प्रकार की प्रेम-कथाओं के साहित्य में दो रूप मिलते हैं। एक रूप में प्रेम-कहानी को लौकिक अर्थ में ग्रहण किया गया है और दूसरे में आध्यात्मिक अर्थ में। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है। लोककथा-गीति 'ढोला मारूरा दूहा' और अन्य प्रेम-सम्बंधी स्वतंत्र काव्यों में भेद है और इसको लेकर इनके प्रकृति-रूपों में भी अन्तर है। प्रेमाख्यान काव्यों में कथानक सम्बन्धी प्रबंध-काव्यों की परम्परा का प्रभाव पड़ा है और इस सीमा में स्वतंत्र तथा सूफ़ी दोनों प्रेम-काव्य की परम्पराएँ समान हैं। जहाँ तक 'ढोला मारूरा दूहा' का प्रश्न है यह कथा-काव्य के उन्मुक्त और गीति-काव्य के स्वच्छंद रूप की मिश्रित वस्तु है। इस लोक-गीति में प्रेम-कथा और प्रेम-गीति दोनों के मूल रूप निहित हैं। यही कारण है कि इसमें जो प्रकृति सम्बन्धी भावना पाई जाती है, उसका एक दिशा में विकास कथात्मक प्रेम-काव्यों में हुआ है और दूसरी दिशा में गीतियों में हो सका है।

स्थानगत रूप-रंग (देश)—'ढोला मारूरा दूहा' कथा-काव्य होकर भी लोक-गीत के रूप में है। लोक भावना में व्यंजना ही प्रधान है, पर लोक-गीति अपनी गीत्यात्मकता में वस्तु और स्थिति का आधार ग्रहण करती है। यही बात कथात्मक गीतियों को लेकर भी है। इनमें कथा की भूमि प्रेम-शृंगार के संयोग-वियोग पक्षों से सम्बन्धित रहती है। लेकिन यह कथा विभिन्न भाव-व्यंजनाओं को सूक्ष्म आधार प्रदान करती है। इस कारण कथात्मक लोक-गीतियों में वस्तु या स्थिति के आधार रूप में प्रकृति-चित्रण को स्थान नहीं मिल सका। प्रकृति का यह रूप प्रबन्ध-काव्यों और महाकाव्यों में उपस्थित होता है। फिर भी केवल आधार प्रस्तुत करने के लिए, देश-काल की स्थिति का भान कराने के लिए 'ढोला मारूरा दूहा' में ऐसे चित्र आए हैं, परन्तु देश का वर्णन हो अथवा ऋतु के रूप में काल का वर्णन हो, यह प्रकृति-रूप गीति की प्रवाहित भावना का आधार प्रस्तुत करने के लिए ही है। इसमें मारवणी और मालवणी के वार्तालाप में मारू और मालव का देशगत वर्णन हुआ है। यहाँ वर्णन तो प्रशंसा और निन्दा की दृष्टि से किया गया है, लेकिन इसीके साथ रेखा-चित्रों में देशों का वर्णन भी हुआ है। लोक-कवि की भावना राजस्थान के मारू प्रदेश के प्रति अधिक

संवेदनशील रह सकी है। इन वर्णनों में विशेषताओं का उल्लेख अधिक है, प्रकृति-चित्रण का तो संकेत मात्र है। मालवणी निन्दा के साथ मरु-प्रदेश का रेखा-चित्र उपस्थित करती है—'हे बाबा, ऐसा देश जला दूं जहाँ पानी गहरे कुओं में मिलता है और जहाँ (लोग) आधी रात से ही पुकारने लगता है; मानों मनुष्य मर गया हो।''' हे मारवणी, तुम्हारे देश में एक भी कष्ट दूर नहीं होता, या तो प्रयाण होता है, या वर्षा नहीं होती अथवा फाका या टिड्डी पड़ती है।'''जिस देश में पीणे साँप हैं, जहाँ करील और ऊँटकटारा घास ही पेड़ गिने जाते हैं, जहाँ आक और फोग के नीचे ही छाया मिलती है।'[1] इसी प्रकार मारवणी के उत्तर में मालव का हलका रेखा-चित्र है। 'बाबा, उस देश को जला दूं जहाँ पानी पर सेवार छाया रहता है। जहाँ न तो पनिहारियों का झुण्ड आता-जाता रहता है और न कुओं पर पानी भरने वालों का लय-पूर्ण स्वर सुनाई देता है।'[2] इनमें केवल उल्लेख है, प्रदेशगत प्रकृति का रूप नहीं आ सका है। इन गीतियों में गायक की भावना के साथ छोटे-छोटे संकेत भी पूरे चित्र की व्यंजना रखते हैं और इन्हीं संकेतों के आधार पर गायक की कथा चलती रहती है। इसी प्रकार का एक संकेत-चित्र बीसू चारण ढोला को देता है—'मारवाड़ की रेतीली भूमि वर्षा के अधिक भाग में भूरे रंग की दिखाई देती है; वहाँ के वन विशीर्ण और झंखाड़ हैं—चंपा उत्पन्न नहीं होती, लेकिन चंपा से भी बढ़कर अपने गुणों से सुगंधित करने वाली स्त्रियाँ होती हैं।'[3] ढोला मार्गस्थ कुएँ का उल्लेख करता है—'पानी कुओं में बहुत गहरा मिलता है और डूंगरी पर कठिनाई से चढ़ा जाता है। मारवणी के कारण ऐसे अपूर्व देशों को देखा'''कुओं में पानी इतना गहरा है कि तारे की तरह चमकता है।'[4]

काल (क)—इस लोक-गीत में जिस प्रकार देश की कोई निश्चित रूप-रेखा नहीं है, उसी प्रकार काल भी किसी सीमा में प्रस्तुत नहीं हुआ है। व्यापक रूप से साधारण विशेषताओं के साथ ऋतुओं का उल्लेख किया गया है। इसका कारण भी वही है। लोक-गीति की भाव-धारा में देश और काल दोनों साधारण रूप में आधार भर प्रस्तुत करते हैं। ढोला के प्रस्थान के प्रसंग में इसी प्रकार ऋतुओं का उल्लेख किया गया है। मालवणी ग्रीष्म के बारे में कहती है—'भूमि तपी हुई है, लू सामने है। हे पथिक, (यदि मारवणी के देश गए) तो तुम जल जाओगे। जो हमारा कहना करो तो घर ही रहो।' आगे ढोला और मारवणी के वार्तालाप में वर्षा का वर्णन आता है।

१. ढो॰ मा॰ दू॰ ; सं॰ ६५५, ६६०, ६६१।
२. वही ; सं॰ ६६४।
३. वही ; सं॰ ४६८।
४. वही ; सं॰ ५२३, ५२४।

मारवणी के द्वारा वर्णित प्रकृति में भावात्मक उत्सुकता (उद्दीपन रूप में) सन्निहित है; उसके द्वारा वह ढोला को रोकना चाहती है। परन्तु ढोला द्वारा उल्लिखित चित्रों में संक्षिप्त संश्लिष्टता है।''''पग-पग पर मार्ग में पानी भर गया है, ऊपर आकाश में बादलों की छाया हो गई है। हे पद्मनी, वर्षा ऋतु समाप्त हो गई, अब कहो तो पूगल जावें। रात भर कुंझों का शब्द सुहावना लगता है; सरोवर का जल कमलिनियों से आच्छादित हो गया है।' आगे वर्षा का चित्र अधिक स्पष्ट हो उठता है—'बाजरियाँ हरी हो गईं और उनके बीच की बेलों में फूल छा गए। यदि भादों भर बर्षता रहा तो मारू देश अमूल्य होगा।'[1]

वातावरण में भाव-व्यंजना (ख)—मालवती अपने वर्णनों में भावात्मक वातावरण उपस्थित करती है—'जिस ऋतु में वर्षा खूब झड़ी लगाती है और पपीहे बोलते हैं, उस ऋतु में, हे प्रिय स्वामिन्, बताओ भला कौन घर छोड़ता है।' मालवणी द्वारा प्रस्तुत चित्रों में मनःस्थिति के समानान्तर उद्दीपन का रूप छिपा हुआ है, पर उनसे वातावरण का निर्माण भर होता है—'पपीहा पिउ-पिउ कर रहा है, कोयल सुरंगा शब्द बोल रही है........। पहाड़ियाँ हरी हो गईं, वनों में मोर कूकने लगा''''' । बादलों की घटाएँ फौज हैं, बिजली तलवारें हैं और वर्षा की बूँदें बाण की तरह लगती हैं''''''। वर्षा ऋतु में नदियाँ, नाले और झरने पानी से भरपूर चढ़े हुए हैं। ऊँट कीचड़ में फिसलेगा'''। घने बादल उमड़ आए हैं। अत्यन्त शीतल झड़ी की वायु चल रही है। बेचारे बगुले पृथ्वी पर पैर नहीं रखते। चारों ओर घने बादल हैं, आकाश में बिजली चमकती है।''''''ऐसी हरियाली की ऋतु भली है।''''''पपीहा करुण शब्द करता है और वर्षा की झड़ी लगी रहती है। पृथ्वी पर मोर मण्डप बनाकर (पिच्छ फैला कर) नाच रहे हैं।''''''बन हरियाली धारण करते हैं और नदियों में पानी कलकल करता हुआ बहता है।''''''''वर्षा की झड़ी लगी रहती है और ठण्डी हवा चलती है। ''''''काली कंठुलीवाली बदली बरस कर हवा को छोड़ रही है।'[2] इस वर्षा-ऋतु के चित्र में स्थानगत रूप-रंगों की कल्पना वातावरण का निर्माण करती है, परन्तु इस समस्त चित्र-योजना में मनःस्थिति का एक रूप प्रत्यक्ष हो उठता है—'इस ऋतु में कोई घर छोड़ता है ? कैसे बीतेगी ? और ऋतु में प्यारे बिना कोई जिएगा कैसे ? प्रिय बिना रात कैसे बीतेगी और विरहिणी धैर्य धारण कैसे करेगी ?' यह अदृश्य समानान्तर भावना प्रकृति को उद्दीपन-रूप के निकट पहुँचा देती है। प्रकृति का यह रूप अन्य प्रकरण का विषय है। वस्तुतः लोक-गीति में मानवीय भावों का प्रसार ऐसा व्यापक हो उठता है कि उसमें गीतकार की आश्रित भावना का आलम्बन स्वतन्त्र रूप से प्रकृति

१. वही ; सं० २४१, २४३, २२४, २५० ।

२. वही ; सं० २४६, ४७; २५२—६७ ।

नहीं हो पाती। यद्यपि इन गीतियों में प्रकृति के प्रति सहज सहानुभूति और स्वाभाविक सहचरण की प्रवृत्ति रहती है। इस कथात्मक लोक-गीति को काव्य का रूप मिला है, इस कारण कुछ स्थलों पर पृष्ठ-भूमि का संकेत मिलता है।....ढोला के मार्ग में—'दिन बीत गया, आकाश में अंबर-डंबर छा गए। झरने नीलायमान हो गए।' और आगे—'काली कंठुलीवाले मेघों में बिजली बहुत नीचे होकर चमक रही है...संध्या समय आकाश में बादलों की काली कोरोवाली घटा उमड़ती आ रही है।"[1]

लोक-गीति में स्वच्छन्द भावना—हम कह चुके हैं कि मध्ययुग के काव्य ने स्वच्छन्दवादी प्रवृत्तियों को अपनाया है। स्वच्छन्दवादी कवि जब प्रकृति के प्रति आकर्षित होता है और उसे अपना आलम्बन बनाता है, उस समय प्रकृति के प्रति उल्लास और आनन्द की भावना व्यक्त होती है। साथ ही वह अपने जीवन, अपनी चेतना तथा भावना को प्रकृति में प्रतिबिम्बित पाता है। व्यापक अर्थों में यह कवि की अपने 'स्व' के प्रति ही सहानुभूति की भावना, सहचरण की प्रवृत्ति है जो इस प्रकार प्रकृति में प्रतिघटित हो उठती है। इसी प्रकार जब आलम्बन का माध्यम दूसरा व्यक्ति होता है, उस समय भी प्रकृति इस भाव-स्थिति से प्रभावित होकर उपस्थित होती है। यह भी प्रकृति के प्रति हमारी सहज और उन्मुक्त भावना का ही रूप है। यह रूप उद्दीपन-विभाव के निकट होकर भी उससे भिन्न है। लोक-गीतियों में यह भावना अधिक मुक्त और स्वच्छन्द रहती है, इस कारण भी उद्दीपन की साधारण रूढ़ि से यह रूप अलग लगता है। अन्य गीतियों के समान ही 'ढोला मारूरा दूहा' में वियोग की भावना व्यापक है। इस व्याप्त भावना की स्थायी स्थिति के साथ प्रकृति का रूप बहुत सहज बन पड़ा है।

व्यापक सहानुभूति (क)—इस लोक-गीति में सहानुभूति के वातावरण और सहचरण की भावना में प्रकृति निकट के सम्बन्ध में उपस्थित हुई है। प्रकृति का उल्लास वियोग की स्थिति में उद्दीपन का काम करता है; पर प्रकृति के प्रति जो सहानुभूति की भावना सन्निहित है उससे वियोगिनी प्रकृति से सम्बन्ध स्थापित करती हुई उपालम्भ देती है—

बिज्जुलियाँ नीलज्जियाँ, जलहर तूँ ही लज्जि।
सूनी सेज विदेश प्रिय, मधुरइ मधुरइ गज्जि॥

मारवणी के इस उपालम्भ में मेघ के प्रति गहरी आत्मीयता का भाव छिपा हुआ है। इसी प्रकार मालवणी भी हार्दिक सहानुभूति के वातावरण में उपालम्भ की भावना से प्रश्नशील हुई है—'हे बूर (घास), तू सूखे और रेतीले थल पर जल बिना क्यों डहडही हो रही है। तूने मिष्ठभाषी और सहनशील प्रियतम को दूर भेज दिया है। थली पर स्थित हे जाल तू जल बिना कैसे हरी हो रही है, क्या तुझे प्रियतम ने सींचा है या अकाल

१. वही; सं० ४६१, ५११, ५२२।

वर्षा हुई है।"[1] वियोग वेदना में प्रकृति के उपकरणों के प्रति इस ईर्ष्या की हलकी भावना में भी सहानुभूति का प्रसार है। मानव के हृदय में प्रकृति के प्रति जो सहानुभूति की स्थिति है, वही अपने दुःख-सुख में प्रकृति से समान व्यवहार की आशा करती है। मानव प्रकृति को उसी भावना से युक्त समान आचरण करता हुआ पाता भी है। साहित्य में चातक, पपीहा और चकोर आदि का प्रेम उदाहरण माना गया है। लोक-गीति की वियोगिनी अपनी व्यथा में इन पक्षियों को समान रूप से उद्वेलित पाती है—

बाबहियउ नइबिरहणी, दुहुवाँ एक सुहाव।
जब ही बरसइ घण घणउ, तब ही कहइ प्रियाव॥

पपीहा ही नहीं सारस भी अपनी व्यथा में समान है—

राति जु सारस कुललिया, गुंजु रहे सब ताल।
जिण की जोणी बीछड़ी, तिणका कवन हेवाल॥

साथ ही कुररी पक्षी का करुण रव वियोगिनी को अपनी व्यथा की याद दिलाता है। वह उसके दुःख में जैसे अपनी व्यथा में भी संवेदनशील हो उठती है—'करील की ओट में बैठकर कुंझ पक्षी कुरलाए, जिसको सुनकर प्रियतम की स्मृति शरीर में सार की तरह सालने लगी। समुद्र के बीच में बीट का तेरा घर है, जल में तेरी संतान की उत्पत्ति होती है। हे कुंझ, कौन से बड़े अवगुण के कारण तू आधी रात को कूक उठी। कुररी पक्षियों ने करुण-रव किया और मैंने उनके पंखों की वायु सुनी। जिसकी जोड़ी बिछुड़ गई हो, उसको रात में नींद नहीं आती।"[2]

सहचरण की भावना (ख)—हम कह सकते हैं कि मानव में सम भावना के आधार पर प्रकृति-रूपों के प्रति सहचरण की प्रवृत्ति है। यह मानवीय आलम्बन की किसी भाव-स्थिति में उद्दीपन-विभाव से सम्बन्धित है, परन्तु इसका मूल प्रकृति के प्रति हमारी सहानुभूति में है। इस सीमा में प्रकृति का रूप उद्दीपन नहीं माना जा सकता। सहचरण की प्रवृत्ति के साथ प्रकृति के विभिन्न रूप अनेक सम्बन्धों में उपस्थित होते हैं। इस स्तर पर वे प्रिय सखा, सहचर या दूत हो जाते हैं। लोक-गीति की वियोगिनी पशु-पक्षियों से अपने सुख-दुःख की बात कहती है और प्रिय के प्रति अपना संदेश भी भेजती है। मारवणी पपीहा की सहायता चाहती है—

---

१. वही; सं० ५० [बिजलियाँ तो निर्लज्ज हैं। हे जलधर तू ही लज्जित हो। मेरी शैया सूनी है, मेरा प्यारा विदेश में है"'मधुर-मधुर शब्द से गरज]; ३६०—६१।

२. वही; सं० २७, ५३ [पपीहा और विरहिणी दोनों ही का एक स्वभाव है। जब जब मेघ बरसता है, ये दोनों ही 'पी आव' पुकारते हैं।"'रात में सारस जो करुण स्वर से बोले तो सरोवर गूंज उठा। भला जिनकी जोड़ी बिछुड़ गई हो उनकी क्या दशा होती होगी], ५६—४८।

बाबहिया, चढ़ि गउखसिरि, चढ़ि ऊँचइरी भीत।
मत ही साहिब बाहुड़इ, कउ गुण आवइ चीत॥

फिर वियोगिनी पपीहे के स्वर से अपनी बढ़ती हुई व्यथा से विह्वल होकर उसे मना करती है—'हे नीले पंखोंवाले पपीहे, तेरी पीठ पर काली रेखाएँ हैं। तू मत बोल! वर्षा ऋतु में तेरा शब्द सुनकर विरहिणी कहीं तड़प-तड़पकर प्राण न दे दे।' फिर वह उसके शब्द से क्रुद्ध हो उठती है और आक्रोश में कहती है—'हे नीले पंखोंवाले पपीहे, तू नमक लगाकर मुझे काट रहा है। 'पिउ' मेरा है, और मैं 'पीउ' की हूँ, भला तू 'पिउ-पिउ' कहनेवाला कौन है।' और अन्त में आग्रह के साथ समझाने लगती है—

बाबहिया रत-पंखिया, बोलइ मधुरी बाँणि।
काइ लंबबउ माठि करि, परदेसी प्रिय आँणि॥[1]

इस मीठे आग्रह में कितनी निकटता और साहचर्य्य की भावना प्रकट होती है। मारवणी कुररी से पंख माँगती है और इसमें भी यही भावना क्रियाशील है। प्रकृति की उन्मुक्त स्वतंत्रता से जैसे सम-स्थापित करती हुई वह कहती है—

कुंझा घेउ नइ पंखड़ी, थाँकउ बिनउ बहेसि
सायर लंघा प्री मिलउँ, प्री मिलि पाछी देसि।[2]

मालवणी की आकांक्षा में प्रकृति के साथ सहचरण की भावना का यही रूप सन्निहित है। मारवणी की प्रार्थना में जो प्रत्यक्ष है, वही मालवणी की लालसा में मन की भावना का रूप है। दोनों ही प्रकृति की स्वतन्त्र चेतना से सम स्थापित करती हैं। इस प्रसंग में वियोग के स्थायी रति-भाव के साथ प्रकृति का उद्दीपन-रूप भी है, जिसका अन्य प्रकरण में उल्लेख किया गया है। मालवणी अपने प्रिय से मिलने की उत्सुकता में कहती है—'हे विधाता, तूने मुझे मरु देश के रेतीले स्थल के बीच में बबूल क्यों नहीं बनाया, जिससे पूगल जाते समय प्रियतम छड़ी काटते और उनके हाथों के स्पर्श का फल पाती। हे विधाता, मुझे श्यामल बदली ही क्यों न बनाया जिससे मैं आकाश में छाई रहती और साल्हकुमार के मार्ग पर छाया करती रहती।'

दूत का कार्य—प्रकृति के प्रति सहचरण की भावना से प्रेरित होकर पक्षियों आदि से संदेश भी भेजा जाता है। इसीके आधार पर संस्कृत साहित्य में दूत-काव्यों

१. वही : सं० २८ [हे पपीहा, गोखे पर चढ़ या ऊँची भीत पर बैठ और टेर लगा। प्रियतम को कदाचित कोई गुण याद आवे और आते हुए कहीं वे लौट जायँ?], ३१, ३२, ३४ [हे लाल पंखों वाले पपीहे, तू मीठी वाणी बोलता है। तू या तो बोलना बंद कर दे और या मेरे परदेशी प्रियतम को वहाँ ला दे]

२. वही : सं० ६२ [हे कुंझ, मुझे अपनी पाँख दो। मैं तुम्हारा बाना बनाऊँगी और सागर को लाँघकर प्रियतम से मिलूँगी और मिल कर तुम्हारी पाँखें लौटा दूँगी।]

की परम्परा चली है। हिन्दी साहित्य में ऐसी परम्परा तो नहीं चल सकी है, पर इसका रूप प्रेम-काव्यों में मिलता है। इस लोकगीति में भी प्रकृति से यह सम्बन्ध सहज रीति से स्थापित किया गया है। सहानुभूति के सहज वातावरण में मारवणी कुंझों से अपना संदेश ले जाने की प्रार्थना करती है—

उत्तर दिसि उपराठियाँ, दक्षिण साँमहि याँह।
कुरझाँ, एक सँदेसड़उ, ढोलानइ कहियाँह॥

प्रकृति के प्रति इस मानवीय सहानुभूति के साथ यदि कुंझ मारवणी को उत्तर देती है, तो आश्चर्य नहीं। लोक-गीति भावना के अनुरूप ही यह उत्तर है—'मनुष्य हो तो मुख से कहें, हम तो बेचारी कुंझ हैं। यदि प्रियतम को संदेशा भेजना हो तो हमारी पाँखों पर लिख दो।' और मारवणी के उत्तर में निकट स्नेह की व्यंजना ही हुई है—

पाँखे पाँणी वाहरइ, जलि काजल गहिलाइ।
सपड़ाँ तणाँ सँदेसड़ा, मुख वचने कहिवाइ॥[1]

लोकगीत की भाव-धारा में इसी प्रकार ऊँट बोलता और कार्य करता है। जन-गायक उसके चरित्र में सहानुभूति, उदारता, स्वाभिमान आदि मानवीय गुणों का आरोप करता है। मालवणी ने ढोला को मार्ग से लौटाने के लिए सुए को भेजा है।

× × ×

प्रेम कथा-काव्य—इसी लोक-गीत की कथात्मक परम्परा में प्रेम-काव्यों का विकास हुआ है। परन्तु जैसा कहा गया है प्रेम कथा-काव्यों में जैनी चरित्र-काव्यों का तथा सूफ़ी मसनवियों की प्रतीक भावना का प्रभाव पड़ा है। इस कारण इनका वातावरण लोक-कथा-गीति जैसा उन्मुक्त नहीं है। हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में इन प्रेम-काव्यों की दो परम्पराएँ हैं। परन्तु वे एक-दूसरे से इतनी प्रभावित हैं कि प्रकृति-रूपों के क्षेत्र में उनमें कोई भेद नहीं है। केवल उन्मुक्त प्रेम-काव्यों में प्रेम का स्वतन्त्र वर्णन है और सूफ़ी काव्यों में प्रेम की आध्यात्मिक व्यंजना है। वैसे अभिव्यक्ति के क्षेत्र में अपनी प्रतिभा और व्यापक संवेदना के कारण जायसी में प्रेम सम्बन्धी अधिक स्वच्छंद वातावरण मिलता है। और उनके काव्य में प्रकृति के प्रति भी अधिक उन्मुक्त भावना है। उन्मुक्त प्रेम-काव्यों पर सूफ़ी काव्यों की छाप है।[2] आध्यात्मिक अभिव्यक्ति को

---

१. वही ; सं० ६४ [हे कुंझ, उत्तर दिशा की ओर पीठ किए हुए दक्षिण दिशा की ओर चलकर ढोला से एक संदेश कहना], ६५, ६६ [तुम्हारी पाँखों पर पानी पड़ेगा, जिससे स्याही जल में बह जायगी। प्रियतम का संदेश तो मुख से ही कहलाया जाता है]

२. उन्मुक्त प्रेम-काव्यों में प्रमुखतः माधवानल कामकंदला, नलदमन काव्य, पुहुपावती तथा बिरहवारीश (माधवानल कामकंदला आलमकृत) का उपयोग यहाँ किया गया है जो सभी जायसी के 'पद्मावत' के परवर्ती काव्य हैं।

छोड़कर, प्रेम की व्यंजना और प्रकृति के रूपों के सम्बन्ध में इन काव्यों में सूफ़ी परम्परा से समता है। इन समस्त प्रेम कथा-काव्यों में वर्णना के क्षेत्र में अपभ्रंश चरित-काव्यों का अनुसरण है, केवल इन कवियों ने प्रेम तथा आध्यात्मिक सत्यों की व्यंजना इन वर्णनों के माध्यम से की है। जहाँ तक ऋतु-वर्णन, बारहमासा अथवा अन्य प्रकृति-रूपों का प्रश्न है इनमें लोक-गीतियों का स्वच्छंद वातावरण मिलता है। ये काव्य अपने कथानकों में प्रबन्धात्मक हैं। कथा के रूप में इनमें घटनाओं और क्रियाओं की शृंखला चलती है। घटना-क्रिया की शृंखला में देश-काल की सीमाएँ भी आवश्यक हो जाती हैं। इसलिए इन काव्यों में कथानक के बीच में स्थानगत प्रकृति-वर्णना को स्थान मिल सका है। संकेत किया गया है कि संस्कृत महाकाव्यों में कथा का मोह अधिक नहीं है, उनके चरित्र प्रसिद्ध और ज्ञात ही हैं। इसलिए उन काव्यों में वर्णना सौन्दर्य की दृष्टि से प्रकृति को स्थान मिला है। परन्तु मध्ययुग के प्रबन्ध-काव्यों की स्थिति भिन्न है। इन काव्यों में घटनात्मक कथानकों का मोह कम नहीं है, क्योंकि ये काव्य जनता के निकट के हैं। लोक-रुचि में कथात्मक कौतूहल के लिए स्थान रहता है। इसलिए इनमें प्रकृति को केवल वर्णना-सौन्दर्य की दृष्टि से स्थान नहीं मिला है। साथ ही कथाकार अपनी प्रेम-भावना से इतना अधिक आकर्षित रहा है कि उसको कथा के आधार में प्रस्तुत प्रकृति के आकर्षण का ध्यान ही नहीं है। जिन स्थलों पर प्रकृति उपस्थित हुई है उनमें वह भावों को प्रतिम्बिबित अथवा उद्दीप्त करती है।

प्रकृति का वर्णन—इन प्रेम-काव्यों में विशुद्ध आलम्बन के रूप में प्रकृति का चित्रण नहीं के बराबर हुआ है। जहाँ स्थान या वातावरण के रूप में प्रकृति का चित्रण किया गया है उनमें भी या तो कथा-स्थित भावों की पृष्ठ-भूमि के रूप में उसका प्रयोग हुआ है, या उसपर आध्यात्मिक भावना का प्रतिबिम्ब है। परन्तु आध्यात्मिक भावना कवि के हृदय के आश्रय में अवलम्बित है, इस कारण इस रूप में प्रकृति आलम्बन के समान है। यद्यपि जिस रूप में प्रकृतिवादी कवि के लिए प्रकृति आलम्बन है, उस रूप में इन प्रेमी कवियों के लिए नहीं है। सूफ़ी साधकों के लिए लौकिक कथा के आधार पर चलने वाली भावनाएँ ही अलौकिक और अप्रत्यक्ष का संकेत देती हैं। इस कारण प्रकृति में भावों का प्रतिबिम्ब, उनकी व्यंजना, उद्दीपन-रूप प्रकृति के समान सामाजिक और आध्यात्मिक भाव-स्थितियों से अधिक सम्बन्धित है। प्रकृति के इन रूपों की विवेचना 'आध्यात्मिक साधना' के प्रसंग में की जा चुकी है। यहाँ इन स्थलों का कथानक में क्या स्थान है, इसपर विचार करना है। साथ ही इन वर्णनों की शैली के विषय में भी संकेत किया जायगा।

आलम्बन के स्वतन्त्र चित्र (क)—प्रेम-काव्यों के प्रारम्भ में, बोधा कृत 'विरह-वारीश' को छोड़कर लगभग सभी में स्रष्टा के रूप में ईश्वर की वन्दना है। यह व्यापक

रूप से प्रकृति का वर्णन ही कहा जा सकता है। परन्तु इन वर्णनों में किसी प्रकार की वर्णनात्मक योजना नहीं है। इनमें अधिकतर उल्लेखात्मक चित्र हैं। प्रेम-काव्य का कवि बताता जाता है स्रष्टा ने ऐसा किया, ऐसा किया, कहीं चित्र को संश्लिष्ट बनाने की चेष्टा नहीं करता। कहीं एक दो स्थल ऐसे आ गए हैं जिनमें व्यापक रेखा-चित्रों का भास मिलता है—

जहवाँ सिन्धु अपार अति, बिनु तट बिनु परिमान।
सकल सृष्टि तेहिमाँ गुपुत, बालू कनक समान॥[1]

उसमान के इस रेखा-चित्र में असीम समुद्र के व्यापक प्रसार के साथ व्याप्त स्रष्टा के सर्जन का रूप 'बालू कनक' के समान व्यक्त हो उठा है। उसी प्रकार दुखहरनदास कहते हैं—'रात्रि और दिवस, फिर प्रातः और सन्ध्या तुम्हींने तो बनाया है। यह सब सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र तथा दीपक का प्रकाश तुम्हारा ही किया है।'[2] इसमें एक व्यापक सर्जन का अस्पष्ट-सा रेखा-चित्र आ सका है। इस प्रकार इन काव्यों में कथानक की भाव-धारा से अलग केवल घटना-स्थिति के आधार रूप में प्रकृति को स्थान नहीं मिला। इसका कारण है। प्रेम-कथा का कवि अपनी प्रेम भावना से इतना संवेदनशील हो जाता है कि प्रकृति के स्थानगत रूपों में भी उसीकी व्यंजना करने लगता है। इन काव्यों में वन, उपवन, पर्वत, सरोवर, समुद्र आदि के वर्णन का अवसर आया है, परन्तु इन सभी स्थलों पर चित्रण की रूपात्मकता से अधिक भावात्मक व्यंजना है। जायसी में एक भी स्थल ऐसा नहीं है जिसके चित्रण में आध्यात्मिक अथवा भावात्मक व्यंजना न हो। उसमान की 'चित्रावली' में ऐसे चित्र अवश्य हैं। कवि एक आँधी का वर्णन करता है—

आधे पंथ पहूँचे आई। उठी बाउ आँधी पछुआई।
स्याम घटा आँधी अधिकाई। भयो अँधेर सरग छिति छाई॥
ऊबट बाट जाइ नहिं बूझा। निअरहिं दूसर जाइ न सूझा॥
परी धूरि लोचन मुख माहीं। दुहूँ कर बदन छिपाए जाहीं॥[3]

इस चित्र में यथार्थ संश्लिष्टता है और योजना से स्थिति का रूप प्रत्यक्ष होता है। लगता है उसमान प्रकृति के प्रति यथार्थवादी भी रह सके हैं। उनकी दृष्टि इस विषय में अधिक सचेष्ट है, यद्यपि अपनी परम्परा के अनुसरण में उनको ऐसे प्रकृति-रूपों को उपस्थित करने का अवसर कम मिला है। उसमान ने अन्धकार का वर्णन भी इसी प्रकार किया है—'उसने कुँअर को एक अँधेरी खोह में ले जाकर डाला जिसके

१. चित्रा०; उस० : १ स्तुति-खंड, दो० २।
२. पुहु० ; दुख ; स्तुति-खंड से।
३. चित्रा०; उस० : ४ जन्म-खंड, दो० ६६।

अन्धकार में दिन में दीपक जला कर ढूंढ़ने से भी नहीं दिखाई देता। दिन में जहाँ रवि की किरणों का प्रवेश नहीं होता, रात में जहाँ शशि और तारागणों का संचरण नहीं होता। अंधे ने अंधेरे स्थान को इस प्रकार पाया जैसे मसि के ऊपर मसि डाली गई हो।'[1] इसमें आलंकारिक संकेत से कवि ने चित्र को अधिक व्यक्त कर दिया है। एक स्थल पर रूपनगर की पहाड़ी का वर्णन इसी प्रकार का है—

> पूरब दिसि जो आहि पहारी। जनु बिस करमैं आपु उतारी॥
> झरना झरं सोहावनि भाँती। तरुवर लागे पाँतिन पाँती॥
> बोलहिं पंछी अनबन भाषा। आपन आपन बैठे साखा॥
> सिखर चढ़े कूकहिं बहु मोरा। परबत गूँजि उठै चहुँ ओरा॥[2]

यह चित्र सरल वस्तु-स्थितियों और क्रिया-व्यापारों के साथ प्रस्तुत किया गया है। परन्तु इस प्रकार के वस्तु-स्थिति के आलम्बन चित्र अन्य कवियों में नहीं के बराबर हैं। जायसी प्रत्येक वर्णना को किसी आध्यात्मिक सत्य की व्यंजना से सम्बन्धित कर देते हैं और अन्य कवियों ने इसीका अनुसरण किया है।

वर्णन की शैलियाँ (ख)—आध्यात्मिक साधना के प्रकरण में प्रकृति-रूपों की व्यंजना के विषय में कहा गया है। यहाँ उनकी वर्णन की शैलियों के विषय में संकेत कर देना है। वस्तुतः इन समस्त रूपों में तीन प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया गया है। पहली शैली में केवल उल्लेखों के आधार पर सत्यों की स्थापना अथवा आध्यात्मिक व्यंजना की गई है। इन उल्लेखों में किसी सीमा तक संश्लिष्ट चित्रण भी आ जाता है, पर ऐसा बहुत कम हुआ है। इन वर्णनों में उपवन के वृक्षों तथा फूलों आदि का उल्लेख है।[3] दूसरी शैली में स्थिति-व्यापारों की निश्चित योजना द्वारा प्रेम आदि की व्यंजना हुई है। इस प्रकार की वर्णना में व्यंजनात्मक चित्रमयता मिलती है, यद्यपि रूपात्मक चित्रमयता इनमें भी कम है।[4] पर कोई-कोई चित्र कलात्मक है। जायसी सिंहल के तालाब का वर्णन करते हैं—

---

१. वही: वही : २१ कुटीचर खंड, दो० २३५।

२. वही: वही : १७ यात्रा-खंड, दो० २३५।

३. जायसी के पद्मावत में २ सिंहलद्वीप-वर्णन खंड में दो० ४ में वृक्षों का उल्लेख है; दो० १० में फलों का; दो० ११ में फूलों का। इसी प्रकार उसमान की चित्रावली में १३ परेवा-खंड में दो० १५६ में वृक्षों का तथा दो० १५८ में फूलों का उल्लेख किया गया है।

४. जायसी ने सिंहलद्वीप-वर्णन-खंड में दो० ५ में पक्षियों के शब्द के माध्यम से, दो० ६ में सौन्दर्य-चित्र के साथ सरोवर में जल-पक्षियों की क्रीड़ा द्वारा; और १५ सात-समुद्र-खंड के दो० १० में मानसर के वर्णन में प्रकृति व्यापार योजना में साधक के उल्लास से तादात्म्य स्थापित कर के यह अभिव्यक्ति की गई है। उसमान ने १३ परेवा-खंड में दो० १५५ में सरोवर के अनन्त सौन्दर्य के साथ जल-

ताल तलाब बरनि नहिं जाहीं। सूझै वार पार किछु नाहीं॥
फूले कुमुद सेत उजियारे। मानहुँ उए गगन महुँ तारे॥
उतरहिं मेघ चढ़हिं लेइ पानी। चमकहिं मच्छ बीजु कै बानी॥[1]

परन्तु इस प्रकार के आलंकारिक वर्णन भी कम हैं। तीसरे प्रकार की शैली में अति-प्राकृतिक चित्रों की योजना है। इनमें भी कुछ में आदर्श कल्पना की भावना है और कुछ में अलौकिक चमत्कार है। उसमान के इस वर्णन में आदर्श कल्पना ही प्रधान है—'सरोवर तट की सराहना कहाँ तक की जाय जिसमें पानी मोती है और कंकड़ ही हीरा है। अत्यन्त गहरा है, थाह नहीं मिलती। निर्मल नीर में तल दिखाई देता है—अत्यन्त गम्भीर और विस्तृत है जिसकी सीमाओं का भान नहीं होता—।'[2] वस्तुतः इस प्रकार की आदर्श कल्पना, इन समस्त काव्यों में नायिका से सम्बन्धित बन, उपवन तथा सरोवर आदि के वर्णनों में मिलती है। इनमें सदा वसंत या चिरन्तन सौन्दर्य की भावना है। इसके अतिरिक्त मार्ग-स्थित वर्णनों या अन्य प्रसंगों के अलौकिक अति-प्राकृतिक चित्रों में भी चमत्कार की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। जायसी 'बोहित-खंड' में सागर का उल्लेख इसी शैली में करते हैं—

जस बन रेंगि चलै गज-ठाटी। बोहित चले समुद्र गा पाटी।
धावहिं बोहित मन उपराहीं। सहस कोस एक पल महँ जाहीं।
समुद्र अपार सरग जनु लागा। सरग न घाल गनै बैरागा।
ततखन चाल्हा एक देखावा। जनु धौलागिरि परबत आवा।
उठी हिलोर जो चाल्ह नराजी। लहरि अकास लागि भुइँ बाजी।[3]

इसी प्रकार के वर्णन जायसी ने 'सात-समुद्र-खंड' में किए हैं, इनमें बीच-बीच में सत्यों का उल्लेख भी किया गया। उसमान ने रूपनगर के दृश्य को इसी प्रकार अलौकिक वर्णना के द्वारा प्रस्तुत किया है।[4] परन्तु जायसी में यह प्रवृत्ति अधिक है। इन्होंने अलौकिक चित्रणों के माध्यम से आध्यात्मिक सत्यों का संकेत दिया है। स्वतंत्र प्रेम-काव्यों में प्रवृत्ति आदर्श चित्रण की है; अलौकिक चित्रण इनमें कम हैं।

कोक से, दो० १५७ में पक्षियों के शब्द के माध्यम से यह व्यंजना की गई है। नूरमोहम्मद ने २ जन्म-खंड में दो० ७ में पुष्प और भ्रमर के माध्यम से यह संकेत दिया है। नलदमन काव्य में पृ० १६ में पक्षियों के नदों से और पृ० १७ में सरोवर वर्णन में तरंगों आदि के माध्यम से प्रेम की अभिव्यक्ति हो सकी है।

१. ग्रंथा०; जायसी ; पद०; २ सिंहलद्वीप-वर्णन-खंड, दो० ६।
२. चित्रा०; उस० ; २३ परेवा-खंड, दो० १४५।
३. ग्रंथा०; जायसी ; पद, १४ बोहित-खंड, दो० २।
४. चित्रा०; उस० ; १७ यात्रा-खंड, दो० २३२।

कथा की पृष्ठ-भूमि में—इन प्रकृति वर्णनों को लेकर कहा जा सकता है कि इन कवियों ने प्रकृति का उपयोग अपनी कथा में भावात्मक व्यंजना के लिए किया है। जिस प्रकार इनकी कथा का समस्त वातावरण प्रेम या आध्यात्मिक भावना से पूर्ण है, उसी प्रकार कथा को आधार प्रदान करने वाली प्रकृति भी इसी दृष्टि से प्रस्तुत की गई है। प्रकृति का यह रूप कथानक की पृष्ठभूमि में वातावरण को भाव-व्यंजना प्रदान करता है। सूफ़ी कवियों में पृष्ठभूमि में प्रकृति का रूप कथानक के भावात्मक उल्लास से उद्भासित किया गया है। अन्य संकेतात्मक उल्लेखों के अतिरिक्त सरोवर में स्नान के प्रसंग को लेकर यह भावात्मक उल्लास-मग्न प्रकृति का रूप जायसी के बाद कवियों ने परम्परा के रूप में ग्रहण किया है। इस स्थल पर प्रकृति के अन्दर एक उल्लास की भावना है जो आध्यात्मिक वातावरण का प्रतिबिम्ब है। स्वच्छंदवादी दृष्टि से प्रकृतिवादी कवि प्रकृति के सौन्दर्य से प्रभावित होकर, उसकी चेतना की अनन्त भावना से सम-स्थापित करके अपने मन का उल्लास प्रकृति के माध्यम से व्यक्त करता है। वही स्वच्छंदवादी प्रवृत्ति सूफ़ी साधकों ने इस प्रकार ग्रहण की है। आध्यात्मिक साधना के प्रसंग में इसकी विवेचना विस्तार से की गई है।[1] इनकी साधना का साध्य प्रत्यक्ष है जो कथानक के रूपक में सन्निहित है और वातावरण के रूप में प्रकृति उसीकी प्रेम-भावना से उल्लसित और प्रभावित हो उठती है। जायसी के इस वर्णन-चित्र में प्रकृति और सौन्दर्य का भाव तादात्म्य देखा जाता है—

बिगस कुमुद देखि ससि रेखा। भै तँह ओप जहाँ जोइ देखा।
पावा रूप रूप जस चाहा। ससि मुख दरपन होइ रहा।

नयन जो देखा कँवल भा निरमल नीर शरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन-जोति नग हीर।[2]

और इसमें प्रकृति में प्रतिबिम्बित रूप से उल्लास की भावना भी व्यक्त होती है।

लोकगीतियों की परम्परा : बारहमासा—जहाँ तक प्रत्यक्ष रूप से भावों को उद्दीप्त करनेवाले प्रकृति-रूपों का सम्बन्ध है, उनकी विवेचना अन्य प्रकरण में की जायगी। परन्तु यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि इन कथा-काव्यों में प्रकृति सम्बन्धी लोक-गीतियों

१. जायसी ने ४ मानसरोवर-खंड में दो० ४ में प्रकृति को मुग्ध और भावों से प्रतिबिम्बित उपस्थित किया है। इस प्रसंग में रूप के आधार पर प्रकृति, स्थल-स्थल पर उद्भासित हो उठती है और आह्लादित लगती है। दो० ८ में प्रकृति और पद्मावती के सौन्दर्य के तादात्म्य में भी यही भाव सन्निहित है। उसमान की चित्रावली के १० सरोवर-खंड में दो० ११८ में प्रकृति आश्चर्य से चकित और मुग्ध-मौन लगती है। नूरमोहम्मद की इन्द्रावती में इसी प्रकार १२ नहान-खंड के दो० ३ में यही भावना मिलती है।

२. ग्रंथा०; जायसी; पद; ४ मानसरोवर-खंड; दो० १५।

की स्वच्छंद-भावना का क्या सम्बन्ध है। प्रकृति का व्यापक विस्तार हो अथवा बारहमासा और ऋतु-वर्णन की परम्परा हो, सर्वत्र भावनाओं का स्वतंत्र रूप इन काव्यों में मिलता है। बारहमासा और ऋतु-वर्णन की परम्परा का विकास साहित्य में भी हुआ है और आगे चलकर इनका रूप रूढ़िवादी होता गया है। लोक-गीतियों के समान ही इन काव्यों में प्रकृति का आश्रय लेकर भावों की उद्दीप्त स्थिति का वर्णन किया गया है। शैली की दृष्टि से कहीं-कहीं रेखा-चित्र आ जाते हैं। जायसी के बारहमासे में—'जेठ में जग जल उठा है, लू चलती है, बवंडर उठते हैं और अंगार बरसते हैं। चारों ओर से पवन झकझोर देता है, मानों लंका को जलाकर पलंग में लग गई है। आग सी भभक उठती है, आँधी आती है। नेत्र से कुछ नहीं सूझता, दुःख में बँधी मैं मरती हूँ।'[1] इस चित्र में रेखाओं के साथ यथार्थ योजना भी है। जायसी के बारहमासा में प्रकृति के कालगत रूपों का सहज भाव सन्निहित है जो अन्यत्र नहीं मिलता। इसमें प्रकृति और मानवीय भावों का सहज तादात्म्य सम्बन्ध है जो लोकगीतियों की उन्मुक्त भावना में ही सम्भव है। उसमान का बारहमासा जायसी के अनुसरण पर है, पर उसकी प्रवृत्ति उल्लेख की अधिक है। साथ ही इसमें प्रकृति के सहज सम्बन्ध के स्थान पर विरह-वर्णन प्रमुख हो उठा है।[2] दुखहरनदास ने बारहमासा का वर्णन संयोग शृंगार के अन्तर्गत किया है। इसमें प्रकृति का केवल उल्लेख मात्र है और संयोग-सुख तथा उल्लास-उमंग का अधिक वर्णन है। ये बारहमासों के वर्णन लोक-गीतियों की परम्परा से सम्बन्धित हैं। लोक-गीतियों में गायक की भावना के साथ बारहमासों का ऋतु परिवर्तन उपस्थित होता जाता है। इसी प्रकार की भावना, जैसा कहा गया है इनमें भी पाई जाती है। विरहिणी नायिका स्वयं अपनी विरह-व्यथा परिवर्तित ऋतु-रूपों के माध्यम से कहती है, अतः लोक-गीतियों में प्रकृति का मानवीय भावों से अधिक उन्मुक्त सम्बन्ध स्थापित होता है। इस अनुसरण के कारण जायसी का बारहमासा अधिक स्वच्छंद है; उसमें वियोगिनी नागमती अपनी व्यथा की अभिव्यक्ति के साथ प्रकृति से अधिक सहृदयता स्थापित करती है। जायसी के इन वर्णनों में वह प्रत्यक्ष सामने रहती है। प्रत्येक मास के चित्र के साथ वह अपनी भावना को लेकर स्वयं उपस्थित होती है—

---

१. वही; वही; वही; ३० नागमती-वियोग-खंड; दो० १५।

२. चित्रा०; उस०; ३२ पाती-खण्ड में दो० ४४३ से चैत्र का वर्णन आरम्भ होता है और दो० ४५५ में फागुन वर्णन के साथ बारहमासा समाप्त होता है। उदाहरण के लिए जेठ का वर्णन इस प्रकार है—

> "जेठ तपै रवि सहसन तेजा। सोइ जानै जेहि कंत न सेजा।
> अस जग तपन तपै एहि मासू। पुतरिन्ह नीर सुखावै आँसू।
> बिरह बवंडर भा बिनु नाँहा। जिमि जिउ पात फिरै तेहि माँहा।
> पौन उसास उठै जस आँधी। परगट होइ न लाज कि बाँधी॥"

भा भादौं दूभर अति भारी। कैसे भरौं रैनि अँधियारी।
मंदिर सून पिउ अनतै बसा। सेज नागिनी फिरि फिरि डसा।

आगे भी विरहिणी अपनी विरह व्यथा को व्यक्त करते हुए कहती है—'अगहन मास में दिन घट गया और रात बढ़ गई—यह कठिन रात्रि किस प्रकार व्यतीत की जाय, इसी विरह में दिन रात हो गया है; और मैं अपने विरह में इस प्रकार जल रही हूँ जैसे दीपक में बत्ती।' इसी भाव-स्थिति में विरहिणी को प्रकृति अपने से विरोधी जान पड़ती है—'चित्रा में मीन ने मित्र पाया, पपीहा 'पिउ' को पुकारता है...सरोवर का स्मरण करके हंस चला गया है; सारस क्रीड़ा करता है, खंजन दिखाई देता है। दिशाएँ प्रकाशित हो गईं, वन में कांस फूल उठे। ..यह समस्त प्रकृति का उल्लास तो आया कन्त नहीं लौटे, विदेश में भूल रहे।' फिर वह प्रकृति को सहानुभूति के द्वारा संवेदनशील भी पाती है—

पिउ सों कहेहु सँदेसड़ा, हे भौंरा! हे काग!
सा धनि बिरहै जरि मुई, तेहिक धुवाँ हम्ह लाग।[1]

उसमान का बारहमासा भी वियोगिनी की आत्माभिव्यक्ति के रूप में है। पर उसमें वह अधिक प्रत्यक्ष नहीं हो सकी है। इस कारण उसमें व्यक्तिगत स्वच्छंद अनुभूति का रूप कम है। यह वर्णन साहित्यिक ऋतु-वर्णन की परम्परा से अधिक प्रभावित है। साथ ही उसमान में प्रकृति से सहज सम्बन्ध नहीं स्थापित हुआ है, उनमें विरह वर्णन की प्रवृत्ति अधिक है। दुखहरनदास का बारहमासा संयोग-शृंगार के अंतर्गत है और उसमें साहित्यिक रूढ़ि के अनुसार मानवीय क्रीड़ा-व्यापारों की योजना ही अधिक है। बोधा कृत 'माधवानल कामकन्दला' (विरहवारीश) में बारहमासा विप्रलम्भ के अन्तर्गत है, लेकिन उसपर रीति परम्परा का अत्यधिक प्रभाव है। परन्तु सब मिलाकर प्रेम-काव्यों में बारहमासा का वातावरण लोक-जीवन और लोक-भावना के अधिक निकट है।

साहित्यिक प्रभाव—प्रेम कथा-काव्यों में ऋतु-वर्णन भी बारहमासा के समान लोक-गीतियों से प्रभावित है। परन्तु इनमें प्रचलित ऋतु-वर्णन की परम्परा का अधिक अनुसरण है। ये कथानक के संयोग तथा वियोग पक्षों में प्रस्तुत किए गए हैं। जायसी ने ऋतु-वर्णन संयोग शृंगार के अन्तर्गत किया है, परन्तु बारहमासे के समान इसमें स्वाभाविक वातावरण नहीं है। इसमें क्रिया-व्यापारों का उल्लेख अधिक हुआ है, इन के बीच में यत्र-तत्र प्रकृति का उल्लेख मात्र कर दिया गया है।[2] जायसी ने वसंत-

---

१. ग्रंथा०; जायसी: पद०; ३० नागमती-वियोग-खण्ड: दो० ६, ९।
२. वही: वही: पद०: २९ षट-ऋतु-वर्णन-खण्ड।

वर्णन की परम्परा का रूप भी प्रस्तुत किया है, इसमें अवसर के अनुरूप हास-विलास के वर्णन की प्रधानता है। वसंत आदि के अवसर पर उल्लास की प्रेरणा लोक-जीवन को मिलती रहती है और यह उनकी गीतियों में व्यक्त भी होता है। इसीके आधार पर साहित्य में भी ऐसे वर्णनों की परम्परा चली है; यद्यपि साहित्य में उन्मुक्त भावना के स्थान पर रूढ़िगत परम्परा को अधिक स्थान मिला है। जायसी का वर्णन अधिक अंशों में साहित्यिक है।[1] नूर मोहम्मद ने इसी उल्लास-विलास का वर्णन फाग-खंड में किया है। फाग भी वसंत के अन्तर्गत होता है। इस वर्णन में लोक-जीवन का उल्लास तो आ सका है, पर प्रकृति का वातावरण बिल्कुल हट गया है। अन्य प्रेम-काव्यों में ऋतु-वर्णन विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत आया है। इनमें वियोग-व्यथा का उल्लेख अधिक और प्रकृति के क्रिया-व्यापारों की योजना कम हुई है। इनका विवेचन उद्दीपन-विभाव के प्रकरण में विस्तार से किया जायगा।[2] उसमान ने ऋतु-वर्णन प्रसंग में प्रकृति-वर्णन के माध्यम से किसी-किसी स्थल पर विरह की व्यंजना की है। इस व्यंजना का आधार प्रकृति से मानवीय भावना कभी विरोध उत्पन्न करके ग्रहण करती है, कभी समानान्तर रूप में।

सहानुभूति का स्वच्छंद वातावरण—कहा गया है कि प्रेम-काव्यों में एक सीमा तक लोक-गीतियों का कथात्मक वातावरण है। इस क्षेत्र में इनकी कथाओं में प्रकृति सहज सम्बन्धों में उपस्थित हो सकी है। बारहमासा और ऋतु सम्बन्धी वर्णनों में हम इस भावना का संकेत कर चुके हैं। इनमें कुछ स्थलों पर प्रकृति सहज रूप में मानवीय भावों के छायातपों में उपस्थित हुई है। साथ ही इन कथानकों के पात्र प्रकृति के रूपों से सहज सम्बन्ध उपस्थित करते हैं। लोक-गीतियों की विरहिणी प्रकृति में रूपों को अपना सहचर मानकर उनसे अपने दुःख सुख की बात कहती है; उनके द्वारा अपने विदेशी प्रियतम को संदेश भी भेजती है। सहानुभूति के इसी स्वच्छंद वातावरण में इन काव्यों में वियोगिनी प्रकृति से सम्बन्ध स्थापित करती है, सहानुभूति प्राप्त करती है। जायसी ने ही इस प्रकृति-सम्बन्ध को सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है। बाद के कवियों में वह भाव-ग्राही प्रतिभा नहीं थी; उनके परम्परा पालन में साहचर्य का सरल भाव नहीं आ सका है। जायसी ने नागमती के विरह प्रसंग में इसी व्यापक सहानुभूति को अभिव्यक्त किया है। वह पक्षियों को अपनत्व की निकटता में सम्बोधित करती है—

१. वही; वही; पद०; २० बसंत-खंड।

२. चित्रावली में १८ बिरह-खंड; नलदमन काव्य में ऋतु-वर्णन, पृ० १०३; पुहुपावती में छवीं रितु रूपवती बरनै खंड; माधवानल कामकंदला (आलम) ऋतु-वर्णन, में यही प्रवृत्ति है।

भई पुछार लीन्ह बनबासू। बैरिन सबति दीन्ह चिलवाँसू।
होइ खर बान बिरह तनु लागा। जौ पिउ आवै उड़हि तो कागा।
हारिल भई पंथ मैं रोवा। अब तँह पठवौं कौन परेवा।[1]

इसी प्रकार वह अन्य पक्षियों से भी संदेश कहती है, पर उनको वह अपनी-अपनी व्यथा में व्यस्त पाती है। आगे एक पक्षी संवेदनशील होकर संदेश ले जाने को प्रस्तुत भी हो जाता है; यह प्रेम काव्य के सहानुभूतिपूर्ण उन्मुक्त वातावरण में ही सम्भव है। इन काव्यों में पशु-पक्षी कथानक के पात्र के रूप में उपस्थित हुए हैं। बोधा के 'विरह-वारीश' (माधवानल कामकंदला) में वर्षा-ऋतु वर्णन के प्रसंग में माधवानल लीलावती के वियोग में मेघ से संदेश कहता है। इसमें संस्कृत दूत-काव्य का अनुकरण अधिक है, प्रकृति के प्रति सहज सहचरण की भावना नहीं है। दक्षिण की श्याम घटा को देखकर विप्र के हृदय को अत्यन्त कष्ट हुआ; अति भय मानकर माधवानल ने प्रीतिपूर्वक उससे अपनी विरह वेदना कही—

हो पयोध विरहिन दुखलायक। मेरो दरद सुनो तुम नायक।
पुहुपावतो पुरो मम प्यारी। नव यौबन बाला सुकमारी।[2]

बाद में माधवानल वियोग-व्यथा से व्याकुल वन में खग-मृगों से पूछता घूमता है और इस वर्णना में अधिक सहानुभूति का वातावरण है—

कहत द्रुमन सों तुमन हो, सुमन सहित छबिदार।
कहीं दार मेरो लख्यो, तो छबि अजब बहार॥
बिटपन अपनो दरद सुनावै। अब चलि छाँह किसी की आवै।
नाम आपने प्रिय कर लेही। यो पुनि ताहि उरहना देही।[3]

'इन्द्रावती' में कुँअर अपना संदेश पवन के हाथ भेजता है। इस स्थिति की कल्पना आध्यात्मिक संकेत के साथ भी सुन्दर हुई है—'जब प्रभात हुआ और प्रकाश फैला, फुलवारी में पवन प्रवाहित हुआ, पवन को पाकर कली प्रसन्न हुई—बहुत-सी मुसकराई (अर्द्ध मुकुलित हुई) और बहुत-सी विहँसीं (खिल गईं)।' ऐसे ही वातावरण में कुँअर अपनी सहानुभूति का आरोप प्रकृति पर करता हुआ पवन से कहता है—

जो तेहि ओर बहो तुम आही। दीन्हेउ मोर सँदेस सुनाई।

और पवन संवेदनशील होकर प्रार्थना स्वीकार भी करता है—

कुँअर संदेस पवन जो पावा। इन्द्रावती सों जाइ सुनावा।[4]

---

१. चित्रावली में १८ विरह-खंड; नलदमन काव्य में ऋतु-वर्णन।

२. विरह०; बोध; पहली तरंग।

३. वही; वही; बारहवीं तरंग।

४. इन्द्रा०; नूर०; ६ पाती-खंड, दो० ३०।

इसमें प्रकृति मानवीय सहानुभूति से युक्त है। आगे इसी प्रकार के संवेदनात्मक सम्बन्ध में सुआ वार्तालाप करता है।[1] 'चित्रावली' में यद्यपि संदेश आदि के सम्बन्ध में प्रकृति का रूप नहीं आया है, फिर भी चित्रावली के वियोग में प्रकृति वातावरण के रूप में पूर्ण सहानुभूति रखती है। इन वर्णनों में आध्यात्मिक व्यंजना तो है ही, साथ ही कथात्मक प्रवाह में प्रकृति से भावात्मक तादात्मय भी है। चित्रावली प्रकृति को सहानुभूतिशील स्थिति में अपनी वेदना की सहभागिनी पाती है—

जौ न पसीजसि जिउ मोर भाखो। पूछि दुखु गिरि कानन साखो॥
करें पुकार मजोरन गोवा। कुहुकि कुहुकि बन कोकिल रोवा॥
गयो सीखि पपिहा मम बोला। अजहूँ धोखत बन बन डोला॥
उड़ा परेवा सुनि मम बाता। अजहूँ बरन रकत सौं राता॥

केवल पक्षी ही नहीं वरन् वनस्पति जगत् भी उसकी व्यथा में सहानुभूतिशील हो उठता है—'टेसू जल कर अँगार हो गया, फ़रहद ने आग लगा कर सिर जला दिया। वनस्पति जगत् मेरी व्यथा को सुन कर बारहों महीना पतझड़ करता है। घुँघुँची दुःखी होकर रोती है, वह वल्लरी नहीं छोड़ती, काली मुखवाली होकर उसीमें लगी रहती है।'[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेम कथा-काव्यों में आध्यात्मिक अभिव्यक्ति तथा कथात्मक परम्परा का अनुसरण होते हुए भी उन्मुक्त रूप से प्रकृति को स्थान मिल सका है। प्रकृति की इस स्वच्छंद भावना में इन कवियों की प्रकृतिवादी दृष्टि नहीं है और जिस आधार-भूमि पर ये कवि चले हैं उस पर यह सम्भव भी नहीं था।

× × ×

राम-काव्य की प्रेरणा—राम-काव्य के अन्तर्गत प्रबन्ध की दृष्टि से 'रामचरित मानस' ही प्रमुख ग्रन्थ है। हम कह चुके हैं कि इस पर पौराणिक शैली का अधिक प्रभाव है। पौराणिक शैली में धार्मिक उपदेश और प्रवचनों का विशेष स्थान रहा है। इसी कारण कथा के देश कालगत आधार और वातावरण से अधिक पुराणकार इनकी ओर ध्यान देता है। अधिक अंशों में धार्मिक श्रद्धा और विश्वासों का प्रतिपादन ही इनका उद्देश्य है। फिर इनमें प्रकृति को व्यापक रूप से स्थान नहीं मिल सका तो आश्चर्य नहीं। इनका आदर्श काव्यात्मक, चित्रमय और प्रत्यक्ष वर्णन का नहीं रहा है। फिर भी यह प्रवृत्ति की बात है; वैसे पुराणों में, विशेषकर 'श्रीमद्भागवत' में सुन्दर काव्यमय स्थल हैं। इसी परम्परा में लिखी गई 'आध्यात्म रामायण' में भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति

---

१. वही; वही; १० सुवा-खंड—

"बैठा पत्री पर एक सुवा। रोवा सुवा नयन जल चुवा।
देखा कुँवर कीर सों कहा। ढारेउ आँसू कवन दुख अहा॥"

२. चित्रा०; वस०; ३२ पाती-खंड, दो० ४४०—१।

है। जिन स्थलों पर वाल्मीकि की कल्पना रम जाती है और वे प्रकृति के सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाते हैं, उन्हीं स्थलों पर आध्यात्मकार केवल ज्ञान और मोक्ष की भूमिका प्रस्तुत करता है—

एकदा लक्ष्मणो राममेकान्ते समुपस्थितम्।
विनयावनतो भूत्वा पप्रच्छ परमेश्वरम्॥

मायाजनित संसार को विच्छेद और आवरण के रूप में विवेचित करने वाले लक्ष्मण के लिए प्रकृति का चतुर्दिक प्रसरित सौन्दर्य उपेक्षणीय ही है।'[1] 'रामचरितमानस' में तुलसी की भी बहुत कुछ यही प्रेरणा रही है। परन्तु यह प्रवृत्ति की बात है, वैसे तुलसी की प्रतिभा बहुमुखी, सर्वग्राही है और इनका आदर्श समन्वय है। यहाँ प्रकृति-चित्रण के विषय में भी यही सत्य है। 'अध्यात्म रामायण' की प्रवृत्ति को ग्रहण करके भी इनके सामने 'वाल्मीकीय रामायण' तथा 'श्रीमद्भागवत' के प्रकृति स्थल सामने रहे हैं। राम-कथा में वन-गमन प्रसंग के बाद प्रकृति का विशाल क्षेत्र सामने आ जाता है। इस प्रसंग में तुलसी ने भी ज्ञान और भक्ति के उल्लेख ही अधिक किए हैं। लेकिन प्रकृति का यथास्थान उल्लेख अवश्य आया है, तुलसी कथा की वस्तु-स्थिति को बिलकुल भुला नहीं सके हैं। वन-भ्रमण के अन्तर्गत इन्होंने अनेक स्थलों का वर्णन किया है और इनमें अधिकतर वे ही स्थल हैं जिनका वर्णन वाल्मीकि में मिलता है। इन स्थलों में वाल्मीक रामायण में यथातथ्य का संश्लिष्ट चित्रण है, परन्तु तुलसी के वर्णन आदर्श प्रकृति का रूप प्रस्तुत करते हैं। इनका उल्लेख आध्यात्मिक साधना के प्रकरण में किया गया है। इनके साथ जनकपुरी प्रसंग के चित्रण भी आदर्शात्मक हैं। इन प्रकृति-रूपों में चिर-वसन्त की भावना के साथ स्थान-काल की सीमा भी स्वीकृत नहीं है।[2] इन वर्णनों की शैली व्यापक रेखा चित्रों की है और कहीं इनमें क्रिया-व्यापारों की संक्षिप्त योजना भी हुई है। कभी आदर्श-प्रकृति के वर्णनों के साथ चित्रण में भावात्मक प्रतिबिम्ब भी मिलता है; प्रकृति पर यह भावों का प्रतिबिम्ब कथानक को लेकर है।[3]

---

१. अध्यात्म रामायण; अरण्य काण्ड; १६; २२—

"सैव माया तयैवासौ संसारः परिकल्प्यते।
रूपे द्वे निश्चिते पूर्वं मायायाः कुलनन्दन:॥"

२. बाल०, दो० २१२ में नगर के वातावरण का हलका रेखा-चित्र; दो० २१७ में वाटिका-वर्णन में कुछ क्रिया-व्यापारों की योजना; अयो०, दो० १३७ में चित्रकूट वर्णन, हलकी संश्लिष्टता: दो० २४३ में चित्रकूट वर्णन, उल्लेखात्मक: उत्त०, दो० २३ में रामराज्य के अन्तरगत प्रकृति, व्यापक संश्लिष्टता: दो० ५६ में काकभुशुंडि का आश्रम।

३. अयो०, दो० २३६ में राम के आगमन पर चित्रकूट में उल्लसित प्रकृति: दो० २७-२८ में चित्रकूट में अनुकूल प्रकृति: अर०, दो० १४ में सुखमयी प्रकृति (गोदावरी)।

कभी-कभी तुलसी मार्ग-स्थित वातावरण का उल्लेख भी कर देते हैं; राम को मार्ग में बाल्मीकि आश्रम मिलता है—

> **देखत बन सर सैल सुहावन। बालमीकि आश्रम प्रभु आए।**
> **राम दीख मुनि बास सुहावन। सुन्दर गिरि काननु जल पावन॥**
> **सरनि सरोज बिटप बन फूले। गुंजत मंजु मधुप रस भूले॥**
> **खग मृग बिपुल कोलाहल करहीं। बिरहित बैर मुदित मन चरहीं॥**[1]

इस चित्र में प्रकृति के आदर्श का रूप तो व्यक्त होता ही है, साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि तुलसी साहित्यिक प्रकृति-सम्बन्धी परम्पराओं से परिचित थे और इन्होंने उनसे प्रभाव भी ग्रहण किया है।

स्वतंत्र वर्णन—इस आदर्श प्रवृत्ति के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि तुलसी के सामने प्रकृति का यथार्थ रूप नहीं था। 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत कुछ प्रकृति-रूप ऐसे हैं जिनसे यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि तुलसी ने केवल अनुकरण नहीं किया है और उनके सामने प्रकृति का यथार्थ रूप भी रहा है। पहली बात तो यही है कि इन आदर्श प्रकृति-चित्रों को उपस्थित करने में परम्परा से अधिक तुलसी का आध्यात्मिक अर्थ है। इसको भुलाकर इन रूपों पर विचार करना कवि के प्रति अन्याय होगा। इनके राम पूर्ण पुरुष हैं, उनके प्रभाव में प्रकृति की चिरंतन और उल्लासमयी भावना सहज है। परन्तु तुलसी की कथा में आध्यात्मिक आदर्श चरित्र का आधार सहज स्वाभाविक मनोभावों पर है। इसी प्रकार जो प्रकृति-रूप राम के सीधे सम्पर्क में नहीं है, वह यथार्थ चित्रमयता के साथ है। केवल तुलसी को ऐसे स्थल कम ही मिले हैं।

ऋतु-वर्णन (क)—साधारणतः ऋतु-वर्णन की परम्परा प्रकृति को उद्दीपन के अन्तर्गत मानती आई है, परन्तु तुलसी ने 'श्रीमद्भागवत' के आधार पर स्वतन्त्र रूप से उपस्थित किया है। वर्षा और शरद दोनों ही ऋतुओं के वर्णन के विषय में यही बात है। वर्णन के आरम्भ में हलका संकेत दिया गया है—

> **घन घमंड नभ गरजत घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा॥**

या कथा प्रसंग से मिलाते हुए—

> **बरषा गत निर्मल रितु आई। सुधि न तात सीता कै पाई॥**

तुलसी ने इन वर्णनों को इस रूप में एक विशेष सौन्दर्य की दृष्टि से ही अपनाया है। इनमें एक ओर प्रकृति-वर्णना की संश्लिष्ट योजना की गई है जिसमें प्रकृति का यथार्थ रूप अपने क्रिया-व्यापारों के साथ उपस्थित हुआ है, साथ ही मानवी समाज ने उनके

१. वही; अयो०, दो० १२४।

लिए उत्प्रेक्षाएँ तथा उदाहरण आदि प्रस्तुत किए गए हैं। इन्हींको लेकर उपदेशों की व्यंजना की बात कही जाती है। इसका एक पक्ष यह है भी। परन्तु यदि इनको प्रकृति के पक्ष में लगाया जाय तो यह वर्णना को भाव-व्यंजक करने का आलंकारिक प्रयोग है। प्रकृति-वर्णन में चित्रमयता के साथ भाव-व्यंजना के लिए आरोप किया जाता है। इस व्यंजना में प्रकृति के साथ भाव-स्थितियाँ भी उपस्थित हो जाती हैं; और कभी-कभी तो प्रकृति से व्यंजित भाव ही प्रधान हो जाता है। तुलसी के ऋतु-वर्णनों में अलंकार-विधान सामाजिक सार पर हुआ है, इस कारण व्यंजना उपदेशात्मक हुई है। परन्तु वस्तुतः प्रकृति का वर्णन यहाँ प्रमुख है और समस्त आलंकारिक योजना प्रकृति के रूप को प्रत्यक्ष करने और कथा के अनुरूप भाव-व्यंजना को प्रस्तुत करने के लिए हुई है। प्रकृति के रूपात्मक पक्ष के साथ भाव-व्यंजना की शैली रही है, परन्तु अधिकतर इस भावना में रति स्थायी-भाव प्रधान रहा है। तुलसी ने भागवत के अनुसरण पर यहाँ शांत स्थायी भाव को आधार रूप में स्वीकार किया है। लेकिन इनकी वर्णना में भाव-व्यंजना उसी प्रकार चलती है—'बादलों के बीच में बिजली चमक रही है—खल की प्रीति स्थिर नहीं रहती। बादल पृथ्वी पर झुक झूमकर बरसते हैं—विद्या प्राप्त कर बुद्धिमान् नम्र ही होते हैं; वर्षा की बूँदों की चोट पर्वत सह लेता है—दुष्ट के वचन को सज्जन बिना किसी अवरोध के सह लेते हैं। और यह क्षुद्र नदी (देखो तो सही) कैसी भरी हुई इतरा रही है—नीच थोड़ा धन पाकर इतरा चलता है। पृथ्वी पर पड़ते ही पानी मैला हो जाता है जैसे जीव को माया लिप्त कर लेती है।'[1] यह वर्णन कथानक से निरपेक्ष लगता है। परन्तु इस यथार्थ चित्रण के विषय में दो बातें कही जा सकती हैं। इस वर्णन को राम स्वयं करते हैं जो पूरे कथानक में निरपेक्ष हैं फिर इस स्थल पर उनका और उनके द्वारा वर्णित प्रकृति का निरपेक्ष होना स्वाभाविक है। ज्ञानात्मक उपदेश भी उनके चरित्र के अनुरूप है। परन्तु तुलसी ने राम के चरित्र को सर्वत्र दृढ़ मानवीय आधार दिया है। इस प्रकार इस प्रकृति-वर्णन में एक व्यंजना सन्निहित है—'लक्ष्मण, यहाँ ऐसा ही होता है। सुग्रीव यदि अपना कर्त्तव्य भूल गया तो यह उसके अनुरूप है। पर महान् व्यक्तियों में सहनशीलता होनी चाहिए।' इस प्रकार तुलसी का यह प्रयोग कलात्मक है और इसमें प्रकृति का रूप बिलकुल शान्ति के क्षणों में देखा गया है। शरद् ऋतु के वर्णन के विषय में भी यही सत्य है—

फूले कास सकल महि छाई। जनु बरषा कृत प्रगट बुढ़ाई।
सरिता सर निर्मल जल सोहा। संत हृदय जस गत मद मोहा।

---

१. वही; किष्कि०, दोहा १४।

रस रस सूखि सरित सर पानी। ममता त्याग करहिं जिमि ग्यानी।
जानि सरद रितु खंजन आए। पाइ समय जिमि सुकृत सुहाए।[1]

इस चित्र में उपदेशात्मक व्यंजना के साथ कथात्मक भाव-व्यंजना इस प्रकार की लगती है—हे बन्धु, सज्जन अवसर की प्रतीक्षा संतोषपूर्वक करते हैं; अवसर के अनुसार धीरे-धीरे कार्य होता है।'

कलात्मक चित्र (ख)—इन वर्णनों के अतिरिक्त भी कुछ स्थल हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि तुलसी का अपना प्रकृति-निरीक्षण है। जैसा कहा गया है ऐसे स्थल बहुत कम हैं और उनमें चित्र भी छोटे हैं। एक विशेष बात इनके विषय में यह है कि ये राम के सम्पर्क अथवा प्रभाव में नहीं हैं। कदाचित् इसलिए इनमें आदर्श के स्थान पर यथार्थ की चित्रमयता है। प्रतापभानु की मृगया के प्रसंग में बराह का रूप और उसके भागने की गति दोनों का वर्णन कलात्मक हुआ है—

फिरत बिपिन नृप दीख बराहू। जनु बन दुरेउ ससिहि ग्रसि राहू।
बड़ बिधु नहिं समाइ मुख माहीं। मनहुँ क्रोध बस उगिलत नाहीं।
कोल कराल दसन छबि गाई। तनु बिसाल पीवर अधिकाई।
घुरघुरात हय आरो पाएँ। चकित बिलोकत कान उठाएँ।
नील महीधर सिखर सम, देखि बिसाल बराहु।
चपरि चलेउ हय सुटुकि नृप, हाँकि न होई निबाहु॥

यहाँ तक बराह के रूप का वर्णन है; इनमें कवि की सूक्ष्म दृष्टि के साथ प्रौढ़ोक्ति भी व्यंजक है। आगे बराह के भागने का चित्र भी सजीव है—

आवत देखि अधिक रव बाजी। चलेउ बराह मरुत गति भाजी।
तुरत कीन्ह नृप सर संधाना। महि मिलि गयउ बिलोकत बाना।
तकि तकि तीर महीस चलावा। करि छल सुअर सरीर बचावा।
प्रगट दुरत जाइ मृग भागा। रिसि बस भूप चलेउ संग लागा।
गयउ दूरि बन गहन बराहू। जहँ नाहिन गज बाजि निबाहू।[2]

इस वर्णन का यथार्थ चित्र शब्द-योजना से और भी अधिक व्यक्त हो उठा है। इस वर्णन के अतिरिक्त चित्रकूट के आदर्श चित्रों के साथ केवट द्वारा वर्णित कलात्मक चित्र भी इसी कोटि का है। इसमें प्रौढ़ोक्तिसम्भव उत्प्रेक्षा का आश्रय लिया गया है—'हे नाथ, इन विशाल वृक्षों को देखिए, उनमें पाकड़, जामुन, आम और तमाल हैं जिनके बीच में वट वृक्ष सुशोभित है, जिसकी सुन्दरता और विशालता को देखकर मन मोहित हो जाता है। जिनके पल्लव सघनता के कारण नीलाभ हैं, फल लाल हैं, घनी

१. वही : वही, दो० १६।
२. वही : बाल०, दो० १५६—५७।

छाया सभी समय सुख देती है; मानों अरुणिमायुक्त तिमिर की राशि ही हो जिसको विधि ने सुषमा के साथ निर्मित किया है।"[1]

सहज सम्बन्ध का रूप—हम कह चुके हैं कि तुलसी में विभिन्न प्रवृत्तियों और परम्पराओं का समन्वय हुआ है। 'रामचरितमानस' में साहित्यिक परम्परा के अनुसार प्रकृति का उद्दीपन रूप मिलता है जिसका संकेत अन्यत्र किया जायगा। इनके काव्य में प्रकृति के प्रति सहचरण की भावना भी मिलती है, यद्यपि लोक-गीतियों जैसा स्वच्छन्द वातावरण इसमें नहीं है। सीता-हरण के बाद राम सीता का समाचार—'लता, तरु, खग, मृग तथा मधुकरों' से पूछते हैं। परन्तु यह सहानुभूति की स्थिति इसके आगे ही प्रकृति की विरोधी भावना के रूप में उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत आ जाती है। अगले प्रसंग में राम पशुओं में भावारोप करते हुए सहानुभूति के वातावरण में प्रकृति को सम्बोधित करते हैं—

> हमहि देखि मृग निकर पराहीं। मृगी कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं।
> तुम्ह आनन्द करहु मृग जाए। कंचन मृग खोजन ये आए।
> संग लाइ करिनीं करि लेहीं। मानहुँ मोहि सिखावन देहीं।[2]

इस वर्णन में विरोधी भावना के साथ व्यंगात्मक प्रकृति भी मानव की सहचरी है।

× × ×

अलंकृत काव्य परम्परा : 'रामचन्द्रिका'—प्रारम्भ में कहा गया है कि हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में संस्कृत महाकाव्यों के समान कोई काव्य नहीं है। परन्तु अलंकृत शैली के अनुसार इस शैली में 'रामचन्द्रिका' और 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' को लिया जा सकता है। इन दोनों काव्यों में महाकाव्यों के सभी नियमों का पालन नहीं है। 'रामचन्द्रिका' में सर्ग के स्थान पर प्रकाश हैं परन्तु इनमें अनेक छंदों का प्रयोग किया गया है; जबकि 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' में कथा एक ही साथ कह दी गई है। परन्तु वर्णना शैली के अनुसार ये दोनों काव्य संस्कृत महाकाव्यों का अनुसरण करते हैं। वर्णन प्रसंगों में लगभग समस्त महाकाव्यों में वर्णित होने वाले स्थलों को ग्रहण किया गया है। साथ ही ये वर्णन कलात्मक तथा चमत्कृत शैलियों में किए गए हैं। केशव की 'रामचन्द्रिका' में प्रकृति-वर्णन के स्थल दो परम्पराओं का अनुसरण करते हैं। पहली में 'रामायण' की कथावस्तु के अनुसार प्रकृति स्थलों के चुनाव की परम्परा है, जिसमें वन-गमन में मार्गस्थित, वन का वर्णन, पंचवटी का वर्णन, पंपासर का वर्णन तथा प्रवर्षण पर्वत

---

१. वही ; अयो०, दो० २३७।
२. वही० ; अयो०, दो० ३७।

पर वर्षा तथा शरद् का वर्णन आता है।[1] इनके अतिरिक्त कुछ प्रकृति-स्थलों को केशव ने महाकाव्यों की परम्परा के अनुसार उपस्थित किया है। इनमें से सूर्योदय का वर्णन कथा के अन्तर्गत ही आ जाता है, पर प्रभात-वर्णन, चन्द्र-वर्णन, उपवन-वर्णन और जलाशय-वर्णन महाकाव्यों के आधार पर लिए गए हैं। केशव ने कृत्रिम पर्वत और नदी का वर्णन किया है जिनका उल्लेख संस्कृत काव्यों में क्रीड़ा-शैल के नाम से हुआ है। यह राजसी वातावरण का प्रभाव माना जा सकता है। केशव संस्कृत के पंडित थे और हिन्दी के आचार्य कवियों में हैं। ये अपनी प्रवृत्ति में अलंकार-वादी हैं। इन कारणों से इनके वर्णनों में संस्कृत के कवियों का अनुकरण और अनुसरण दोनों ही मिलता है। इन्होंने प्रमुखतः कालिदास, बाण, माघ तथा श्रीहर्ष से प्रभाव ग्रहण किया है। कालिदास की कला का तो यत्र-तत्र अनुकरण मात्र है, अधिक प्रेरणा इनको अन्य तीनों कवियों से मिली है। ऐसा नहीं हुआ है कि केशव ने किसी एक स्थल पर एक ही शैली का अनुसरण किया हो। वस्तुतः किसी एक प्रकृति-रूप को उपस्थित करने में इन्होंने विभिन्न शैलियों का प्रयोग किया है। इसका कारण है। केशव का उद्देश्य वर्णना को अधिक प्रत्यक्ष तथा भाव-गम्य बनाने का नहीं है। उनके सामने प्रकृति का कोई रूप स्पष्ट नहीं है। वे तो वर्णन शैलियों के प्रयोग के उद्देश्य को लेकर चलते हैं।

वर्णना का रूप और शैली—विश्वामित्र के आश्रम के वर्णन-प्रसंग में केशव पहले केवल उल्लेखात्मक ढंग से, देश-काल की सीमा का बिना ध्यान किए वृक्षों को गिना जाते हैं—

> तरु ताली सतमाल ताल हिंताल मनोहर।
> मंजुल बंजुल तिलक लकुच नारिकेर वर।
> एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहैं।
> सारी शुक कुल कलितचित्त कोकिल अलि मोहैं।
> शुभ राजहंस कलहंस कुल नाचत मत्त मयूर गन।
> अति प्रफुल्लित फलित सदा रहै केशवदास विचित्र बन।[2]

वृक्षों के साथ इसमें पक्षियों का उल्लेख भी मिला दिया गया। इस वर्णन से प्रत्यक्ष है

१. रामचन्द्रिका में : वन-वर्णन, प्रका० तीसरा छं० २—३; पंचवटी-वर्णन, प्रका० ग्यारह १६-२३; पंपासर-वर्णन, प्रका० बारह ४४-४६; प्रवर्षण पर वर्षा और शरद्, प्रका० तेरह १२-२७; सूर्योदय-वर्णन, प्रका० पाँचवाँ १०-१५; प्रभात-वर्णन, प्रका० तीस १८-२३; बसंत-वर्णन, प्रका० तीस ३२-४०; चन्द्र-वर्णन, प्रका० तीस ४१-४६; उपवन-वर्णन, प्रका० बत्तीस ३-२०; जलाशय-वर्णन, प्रका० बत्तीस २३-२८; कृत्रिम-पर्वत और नदी, प्रका० बत्तीस २१-३१।

२. राम०; केशव; प्रका० तीसरा, छं० २।

कि केशव ने वन-वर्णन के लिए शास्त्रीय कवि परम्परा का पालन किया है। इस ऋषि-आश्रम के वर्णन में आदर्श भावना का संकेत मिलता भी है, आगे के वर्णन में केशव बाण के अनुकरण पर परिसंख्या की योजना में घटना-स्थिति को बिलकुल भुला देते हैं। इसी प्रकार सूर्योदय प्रसंग में स्वतःसम्भावी कल्पना के आधार पर ये कालिदास और भारवि का अनुसरण करते हैं—'(मानों) आकाश रूपी वृक्ष पर अरुण मुखवाला सूर्य रूपी वानर चढ़ गया; और उसने उसको झुकाकर हिला दिया जिससे वह तारे रूपी आकाश कुसुमों से विहीन हो गया।' इसी प्रकार पूर्व दिशा की कल्पना प्रौढ़ोक्ति-सम्भव होकर भी कलात्मक है—'मुनिराज, आकाश की शोभा को देखिए, लाल आभा से उसका मुख सुशोभित हो गया है। जान पड़ता है, मानों सिंधु में बड़वाग्नि की ज्वाल-मालाएँ शोभित हों अथवा सूर्य के घोड़ों की तीक्ष्ण खुरी से उड़कर पद्मराग की धूल से दिशा आपूरित हो उठी है।' परन्तु इस चित्रपट के आरम्भ में ही कवि ने चमत्कृत कल्पनाएँ की हैं—

परिपूरण सिंदूर पूर कैधौं मंगल घट।
किधौं शुक को छत्र मढ्यो मानिक-मयूखपट।
कै श्रोणित कलित कपाल यह किल कापालिक काल को।
यह ललित लाल कैधौं लसत दिग्भामिनी के भाल को॥[1]

इस वर्णन में माघ से श्रीहर्ष की ओर जाने की प्रवृत्ति है। इन समस्त वर्णन शैलियों को मिलाने का कारण यही है कि केशव ने सभी कवियों से ग्रहण किया है और साथ ही ये अलंकारवादी हैं। पंचवटी तथा भारद्वाज-आश्रम के वर्णन बाण की अलंकृत शैली में किए गए हैं। इनमें अनुकरण तथा आलंकारिता की ओर विशेष ध्यान है जिससे बाण जैसी रूप-योजना का नितान्त अभाव है। इसमें अनेक कल्पनाएँ केशव ने वैसी ही ले ली हैं। श्लेष-परिपुष्ट उत्प्रेक्षा द्वारा दंडक-वन का वर्णन इस प्रकार है—

बेर भयानक सी अति लसै। अर्क समूह जहाँ जगमगै।
नैनन को बहु रूपन ग्रसै। श्री हरि की जनु मूरति लसै।
पाण्डव की प्रतिमा सम लेखो। अर्जुन भीम महामति देखो।
है सुभगा सम दीपति पूरी। सुन्दर की तिलकावलि रूरी।

इसी प्रकार केशव बिना प्रकृति-रूप को समक्ष रखे ही आलंकारिक योजना प्रस्तुत करते जाते हैं। जिस स्थल पर कल्पना चित्रमय हो सकी है, एक रूप सामने आता है। पर वह चित्र समग्र योजना में अलग-सा रहता है और उसका रूप आलंकारिक सौन्दर्य तक सीमित रह जाता है—'गोदावरी अत्यंत निकट है, जो चंचल तुंग तरंगों में प्रवाहित हो

---

१. वहीः वही; प्रका० पाँचवाँ १४, १३, ११।

रही है। वह कमलों की सुगन्ध पर क्रीड़ा करते हुए भ्रमरों से सुन्दर लगती है, मानों सहस्रों नयनों की शोभा को प्राप्त हुई है।"[1] इस चित्र में भी कवि की मान्यता के साथ काल्पनिकता अधिक है। भरद्वाज के आश्रम-वर्णन में बाण की 'कादम्बरी' के आश्रम-वर्णन का अनुकरण है। परन्तु बाण में सुन्दर वातावरण की योजना की गई है, जब कि केशव केवल आलंकारिक चमत्कार दिखा सके हैं—

सुवा हो जहाँ देखिये वक्ररागी। चलैं पिप्पलै तिक्ष चुग्यै सभागी।
कँपैं श्रीफलै पत्र हैं यत्र नीके। सुरामानुरागी सबै राम ही के।
जहाँ वारिदैं वृन्द बाजानि साजैं। मयूरैं जहाँ नृत्यकारी बिराजैं।[2]

परिसंख्यालंकार की यह योजना नितान्त वैचित्र्य की प्रवृत्ति है। पंपासर का वर्णन साधारण उल्लेखों के आधार मात्र पर हुआ है, केवल एक उत्प्रेक्षा कवि की प्रौढ़ोक्ति के रूप में अच्छी है—

सुन्दर सेत सरोरुह में करहाटक हाटक की द्युति को है।
तापर भौंर भलो मन रोचन लोक बिलोचन की रुचि रोहै॥
देखि दई उपमा जलदेबिन दीरघ देवन के मन मोहै।
केशव केशवराय मनों कमलासन के सिर ऊपर सोहै।[3]

इस चित्र का सौन्दर्य रूप या भाव को प्रत्यक्ष करने से अधिक उक्ति से सम्बन्धित है। प्रवर्षण पर्वत का वर्णन श्लेष के द्वारा चमत्कार योजनाओं में हुआ है। इस प्रसंग में वर्षा का वर्णन अधिक कलात्मक हो सका है। साथ ही इसमें वर्षा की व्यापक सीमाओं के साथ कुछ चित्रमयता भी आ सकी है—'घन मंद-मंद ध्वनि से गरजते हैं, बीच-बीच में चपला चमकती है, मानों इन्द्रलोक में अप्सरा नाचती है। आकाश में घने काले बादल सुशोभित हैं। उनमें बकों की पंक्तियाँ मन को मोहित करती हैं, मानों बादलों ने जल से सीपियों को पी लिया है और उसे ही बलपूर्वक उगल दिया है। अनेक प्रकार के प्रकाश घन में दिखाई देते हैं, मानों आकाश के द्वार पर रत्नों की अवली बँधी हो जो वर्षा के आगमन में देवताओं ने बाँधी है।"[4] आगे के वर्णनों में आरोप की भावना के माध्यम से प्रकृति का उद्दीपन रूप में प्रयोग हुआ है। परन्तु इन वर्णनों में कवि की अलंकार-प्रियता के कारण स्वाभाविक रूप नहीं आ सका है। शरद्-वर्णन में यह प्रवृत्ति अधिक प्रत्यक्ष है।

कथानक के साथ प्रकृति—जहाँ तक कथानक की घटना स्थिति और भाव स्थिति

---

१. वही; वही: प्रका० ग्यारहवाँ २१, २२, २४।
२. वही: वही: प्रका० बीसवाँ ३८, ६१।
३. वही: वही: प्रका० बारहवाँ ४९।
४. वही; वही: प्रका० तेरहवाँ १३, १४, १५।

से सम्बन्धित प्रकृति के रूप का प्रश्न है, केशव अपनी प्रवृत्ति के कारण सामञ्जस्य स्थापित करने में असफल रहे हैं। संस्कृत महाकाव्यों के आधार पर जिन रूपों को व्यापक उद्दीपन-विभाग के अन्तर्गत लिया गया है, उनमें भी वर्णन-वैचित्र्य ही अधिक है। प्रातः का वर्णन केशव कालिदास के 'रघुवंश' के आधार पर करते हैं। 'रघुवंश' में प्रकृति-रूप के साथ ऐश्वर्य का तादात्म्य स्थापित किया गया है; परन्तु केशव के वर्णन में ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी उपदेशात्मक उदाहरण दिए गए हैं, जिनमें कथानक के प्रति कोई आग्रह नहीं है। केशव के सामने तुलसी के सामान कोई क्रमिक रूप-रेखा भी नहीं है। वे केवल कुछ उक्तियों को जुटाकर सजाना चाहते हैं—

अमल कमल तजि अमोल, मधुप लोल डोल डोल,
बैठत उड़ि करि-कपोल, दान-माद कारी।
मानहु मुनि ज्ञानवृद्ध, छोड़ि छोड़ि गृह समृद्ध,
सेवत गिरिगण प्रसिद्ध, सिद्धि-सिद्धि-धारी।
तरणि किरण उदित भई, दीप जोति मलिन गई,
सदय हृदय बोध उदय, ज्यों कुबुद्धि नासै।
चक्रवाक निकट गई, चकई मन मुदित भई,
जैसे निज ज्योति पाय, जीव ज्योति भासै।[1]

इस वर्णन की रेखाएँ माघ के अनुसार चलती हैं जब कि उदाहरण की शैली पौराणिक है जिसे तुलसी ने अपनाया है। वसंत-वर्णन में आरोप के आधार पर साहित्यिक परम्परा के अनुसार प्रकृति-रूप उद्दीपन के अन्तर्गत है। चन्द्र-वर्णन केवल ऊहात्मक है जो हर्ष के अनुसरण पर है। इसमें चित्रमयता के लिए स्थान नहीं है, केवल विचित्र कल्पनाएँ जुटाई गई हैं जो संस्कृत के कवियों से ग्रहण की गई हैं—'(सीता जी कहती हैं) यह चन्द्रमा फूलों की नवीन गेंद है जिसे इन्द्राणी ने सूँघकर फेंक दिया है, यह रति के दर्पण के समान है या काम का आसन है। यह चन्द्रमा मानों मोतियों का झुमका है जिसे सूर्य की स्त्री असावधानी से भूल गई है। (राम कहते हैं) नहीं, यह तो बालि के समान है क्योंकि तारा साथ लिए है।'[2] उद्दीपन के रूप में उपस्थित करके भी इस चित्र में केवल उक्ति-वैचित्र्य है। बाग आदि के वर्णनों में यही प्रवृत्ति है। केशव की प्रवृत्ति प्रकृति के सहचरण-रूप को प्रस्तुत करने के बिलकुल विपरीत है। इनमें स्वच्छन्द वातावरण की कल्पना नहीं की जा सकती। परम्परा के अनुसार उपालम्भ आदि का प्रयोग कर दिया गया है।

वेलि; कलात्मक काव्य—हमारे सामने दूसरा अलंकृत काव्य पृथ्वीराज रचित 'क्रिसन रुकमणी री' है। कलात्मक दृष्टि से यह काव्य भी इसी वर्ग में आता है।

१. वही; वही : प्रका० तीसवाँ २०।
२. वही; वही; प्रका० तीसवाँ ४१,४२।

पर इसमें और केशव की 'रामचन्द्रिका' में एक भेद है। यह भेद इनके काव्यगत आदर्शों का है। पृथ्वीराज कवि और कलाकार है, जब कि केशव आचार्य तथा रीतिकार हैं। इसी कारण पृथ्वीराज अपनी कला में भी रसात्मक है, पर केशव अपनी अलंकार-प्रियता में वर्णन-विषय की मर्यादा का ध्यान भी नहीं रख पाते। वैसे पृथ्वीराज के सामने भी संस्कृत कवियों का आदर्श है। इस क्षेत्र में कवि ने कालिदास का अनुसरण किया है। बेलि की कथा संक्षिप्त है, इस कारण इसमें वस्तुस्थिति के रूप में प्रकृति को उपस्थित करने का अवसर नहीं रहा है। केवल एक स्थल पर द्वारिका के निकट ब्राह्मण को ध्वनिचित्र मिलता है—

> धुनि बेद सुणति कहुँ सुणति संख धुनि
>
> नद झल्लारि नीसाण नद।
>
> हेका कह हेका हिलोहल,
>
> सायर नयर सरीख मद॥[1]

अन्य समस्त प्रकृति के वर्णन कवि ने कथा समाप्त करके प्रस्तुत किए हैं। यह प्रकृति योजना बाद के संस्कृत महाकाव्यों के अनुरूप हुई है जो व्यापक उद्दीपन के रूप में कथा को पृष्ठ-भूमि में रखकर उपस्थित की गई है। इन वर्णनों में आरोपों द्वारा अथवा भाव-व्यंजना के माध्यम से प्रकृति का प्रयोग उद्दीपन के अन्तर्गत हुआ है। परन्तु इन रूपों में कला के साथ रसात्मकता भी है। इनके अतिरिक्त ऋतु-वर्णनों में मानवीय क्रिया-कलापों का योग भी किया गया है जिस प्रवृत्ति का विकास संस्कृत ऋतु-वर्णनों में देखा जाता है।

कलापूर्ण चित्रण (क)—इन समस्त वर्णनों के बीच में कवि ने सुन्दर चित्रों की उद्भावना की है जिससे कवि की प्रतिभा, मौलिकता तथा उसके सूक्ष्म निरीक्षण का पता चलता है। पृथ्वीराज राजस्थानी कवि हैं, इस कारण इनके सामने ग्रीष्म और वर्षा का रूप अधिक प्रत्यक्ष हो सका है। इनके वर्णनों में सबसे अधिक स्वाभाविक और चित्रमय रूप भी इन्हीं ऋतुओं में है। अन्य ऋतुओं में विशेषकर वसंत तथा मलय पवन के वर्णन में आरोप और उद्दीपन की भावना अधिक है; साथ ही इनमें परम्परा-पालन भी अधिक है। ग्रीष्म का यथार्थ रूप कवि के सामने है—'तब सूर्य ने जगत् के सिर के ऊपर होकर मार्ग बनाया, सघन वृक्षों ने जगत् पर छाया की, नदी और दिन बढ़ने लगे, पृथ्वी में कठोरता और हिमालय में द्रव भाव आ गया।' यह रेखाओं का उल्लेख केवल ग्रीष्म का व्यापक संकेत देता है। आगे कुछ अधिक गहरी रेखाएँ हैं—

---

१. बेलि क्रिसन रुकमणी रीः पृथ्वीराजः छं० ४८ [(जगाने पर ब्राह्मण को) कहीं वेदपाठ की ध्वनि सुनाई दी, कहीं शंख को ध्वनि सुनाई दीः कहीं झालर की झंकार तो कहीं नगाड़े का नाद सुन पड़ा। हिल्लोल शब्द के कारण सागर और नगर एक ही समान शब्दायमान हो रहा था।]

'मृगवात ने चलकर हरिणों को किंकर्त्तव्यविमूढ़ कर दिया, धूलि उड़कर आकाश से जा लगी। आर्द्रा में वर्षा ने पृथ्वी को गीलाकर दिया, गड्ढ़े भर गए और किसान उद्यम में लगे।'[1] ग्रीष्म का अगला चित्र कलात्मक है और अधिक सूक्ष्म दृष्टि का परिचय देता है—'मनुष्यों को सूरज से तपे हुए आषाढ़ मास के मध्याह्न में माघ की मेघ-घटाओं से आच्छादित कृष्णवर्ण अर्द्धरात्रि की अपेक्षा अधिक निर्जनता का भान हुआ।'[1] इसी प्रकार कवि वर्षा की उद्भावना करता है—'मोर ध्वनि करने लगे, पपीहा टेर करने लगा; इन्द्र चंचल बादलों से आकाश को शृंगारने लगा।... बड़े जोर से बरसने से पर्वतों के नाले शब्दायमान होने लगे, सघन मेघ गम्भीर शब्द से गर्जने लगा; समुद्र में जल नहीं समाता, और बिजली बादलों में नहीं समाती।' इन चित्रों में कलात्मक चित्रमयता है। अगले चित्र में उपमा के द्वारा भावाभिव्यक्ति की गई है—

काली करि काँठलि ऊजल कोरण
धारे श्रावण धरहरिया।
गलि चलिया दिसो दिसि जलभ्रम
थंभि न बिरहिण नयन थिया॥[2]

इसमें स्वाभाविक वस्तु-योजना में भाव-व्यंजना के द्वारा विरह भावना की अभिव्यक्ति हुई है। परन्तु यह मानवीय भावना के सम पर प्रकृति की भावमयता है। इस कारण यह प्रकृति-रूप उद्दीपन की विशुद्ध सीमा के बाहर का है। जब इसीमें आरोप की भावना प्रत्यक्ष हो जाती है, उस समय प्रकृति शुद्ध उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत आती है।

× × ×

एक कथात्मक लोक-गीति—'ढोला मारूरा दूहा' के समान गणपति रचित 'माधवानल काम-कन्दला प्रबन्ध' कथात्मक लोक-गीति से बहुत निकट है।[3] इसमें भी गीतियों का स्वच्छन्द वातावरण मिलता है। यह कथा अत्यधिक लोकप्रिय रही है और अनेक प्रदेशों में इसका प्रचार रहा है। इसी नाम के दो प्रेम-काव्यों का उल्लेख किया भी गया है। इसमें बारहमासा वर्णन के दो अवसर आए हैं। एक में माधव के विरह का प्रसंग है

---

१. वहीः वहीः छं० १८७, १९०।

२. वहीः वहीः छं० १९४, १९६, १९५ [काले काले वर्तुलाकार मेघों में प्रान्तभागस्थ श्वेत बादलों की कोरवाली घटाओं सहित श्रावण मूसलाधार वृष्टि से पृथ्वी को जल-प्लावित करने लगा। दिशा-दिशा के बादल पिघल चले। वे थमते नहीं, विरहिणी स्त्री के नेत्र हो रहे हैं।]

३. यहाँ इसका विवेचन बाद में इसलिए किया गया है कि इसकी खोज कुछ बाद में मिल सकी। एम० आर० मजूमदार ने गणपति का समय १६वीं श० माना है, जिसने इस लोक-गीति को काव्य-रूप में संग्रहीत किया है।

और दूसरे में कामकंदला के विरह का। भारतीय जीवन में नारी का विरह ही अधिक उन्मुक्त रहा है; यही कारण है कि इस लोक-गीति में भी कामकंदला का बारहमासा अधिक भाव-व्यंजक है। जैसा 'ढोला मारूरा दूहा' के विषय में देखा गया है इसमें प्रकृति के साथ मानवीय भावों की स्वच्छन्द व्यंजना हुई है। फाल्गुन मास में कोयल के स्वर से वियोगिनी विह्वल हो उठती है—

कायलडी अंबय बडी, काजिल कयण हारि।
काम करइ घरण कटकई, जिहा अकेलडी नारि॥

और चैत्र मास में पुष्पित पल्लवित वसंत के साथ विरहिणी व्याकुल हो उठी है—

चैत्रक चंपक कुंअलमां, होडीं ले सीहकार।
तरुअर बहु पल्लव धरइ, 'मारि' करइ बहु मार॥

आषाढ़ के उमड़ते बादलों और चमकती बिजली से वह चंचल हो उठती है—

चिहुं-दिशि चमकइ बीजली, बादल बा वंतोल।
दुख-दरिया मोंहा हूं गई टल वलती ब्रूहि बोल॥[1]

इसी प्रकार वियोगिनी की व्यथा प्रकृति के साथ व्यक्त होती है।

साहचर्य भावना (क)—कामकंदला के विरह-प्रसंग में प्रकृति से निकट का सम्बन्ध उपस्थित करती हुई उपस्थित होती है। कहा गया है कि गीतियों की स्वच्छन्द भावना में यह सम्बन्ध स्वाभाविक है। वह सूर्य, चन्द्र, पवन, जल, चातक, मयूर, कोकिला आदि प्रकृति के रूपों को उपालम्भ देती है। विरोध में उपस्थित प्रकृति के प्रति यह उपालम्भ सहज सहानुभूति को ही प्रकट करता है। कामकंदला चातक से उसके उत्तेजक शब्द के लिए उपालम्भ देती है—

तूं संभारइ शब्द तउ, हूं, मुंकुं खिण मात्र।
पीउ पीउ मुखि पोकरतां, गहि वरिउं सवि गात्र॥

मोर के प्रति उसे कितना आक्रोश है—

भाभिम-राति मोर ! तूं, म करसि मुआ ! पोकार।
सूता जाणी सटक दे, 'मारि' करइ मुझि मारि॥

कोकिल के प्रति उसकी अभ्यर्थना में मार्मिक वेदना है—

काली राति कोकिल ! तूं परिण काली कोय।
बोलइ रखे बीहामणी ! मुझ प्रीउ गामि होय॥[2]

१. माधवा०; गणपति; छं० ५२६, ५२८, ५५७।
२. वही; वही; छं० ३६३, ३६७, ४००।

और अन्त में वह अत्यन्त निकटता से पवन को अपना दूत बनाकर अपने परदेशी प्रिय के पास भेजती है—

> पवन ! संदेसु पाठवंउ, माहरु माधव-देसि ।
> तपन लगाड़ी ते गयु, मझ मूकी पर देशि ॥[1]

इस समस्त वातावरण के साथ भी इस गुजराती गीति कथा-काव्य में 'ढोला मारुरा दूहा' जितनी स्वच्छन्द भावना नहीं है। इसका कारण है कि इसमें साहित्यिक रूढ़ि का प्रभाव अधिक है।

---

१. वही: वही: छं० ६१७।

सप्तम प्रकरण

विभिन्न काव्य-रूपों में प्रकृति—२

गीति-काव्य की परम्परा

पद-गीतियाँ तथा साहित्यिक गीतियाँ—हिन्दी मध्ययुग के गीति-काव्य का विकास लोक-गीतियों के आधार पर हुआ है। मध्ययुग का गीति-काव्य पदों में सीमित है, जिसका विकास दो परम्पराओं से सम्बन्धित है। संतों की पद परम्परा का स्रोत सिद्धों की पद शैली है जिसका विकास लोक-गीतियों के उपदेशात्मक अंश को प्रमुखता देकर हुआ है। वैष्णव पद-गीतियों का विकास भारतीय संगीत के योग से भावात्मकता और वर्णनात्मकता को प्रधानता देने वाली लोक-गीतियों से सम्भव है।[1] संस्कृत में जयदेव के 'गीतगोविन्द' के अतिरिक्त कोई प्रमुख गीति-काव्य नहीं है। इसका कारण संस्कृत काव्य का अपना आदर्श है जिसमें स्वानुभूतियों की मनस्-परक अभिव्यक्ति के लिए स्थान नहीं रहा है। साहित्य में लोक-गीतियों की उपेक्षा का कारण भी यही रहा है। इनमें व्यक्तिगत वातावरण प्रमुख रहता है। गायक अपनी ही बात, अपनी ही अनुभूति को प्रमुखतः व्यक्त करना चाहता है। साहित्यिक गीतियों में यही व्यक्तिगत अनुभूति लोकगीति के स्थूल आधार को छोड़कर स्पष्ट मनस्-परक अभिव्यंजना में व्यापक और गम्भीर होकर सामाजिक हो जाती है। हिन्दी के पद-काव्य के विकास में कवि की स्वानुभूति को अभिव्यक्ति का अधिक अवसर नहीं मिला है। फिर भी भक्तों के विनय के पद और मीरा तथा संतों की प्रेम-व्यंजना में आत्माभिव्यक्ति का रूप है। इन गीति के पदों और पश्चिम की साहित्यिक गीतियों में बहुत बड़ा अन्तर है। मध्ययुग के आत्माभिव्यक्ति के रूप में लिखे गए पदों में स्वच्छंद वातावरण अधिक है। भक्त या साधक ने अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए लोक-गायक के समान प्रेम और विरह का

---

१. वैष्णव पदों का प्रचार मन्दिरों में था, और ये भगवान् की सेवा के विभिन्न अवसरों पर गाये जाते थे। इस प्रकार से पद रागों में बँध गए हैं। साथ ही इन में जिन छंदों का प्रयोग है वे अधिकांश लोकगीतियों के हैं।

उल्लेख तीव्र भावों में और स्थूल आधार पर किया है। जबकि साहित्यिक गीतियों में कवि की भावना और वेदना का मनस्-परक चित्र व्यंजनात्मक चित्रमयता के साथ उपस्थित किया जाता है। इसी विभेद के कारण हिन्दी मध्ययुग के आत्माभिव्यक्ति के पदों में भी प्रकृति का स्थूल आधार भर लिया गया है और अभिव्यक्ति के लिए भी विशेष रूप से प्रकृति का आश्रय नहीं लिया गया। पश्चिम की साहित्यिक गीतियों में कवि की मानसिक प्रभावशीलता के सम पर प्रकृति दूर तक आती है; साथ ही इनकी व्यंजना प्रकृति के माध्यम से की गई है। वन्दना के पदों में प्रकृति के माध्यम का कोई प्रश्न नहीं उठता; उपमानों के रूपगत सौन्दर्य कल्पना में प्रकृति के माध्यम पर विचार किया गया है।

स्वच्छंद भाव-तादात्म्य—प्रेम के संयोग-वियोग पक्षों की व्यंजना जिन पदों में की गई है, उनमें भावान्दोलन के प्रवाह में प्रकृति का रूप संकेतों में आया है। प्रयोग की दृष्टि से प्रकृति के इस रूप में भाव-तादात्म्य है। संतों ने ऐसे प्रयोग प्रतीकार्थ में किए हैं। परन्तु इस क्षेत्र में मीरा की वाणी प्रकृति के प्रति अधिक स्वच्छंद तथा सहानुभूतिशील है। संतों ने अपनी प्रेम-विरह की अभिव्यक्ति अदृश्य विरहिणी की व्यथा के रूप में की है। उन्होंने अपनी करके जो बात कही है, वह उनके अनुभूति के क्षणों की अभिव्यक्ति है। इस क्षेत्र में मीरा ही अपनी विरह-वेदना को स्वयं व्यक्त करती सामने आती हैं। उस समय प्रकृति उनकी सहचरी है और इसी सहानुभूति के वातावरण में मीरा पपीहे को उपालम्भ देती हैं—

प्यारे पपइया रे कब को बैर चितार्‌यो।
मैं सूती छी अपने भवन में, पिय पिय करत पुकार्‌यो।
उठि बैठो वो वृच्छ की डाली, बोल बोल कंठ सार्‌यो।[१]

और यह विरहिणी अपने मिलन के उल्लास में प्रकृति के सहचरण की बात उससे भाव-तादात्म्य स्थापित करती हुई कहना नहीं भूलती—

बदला रे तू जल भरि ले आयो।
छोटी छोटी बूँदन बरसन लागी, कोयल सबद सुनायो।
सेज सँवारी पिय घर आये, हिल मिल मंगल गायो।[२]

संस्कृत काव्य के समान हिन्दी मध्ययुग के काव्य में आत्माभिव्यक्ति का स्थान अधिक न होने के कारण मनःस्थिति के समानान्तर प्रकृति को स्थान नहीं मिल सका। हम अगले प्रकरण में देखेंगे कि काव्य में प्रकृति अधिकतर परम्परागत उद्दीपन-रूप में

---

१. पदावली: मीरा; पृ० ८१।
२. वही: वही; पृ० ६७।

उपस्थित हुई है। लेकिन मीरा ने अपनी मनोभावना के साथ प्रकृति को एक सम पर उपस्थित किया है—

बरसै बदरिया सावन की, सावन की मन भावन की।
सावन में उमग्यौ मेरे मनवा, भनक सुनि हरि आवन की।
उमड़-घुमड़ चहुँ दिसि से आयो, दामण-दमक झर लावन की।
नन्हीं-नन्हीं बूँदन मेहा बरसै, सीतल पवन सोहावन की।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, आनन्द मंगल गावन की।[1]

यहाँ मीरा के प्रिय मिलन के उल्लास के साथ प्रकृति उल्लसित हो उठी है। इस रूप में वह भावों को सीधे अर्थों में उद्दीप्त न करके मानवीय भावना से सम प्राप्त करती है। आगे उद्दीपन-विभाव के प्रकरण में देखा जा सकेगा कि मीरा और संतों में उस क्षेत्र में भी चित्रमयता नहीं है, पर स्वच्छंद भावना का वातावरण अवश्य है।

पद-गीतियों में अभ्यन्तरित भाव-स्थिति—मध्ययुग की पद-गीतियों में घटना और वस्तु-स्थिति का आश्रय भर लिया गया है। पद-शैली में किसी विशेष वस्तु या भाव को केन्द्र में रख कर उसीका छाया-प्रकाशों में चित्र अंकित किया जाता है। ऐसी स्थिति में पदों में अधिकतर भावाभिव्यक्ति ही हुई है और उनमें केन्द्रीभूत भावना व्यक्तिगत लगने लगती है। इस प्रकार इन पदों में कवि की स्वानुभूति की व्यंजना न होकर भी उसकी अभ्यन्तरित भावना का रूप आ जाता है। परन्तु इन पदों में भावों की मानसिक चित्रमयता की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया है, जितनी भावों की वाह्य व्यंजना की ओर। इस कारण इन पदों में भी प्रकृति का आधार स्थूल संकेतों में रहा है। पद-काव्य पर विचार करते समय विद्यापति का उल्लेख आवश्यक है। हिन्दी पद-गीतियों का आरम्भ इन्हीं से माना जाता है। विद्यापति की भावना ने उनके पदों में अभिव्यक्ति का एक विशेष रूप स्वीकार किया है, इस कारण भी उनका महत्व अधिक है। विद्यापति के पदों में राधा और कृष्ण के प्रेम का वर्णन है। परन्तु इस प्रेम में यौवन तथा उन्माद इतना गम्भीर हो उठा है कि उसमें कवि की अभ्यन्तरित भावना आत्माभिव्यक्ति के रूप में प्रकट होती है। ऐसा सूर में भी है, परन्तु विद्यापति में भक्ति-भावना का आवरण नहीं है। वे राधाकृष्ण के प्रेम के यौवन-उन्माद से अपनी भावना का उन्मुक्त तादात्म्य स्थापित कर सके हैं। इसी सम पर कवि ने मानसिक भावस्थितियों की अभिव्यक्ति करने का प्रयास भी किया है। इस कारण उनके पदों में साहित्यिक गीतियों का सुन्दर रूप मिलता है। परन्तु ये गीतियाँ प्रकृतिवादी गीतियाँ नहीं हैं। इनमें सौन्दर्य और यौवन, विरह और संयोग की भावना व्यक्त

१. वही; वही; पृ० ६६।

हो सकी है। विद्यापति के वर्णनों में मनस्-परक पक्ष की व्यंजना इस प्रकार सन्निहित हो गई है। जब सौन्दर्य और यौवन प्रेम की मानसिक स्थिति को छू कर व्यक्त होते हैं, उस समय अनुभूति का गहरा और प्रभावशाली होना स्वाभाविक है। इस गम्भीर अनुभूति के कारण विद्यापति की अभिव्यक्ति साधकों और भक्तों की प्रेम-व्यंजना के समान लगती है। परन्तु विद्यापति में भी मानसिक स्थिति के संकेत अवस्था और व्यापारों में खो जाते हैं जो भक्तियुग के कवियों की समान विशेषता के साथ भारतीय काव्य की भी प्रवृत्ति है।

विद्यापति : यौवन और सौन्दर्य—आध्यात्मिक साधना के प्रकरण में सौन्दर्य-योजना सम्बन्धी प्रकृति-परिकल्पना पर विचार किया गया है। विद्यापति ने सौन्दर्य के साथ यौवन की स्फुरणशील स्थिति का संकेत प्रकृति के माध्यम से दिया है। सौन्दर्योपासक प्रकृतिवादी प्रकृति के हश्यात्मक रूप में यौवन की व्यंजना के साथ आकर्षित होता है; उसीके समानान्तर विद्यापति मानवीय सौन्दर्य के उल्लासमय यौवन से आकर्षित होकर प्रकृति के अप्रस्तुत-विधान के माध्यम से उसे व्यक्त करते हैं—'कनकलता में कमल पुष्पित हो रहा है, उसके मध्य में चन्द्रमा उदित हुआ है। कोई कहता है—सेवार से आच्छादित हो रहा है; किसी का कहना है—नहीं, वह तो मेघों से झाँप लिया गया है। कोई कहता है—भौंरा भ्रमराता है; कोई कहता है—नहीं, चकोर चकित है। सभी लोग उसे देखकर संशय में पड़े हैं। लोग विभिन्न प्रकार से उसको बताते हैं। विद्यापति कहते हैं······भाग्य से ही गुणवान् पूर्ण रूप प्राप्त करता है।'[1] इसमें अन्य सगुण भक्तों के समान रूपकातिशयोक्ति के द्वारा रूपात्मक सौन्दर्य की स्थापना की गई है, साथ ही यौवन की चपलता का भाव भी सन्निहित है जो प्रकृति के स्फुरण-शील रूप में स्थित है। इस प्रकार की प्रकृति-परिकल्पना का विवेचन सौन्दर्य-साधना के प्रसंग में किया गया है; परन्तु वह भगवान् के लीलामय रूप से अधिक सम्बन्धित था। विद्यापति ने प्रकृति के माध्यम से यौवन के सौन्दर्य को अनेक स्थलों पर व्यञ्जित किया है—

सखि हे कि कहब किछु नहिं फूरि।
तड़ित लतातल जलद समारल आँतर सुरसरि धारा॥
तरल तिमिर शशि सूर गरासल चौदशि खसि पड़ु तारा।
अम्बर खसल धराधर उलटल धरणी डगमग डोले॥
खरखर वेग समीरन सञ्चर चञ्चरिगण कर रोल।
प्रणय पयोधि जले तन झाँपल ई नहि युग अवसाने॥[2]

---

१. पदावली: विद्यापति; पृ० १६।
२. वही: वही; पृ० ५८६।

सगुण भक्तों ने इसी प्रकार की अलौकिक योजना की है। विद्यापति ने इस परम्परा को उनके पहले ग्रहण किया है। परन्तु उन्होंने इसमें सौन्दर्य के यौवन-पक्ष को चंचल-रूप में व्यक्त किया है। इसके अतिरिक्त कवि यौवन-प्रेम के उन्माद की व्यंजना भी प्रकृति के माध्यम से करता है। कवि के सम्मुख प्रकृति प्रस्तुत-रूप में जान पड़ती है, परन्तु व्यंग्यार्थ में यौवन का उद्दाम प्रेम है—'जाती, केतकी, कुन्द और मंदार और भी जितने सुन्दर फूल दिखाई देते हैं, वे सभी परिमल युक्त मकरन्द युक्त हैं। बिना अनुभव के अच्छा और बुरा नहीं जाना जाता। हे सखी तुम्हारा वचन अमृतमय है; भ्रमर के व्याज से मैंने अपना प्रियतम पहिचाना।'[1] इसमें यौवन के छिपे हुए आकर्षण का भाव है; आगे मालती और भ्रमर के उदाहरण से प्रेम का संकेत है। यहाँ प्रकृति प्रमुख है, इस कारण इन प्रयोगों को केवल अलंकारों के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। कवि कहता है यौवन और सौन्दर्य अनंत हैं, पर जिसका जिससे स्नेह हो—

कतक न जातकि कतकि कुसुम बन विकास।
तइअओ भमर तोहि सुमर न लेअ कबहु बास।
मालति बधओ जाएत लागि।
भमर बापुरे बिरह आकुल तुअ दरसन लागी।
जखन जतए बन उपबन ततहि तोहि निहार।[2]

इस प्रेम में उद्वेगशील यौवन के प्रति आकर्षण की भावना बनी रहती है। इस समस्त प्रसंग में आध्यात्मिक संकेत का बिलकुल अंश नहीं है। यौवन का आवेग समस्त आकर्षण का केन्द्र है जिसे भ्रमर और मालती के माध्यम से कवि व्यक्त करता है—

मालति काँहक करिअ रोस।
एक भमर बहुत कुसुम कमल बाहेरि दोस।
जातकि केतकि नवि पदिमिनि सब सम अनुराग।
ताहि अवसर तोहि न बिसर एहे तोर बड़ भाग।[3]

भावात्मक सम—सिद्धान्त की दृष्टि से मानोभावों के समानान्तर या अनुरूप प्रकृति उद्दीपन के अन्तर्गत आती है। परन्तु इस स्थिति में उससे एक ऐसा मानसिक सम उपस्थित हो जाता है जिसके कारण हम इस रूप को विशुद्ध उद्दीपन से अलग मानकर उल्लेख करते आए हैं। इस रूप में प्रकृति का सम्बन्ध घटना-स्थिति तथा भाव-स्थिति से है, जबकि विशुद्ध उद्दीपन में वह किसी आलम्बन की प्रत्यक्ष स्थिति से उत्पन्न भावों को प्रभावित करती है। उद्दीपन-विभाव के प्रसंग में इसको अधिक

१. वही; वही ; पृ० ४६७।
२. वही; वही ; पृ० ६६।
३. वही; वही ; पृ० ४४०।

स्पष्ट किया जा सकेगा। विद्यापति ने प्रकृति को मानवीय भावों के सम पर या विरोध में उपस्थित किया है पर ये वर्णन अभिसार का उद्दीपक वातावरण निर्माण करते हैं। इन चित्रों में अधिकांश में विरोधी भावना लगती है जो रुकावटों के रूप में है और इस सीमा पर प्रकृति उद्दीपन के अन्तर्गत आवेगी। लेकिन यहाँ हृदय के उद्वेग और उसकी विह्वलता को लेकर प्रकृति का वातावरण भी उसीके सम पर चंचल है—

गगने अब घन मेह दारुण सघन दामिनि झलकइ।
कुलिश पातन शब्द झनझन पवन खरतर बलगइ।
सजनि आजु दुरदिन भेल।
कन्त हमरि नितान्त अगुसरि सङ्केत कुञ्जहि गेलि।
तरल जलधर बरिखे झर-झर गरजे घन घनघोर।[1]

इस समस्त योजना में प्रकृति पर प्रतिघटित सम भाव-स्थिति में उद्दाम कामना का रूप झलक जाता । विद्यापति में प्रकृति भी यौवन के उल्लास के साथ उपस्थित होती है—

झलकइ दामिनि रहत समान। झनझन शब्द कुलिश झन झान।
चड़ब मनोरथ सारथि काम। तोरित मिलायब नागर ठाम॥[2]

विरह और संयोग के पक्षों में प्रकृति का उद्दीपन-रूप उपस्थित होता है, साथ ही इनमें बारहमासा और ऋतु-वर्णन की परम्परा भी मिलती है। इनका रूप अधिक स्वतंत्र है, इनमें प्रकृति के संक्षिप्त उल्लेख के साथ भावों की अभिव्यक्ति की गई है। विद्यापति के पदों में साहित्यिक कलात्मकता के साथ प्रकृति के प्रति स्वच्छन्द सहचरण की भावना भी मिलती है। इस पद में वियोगिनी की भावाभिव्यक्ति प्रकृति के प्रति सहज सौहार्द के साथ हुई है—

मोराहि रे अँगना चाँदन केरि गछिआ
ताहि चढ़ि कुरुरल काक रे।
सोने चञ्चु बँधए देब मोरा बाअस
जओ पिया आओत आज रे॥[3]

पद-गीतियों के विभिन्न काव्य-रूप—मध्ययुग में कृष्ण-भक्ति के अन्तर्गत पद-गीतियों का अधिक विकास हुआ है। अनेक कवियों ने पदों में कृष्ण की कथा और लीलाओं का वर्णन किया है। कृष्ण-काव्य के विस्तार में पद-शैली का प्रयोग विभिन्न काव्य-रूपों में हुआ है। पदों का प्रयोग कथा के लिए भी हुआ है, इस कारण इनमें

१. वही; वही ; पृ० २६० ।
२. वही; वही ; पृ० २६२ ।
३. वही; वही ; पृ० ८०२ ।

गीतियों की भावात्मकता के साथ वर्णना को भी विस्तार मिला है। इन पदों में अभ्यन्तरित भावों की अभिव्यक्ति का रूप मिला है, साथ ही इनमें वस्तु और घटना का वर्णनात्मक आधार भी प्रस्तुत हुआ है। पीछे हम देख आए हैं कि भक्तों के लिए भगवान् की लीला-भूमि और विहार-स्थली आदर्श और अलौकिक है। उसमें प्रकृति का रूप भी ऐसा ही चित्रित है। गोकुल, वृन्दावन और यमुना-पुलिन तक कृष्ण-लीला का क्षेत्र सीमित है जिसके आदर्श रूप की ओर आध्यात्मिक प्रसंग में संकेत किया गया है। यही बात तुलसी की 'गीतावली' के चित्रकूट आदि वर्णनों के विषय में सत्य है। वर्णनशैली की दृष्टि से इनमें व्यापक संश्लिष्टता है, कुछ स्थलों में कलात्मक चित्रण भी हैं। लीला से सम्बन्धित स्थलों को प्रमुखता देकर स्वतन्त्र काव्य-रूपों की परम्परा भी चली है। लेकिन कृष्ण-काव्य के अन्तर्गत ही इन रूपों का विकास हुआ है। उसका कारण है कि कृष्ण-भक्ति की साधना में लीला के साथ विभिन्न लीला पदों का विकास हुआ और बाद में इन्हीं के आधार पर काव्य-रूपों की परम्परा चल निकली। लीला की भावना के आकर्षण के कारण इनका प्रयोग राम-भक्तों ने तथा एक सीमा तक संतों ने भी बाद में किया है।

वृन्दावन-वर्णन (क)—भगवान् कृष्ण की लीला-भूमि वृन्दावन है। उसके आदर्श सौन्दर्य तथा उल्लासमयी भावना के विषय में कहा जा चुका है। यह वृन्दावन भगवान् की चिरंतन लीला-स्थली का प्रतीक है। इस कारण भक्तों ने लीला प्रसंग में इसका वर्णन किया है। बाद में वृन्दावन से सम्बन्धित काव्य-रूपों का विकास हुआ।[1] इस काव्य-रूप में वृन्दावन की स्थली के चित्रण के साथ भक्ति की भूमिका के रूप में उसका माहात्म्य भी वर्णित है। लीला-स्थली के रूप में वृन्दावन का चित्रमय और भावमय वर्णन रास और विहार-वर्णनों में ही आया है। इनमें प्रकृति की उल्लासमयी भावना में मानवीय भावों की सम स्थिति है। कृष्णदास भक्त की भावना के सम पर वृन्दावन को इस प्रकार उपस्थित करते हैं—

कुसमित कुंज विविध वृन्दावन चलिए नंद के लाला।
पाडर जाई जुही केतकी चंपक बकुल गुलाला।
कोकिल कीर चकोर मोर खग जमुना तट निकट मराला।
त्रगुण समीर बहत अलि गुंजत नीकी ठौर गोपाला।
सुनि मृदु बचन चले गिरिवरधर कटि तटि किंकन जाला।
नाना केलि करत सखियन संग चंचल नैन बिसाला।[2]

१. वृन्दावन से सम्बन्धित काव्य—वृन्दावन-शतक: भागवतमुनि ; वृन्दावन-शतक: रसिक प्रीतम ; वृन्दावन-शतक: भ्रुवदास : और मुक्तकों की शैली में वृन्दावन प्रकाशमाल: चन्द्रलाल।

२. पुष्टिमार्गीय पद-संग्रह: पृ० १८, प० ५२।

इस पद में क्रीड़ा की पृष्ठ-भूमि में वृन्दावन पर भक्त रूप गोपियों की मन:स्थिति की प्रतिछाया पड़ रही है। आगे के स्वतन्त्र रूपों में लीलामयी भावमयता के स्थान पर उसका महत्व और माहात्म्य ही बढ़ता गया है। कहीं-कहीं भावों का प्रतिबिम्ब आ जाता है—'वृन्दावन की शोभा देखकर नेत्र प्रसन्न हो गए। रवि-शशि आदि समस्त प्रकाशवान् नक्षत्रों को उसपर न्यौछावर कर दें। जिसमें लता-लता कल्पतरु है, जो एक रस रहती हैं और जहाँ यमुना तट छलकता है। उसमें आनन्द समूह बरसता है; सुगन्ध और पराग रस में लुब्ध भ्रमर मधुर गुंजार करते हैं।'[1] पर आगे वृन्दावन के प्रसंगों में माहात्म्य कथन है—

केलि कल जोहत विमोहत सु ह्वै है कब
वृन्दकुंज पुंज भ्रमर अमोवका।
आनंद में झूम घूम बसौंगो बिलास भूमि
आरत कौं तूमि जैसें सुख पावै होव का।[2]

यही काव्य-रूप कवित्त-सवैया में रीति-परम्परा से प्रभावित होकर अधिक वैचित्र्य-युक्त होता गया है। भक्ति-भावना से आरम्भ होने वाली काव्य-परम्परा को रीति-काल के कवियों ने इस प्रकार अपना लिया है—

कुंज माँह द्वै घाट हैं सीतल सुखद सुढार,
तहाँ अनूठी रीति सौं झूमि झुकी द्रुम डार।
वह डारी प्यारी लगे जल मैं झलकै पात,
वा सोभा को देखि कै पेड़ चल्यो नहिं जात।[3]

रास और विहार (ख)—कृष्ण-काव्य के अन्तर्गत लीला और विहार को लेकर एक अन्य काव्य-रूप की परम्परा चली है। इस परम्परा में दो प्रकार के काव्य-रूप पाए जाते हैं। एक में विहार की व्यापक-भावना को लेकर चला गया है और दूसरे में विशेष रूप से रास-लीला प्रसंग लिया गया है। परन्तु इन दोनों में प्रकृति का प्रयोग समान रूप से हुआ है।[4] इनमें पृष्ठ-भूमि के रूप में लीला की उल्लासमयी भावना को

१. वृन्दाबन शतक: ध्रुवदास ; १२, १४, १६।

२. वृन्दा०; भागवत मुदित।

३. वृन्दा०; चन्द्रलाल।

४. विहार-वर्णन की परम्परा में अनेक काव्य-ग्रन्थ हैं। सूर और नन्ददास के पदों में अनेक प्रसंग हैं; गदाधर की वानी : रहसि मंजरी ; ध्रुवदास : जुगुल-सतक ; श्री भट्ट : श्री हरिदास के पद ; श्री किशोरीदास के पद : रंगभार; सुन्दर कुमारी : विहार-वाटिका ; नागरीदास : अनुराग बाग ; दीनदयाल गिरि : सुख-मंजरी ; रतिमंजरी ; ध्रुवदास : सुख-उल्लास ; वल्लभ रसिक : केलिमाला; हरिदास स्वामी : महावानी ; हरि व्यास देव : राधारमण रस सागर ; मनोहरदास : रसिकलता ; अनन्दलता ; हुलासलता

प्रतिबिम्बित करती हुई प्रकृति उपस्थित हुई है; साथ ही इनमें आदर्श-भावना भी सन्निहित है। नन्ददास रास की स्थली को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—'देवताओं में रमारमण नारायण प्रभु जिस प्रकार हैं उसी प्रकार वनों में वृन्दावन सुन्दर सर्वदा सुशोभित है। वहाँ जितने वृक्षों की जातियाँ हैं सभी कल्पद्रुम के समान हैं; चिन्तामणि के समान भूमि है।'''सभी वृक्ष आकांक्षित फल को देने वाले हैं; उनके बीच एक कल्पतरु लगा हुआ है उसका प्रकाश जगमगा रहा है; पत्र-फल-फूल सभी तो हीरा, मणि और मोती हैं।''''और उस कल्पतरु के बीच में एक और भी अद्भुत छवि सुशोभित है—उसकी शाखाओं, फल-फूलों में हरि का प्रतिबिम्ब है। उसके नीचे स्वर्णमयी मणि-भूमि मन को मोहती है। उसमें सबका प्रतिबिम्ब ऐसा लगता है मानों दूसरा बन ही हो। पृथ्वी और जल में उत्पन्न होनेवाले फूल सुन्दर सुशोभित हैं; बहुत-से भ्रमर उड़ते हैं जिनसे पराग उड़-उड़कर पड़ता है और छवि कहते नहीं बनती। प्रेम में उमंगित यमुना तटों पर ही अत्यधिक गहरी प्रवाहित है और उमंग कर अपनी लहरों से मणि-मंडित भूमि का स्पर्श कर रही है।'[1] इस चित्र में भगवान् की लीला-स्थली होने के कारण प्रकृति का आदर्श रूप है जिसका उल्लेख साधना के प्रसंग में विस्तार से किया गया है। परन्तु इसकी कलात्मक वर्णना शैली का उल्लेख करना आवश्यक है, साथ ही भावात्मक पृष्ठ-भूमि की व्यंजना भी इसमें सन्निहित है। यह लीला का विशेष अवसर है, पर अन्य लीला प्रसंगों में भी इस प्रकार के चित्र आए हैं। गदाधर भट्ट लीला की पृष्ठ-भूमि कालिन्दी-पुलिन को इस प्रकार उपस्थित करते हैं—

कालिन्दी जहँ नदी नील निर्मल जल भ्राजै।
परम तत्त्व बेदांत बेद्य नव रूप बिराजै।
रक्तपीत सित असित लसित बन सोभा।
टोल टोल मद लोल भ्रमत मधुकर मधुलोभा।
सारस अरु कलहंस कोक कोलाहल कारी।
अगनित लक्षन पक्षि जाति कहतहिं नहिं हारी।

आदि; रसिकदास (देव): नित्य-बिहार जुगुल ध्यान; रूपलाल गोस्वामी: नित्य-बिहार जुगुल ध्यान; आनन्दरसिक: चौरासी पद; हित हरिवंश। इन लीलाओं के अतिरिक्त रास सम्बन्धी काव्यों में सूर का सूरसागर और नन्ददास के पद तथा 'रास पंचाध्यायी': रस-विलास; पीताम्बर: रास पंचाध्यायी; रास विलास; रास-लीला; दमोदरदास: रासबिहार लीला; ध्रुवदास: रासपंचाध्यायी; रामकृष्ण चौबे: पंचाध्यायी; सुन्दर सिन्हा।

१. रासपंचाध्यायी; नन्ददास: प्र० अध्या०। यह काव्य प्रबन्धात्मक है, परन्तु लीला के अन्तर्गत होने से यहाँ इसका उल्लेख किया गया है। यह रोला छन्द में लोक-गीतियों से सम्बन्धित है और इसमें संगीतात्मक प्रवाह भी है।

पुलिन पवित्र विचित्र रंजित नाना मनि मोती।
लज्जित हैं ससि सूर निसि बासर होती।[1]

इस विहार की आधार-भूमि के आदर्श-चित्रण में आनन्द व्यंजना निहित है जो स्थिति के अनुकूल है। यह उल्लास की भावना परिस्थिति के सम पर प्रकृति के क्रिया-कलापों से और भी प्रतिघटित जान पड़ती है—'विहार की लीला-स्थली में कुंज-कुंज इस प्रकार बने हैं मानों मस्त हाथी हों, पवन के संचरण से लताएँ तुरंग के समान नृत्य कर उठती हैं; अनेक फूल पुष्पित हो गए हैं; मानो बृन्दावन ने अनेक रंग के वस्त्र धारण किए हैं।'[2] इस चित्र में कलात्मकता के साथ भाव-व्यंजना है जो आरोप के आश्रय पर हुई है। रास के अवसर पर नन्ददास ने प्रकृति को भावोल्लास में प्रस्तुत किया है। इस लीला-भूमि में परिस्थिति के उपयुक्त आनन्दोल्लास को प्रकृति ध्वनित करती है—

छवि सौं फूले अबर फूल, अस लगति लुनाई।
मनहुँ सरद की छपा छबीली, बिहसति आई।
ताही छिन उडुगन उदित, रस रास सहायक।
कुंकुम-मंडित प्रिया-बदन, जनु नागर नायक।
कोमल किरन-अरुनिमा, बन में ब्यापि रही यों।
मनसिज खेल्यो फाग, घुमड़ि घुरि रह्यो गुलाल ज्यों।
मंद-मंद चाल चारु चन्द्रमा, अस छबि पाई।
उझकत है जनु रमारमन, पिय-कौतुक आई।[3]

इस चित्र की शैली कलात्मक और भाव-व्यंजक है। श्रीमद्‌भागवत के रास-प्रसंग के अनुकरण पर होकर भी इस योजना में गति के साथ अपना सौन्दर्य है। यह प्रकृति का वातावरण अपने सौन्दर्य के साथ उस रास के महान् अवसर का संकेत भी देता है जो भक्तों के भगवान् की चिरंतन लीला का एक भाग है।

सहचरण की भावना—रास और विहार प्रसंग के अन्तर्गत प्रकृति के प्रति साहचर्य-भावना का रूप भी मिलता है। इसका इस दिव्य प्रसंग में विशेष अवसर नहीं है। रास के अवसर पर भक्तों के अहंकार को दूर करने के लिए क्षणिक वियोग की कल्पना की गई है। इस स्थिति में मानवीय सहज भाव-स्थिति में गोपियाँ कृष्ण का पता वृक्षों आदि से पूछती फिरती हैं—'हे मंदार, तुम तो महान् उदार हो! और हे करवीर, तुम तो वीर हो और बुद्धिमान् भी हो! क्या तुमने मनहरण धीरगति

१. बानी; गदाधर भट्ट; पद ३, ४।
२. बनविहार लीला; ध्रुवदास; १३, १४।
३. रास पं०; नन्द; प्र० अध्या०।

कृष्ण को कहीं देखा है। हे कदंब, हे आम और नीम, तुम सबने मौन क्यों धारण कर रखा है। बोलते क्यों नहीं। हे बट, तुम तो सुन्दर और विशाल हो। तुम ही इधर-उधर देखकर बताओ।'[१] यह प्रसंग 'भागवत' के आधार पर उपस्थित किया गया है। परन्तु नन्ददास में यह स्थल संक्षिप्त है साथ ही अधिक स्वाभाविक है। हम देख चुके हैं कि सहानुभूति के वातावरण में प्रकृति के प्रति सहचरण भावना में उससे निकट का सम्बन्ध स्थापित करना लोक-गीतियों की प्रवृत्ति है। काव्य में प्रकृति के प्रति हमारी सहानुभूति उससे सहज सम्बन्ध उपस्थित करती है और यह भावना काव्य में लोक-गीतियों से ग्रहण की गई है। भक्तों के पदों में इसके लिए अधिक स्थान नहीं रहा है। फिर भी साधक के मन का कवि प्रकृति के इस सम्बन्ध के प्रति आकर्षित अवश्य हुआ है। सूर इसी विरह-प्रसंग के अवसर पर गोपियों की मनःस्थिति को प्रकृति के निकट सहज रूप से संवेदनशील पाते हैं। गोपियाँ वियोग-वेदना में प्रकृति को अपनी सहचरी मानकर जैसे पूछती हैं—'हे बन की बल्लरी, कहीं तुमने नन्दनन्दन को देखा है। हे मालती, मैं पूछती हूँ क्या तूने उस शरीर के चंदन की सुगन्ध पाई है ......मृग-मृगी, द्रुम-बेलि, वन के सारस और पक्षियों में किसीने भी तो नहीं बताया।.......अच्छा तुलसी तुम्हीं बताओ, तुम तो सब जानती हो, वह घनश्याम कहाँ है? हे मृगी, तू ही दया करके मुझसे कह......हे हंस तुम्हीं फिर बताओ।'[२] यह प्रसंग जैसा कहा गया है 'भागवत' के अनुसरण पर है; परन्तु सूर ने इसको सहज वातावरण प्रदान किया है जो पदों की भावात्मकता से एक रस हो जाता है। यहाँ गोपियों का बार-बार उपालम्भ देना—

मृग मृगिनी द्रुम बन सारस खग काहू नहीं बतायो री।

स्थिति को अधिक सहज रूप से सामने रखता है, और 'गोद पसार' कर प्रकृति के रूपों रूपों 'मया' की याचना करना अधिक स्वाभाविक भाव-स्थिति उत्पन्न कर देता है।

अन्य प्रसंगों में प्रकृति-साहचर्य—रास तथा विहार आदि प्रसंगों के अन्य प्रकृति-रूपों की विवेचना या तो आध्यात्मिक साधना के अन्तर्गत की जा चुकी है या उद्दीपन-विभाव के साथ की जायगी। परन्तु यहाँ इन पद-गीतियों के समस्त विस्तार में प्रकृति के प्रति साहचर्य भावना का जो स्वच्छन्द रूप मिलता है उसका उल्लेख कर देना आवश्यक है। अभी रास के प्रसंग में इसका उल्लेख किया भी गया है। रास और विहार संयोग के अन्तर्गत है। परन्तु प्रकृति के प्रति हमारी सहानुभूति उत्सुक वियोग के क्षणों में उससे अधिक निकट का सम्बन्ध स्थापित करती है। गोपियों के

---

१. वहीः वहीः द्वि० अध्या०।

२. सूरसा०ः दश०, पद १८०८।

विरह-प्रसंग में प्रकृति उद्दीपन के रूप में प्रस्तुत हुई है, परन्तु उसी प्रसंग में गोपियाँ अधिक संवेदनशील होकर उससे निकटता का अनुभव करती हैं। इस क्षेत्र में सूर की संवेदना गोपियों के माध्यम से अधिक व्यक्त तथा सहज हो सकी है। सूर की गोपियाँ प्रकृति को भी अपनी व्यथा में भावमग्न पाती हैं। उनके सामने यमुना उनके समान विरह-व्यथा से व्याकुल प्रवाहित है और इस माध्यम से वे अपनी मन:स्थिति का प्रतिबिम्ब प्रकृति पर छाया देखती हैं—

> देखिग्रति कालिंदी अतिकारी।
> ग्रहो पथिक कहियौ उन हरि सों भई विरह ज्वर जारी।
> मनु पर्यंक ते परी धरणि धुकि तरंग तलफ नित भारी।
> तट बारु उपचार चूर जल परी प्रसेद पनारी।
> बिगलित कच कुच कास पुलिन पर पंकजु काजल सारी।
> मन में भ्रमर ते भ्रमत फिरत है दिशि बिशि दीन दुखारी।
> निशि दिन चकई बादि बकत है प्रेम मनोहर हारी।
> सूरदास प्रभु जोई यमुन गति सोइ गति भई हमारी।[1]

इस प्रकृति-रूप में गोपी की भावना का तादात्म्य स्थापित हुआ है। इसमें बाह्य आरोपों का आधार लिया गया है और यह भारतीय काव्य की अपनी प्रवृत्ति है। इस ओर संकेत किया जा चुका है कि भारतीय साहित्य में भाव-व्यंजना को बाह्य अनुभावों के आधार पर व्यक्त करने की प्रवृत्ति रही है। इस कारण कवि की भावना को इसी आधार पर अधिक उचित रूप से समझा जा सकता है। अन्यथा कवि के प्रति अन्याय होना सम्भव है, जैसा कि कुछ आलोचकों ने किया भी है। इसी प्रकार का सहानुभूति पूर्ण वातावरण सूर बादल को लेकर उपस्थित करते हैं। गोपियाँ उसके प्रति अपना सौहार्द्र स्थापित करती हुई परदेशी कृष्ण को उपालम्भ देती हैं और इस स्थिति में जैसे वे अपनी सहानुभूति को निकट सम्बन्ध में पाती हैं—'ये बादल भी बरसने के लिए आ गए, हे नंदनन्दन, देखो तो सही! ये अपनी अवधि को समझ कर ही आकाश में गरज घुमड़ कर छा गए हैं। हे सखि, कहते हैं ये तो देवलोक के वासी हैं और फिर दूसरे के सेवक भी हैं। फिर भी ये चातक और पपीहा की व्यथा को समझकर उतनी दूर से धाये हैं और देखो इन्होंने तृणों को हरा कर दिया है। लताओं को हर्षित कर दिया है और मृतक दादुरों को जीवन दान किया है। सघन नीड़ में पक्षियों को सिंचित करके उनका मन भी प्रसन्न कर दिया है। हे सखी, अपनी चूक तो कुछ जान पड़ती नहीं, हरि ने बहुत दिन लगा दिये। रसिक-शिरोमणि ने तो मधुवन में बसकर हमें भुला

---

१. वही; वही; पद ३७२८।

ही दिया।"[1] इस वर्षा के सुन्दर चित्र में, बादलों के प्रति ही नहीं, वरन् समस्त प्रकृति के प्रति गोपियों की भावप्रवणता प्रत्यक्ष हो उठी है। इसमें भारतीय जीवन के साथ वर्षा का सम्बन्ध भी व्यक्त हुआ है। यद्यपि यह स्थल सूर में अकेला है, परन्तु सूर की व्यापक सहानुभूति का साक्षी है। इस चित्र में उद्दीपन की भावना बिलकुल नहीं, इसमें प्रकृति सहज तथा सहानुभूतिपूर्ण वातावरण को उपस्थित करती है।

उपालंभ की भावना (क)—इसीसे सम्बन्धित प्रकृति के प्रति उपालंभ की भावना का रूप आता है। उपालंभ की भावना में स्नेह की एक गम्भीर व्यंजना ही छिपी रहती है। भ्रमर-गीत में प्रकृति के प्रति यह भावना अनेक प्रकार से व्यक्त हुई है। परन्तु इस प्रकार का रूप विरह के प्रसंग में अन्यत्र भी आया है। सूर की गोपियाँ मधुवन को उपालंभ देती हैं—

मधुवन तुम कित रहत हरे।
विरह वियोग श्याम सुंदर के ठाड़े क्यों न जरे।
तुम हौ निलज लाज नहि तुम कह फिर शिर पुहुप धरे।
शशा सियार अरु बनके पखेरू धिक धिक सबन करे।
कौन काज ठाड़े रहे बन में काहे न उकठि परे।[2]

गोपियों के इस उपालंभ में मधुवन के प्रति जो आत्मीयता की भावना है वह व्यापक सहानुभूति के वातावरण में ही सम्भव है। परन्तु इस प्रकार की भावना भ्रमर-गीत के प्रसंग में व्याजोक्ति और व्यंगोक्ति के आधार पर व्यक्त हुई है। इस प्रसंग की उपालंभ की भावना कृष्ण के प्रति मधुकर के व्याज से दी गई है।[3] गोपियाँ कृष्ण के प्रति अपने प्रेम की अटूट लगन को उपालंभ के माध्यम से व्यक्त करती हैं—

---

१. वही; वही; पद २८२२ यह अत्यंत भाव-व्यंजक पद है—

"बरु ये बदराऊ बरसन आए।
अपनी अवधि जानि नँदनंदन गरजि गगन घन छाए।
कहियत है सुरलोक बसत सखि सेवक सदा पराए।
चातक पिक की पीर जानि कै तेउ तहाँ ते धाए।
तृण किए हरित हरषि बेली मिलि दादुर मृतक जिवाए।
साजे निबिड़ नीड़ तन सिंचि सजि पंछिनहू मन भाए।
समुझत नहीं चूक सखि अपनी बहुतै दिन हरि लाए।
सूरदास प्रभु रसिक शिरोमणि मधुबन बसि बिसराए।"

२. वही; वही; पद २७४१।

३. इस भ्रमर-गीत सम्बन्धी व्याजोक्ति के विषय में 'कृष्ण-काव्य में भ्रमर-गीत' के 'आमुख' में लेखक का मत अधिक स्पष्ट हो सका है।

रहु रहु मधुकर मधु मतवार।
कौन काज या निर्गुण सों चिर जीवहु कान्ह हमारे।
लोटत पीत पराग कीच में नीच न अंग सम्हारे॥
बारंबार सरक मदिरा की अपसर रटत उघारे।
द्रुम-बेली हमहूं जानत हौ जिनके हौ अलि प्यारे॥[1]

इस भाव-स्थिति में प्रेम, ईर्ष्या, विश्वास का सम्मिलित भाव उपालंभ के रूप में व्यंजित हुआ है। आगे उपालंभ में व्यथा और व्याकुलता प्रकृति के माध्यम से अधिक व्यक्त हुई है—'यह मधुकर भी किसी का मीत हुआ है? चार दिन के प्रेम व्यवहार में रस लेकर अन्यत्र चला जाता है। केवल मालती से मुग्ध होकर अन्य समस्त पुष्पों को छोड़ देता है। कमल क्षणिक वियोग में भी व्याकुल हो जाता है और केतकी कितनी व्यथित हो उठती है।' इसमें गोपियों ने अपनी मनःस्थिति में प्रकृति के साथ स्थान-स्थान पर अपने को भी मिला दिया है—

छांड़न नेहु नांहि मैं जान्यो लै गुण प्रगट नए।
नूतन कदम तमाल बकुल बट परसत जनम गए।
भुज भरि मिलनि उड़त उदास ह्वै गत स्वारथ समए।
भटकत फिरत पातद्रुम बेलिन कुसुम करअ भए॥
सूर विमुख पद अंबुज छांड़े विषय निमिष बर छए।[2]

अपनी आत्मविस्मृति स्थित में गोपियां पुष्पों के साथ प्रत्यक्ष रूप से अपनी बात भी कहने लगती हैं। इस प्रसंग में एक स्थल पर गोपियों ने अपने मन की झुंझलाहट को इसी प्रकार व्यक्त किया है—

मधुकर कहा कारे की जाति
ज्यों जल मीन कमल मधुपन को छिन नहिं प्रीति खटाति।
कोकिल कपट कुटिल बायस छलि फिरि नहिं वह बन जाति।[3]

इन उदाहरणों में जो प्रतारण का आरोप किया गया है वह भी सहज निकटता को ही व्यंजित करता है। वह समस्त आक्रोश और उपालंभ इसी भाव को लेकर चला है।

अन्यत्र (ख)—इस प्रकार के प्रकृति-रूप अन्य कवियों में नहीं मिलते। इन स्थलों पर प्रकृति का केवल उद्दीपन रूप सामने आ सका है। कदाचित् सूर के अनुकरण पर तुलसी ने 'गीतावली' में राम के घोड़ों के माध्यम से कौशल्या की व्यथा को व्यक्त किया है। कौशल्या कहती हैं—

१. सूरसा०; दश०; पद २६६०।
२. वहीं; वहीं; पद २६६२।
३. वहीं; वहीं; पद ३०६८।

आली ! हौं इन्हि बुझावौं कैसे ?
लेत हिये भरि पति को हित मातु हेत सुत जैसे।
बार बार हिनहिनात हेरि उत, जो बोलै कोउ द्वारे।
अंग लगाइ लिए बारे तें, करुनामय सुत प्यारे।
लोचन सजल सदा सोवत से, खान-पान बिसराए।
चितवत चौंकि नाम सुनि, सोचत राम सुरति उर लाए।[1]

परन्तु इस अनुकरण में भी तुलसी की व्यंजना अत्यन्त भावपूर्ण और चित्रमय है। इसमें पशुओं की मानव के साथ सहानुभूति को व्यक्त किया गया है और साथ ही उनके अनुभावों का सजीव चित्रण भी हुआ है। घोड़े आदि पशु मानवीय सम्पर्क में वियोग का अनुभव करते देखे जाते हैं; यह प्रतिदिन के जीवन का सत्य है जिसके माध्यम से कवि ने भाव-तादात्म्य स्थापित किया है।

ऋतु सम्बन्धी काव्य-रूप—भक्त कवियों के पदों में वियोग और संयोग के साथ लोक-प्रचलित ऋतु के परिवर्तित दृश्यों का आश्रय भी लिया गया है। हम कह चुके हैं कि संस्कृत काव्य में ऋतुओं का वर्णन रूढ़िगत हो चुका था। भक्त कवियों ने इस परम्परा के साथ लोक-गीतियों के उन्मुक्त वातावरण का भी आश्रय लिया है। इनकी प्रमुख प्रवृत्ति प्रकृति-रूपों को उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत लेने की रही है। पद-गीतियों में इनको अलग काव्य-रूप भी नहीं मिला है, अन्य वर्णनों के अन्तर्गत ही सम्मिलित किए गए हैं। आगे चलकर रीति-कालीन परम्परा में इन वर्णनों ने एक निश्चित रूप ग्रहण किया है। इन वर्णनों में ऋतुओं तथा मासों का क्रम भी स्थापित नहीं हुआ है और जो ऋतु अथवा मास अधिक प्रभावशील है उसीको प्रमुख रूप से ग्रहण किया गया है। इन ऋतुओं में पावस और वसंत की प्रमुखता है। सूर तथा अन्य कवियों ने इन्हींका वर्णन किया है। इस काल में ऋतु-वर्णन की परम्परा मिलती है, नन्ददास ने 'विरह-मंजरी' में बारह मासों का वर्णन किया है। परन्तु यह साहित्यिक परम्परा पद-गीतियों की उन्मुक्त भावना के आधार पर नहीं चली है।

अन्य रूप (क)—इन दोनों से सम्बन्धित भक्ति पद-साहित्य में अन्य काव्य-रूप भी विकसित हुए हैं। इनमें पावस से सम्बन्धित झूला या हिंडोला; और वसंत से सम्बन्धित वसंत, फाग तथा होली के काव्य-रूप हैं। इनका प्रकृति से अधिक सम्बन्ध नहीं है; इनमें लोक-भावना का उल्लसित रूप सन्निहित है जो प्रकृति के उद्दीपन विभाव में मानवीय भावना से अधिक सम्पर्क रखता है। इन वर्णनों में प्रकृति का रूप उद्दीपन की प्रेरणा के अर्थ में या उल्लेखों में आया है या परोक्ष में ही रहता है। साहित्यिक

१. गीता०; तुलसी ; अयो० पद ८६; पद ८७ में भी इसी भाव को दूसरे प्रकार से व्यक्त किया गया है।

परम्परा के ऋतु-वर्णनों में भी केवल मानवीय क्रिया-कलाप, हास-उल्लास, अथवा-विलाप सामने आता है। परन्तु पावस से सम्बन्धित हिंडोला तथा झूला में वातावरण कुछ अधिक स्वतन्त्र है। इनमें उल्लास की भावना लोक-जीवन की उल्लास भावना से अधिक सम्बन्धित है। इनके द्वारा प्रस्तुत आध्यात्मिक वातावरण की ओर संकेत किया गया है। आगे चलकर मुक्तकों की रीति-परम्परा में इन रूपों का विकास नहीं हुआ है। इसका कारण है। ऋतु-वर्णन और बारहमासा के काव्य-रूपों में इनको मिला लिया गया है; और उल्लास के स्थान पर क्रिया-कलापों की योजना अधिक होती गई है। इस सीमा पर भक्त कवियों और रीति कवियों में अन्तर है। इन ऋतु सम्बन्धी उत्सवों में भक्त कवियों ने मानवीय भावों को प्रकृति में प्रतिघटित किया है; प्रकृति पर मानवीय उल्लास प्रतिबिम्बित है। इसके विपरीत रीति-काव्यों में प्रकृति के संकेतों के आधार पर मानवीय उद्दीप्त भावस्थिति के अनुभावों को प्रमुखता दी गई है। कभी-कभी भक्त कवि प्रकृति का रूप उपस्थित करके उल्लासमयी भावना का संकेत अप्रत्यक्ष रूप से ही देता है—

ब्रज पर श्याम घटा जुर आई।
तेसोये दामिनि चुहु दिसि कौंधत लेत तुरंग सुहाई।
सघन छाय कोकिला कूजत चलत पवन सुखदाई।
गुंजत अलिगरण सघन कुंज में सौरभ की अधिकाई।
बिकसत श्वेत पांत बगलन की जलधर शीतलताई।
नव नागर गिरिधरन छबीलो कृष्णदास बलि जाई॥[1]

कृष्णदास ने इसमें संश्लिष्टता के आधार पर भाव-व्यंजना की है; यहाँ प्रकृति और मानवीय भावों में प्रत्यक्ष समानान्तरता नहीं प्रस्तुत की गई है। परन्तु इन भक्त कवियों की प्रमुख प्रवृत्ति प्रकृति की उल्लसित क्रीड़ाशीलता के समक्ष मानवीय भावना के उल्लास को रखने की चेष्टा की है। परमानन्द दास कहते हैं—'बादल पानी भरने को चले हैं, चारों ओर से घिरती श्याम घटा को देखकर सभी को उल्लास हुआ। दादुर, मोर और कोकिला कोलाहल करते हैं। बादलों की श्याम छवि में इन्द्र-धनुष और बकों की पंक्ति की शोभा अधिक सुखकर है। घनश्याम अपनी मंडली के साथ कदम्ब वृक्ष के नीचे हैं। वेणु बजती है और अमृत तुल्य स्वर में मृदंग तथा आकाश के बादल साथ गरजते हैं। मन भाई ऋतु आई और सभी जीव क्रीड़ामग्न हैं।'[2] इस चित्रण में वर्षा का दृश्य स्वाभाविक है और मानवीय उल्लास के सम पर उपस्थित

१. कीर्तन संग्रह: कृष्णदास।
२. कीर्त०: परमानंददास—'बादुर भरन चले हैं पानी।'

हुआ है। भक्त कवियों ने साहित्यिक परम्परा का पालन किया है, पर उनके सामने दृश्यों के स्वाभाविक रूपों की कल्पना भी रही है। सूर इन्द्र-रोष के प्रसंग में मेघों का वर्णन सहज ढंग पर करते हैं—

गरज गरज घन घेरत आवैं, तरक-तरक चपला चमकावैं।
नर नारी सब देखत ठाढ़े, ये बदरा परलोक के काढ़े।
हरहरात घहरात प्रबल अति, गोपी ग्वाल भए औरे गति।[1]

इसी प्रकार प्रभाती के प्रसंग में गोपाल कृष्ण को जगाते हुए कवियों ने प्रातःकाल का चित्र व्यापक रेखाओं में उपस्थित किया है। इन चित्रों को साधारण चित्रण शैली का माना जा सकता है। सूर गोपाल लाल को जगा रहे हैं—'गोपाल जागिए, ग्वाल द्वार पर खड़े हैं.......रात्रि का अन्धकार तो मिट चुका है; चन्द्रमा मलीन हो चुका है; सूर्य किरण के प्रवाह में तारा-समूह अदृश्य हो चुका है। कमलों का समूह पुष्पित हो गया है; पुष्प वृन्दों पर भ्रमर समूह गुंजार रहा है और कुमुदिनी मलीन हो चुकी है।'[2] नन्ददास भी इसी प्रकार दृश्यों का आधार लेते हुए प्रभाती गा रहे हैं—'चकई की वाणी सुनकर चिड़िया चुहचुहाने लगी; यशोदा कहती हैं मेरे लाल जागो। रवि किरण के प्रवाह को समझकर कुमुदिनी संकुचित हो गई, कमलिनी विकसित हो गई; और गोपियां दधि मथ रही हैं।' वस्तुतः प्रभाती आदि का रूप साम्प्रदायिक विधानों में भगवान् के दिनचर्या के लीला सम्बन्धी पदों के आधार पर चला है। पहले कवियों ने कुछ अपने निरीक्षण तथा अधिकांश में साहित्यिक परम्पराओं से प्रकृति का आधार प्रस्तुत भी किया है; परन्तु बाद में इन लीलाओं के साथ शृंगार और क्रियाओं का उल्लेख ही बढ़ता गया। लीला प्रसंग में गोचारण लीला में एक सीमा तक पशु-चारण काव्य की भावना मिलती है। पर यह प्रसंग अत्यन्त संक्षेप में लिया गया है, और अधिकतर उसमें रूप आदि का वर्णन है। परन्तु गायों के प्रति सहानुभूति का वातावरण और ग्वाल-बालों की क्रीड़ाशीलता तथा उनका उल्लास इस प्रसंग की विशेषता है। इस प्रसंग में ग्वाल-जीवन का सहज चित्र है—

चरावत बृन्दाबन हरि गाई।
क्रीड़ा करत जहाँ तहाँ सब मिलि आनन्द बढ़इ बढ़ाइ॥
बगरि गईं गैयाँ बनवीथिनि देखी अति बहुताइ।
कोउ गए ग्वाल गाइ बन घेरन कोउ गए बछरू लिवाइ॥

१. सूरसा०; दश०, पद ६६०, इस प्रसंग में अनेक पद इसी प्रकार के हैं।
२. कीर्त०; नंददास।

बंसीबट शीतल यमुनातट अतिहि परम सुखदाइ :
सूरश्याम तब बैठि बिचारत सखा कहाँ बिरमाइ ॥[1]

चरा कर लौटते समय ग्वालों का तथा गायों का उल्लास तथा व्यग्रता भी कुछ स्थलों पर व्यक्त हुई है। परन्तु लीला की भावना के कारण इस परम्परा का रूप पशु-चारण-काव्य के उन्मुक्त वातावरण में विकसित नहीं हो सका।

मुक्तक काव्य परम्परा

मुक्तकों की शैली—गीतियों की पद शैली और मुक्तकों की कवित्त-सवैया शैली में समानता है और भेद भी है। दोनों में एक ही प्रसंग, एक ही स्थिति और एक भाव-स्थिति पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। एक पद में जिस प्रकार भावों की एक स्थिति को अथवा चित्र के एक रूप छायातप को प्रमुखता दी जाती है उसी प्रकार मुक्तक छंद में भाव या स्थिति के एक पक्ष को प्रस्तुत किया गया है। परन्तु पद में व्यंजना भावों का आधार अधिक ग्रहण करती है, उसमें चित्र भावों की तूलिका से रूपमय किए गए हैं। उसमें अलंकार का प्रयोग किया गया है परन्तु भाव को अधिक व्यक्त करने के लिए। जहाँ पदों में अलंकार प्रमुख हो जायेगा; उक्ति ही उसका उद्देश्य हो जायेगा, पद अपनी गीति-भावना से हट जायेगा। पद गीति की सीमा में भावात्मक होकर ही है, उसमें रूप का आधार भाव का आलम्बन है। परन्तु मुक्तक छन्द अपने प्रवाह में कलात्मक होता है, वह कु र रुक-रुक ठहरकर चलता है। ऐसी स्थिति में उसमें भावों को चित्रमय, कलामय करने की अधिक प्रवृत्ति होती है। हिन्दी मध्ययुग के मुक्तक काव्य में यह प्रवृत्ति बढ़कर ऊहात्मक कथन की सीमा तक पहुँच गई है। फिर पद में भावों के केन्द्र बिन्दु से आरम्भ करके समस्त भावधारा को उसीके चारों ओर प्रगुम्फित कर देते हैं; जबकि मुक्तक छन्द में किसी प्रसंग, किसी घटना या भाव-स्थिति को कलात्मक ढंग से प्रारम्भ करके, अन्त में उसीके चरम क्षण में छोड़ देते हैं। मुक्तक छन्दों की इस गठन में उसके अलंकृत और चमत्कृत प्रयोग का इतिहास छिपा है। मुक्तक छन्दों में कवित्त और सवैया के साथ बरवै तथा दोहा भी स्वीकृत रहे हैं, वरन् इनका प्रयोग पूर्व का है। इन दोनों छन्दों का प्रयोग काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों में हुआ है या उपदेश आदि के लिए। कवित्त और सवैया का प्रयोग मुक्तकों के रूप में भक्ति-काल के तथा रीति-काल के स्वतंत्र कवियों के द्वारा किया गया है। ये कवि एक ओर भक्ति-काव्य के प्रभाव में हैं और उसकी परम्परा से प्रेरणा ग्रहण करते हैं, दूसरी ओर रीति-कालीन साहित्यिक रूढ़ियों से भी प्रभावित हैं। परम्परा के अनुसरण से इनमें चमत्कार की आलंकारिक भावना अधिक बढ़ती गई है

१. सूरसा० : दश: पद ५२२

वातावरण और सम्बन्ध—जिन कवियों ने भक्ति-भावना को मुक्तकों में व्यक्त किया है उनमें भी प्रकृति का उद्दीपन-रूप अधिक है। परन्तु इनमें कुछ चित्र ऐसे अवश्य हैं जिनमें प्रकृति के रूप की प्रमुखता है। इन रूपों में वियोग आदि की भाव-स्थिति अन्तर्निहित रहती है। ठाकुर कवि पावस की उमड़ती घटाओं के साथ वेदना को भी व्यक्त कर देते हैं—

सननात अँध्यारी छटा छननात घटा घनकी अरी घेरती सी।
झनझात झिल्ली सुरसोर महा बरही फिरैं मेघन टेरती सी॥
कबि ठाकुर वे पिय दूर बसें तन मन मरोर मरोरती सी।
यह पीर न पावति आवति है फिर पापिनी पावस फेरती सी।[1]

इस वर्णन में पावस की उमड़ती घटा के सम पर व्यथा की व्यंजना की गई है। ठाकुर के दूसरे प्रकृति वर्णन में भावात्मक व्यंजना को अनुभावों के रूप में दृश्य के समक्ष रखने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती। बादल की उमड़न तथा दामिनि की चमक के साथ पिकी की पुकार और रिमझिम वर्षा स्वतः ही—'रटैं प्यारी परदेश पापी प्रान तरसतु हैं' के द्वारा समस्त भाव-व्यंजना को प्रस्तुत कर देती है।[2] चित्रण शैली की दृष्टि से इन समस्त वर्णनों में उल्लेखात्मक तथा व्यापक संश्लिष्ट योजना मात्र है। इन कवियों की उन्मुक्त प्रेम-भावना में मानवीय सम्बन्ध ही प्रधान है, इसलिए प्रकृति को विशेष स्थान नहीं मिल सका है। कहीं किसी स्थल पर ही सहानुभूति पूर्ण सम्बन्ध में प्रकृति अंकित हो सकी है। रीति परम्परा के प्रभाव के कारण भी यह रूप अधिक नहीं आ सका है। एक दो स्थलों पर रसखान और घनानन्द की प्रेम भावना के प्रसार में गोकुल तथा वहाँ की प्रकृति के प्रति आत्मीयता की भावना व्यक्त हुई है। रसखान ब्रज-भूमि के प्रति अत्यधिक आत्मीयता प्रकट करते हैं।

मानस हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्यो कर छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन।[3]

१. शतक: ठाकुर; छं० ५०।
२. वही; वही; छं० ५३—
"दौरि दौरि दमकि दमकि दुर दामिनि यौं दुन्द देत दसहूँ दिसान दरसतु है।
घूमि घूमि घहरि घहरि घन घहरात घेरि घेरि घेरि घोर मनो सोर सरसतु है।
ठाकुर कहत पिक पीकि पीकि पीकौ रटै प्यारी परदेश पापी प्रान तरसतु है।
झूमि झूमि झुकि झुकि झमकि झमकि आली रिमझिमि अलाद बरसतु है।"
३. सुजान-रसखान; छं० १।

अपने प्रिय को लेकर रसखान की यह आकांक्षा व्रज के 'गिरि, धेनु, खग और कदम्ब' से निकट सम्बन्ध स्थापित करने के लिए आकुल है। प्रकृति के प्रति सहानुभूति तथा उसके सहचरण की आत्मीयता को लेकर बोधा की विरहिणी आत्मा कोकिल को उपालम्भ देती है—'रसालों के बन में बैठी हुई री कोयल, तू आधीरात में अज्ञात स्थान से रण के समान प्रचारती है। तू नाहक की विरहिणी नारियों के पीछे पड़ी है और उन्हें लूकों से जलाती है।' इस उक्ति पर रीति-कालीन प्रभाव प्रत्यक्ष है। यह उपालम्भ अधिक सहज हो जाता है, जब बोधा की विरहिणी कोकिल से कहती है—

कूक न मार कोइलिया करि करि तेह।
लागि जात बिरहिन के दूबरि देह॥

पर इसमें उक्ति का वैचित्र्य न हो, ऐसा नहीं है। साथ ही कवि प्रकृति से भाव-साम्य स्थापित करके उसके माध्यम से वियोग लक्षित करता है—

लौने संग भ्रमरिऐ भइस बियोग।
रोवत फिरत भँवरवा करिकै सोग॥[1]

अप्रस्तुत-प्रस्तुत विधान से यह व्यंजना सुन्दर हुई है, पर ऐसे स्थल इन कवियों में कम हैं।

पृष्ठ-भूमि—मुक्तक परम्परा के कवियों ने कृष्ण-लीला अथवा नायक-नायिका के प्रसंग को लेकर अनेक छन्द लिखे हैं। इनमें हास-विलास, वियोग-व्यथा आदि का रूप उपस्थित हुआ है। इन स्थलों पर प्रकृति केवल उद्दीपन रूप में आ सकी है। अधिकांश कवियों ने कृष्ण भक्त-कवियों के अनुसरण पर प्रसंगों को चुना है; परन्तु इन्होंने अलंकृत तथा चमत्कृत शैली रीति के कवियों की अपनाई है।[2] इन सब में ऋतु अथवा स्थानों का वर्णन उल्लेखों में हुआ है और उनमें भी चमत्कार की भावना अधिक है। साथ ही भावात्मकता के स्थान पर क्रीड़ा-कौतुक हास-विलास का समावेश अधिक हुआ है। यमुना-पुलिन को कवि इस प्रकार उपस्थित करता है—

जमुना पुलिन माह नलिन सुगन्ध लै लै,
सीतल समीर बरो वहँ चहुँ ओर तें।
फूलो है बिचित्र कुंज गुंजत मधुप पुंज;
कुसमित सेज प्रिया पीय चित चोर तें॥
हास परिहास रस बंदन प्रणय बस,
सुघराई बैन सैन नैनन की कोर तें।

---

१. इश्क-चमन: बोधा; द्वि० ८, ६, १०।

२. ऐसे कुछ काव्य-रूपों के उदाहरण के लिए, राधारमण रससागर: मनोहरदास: जलकेलिपचीसी: प्रियदास: प्रीति पावस; आनंदघन का भी उल्लेख किया जा सकता है।

राधिका रमण प्रीति छिनु-छिनु नई रीति;
बौवें मनोहर मीत बेलें नेहजार तें।[1]

इस वर्णन में प्रकृति का उल्लेख तो परम्परा पालन है, उसका केन्द्र तो विलास है। यह प्रवृत्ति इन कवियों के सभी काव्य रूपों में पाई जाती है।

बारहमासों की उन्मुक्त भावना—भक्ति-काव्य में विहार के अन्तर्गत बसंत, झूला तथा हिंडोला आदि का उल्लेख किया गया है। इनका वर्णन मुक्तक काव्यों में स्वतन्त्र रूप से मिल जाता है, पर इनमें इस काव्य-रूप की परम्परा अधिक नहीं मिलती।[2] वर्णन की दृष्टि से इनमें भी वही प्रवृत्ति पाई जाती है। इन मुक्तक काव्यों में ऋतु-वर्णनों तथा बारहमासों के रूप अधिक पाए जाते हैं। इनमें प्रकृति अधिकतर उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत प्रयुक्त हुई है। शैली के विचार से चमत्कार की प्रवृत्ति अधिक है तथा क्रिया-व्यापारों की योजना अधिक की गई है। यह तो इनकी मुख्य विचार-धारा की बात है, वैसे कुछ स्थलों पर सुन्दर चित्र-रूपों की उद्भावना भी हो सकी है। इनमें भावात्मक सामंजस्य बन पड़ा है। प्रारम्भ में कहा गया है कि बारहमासों की परम्परा का मूल लोक-गीतियों की उन्मुक्त भावना में है। इन गीतियों की भावधारा में वियोगिनी की व्यथा के साथ परिवर्तित होते काल का रूप और उसकी वियोग की प्रतीक्षा मिलकर आई थी। प्रत्येक मास की प्रमुख रूप-रेखा के आधार पर वह अपने प्रिय को याद कर लेती है और उसके लिए विकल हो उठती है। प्रकृति में व्यतीत होते काल और परिवर्तित होते रूपों के साथ विरहिणी की प्रतीक्षा के क्षण भारी होते जाते हैं; और इसस्थिति में वह अपनी संवेदना में प्रकृति के प्रति भी सहानुभूतिशील हो उठती है। इस प्रकार उसे कभी प्रकृति अपनी मनःस्थिति के सम पर जान पड़ती है और उस समय वह भी दुःखी तथा विह्वल उपस्थित होती है। संयोग की स्थिति में यह भावप्रवणता नहीं होती, वैसे इसमें प्रकृति उल्लास में प्रस्तुत होती है। विरोध की भावना के साथ वह वियोगिनी की व्यथा को तीव्र ही करती है; ऐसी स्थिति में विरहिणी प्रकृति के प्रति उपालम्भशील भी होती है। स्वच्छन्द रूप से प्रकृति में भावों की छाया, उसका उद्दीपन रूप और उसकी सहचरण भावना बारहमासों के उन्मुक्त वातावरण में मिलती है, और यह सब प्रकृति पर मानवीय भावों का प्रसार है। आगे चलकर इस परम्परा में प्रकृति की समस्त भावना रूढ़िवादी उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत जड़ बनती गई। हम देख चुके हैं कि बारहमासों को विद्यापति, सूफ़ी कवियों तथा अन्य प्रेमी कवियों ने भी अपनाया है। भक्त कवियों ने परम्परा रूप से इसको नहीं

---

१. राधारमण ६ ; मनो० ।

२. इस प्रकार के काव्यों में झूला-पचीसी ; प्रियदास : हिंडोला; पृथ्वीसिंह का उल्लेख किया गया है।

अपनाया, लेकिन नन्ददास के बारहमासा से प्रकट होता है कि यह परिपाटी बराबर चलती रही है।[1]

मुक्तकों में इसका रूप (क)—मुक्तक काव्यों में बारहमासों के अन्तर्गत, जैसा कहा गया है प्रकृति का रूढ़िवादी रूप अधिक है, पर कुछ स्थल ऐसे अवश्य हैं जिनमें भावों के सम पर उसे उपस्थित किया गया है। कवि राधा और कृष्ण के माध्यम से नायक-नायिका प्रसंग में चैत मास से वर्णन आरम्भ करता है—'चारो ओर वृक्षों पर लताएँ सुशोभित हैं; पुष्प सुगन्धित हैं, पवन अतिशय मंद-गति से प्रवाहित है। मधुप मत्त मकरंद पीता है और कुंजों में गुंजार करता है। तोता मैना मधुर स्वर करते हैं; कोकिला कोलाहल करती है, वनों में मोर नाचते हैं। प्रिय, ऐसे समय विदेश की चरचा सपने में भी भूलकर नहीं करनी चाहिए।'[2] इस वर्णन के अन्तिम उल्लेख से समस्त वातावरण भावात्मक हो गया है। अन्यत्र लोकगीतियों की भाँति काल से सम्बन्धित प्रमुख रूप या विशेषता का उल्लेख करके प्रकृति के सामने विरह-व्यथा आदि को प्रस्तुत किया गया है—

लगत असाढ़ गाढ़ मुहि परी, विरह अगिन अंतर पर जरी।
ज्यों ज्यों पवनु चलतु चहु ओरनि, त्यों त्यों जरी जाति झकझोरन।

फिर

जेठ लागै उठे हू तैं अंबर उमड़े घरी,
घरी भरि प्यारी कल क्यू हू न परत है।
वृष के रथ वृष शशि बैठे भान तपै,
मेरे प्रान कपै ऐसो सीत की अरति है।[3]

इनमें प्रथम कवि में कुछ उन्मुक्त भावना है; परन्तु जेठ के वर्णन में उक्ति चमत्कार ही अधिक है। कुछ वर्णनों में केवल विरह के शारीरिक अनुभावों तथा क्रिया-व्यापारों का उल्लेख हुआ है जिनका उल्लेख उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत आया है। इनमें भी किसी में विरह-दशा का संकेत किया गया है—

यह जेठ तपि तपि तपन तापन पंथ पथिका थकावई।
एक जरौं पिय के विरह लूनें लपट अंग लपटावई।
यह दसा मेरी हाय पिय सों कौन जाय सुनावई।
उन रसिक रास रसाल हरि बिनु धीर बीर न आवई।[4]

---

१. पद शैली में बारामासी; पंचम कुँवरि का उल्लिखित है।
२. बारामासी; बलभद्रसिंह।
३. बारामासी; देवीसिंह।
४. बारहमास; रसाल कवि।

सब मिलाकर लगता है कि इस काव्य-रूप को साधारण लोक-गीतियों से प्रेरणा मिलती रही है; जबकि ऋतु-वर्णनों में साहित्यिक रूढ़ियों का अधिक अनुसरण हुआ है। यहाँ यह कह देना आवश्यक है। लोक-गीतियों में प्रकृति का आश्रय संकेतात्मक रहा है जो उसकी व्यापक रूप-रेखा में प्रस्तुत हुआ है। इन साहित्यिक बारहमासों में प्रकृति का रूप एक बँधी हुई परिपाटी में है जो इनमें आदर्श (माडेल) के रूप में स्वीकृत रही है। इन कवियों ने प्रकृति का संकेतात्मक आश्रय इसीसे ग्रहण किया है। और इसीलिए सर्वत्र चित्र एक समान लगते हैं। भारतीय कलाकार का आदर्श यही रहा है जिसे भक्ति-काव्य ने स्वीकार किया था और इनसे रीति-काल ने भी ग्रहण किया है। साथ ही इन काव्यों में राधा-कृष्ण के रूप में नायक-नायिका भी फ़ार्मल हो जाते हैं जिनमें व्यक्तिगत जीवन का स्पंदन नहीं है। इनके माध्यम से निश्चित अनुभावों और संचारियों की योजना की गई है। जैसा आमुख में संकेत किया गया है, इस युग को समझने के लिए भारतीय आदर्श-भावना के साथ उसकी रूपात्मक रूढ़ि (Formalism) को समझना आवश्यक है। यही कारण है कि इन बारहमासों की उन्मुक्त भावना के साथ भी प्रकृति को एक निश्चित रूप में ग्रहण किया गया है। वस्तुतः यह अन्य रूपों के विषय में भी सत्य है।

इन बारहमासों में मासों को प्रस्तुत करने की प्रमुखतः तीन रीतियाँ हैं। एक में वर्णन चैत से आरम्भ होता है, दूसरी में आषाढ़ से और तीसरी में अवसर के अनुसार। भारत में दो ऋतुएँ प्रमुख हैं जिनमें नवचेतना का प्रवाह मनुष्य में होता है; वर्षा तथा वसंत। दोनों का आगमन भावोद्दीपक है। इस कारण दो प्रकार से वर्णन आरम्भ होते हैं। कथा के अनुसार चलने वाले बारहमासों और ऋतु-वर्णनों का आरम्भ प्रसंग के अनुसार होता है।[1] संतों ने भी बारहमासों का प्रयोग अपनी प्रेम-व्यंजना तथा उपदेश पद्धति के लिए किया है।

ऋतु-वर्णन काव्य (ख)—इनके अतिरिक्त काल परिवर्तन से सम्बन्धित दूसरा रूप ऋतु-वर्णनों का है। अन्य काव्य-रूपों में ऋतु-वर्णनों का उल्लेख किया गया है। परन्तु मुक्तक-काव्यों के अन्तर्गत ऋतु-वर्णन की एक परम्परा है। इसको संस्कृत के ऋतु-काव्यों के समान मान सकते हैं। बारहमासों से भी अधिक इनकी प्रवृत्ति मानवीय क्रिया-विलासों को अपनाने की है और इनमें वैचित्र्य का रूप भी अधिक है। इसके अन्तर्गत आए हुए प्रकृति-रूपों का उल्लेख अगले प्रकरण में किया गया है। वर्णना शैली की दृष्टि से इनमें व्यापक संकेतों को अपनाया गया है जिसका कारण अभी

१. चैत्र से, बारा०; बल० : बारा; पच० (पदों में)। आषाढ़ से, बारा०; देवो०; बारा; सुन्दर (ग्वालियर) : बारह०; रस० : श्रीराधा-कृष्ण की बारहमासिका; जवाहर। प्रसंग के अनुसार, पद्मावत में नागमती का बारहमासा; जायसी : रामचन्द्र को बारहमासो; छेदालाल (कार्तिक)।

बताया जा चुका है।[1]

कुछ अन्य रूप—मुक्तकों से सम्बन्धित रूपों की विवेचना समाप्त करने के पूर्व दो काव्य-रूपों का संक्षेप में उल्लेख करना आवश्यक है। पहला नदियों की वन्दना सम्बन्धी काव्य-परम्परा है जिसमें अधिकतर गंगा तथा यमुना का माहात्म्य कथन है। इनके बीच-बीच में उल्लेख आ गए हैं। इनमें भी यमुना का महत्त्व अधिक है, जिसका कारण प्रत्यक्ष है।[2] इसके अतिरिक्त पक्षियों को लेकर काव्य लिखने की परम्परा रही है। तुलसी की 'दोहावली' के अन्तर्गत चातक का प्रसंग है जिसमें कवि ने उसके प्रेम और नियम की सराहना की है और समासोक्ति से प्रेम की व्यंजना भी की है। दीनदयाल गिरि ने अपनी 'अन्योक्तिमाला' तथा कुंडलियों में विभिन्न प्रकृति-रूपों के माध्यम से अनेक व्यंजक उक्तियाँ कही हैं। यह प्रसंग अपने आप में मौलिक है, इससे कवि की प्रकृति सम्बन्धी अन्तर्दृष्टि का पता चलता है। इन्हींके समान अमेठी के गुरुदत्त ने दो प्रकार के 'पक्षी-विलास' लिखे हैं और इस विषय में इनका कार्य अकेला तथा सराहनीय है। एक पक्षी-विलास में कवि ने परम्परा प्रचलित पक्षियों के स्वभाव का वर्णन किया है और उसके माध्यम से सत्यों तथा भावों को व्यंजित किया है। पपीहा का वर्णन कवि इस प्रकार करता है—

पीव कहा कहि देव तो सावस पावस में रस बीच कहा है।
जीवन नाथ के साथ बिना गुरुदत्त कहै जग जीव कहा है।
बानी सुनी जब ते तब ते यह आनीन जात सरतीव कहा है।
पीव कहाँ कहि कै पपिहा केहि सों तुम पूछत पीव कहा है।[3]

दूसरा 'पक्षी-विलास' और भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें पक्षियों की स्वाभाविक विशेषता का संकेत दिया गया है। सुरखाब के विषय में कवि का कथन है—

लक्ष लक्ष पक्षीन को नहिं उड़िबे की ताव।
भुव लोकहु ध्रुव लोक पर फरकत पर सुरखाव॥

पर कवि का ध्यान प्रमुख विशेषता को लेकर उक्ति की ओर अधिक रहा है। इस विशेषता के उल्लेख के साथ भाव-व्यंजना की गई है—

लेखत पुष्ट तिहीपन तेलत बेखत दुष्टन के उरदागे।
भूपर में फरके पर ऊपर ह्वै तनहूँ मनहूँ अनुरागे॥

---

१. प्रमुख ऋतु-वर्णन, षट्-ऋतु-वर्णन: सरदार : हृदय-विनोद: ग्वाल कवि : षट्०; प्राननाथ : रसपीयूषनिधि: सोमनाथ : षट्०; रामनरायण : अनुराग बाग: दीनदयाल गिरि। षट्ऋतु-वर्णन: पद्माकर।

२. जमुना-लहरी: ग्वाल : जमु०; पद्माकर भट्ट : जमु०; जमुनादास।

३. पक्षी विलास: गुरुदत्त (अमेठी)।

भाव भरे बुलबुल लौ धावत चाह भरे अगवाउ के लागे।
पंछिन के उड़िबे को उमंग को ताव नहीं सुरखाब के आगे ॥[1]

इन परिचयात्मक वर्णनों में कवि ने काव्यात्मक सहानुभूति का वातावरण प्रस्तुत किया है।

रीति काव्य की परम्परा

काव्य-शास्त्र के कवि—मध्ययुग के उत्तरार्ध में रीति-परम्परा का विकास हो चुका था और रीति-ग्रन्थों का प्रणयन भी आरम्भ हो गया था। हम पहले कह चुके हैं कि हिन्दी साहित्य के रीति-ग्रन्थों में विवेचना से अधिक उदाहरण जुटाने की प्रवृत्ति रही है, इस कारण इन ग्रन्थों में काव्य का रूप अधिक है। रीति-काव्यों की परम्परा में अलंकारों और उक्ति-चमत्कार को अधिक स्थान मिल सका है, यद्यपि रस-सिद्धान्त को मानने वाले कवि हुए हैं। इन काव्यों में मुक्तक छंदों का अधिकतर प्रयोग है और इनमें उक्ति का निर्वाह अच्छा होता है। रस के प्रसंग को लेकर इन कवियों में आदर्श के स्थान पर रूपात्मक रूढ़िवाद ही अधिक है। इस परम्परा में दो प्रकार के काव्य मिलते हैं। एक प्रकार के काव्यों में शास्त्रीय उल्लेखों के साथ उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। इनमें विवेचना का रूप स्पष्ट तथा विकसित नहीं है, केवल उदाहरण भाग पर कवि अपना ध्यान केन्द्रित रखता है। दूसरे काव्यों में विवेचना का रूप नहीं है, इनमें रस और अलंकार को लेकर स्वतंत्र प्रयोग किये गये हैं। मुक्तक काव्यों से इनका अन्तर यही है कि इनमें काव्य-शास्त्र के आदर्श तथा उसकी रूढ़ियों का पालन अधिक है। वस्तुतः इन दोनों रूपों में काव्य प्रवृत्तियों को लेकर भेद नहीं है। शास्त्रीय काव्यों में कुछ रस पर लिखे गए हैं, जिनमें प्रकृति का उल्लेख उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत किया गया है। रस-निरूपण प्रसंग में शृंगार के उद्दीपन-विभाव में वन, उपवन तथा ऋतुओं का उल्लेख हुआ है।[2] इन वर्णनों में कहीं-कहीं चित्रण में आरोपात्मक क्रियाशीलता से भाव-व्यंजना की गई है जो भावों की प्रकृतिगत छाया के रूप में स्वीकार की जा सकती है। सैयद गुलाम नबी वसंत का उल्लेख करते हैं—

कहूँ लागत बिगसन कुसुम, कहूँ डोलत है बाइ।
कहूँ बिछावति चाँदनी, मधुरितु दासी आइ॥
सरवर माहि अन्हाइ अरु, बाग बाग बिरमाइ।
मंद मंद आवत पवन, राजहंस के भाइ॥[3]

---

१. पक्षी-विलास द्वि०; वही।

२. रसिक-प्रिया: केशवदास : रसराज: मतिराम : भाव-विलास; देव : काव्यनिर्णय; भिखारीदास : रस-प्रबोध; सैयद गुलाम नबी : हिततरंगिनी: कृपाराम : जगद्विनोद; पद्माकर।

३. रस-प्रबोध; गुला० : पृ० ८३, दो० ६४६, ६५० ।

इसमें प्रकृति की क्रियाशीलता में मानवीय आरोपों से उद्दीपन का वातावरण प्रस्तुत किया गया है; परन्तु इसमें प्राचीन कवियों से ग्रहीत सरल चित्र हैं। देव की प्रतिभा अधिकतर मानवीय भावों और संचारियों की योजना में प्रकट होती है, परन्तु प्रकृति के परम्परा प्राप्त रूप में भी इन्होंने कुछ स्थलों पर भाव-व्यंजना सन्निहित की है। इस सीमा पर उसमें उद्दीपन का रूप प्रत्यक्ष है—

सुनि के धुनि चातक मोरनि की चहु ओरनि कोकिल कूकनि सों।
अनुराग भरे हरि बागन में सखि रागत राग अचूकनि सों॥
कवि देव घटा उनई जु नई बन भूमि भई दल दूकनि सों।
रंगराति हरी हहराती लता झुकि जाती समीर के झूकनि सों॥[1]

इस वर्षा के वर्णन में यथार्थ की चित्रमयता है; साथ ही प्रकृति में जो क्रिया और गति द्वारा भावोल्लास व्यंजित किया गया है वह 'अनुराग भरी वेणु' के साथ मानवीय भावों को अपने में छिपाए है। परन्तु इन कवियों के अधिकांश चित्रण उद्दीपन के अन्तर्गत ही आते हैं। नायिका के वर्णनों में प्रोषितपतिका, उत्कंठिता तथा अभिसारिका नायिकाओं के प्रसंग में प्रकृति के उद्दीपन-रूप को अधिक अवसर मिला है। इन रूपों की विवेचना अगले प्रकरण के अन्तर्गत की जायगी। इनमें प्रकृति का चित्रण अधिक उल्लेखनीय हुआ है। मतिराम की नायिका के लिये अपने प्रिय के वियोग में प्रकृति केवल उद्दीपन का कारण है—

चंद के उदोत होत नैन-कंज तपे कंत,
छायो परदेस देव दाहनि दगतु है।
कहा करो? मेरी बीर! उठी है अधिक पीर;
सुरभी समीर सीरो तीर सौ लगतु है॥[2]

इसमें प्रकृति का उल्लेख केवल नाम मात्र को कर दिया गया है। अभिसारिकाओं के प्रसंग में उक्ति के लिए कवियों ने प्रकृति और नायिकाओं के सम-रूप दिखाने का प्रयास किया है। परन्तु इसमें ऊहात्मक वैचित्र्य से अधिक कुछ नहीं है। मतिराम कृष्णाभिसारिका का अँधेरी रात के साथ वर्णन करते हैं—

उमड़ि-घुमड़ि दिग-मंडल-मंडि रहे,
झूमि-झूमि बादर कुहू की निसिकारी में।
अंगनि में कीनो मृगमद अंगराग तैसो,
आनन ओढाय लीनो स्याम रंग सारी में॥[3]

१. भाव-विलास; देव; प्रम०।
२. रसराज; मतिराम, छं० ११४।
३. वही; वही, छं० ११७।

प्रकृति को यहाँ पृष्ठभूमि के रूप में माना जा सकता है, परन्तु न तो इसमें किसी स्थिति का रूप प्रत्यक्ष है और न किसी भाव की व्यंजना ही निहित है। इन वर्णनों से इन कवियों ने परम्परा के अनुसरण के साथ चमत्कार मात्र उत्पन्न किया है।

बिहारी के संक्षिप्त चित्र—रीति-परम्परा के स्वतंत्र कवियों में से बिहारी तथा सेनापति ही प्रमुख हैं जिनके काव्य में प्रकृति का उल्लेखनीय प्रयोग हुआ। अन्य कवियों में किसी ने प्रकृति का किसी भी सीमा तक स्वतंत्र रूप नहीं दिया है। इनके रूढ़िगत उद्दीपन रूपों का उल्लेख प्रसंग के अन्तर्गत आवश्यकता के अनुसार किया जायगा। इन दोनों कवियों के ग्रंथ लक्षण-ग्रंथ नहीं है, फिर भी अपनी प्रवृत्ति में ये कवि रीति परम्परा में आते हैं। उद्दीपन विभाव में आने वाले प्रकृति के विभिन्न रूपों के अतिरिक्त इन कवियों में कुछ स्वाभाविक चित्र हैं। इस दृष्टि से इस परम्परा में इनका महत्त्व अधिक है। बिहारी ने उक्ति-वैचित्र्य के निर्वाह के साथ ग्रीष्म का स्वाभाविक चित्र उपस्थित किया है—

> **कहलाने एकत बसत, अहि मयूर मृग बाघ।**
> **जगत तपोवन सो कियो, दीरघ दाघ निदाघ॥**

अगला पावस का वर्णन भी अपनी अत्युक्ति में अंधकार के साथ घनी घटाओं का संकेत देता है, यद्यपि इसमें कवि का ध्यान अपनी उक्ति निर्वाह की ओर है—

> **पावस निसि अँधियार में, रह्यो भेद नहि आन।**
> **राति द्यौस जान्यो परत, लखि चकई चकवान॥**

वस्तुतः इन कवियों का आदर्श अलंकार का निर्वाह है अथवा रस के अंगों की योजना है। इस कारण इनसे प्रकृति के नितान्त यथार्थ तथा स्वाभाविक चित्रों की आशा नहीं की जा सकती। कुछ दोहों में प्रकृति पर मानवीय क्रीड़ाओं के आरोप से भाव-व्यंजना की गई है। इस चित्र में इसी प्रकार चैत्र मास का वातावरण उपस्थित हुआ है—

> **छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधवी गंध।**
> **ठौर ठौर झूमत झपत, भौंर भौंर मधुअंध॥**

इस चित्र में उपवन, लताकुंज तथा भ्रमर-गुञ्जार की संक्षिप्त योजना में एक रूप उभरता है जिसमें भाव-व्यंजना भी निहित है। दक्षिण पवन का चित्र बड़ी सजीव कल्पना में बिहारी ने उपस्थित किया है। पवन का प्रवाह मानवीय भावों के आरोप के साथ व्यंजक हो गया है—

> **चुवत सेद मकरंद कन, तरु तरु तर बिरमाय।**
> **आवत दक्षिण देस ते, थक्यो बटोही बाय॥**

इस थके बटोही के रूपक से पवन का चित्र भावमय हो उठा है। नायक रूप में पवन

की कल्पना अनेक संस्कृत तथा हिन्दी कवियों ने की है, परन्तु श्रांत पथिक का यह चित्र अधिक स्वाभाविक और सुन्दर है। एक स्थल पर बिहारी ने प्रकृति के प्रति मानवीय सहानुभूति को व्यक्त किया है। स्मृति के आधार पर प्रकृति के पूर्व सुखद सहचरण की भावना इस दोहे में व्यक्त होती है—

सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर ॥[1]

सेनापति—प्रकृति वर्णन की दृष्टि से रीति परम्परा में सेनापति का विशेष स्थान है। हम देख चुके हैं कि मध्ययुग में प्रकृति-चित्रण को स्वतन्त्र स्थान नहीं मिला है। सेनापति का प्रकृति वर्णन ऋतु-वर्णन परम्परा के अन्तर्गत ही है; परन्तु इन्होंने कुछ स्थलों पर प्रकृति का स्वतन्त्र रूप उपस्थित किया है। लेकिन ये वर्णन नितान्त स्वतंत्र नहीं हैं, इनके अन्दर भी उद्दीपन के संकेत छिपे हुए हैं। वस्तुतः ऋतु सम्बन्धी वर्णनों की सीमा विस्तृत है। इनके अन्तर्गत स्वतन्त्र काल-परिवर्तन के रूपों से लेकर ऋतु सम्बन्धी सामन्ती आयोजनों तक का वर्णन रहता है। परन्तु इनकी समस्त भाव-धारा में शृंगार की भावना का आधार रहता है, उसके आलम्बन और आश्रय कभी प्रत्यक्ष रहते हैं और कभी अप्रत्यक्ष। सेनापति इस सीमा में ही रहे हैं। इनके वर्णनों में जो स्वतंत्र चित्र लगते हैं, उनमें शृंगार की भावना का आधार बहुत हलका है और कुछ में आलम्बन तथा आश्रय परोक्ष में हैं। सेनापति में कवित्व प्रतिभा के साथ प्रकृति का निरीक्षण भी है। इन्होंने प्रकृति के रूपों को यथार्थ रंग-रूपों में उपस्थित किया है। फिर भी सेनापति अलंकारवादी कवि हैं, कविता का चरम उक्ति-वैचित्र्य में मानते हैं। उनके कुछ चित्रों की रमणीयता का कारण यही है कि इन स्थलों पर उक्ति से यथार्थ तथा कला का सामंजस्य हो सका है। इसी प्रवृत्ति के कारण सेनापति में प्रकृति के प्रति किसी प्रकार की सहानुभूति नहीं है; इनकी प्रकृति में भाव-व्यंजना के स्थल भी बहुत कम हैं। इस क्षेत्र में अन्य रीति परम्परा के कवि इनसे आगे हैं। इन्होंने ऋतु-वर्णन में श्लेष का निर्वाह किया है और ऐश्वर्यशालियों के ऋतु सम्बन्धी आयोजनों तथा आमोद-प्रमोद का वर्णन किया है। यह सब इसी प्रवृत्ति का परिचायक है। फिर भी सेनापति ने प्रकृति को उसके यथार्थ रूप में देखा है और उसके कुछ कलापूर्ण चित्र उपस्थित किए हैं।

यथार्थ वर्णन (क)—सेनापति ने यथार्थ चित्रों को दो प्रकार से उपस्थित

---

१. सतसई: बिहारी: दो० ५६८, ५६०, ५५५, ११, ५८२। इसी प्रकार पवन का हाथी के रूप में वर्णन भी चित्रमय है—

रनित भृङ्ग घंटावली, झरत दान मधुनीर।
मंद मंद आवत चल्यौ, कुंजर कुंज समीर ॥५६०॥

किया है। एक प्रकार के चित्रों में प्रकृति सम्बन्धी रूप-रंगों को अधिक व्यक्त किया गया है और दूसरे में प्रकृति की प्रभावशीलता को अधिक भावगम्य बनाया गया है। शरद्-ऋतु का वर्णन कवि उसके दृश्यों की व्यापक संश्लिष्टता के आधार पर उपस्थित करता है—'पावस ऋतु के समाप्त होने पर जैसे अवकाश मिल गया; शशि की शोभा रमणीय हो गई है और ज्योत्स्ना का प्रकाश छा गया है; आकाश निर्मल है; कमल विकसित हो रहे हैं; काँस चारों ओर फूले हुए हैं; हंसों को मन भावनी प्रसन्नता है, पृथ्वी पर धूल का नाम नहीं है; हल्दी जैसे रंगवाले जड़हन धान शोभित हैं, हाथी मस्त हैं और खंजन का कष्ट दूर हो गया है। यह शरद ऋतु तो सभी को सुख देने आई है।'[1] इस वर्णन में एक दृश्य नहीं है, केवल व्यापक योजना है, साथ ही 'को मिलावै हरि पीय कों' के द्वारा उद्दीपन की पृष्ठभूमि का संकेत भी है। वर्षा का प्रभाव भारतीय जीवन पर अधिक है। सेनापति इस ऋतु से, विशेष कर इसके अंधकार से, अधिक आकर्षित हैं। वर्षा में भारतीय आकाश में मेघों की निविड़ सघनता और बिजली का चंचल प्रकाश ही अधिक प्रमुख है; कवि इन्हीं का चित्र उपस्थित करता है—

गगन-अँगन घनाघन तें सघन तम,
सेनापति नैंक हू न नैंन मटकत हैं।
दीप की दमक, जीगनीन की झमक छाँड़ि,
चपला चमक और सौं न अटत हैं।
रबि गयौ दबि मानौं ससि सोऊ धसि गयौ,
तारे तोरि डारे से न कहूँ फटकत हैं।
मानौं महा तिमिर तें भूलि परी बाट तातें,
रबि ससि तारे कहूँ भूले भटकत हैं॥[2]

इस घने अंधकार ने रवि, शशि, तारे सभी को आच्छादित कर लिया है। इसी प्रकार कवि एक और भी चित्र अंधकार को लेकर उपस्थित करता है—'यह भादों आ गया। सघन श्याम-वर्ण के मेघ वर्षा करते हैं। इन घुमड़ती घटाओं में रवि अदृश्य हो गया है, अंजन के समान तिमिर आवृत्त हो रहा है। चपला चमक कर अपने प्रकाश से नेत्रों को चौंधा देती है, उसके बाद तो कुछ और भी नहीं दिखाई देता, मानों अंधा कर देती है। आकाश के प्रसार में काजल से अधिक घना काला अधंकार छाया हुआ है और घन घुमड़-घुमड़ कर घोर गर्जन करते हैं।'[3] इस चित्र में यथार्थ वर्णना का रूप अधिक

---

१. कवित्त-रत्नाकर: सेनापति ; ती० तरङ्ग, छं० ३७।
२. वही: वही ; वही, छं० २६।
३. वही: वही ; वही, छं० ३३।

प्रत्यक्ष और भाव-गम्य है। इसमें भी उद्दीपन का संकेत—'सेनापति जादोपति बिना क्यों बिहाल है' के द्वारा निहित किया गया है, परन्तु वर्णना के प्रत्यक्ष के सामने उसकी ओर ध्यान नहीं जाता। ग्रीष्म-ऋतु में सेनापति ने प्रभाव का अधिक समावेश किया है। वस्तुतः ग्रीष्म के वातावरण में उसका प्रभाव अधिक महत्वपूर्ण हो उठता है—'वृष राशि पर सूर्य सहस्रों किरणों से अत्यधिक संतप्त होता है, जैसे ज्वालाओं के समूह की वर्षा करता हो। पृथ्वी नाच उठती है; ताप के कारण जगत् जल उठता है। पथिक और पक्षी किसी शीतल छाया में विश्राम करते हैं। दोपहर के ढलने पर ऐसी उमस होती है कि पत्ता तक नहीं हिलता; ऐसा लगता है पवन किसी शीतल स्थान पर क्षण भर के लिए ठहर कर घाम को बिता रहा है।'[1] सारा चित्र यथार्थ का रूप प्रभावात्मक ढंग से प्रस्तुत करता है, साथ ही कवि की कल्पना ने उसे और भी व्यंजक कर दिया है। यहाँ कवि की उक्ति सुन्दर कलात्मक रूप धारण करती है। इसीके साथ कवि ग्रीष्म का व्यापक वर्णन भी करता है—

सेनापति ऊँचे दिनकर के चलति लुवें,
नद नदी कुवें कोपि डारत सुखाइ कैं।
चलत पवन मुरझात उपवन बन,
लाग्यो है तपन डार्‌यो भूतलौ तचाइ कैं।
भीषम तपत रितु ग्रीषम सकुचि तातें,
सीरक छिपा है तहखानन में जाइ कैं।
मानौं शीतकाल सीत लता के जमाइबे कौं,
राखे हैं बिरंचि बीच धरा मैं धराइ कैं॥[2]

इसमें उल्लेखों के आधार पर ऋतु का रूप ग्रहण कराया गया है; साथ ही इसकी उत्प्रेक्षा में उक्ति अधिक है पहले जैसा सौन्दर्य कम है।

कलात्मक चित्रण (ख)—सेनापति ने कुछ वर्णनों में अधिक कलात्मक शैली अपनाई है। ऊपर के चित्रों को उत्प्रेक्षाओं द्वारा व्यंजक बनाया गया है; परन्तु अगले चित्रों में रूप को अधिक बिम्बात्मक करने के लिए अलंकारों का आश्रय ग्रहण किया गया है। सेनापति शरद्-कालीन आकाश और उसमें दौड़ते हुए बादलों का वर्णन इसी प्रकार करते हैं—'आकाश मंडल में श्वेत मेघों के खंड फैले हुए हैं मानों स्फटिक पर्वत की शृंखलाएँ फैली हों। वे आकाश में उमड़-घुमड़ कर क्षण में तेज बूँदों से पृथ्वी को छिड़क देते हैं।' और उन बादलों की उमड़न-घुमड़न के विषय में कवि शब्द-चित्र ही प्रस्तुत करता है—

---

१. वही; वही; वही; छन्द ११।
२. वही; वही; वही; छन्द १२।

पूरब कौं भाजत हैं, रजत से राजत हैं,
गग गग गाजत गगन घन क्वाँर के ।[1]

वर्षा का वर्णन भी कवि इसी शैली में करता है—'सावन के नव जलद उमड़ आए हैं, वे जल से आपूरित चारों दिशाओं में घुमड़ने लगे हैं। उनकी सरस लगने वाली शोभा किसी प्रकार भी वर्णन नहीं की जाती, लगता है काजल के पहाड़ ही ढोकर लाए गए हैं। आकाश घनाच्छादित हो रहा है और सघन अन्धकार छाया हुआ है। रवि दिखाई ही नहीं पड़ता है, मानों खो गया है। भगवान् जो चार मास सोते रहते हैं, वह जान पड़ता है निशा के भ्रम से ही।'[2] इस वर्णना में उत्प्रेक्षाओं से चित्र को अधिक प्रत्यक्ष किया गया है।

आलंकारिक वैचित्र्य (ग)—सेनापति की अलंकार सम्बन्धी प्रवृत्ति ऋतु-वर्णनों में भी प्रत्यक्ष हुई है। वैसे तो उनके सभी वर्णनों में उक्ति और चमत्कार का योग है, लेकिन ऊपर के वर्णनों में वे रूप और भाव के सहायक होकर चित्र को अधिक प्रत्यक्ष और व्यक्त करते हैं। परन्तु बहुत से वर्णनों में कवि ने श्लेष के द्वारा ऋतुओं का वर्णन किया है और न वर्णनों में केवल चमत्कार है। इनके अन्तर्गत में कवि ने यह स्वीकार भी किया है—

दारुन तरनि तरैं नदी सुख पावैं सब,
सीरी घनछाँह चाहिबोई चित धर्‌यो है।
देखौ चतुराई सेनापति कबिताई की जु,
ग्रीषम बिषम बरषा की सम कर्‌यो है।[3]

इनके अतिरिक्त अतिशयोक्ति और अत्युक्तियों का आश्रय भी लिया गया है। एक स्थान पर जाड़े की रात्रि के छोटे होने के विषय में कवि कल्पना करता है—

सीत तैं सहस-कर सहस-चरन ह्वै कै,
ऐसे जाति भाजि तम आवत है घेरि कै।
जौ लौं कोक कोकी कौं मिलत तौ लौं होति राति,
कोक अधबीच ही तैं आवत है फिरि कै।[4]

और सेनापति की यह प्रमुख प्रवृत्ति है, ऐसा कहा जा चुका है।

भाव-व्यंजना (घ)—अपनी इसी भावना के कारण सेनापति प्रकृति से निकट का सम्बन्ध नहीं उपस्थित कर सके। प्रकृति उनके लिए केवल वर्णन का विषय है

१. वही; वही; वही; छन्द ३८।
२. वही; वही; वही; छन्द ३१।
३. वही; वही; तरंग; छन्द ५३।
४. वही; वही; ती० तरंग; छन्द ५१।

या विशुद्ध उद्दीपन की प्रेरक है। ऐसे स्थल भी कम हैं जहाँ कवि ने प्रकृति के माध्यम से भाव-साम्य की व्यंजना की हो। एक स्थल पर प्रकृति के चित्र से मानवीय भावोल्लास का साम्य प्रस्तुत किया गया है—

फूले हैं कुमुद फूली मालती सघन बन,
फूलि रहे तारे मानों मोती अनगन हैं।
तिमिर हरन भयो सेत है बरन सब
मानहु जगत छीर-सागर मगन है।[1]

इस चित्र के सम पर कवि ने कहा है 'सुहाति सुखी जीवन के गन हैं'। और इस प्रकार इस वर्णन में प्रकृति की भावमग्नता मानवीय सुख की व्यंजक हो उठी है। सेनापति ने अधिकतर सामन्ती तथा ऐश्वर्य-पूर्ण वातावरण ही प्रस्तुत किया है, इस कारण इनके काव्य में मानव और प्रकृति दोनों ही के सम्बन्ध में उन्मुक्त वातावरण का निर्माण नहीं हो सका है। साथ ही ऋतु-वर्णनों में आमोद-प्रमोद का वर्णन विस्तार से करने का अवसर मिला है। एक स्थल पर साधारण जीवन का चित्र कवि ने बहुत स्वाभाविक उपस्थित किया है। इसमें अलाव तापते हुए लोगों का वर्णन किया गया है और कवि की प्रौढ़ोक्ति ने इसे और भी व्यंजक बना दिया है—

सीत कौं प्रबल सेनापति कोपि चढ़्यो दल,
निबल अनल गयौ सूर सियराइ कै।
हिम के समीर तेई बरसैं बिषम तीर,
रही है गरम भौन कोनन में जाइ कै।
धूम नैंन बहैं लोग आगि पर गिरे रहैं,
हिए सौं लगाइ रहैं नैंक सुलगाइ कै।
मानौं भीत जानि महा सीत तैं पसारि पानि,
छतियाँ की छाँह राख्यौ पाउक छिपाइ कै॥[2]

सेनापति ने अन्य अनेक प्रकार से प्रकृति की परिकल्पना की है जिनका उल्लेख अगले प्रकरण में किया गया है।

---

१. वही; वही; वही; छं० ४० ।
२. वही; वही; वही; छं० ४५ ।

अष्टम प्रकरण

उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत प्रकृति

आलम्बन और उद्दीपन का रूप—प्रथम प्रकरण में संस्कृत काव्याचार्यों के प्रकृति सम्बन्धी संकीर्ण मत की ओर संकेत किया गया है और यह भी कहा गया है कि शास्त्रीय दृष्टि से हिन्दी साहित्य में इसीका अनुसरण हुआ।[1] परन्तु जैसा उल्लेख किया गया था काव्य में प्रकृति विषयक शास्त्रियों का यह मत व्यापक अर्थ में ठीक है। काव्य में उपस्थित होने की स्थिति में प्रकृति का प्रत्येक रूप मानवीय भावों से प्रभावित होकर ही आता है। फिर ऐसी परिस्थिति में काव्य में प्रकृति-रूप मानवीय भावों की स्थायी स्थितियों के माध्यम से ग्रहण किया जा सकेगा। इस व्याख्या के अनुसार माना जा सकता है कि प्रकृति काव्य में उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत आती है, क्योंकि वह अपनी समस्त भावशीलता और प्रभावशीलता मानव से ग्रहण करती है। परन्तु इस प्रकार आलम्बन भी उद्दीपन माना जा सकता है। कोई भी आलम्बन आश्रय की स्थायी भाव-स्थिति पर ही तो क्रियाशील होता है। प्रकृति सम्बन्धी इस भ्रम का एक कारण है। यह कहा जा सकता है कि मानवीय भावस्थिति के सामाजिक धरातल पर हम अपने ही सम्बन्धों में देख और समझ पाते हैं। इसलिए इस सीमा पर मानवीय स्थायी भावों का आलम्बन सामाजिक सम्बन्धों में माना जाता है। अद्भुत तथा भयानक रसों में प्रकृति को परम्परा ने भी आलम्बन माना है, क्योंकि इन रसों का सम्बन्ध सामाजिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है। इसलिए यह स्थिति शृङ्गार तथा शांत रसों को लेकर है। प्रथम भाग में मनोभावों के विकास में प्रकृति तथा समाज का क्या योग रहा है इस पर विचार

---

१. संस्कृत आचार्यों के अनुकरण पर केशव ने 'कविप्रिया' में प्रकृति वर्णन के लिए विभिन्न वस्तुओं को गिनाया है। सरिता, वाटिका, आश्रम, सरोवर तथा ऋतुओं आदि के विषय में इसी प्रकार वस्तुओं को गिनाया गया है। सरोवर-वर्णन की सूची इस प्रकार है—

"ललित लहर बग पुष्प पशु, सुरभि समीर तमाल।
करम केलि पंथी प्रगट, जलचर बरनहु ताल॥"

किया गया है। हम देख चुके हैं कि सौन्दर्यानुभूति जो काव्य का आधार है प्रकृति से सम्बन्धित है, यद्यपि उसमें अनेक सामाजिक भावस्थितियों का योग हो चुका है। इस प्रकार प्रकृति सौन्दर्य भाव का आलम्बन है, परन्तु इस स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि सम्पूर्ण भाव-स्थिति प्रकृति को लेकर है। स्थायी भावों में अनेक विषमताएँ आ चुकी है जिनको एक ही प्रकार से समझना सम्भव नहीं है। शृंगार रस में रति स्थायी-भाव का आलम्बन प्रत्यक्ष रूप से नायक-नायिका हो सकते हैं, पर इस भाव का रूप केवल मांसल शारीरिकता के आधार पर नहीं है, उसमें अनेक स्थितियों की स्वीकृति है। जिस प्रकार भाव-केन्द्र में प्रमुख रूप से आने के कारण किसी वस्तु या व्यक्ति को आलम्बन स्वीकार किया जाता है, उसी प्रमुखता की दृष्टि से प्रकृति को आलम्बन स्वीकार किया जा सकता है। इसी विचार से प्रकृति को सौन्दर्य तथा शांत के आलम्बन रूप में स्वीकार किया गया था।

विभाजन की सीमा (क)—हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में प्रकृति के स्वतन्त्र आलम्बन रूप को स्थान नहीं मिल सका। पिछले प्रकरणों में इसपर विचार किया गया है। परन्तु यह भी देखा गया है कि प्रमुखता न मिलने पर भी प्रकृति मानवीय भावों से सम स्थापित कर सकी है। वस्तुतः जब प्रकृति मानवीय भावों के समानान्तर भावात्मक व्यंजना अथवा सहचरण के आधार पर प्रस्तुत की जाती है, उस समय उसको विशुद्ध उद्दीपन के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। वैसे प्रकृति को लेकर भाव-प्रक्रिया का आधार मानव है। आलम्बन की स्थिति में, व्यक्ति अपनी मनःस्थिति का आरोप प्रकृति पर करके उसे इस रूप में स्वीकार करता है, जब कि उद्दीपन में आलम्बन प्रत्यक्ष रूप से दूसरा व्यक्ति रहता है। ऊपर की स्थिति मध्य में मानी जा सकती है। आश्रय का आलम्बन परोक्ष में है और प्रकृति के माध्यम से भाव-व्यंजना की जाती है। इस सीमा पर प्रकृति पर आश्रय की भाव-स्थिति का आरोप होता है, पर वह किसी अन्य आलम्बन की संभावना को लेकर। प्रकृति के प्रति साहचर्य की भावना भी मानवीय सम्बन्ध का आरोप है, परन्तु उसमें सहानुभूति की निकटता के कारण प्रकृति आश्रय से सीधे ही सम्बन्धित है। इसी कारण 'आध्यात्मिक साधना' तथा 'विभिन्न काव्य-रूपों' की विवेचना के अन्तर्गत प्रकृति पर अप्रत्यक्ष आलम्बन का आरोप, उसके माध्यम से भाव-व्यंजना तथा उसके प्रति सहचरण की भावना को लिया गया है। प्रस्तुत प्रकरण में विशुद्ध उद्दीपन की दृष्टि से प्रकृति पर विचार करना है। हम कह चुके हैं कि मध्ययुग के साहित्य में लोक-गीतियों की स्वच्छन्द प्रवृत्ति को स्थान मिल सका है और साहित्यिक परम्पराओं को भी अपनाया गया है। संस्कृत साहित्य में उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत प्रकृति का रूप रूढ़िवादी हो चुका था। इस कारण मध्ययुग के काव्य की सभी परम्पराओं में उद्दीपन की विभिन्न प्रवृत्तियाँ फैली हुई हैं।

उद्दीपन की सीमा—मध्ययुग के काव्य ने लोक-जीवन से प्रेरणा ग्रहण की है और वह लोक-भावना के अभिव्यक्त रूप लोक-गीतियों तथा कथाओं से प्रभावित भी हुआ है। लोक-जीवन से प्रकृति का रूप ऐसा हिला-मिला रहता है कि वहाँ जीवन और प्रकृति में विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती है। लोक-गायक अपने भावोच्छ्वासों को, अपने को, प्रमुख मानकर अभिव्यक्ति की भाषा में गाता है; पर वह अपने वातावरण को, अपने चारो ओर फैली हुई प्रकृति को अलग नहीं कर पाता है। वह अपनी सामाजिक अनुभूतियों को अपने चारों ओर की वातावरण बनकर फैली हुई प्रकृति के साथ ही प्राप्त करता है। और जब वह उन्हें अभिव्यक्त करता है, तब भी वह प्रकृति के रूप को अलग नहीं कर पाता। लोक-गीतिकार अपनी दुःख-सुखमयी भावनाओं से अलग प्रकृति को कोई रूप नहीं दे पाता और न अपनी भावनाओं को बिना प्रकृति का आश्रय लिए व्यक्त ही कर पाता है। इसी स्पष्ट विभाजक रेखा के अभाव में इन गीतियों की भावधारा में प्रकृति का रूप मिलकर उद्दीप्त करता जान पड़ता है। वस्तुतः चेतनशील प्रकृति की गति के साथ मानव अपनी भाव-स्थिति में सम प्राप्त करता है और इस सीमा में प्रकृति शांत तथा सौन्दर्य भाव का आलम्बन आरोप के माध्यम से मानी गई है। यही सम जब किसी निश्चित भाव-स्थिति से समता या विरोध उपस्थित करता है, उस समय उसको प्रभावित करता है और प्रकृति की यह स्थिति उद्दीपन की सीमा है। प्रकृति के विभिन्न दृश्यों और उनकी परिवर्तित होती स्थितियों में जो संचलन तथा गति का भाव छिपा है वही सम, विषम होकर भावों को उद्दीप्त करता है। यही कारण है कि लोक-गीतियों में अधिकतर ऋतुओं के आधार पर भावाभिव्यक्ति हुई है।

जीवन और प्रकृति का सम-तल (क)—इस सीमा पर प्रकृति तथा जीवन समान आधार पर अभिव्यक्त होते हैं। जीवन की भावात्मकता और प्रकृति पर उसी का प्रतिबिम्बित अथवा प्रतिघटित रूप साथ-साथ उपस्थित होते हैं। इस सीमा पर मानवीय भावों और प्रकृति के जीवन से सम्बन्धित भावों में विरोध भी सम्भव है। जीवन की सुखमयी स्थिति में प्रकृति की कठोरता तथा उससे सम्बन्धित कष्टों की भावना से सुरक्षा का विचार उसे अधिक बढ़ाता है। इसी प्रकार प्रकृति में प्रकट होता हुआ उल्लास जीवन की वेदना को तीव्र ही करता है। परन्तु प्रकृति का उल्लास या अवसाद उसका अपना तो कुछ है नहीं। यदि मानव जीवन की भावमयता ही प्रकृति पर प्रसरित है, तो ऐसा क्यों होता है? लेकिन प्रथम भाग के द्वितीय प्रकरण में हम कह चुके हैं कि प्रकृति को भावों से युक्त करने वाला मन ही है। इस कारण यह विरोध प्रकृति और जीवन का न होकर जीवन की अपनी ही दो विभिन्न स्थितियों का है। एक वर्तमान स्थिति है जिसका अनुभव वह अपने चेतन मन से कर रहा है और दूसरी किसी परोक्षकाल से सम्बन्धित है जिसको उसका अवचेतन मन प्रकृति पर चुपचाप छा

देता है। मन का यह विभाजन उद्दीपन के अगले रूप में अधिक प्रत्यक्ष होता है। इस स्थिति में प्रकृति और जीवन लगभग समान तल पर होते हैं। इन्हीं में किंचित भेद पड़ जाने से दो रूपों का विकास होता है।

भाव के आधार पर प्रकृति (i)—एक स्थिति में भाव आधार रूप में उपस्थित होता है। भाव की स्थिति संयोग-वियोग की दुःख-सुखमयी भावना होती है। और इसका आधार होता है संयोग, साम्य अथवा स्मृति का रूप। इन भावों की पृष्ठभूमि रूप में उपस्थित होने पर प्रकृति का रूप अनेक प्रकार से इन्हीं भावनाओं की व्यंजना करता हुआ उपस्थित होता है। प्रकृति का यह चित्र भावों के रंग से रंजित होता है। इस स्थिति में मानवीय भाव की एक ही स्थिति रहती है, क्योंकि जीवन और प्रकृति में भावों का आधार समान है। जिस प्रकार अनेक व्यभिचारियों से तथा अनुभावों से स्थायी भावों की स्थिति व्यक्त होती है; उसी प्रकार उनके आधार पर प्रकृति की भावात्मकता व्यंजित होती है। प्रकृतिवादी की दृष्टि से इस प्रकृति-रूप में कवि उसके समक्ष अपनी स्थिति को, अपने भावों को, उसीके माध्यम से समझता और व्यक्त करता है। इन क्षणों में वह अपने को विस्मृत कर देता है।

प्रकृति का आधार (ii)—इसी की दूसरी स्थिति में प्रकृति केवल आधार रूप से प्रस्तुत रहती है और प्रमुखतः भावों को अभिव्यक्त किया जाता है। प्रकृति के इन उल्लेखों में वर्तमान संयोग या वियोग की स्थिति के प्रति तीव्र व्यंजना छिपी रहती है और इसी आधार पर भावों का अभिव्यक्तीकरण होता है। इस स्थिति के समान प्रकृतिवादी की वह दृष्टि है जिसमें कवि उसके समक्ष उससे प्रभाव ग्रहण करता हुआ भी अपनी भाव-स्थिति को अधिक सामने रखता है। और हम प्रकृति के उद्दीपन-रूप और आलम्बन-रूप में यही भेद मान कर चले हैं। स्थिति समान है, लेकिन एक में प्रकृति किसी प्रत्यक्ष (वह स्मृति में या परोक्ष में भी हो सकता है) आलम्बन के माध्यम को लेकर भाव-स्थिति से सम्बन्ध स्थापित करती है। जब कि दूसरी प्रकृतिवादी दृष्टि से प्रकृति ही प्रत्यक्ष आलम्बन रहती है और उसपर आश्रय की भाव-स्थिति का आरोप अदृश्य रूप से रहता है।

अनुभावों का माध्यम (ख)—इस सीमा के आगे प्रकृति के उद्दीपन-रूप में अन्य भेद भी किए जा सकते हैं। इन रूपों में प्रकृति और भावों का सम्बन्ध और भी दूर तथा अलग का है। इस सीमा पर भी दो प्रकार के प्रकृति-रूप सामने आते हैं। इनमें से एक में प्रकृति को प्रधानता दी गई है और दूसरे में भावों की प्रमुखता है। वस्तुतः मध्ययुग में काव्य की प्रवृत्ति भावों को अनुभावों के माध्यम से व्यक्त करने की ओर अधिक होती गई है। ऐसा संस्कृत के महाकाव्यों में देखा जा सकता है; बाद के काव्यों में अनुभावों को प्रमुखता मिलती गई है। जहाँ तक प्रकृति-वर्णनों के माध्यम से भाव-

व्यंजना का प्रश्न है, इस सीमा पर भावों की स्थिति, कभी-कभी किसी विशेष आलम्बन को न स्वीकार कर व्यापक लगती है। इस रूप में अपनी व्यापक सीमाओं में भाव को व्यक्त करती हुई भी प्रकृति प्रत्यक्ष तथा व्यक्त लगने लगती है। परन्तु इस रूप में भाव-व्यंजना का रूप अनुभवों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है, जबकि ऊपर के रूप में भावों की व्यंजना मात्र रहती थी। इसी रूप के दूसरे पक्ष में प्रकृति की हलकी उल्लेखात्मक पृष्ठभूमि पर भावों को व्यक्त किया जाता है; और इसमें भी अनुभावों का आश्रय ही अधिक लिया गया है। हम पहले ही कह चुके हैं कि प्रकृतिवादी आलम्बन रूप प्रकृति को लेकर अपनी भाव-व्यंजना करता है; और इसको अनुभावों के माध्यम से भी उपस्थित कर सकते हैं। पर उस समय ये भाव या अनुभाव आश्रय की मनः-स्थिति से रूप पाकर व्यक्तिगत नहीं रह जाते, और इस सीमा पर प्रकृति अधिक प्रत्यक्ष रहती है। इसी भेद के कारण प्रकृतिवादी सीमा में भावों और अनुभावों को प्रधानता देकर उपस्थित होने वाले प्रकृति-चित्रों में प्रकृति ही प्रमुख लगती है, जबकि अन्य कवियों में भावों को पृष्ठभूमि में रख कर उपस्थित हुए प्रकृति-चित्रों में भी मानवीय दृष्टि-बिन्दु सामने आ जाता है। इसका कारण यह भी है कि इन कवियों ने प्रकृति-रूपों के माध्यम से शृंगार की रति भावना की व्यंजना की है जो सामाजिकों का दृढ़मूल स्थायी-भाव है।

आरोपवाद (ग)—अभी तक उद्दीपन के अन्तर्गत जिन प्रकृति-रूपों की बात कही गई है उनमें जीवन और प्रकृति एक दूसरे से प्रभावित होकर भी अपने अस्तित्व से अलग हैं। परन्तु जिस मानवीय जीवन तथा भावनाओं के आधार पर यह व्यंजना होती है, उसका प्रत्यक्ष आरोप भी किया जाता है। और इस आरोपवाद के मूल में यही भावना सन्निहित है। प्रकृति पर यह आरोप उद्दीपन की सीमा में माना जा सकता है। यहाँ फिर हम आलम्बन रूप प्रकृति से इसका भेद कर सकते हैं। प्रकृतिवादी कवि आरोप के रूप में ही प्रकृति को जीवन व्यापार में संलग्न पाता है। उद्दीपन-विभाव में आरोप सामाजिक स्थायी-भाव की दृष्टि से किया जाता है, जबकि प्रकृतिवादी का आरोप व्यापक रूप से अपनी मानसिक चेतना से सम्बन्धित है; और बाद में प्रत्यक्ष सामाजिक आधार के अभाव में उनकी अभिव्यक्ति का रूप व्यक्तिगत सीमाओं से अलग हो जाता है। मानवीय भावों की प्रधानता से प्रकृति का आरोप रूपात्मक तथा संकुचित होकर व्यक्तिगत सीमाओं में अधिक बंधा रहता है। इस कारण सामाजिक सम्बन्ध और भाव ही प्रत्यक्षरहता है, प्रकृति गौण हो जाती है। इस आरोप में भावों अनुभावों के साथ शारीरिक आरोप भी सम्मिलित है, जिसे मानवीकरण कहा गया है। रीति-परम्परा की अलंकार वादी प्रवृत्ति के फल-स्वरूप अन्य आरोपों का आश्रय भी प्रकृति-वर्णनों में लिया गया है। वस्तुतः प्रकृति के रूप जिस प्रकार अलग अलग विभाजित किए गए हैं,

उस प्रकार उनकी स्थिति नहीं रहती । ये रूप अनेक प्रकार से मिल-जुल कर उपस्थित होते हैं । इन समस्त रूपों को यहाँ गिनाना सम्भव नहीं है । आगे की विवेचना में मध्ययुग के काव्य विस्तार में प्रकृति के उद्दीपन-विभाव में आने वाले रूपों पर विचार किया जाएगा ।

राजस्थानी काव्य

पिछले प्रकरणों में काव्य-रूपों का उनकी परम्परा के अनुसार विचार किया गया था । यहाँ उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत आने वाले प्रकृति-रूपों पर विचार किया जाएगा, इसलिए आवश्यक नहीं है कि उनके अनुसार यहाँ भी क्रम का अनुसरण किया जाय । वातावरण की दृष्टि से राजस्थानी काव्यों को यहाँ एक साथ लेना उचित है, यद्यपि 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' अपनी परम्परा में 'ढोला मारूरा दूहा' से भिन्न है । ऋतु प्रकृति के परिवर्तित रूपों को लेकर उपस्थित होती है। इन परिवर्तनों में मानवीय भावों को प्रकृति से सम तथा विरोध की स्थितियाँ प्राप्त करने का अधिक अवसर रहता है । यही कारण है कि लोक-गायक ऋतुओं से अधिक प्रेरणा ग्रहण करता है । लोक-गीतियों के प्रभाव के कारण हिन्दी मध्ययुग के काव्य में ऋतुओं के दृश्यों से उद्दीपन का कार्य अधिक लिया गया है । युग की प्रवृत्तियों तथा युग के काव्य-रूपों के अध्ययन से यह सिद्ध है कि मध्ययुग के काव्य में रति स्थायी-भाव की ही प्रमुखता है । इस युग का समस्त काव्य मानवीय रति-भावना को लेकर चला है । इस कारण प्रकृति का रूप मानवीय भावों के आधार पर अधिक उपस्थित हुआ है । उद्दीपन की मूल भावना लोक-गीतियों से विकसित हुई है, इसलिए यहाँ लोक-गीतिपरक कथाकाव्य से आरम्भ करना अधिक उचित होगा ।

ढोला मारूरा दूहा—संयोग की स्थिति में प्रकृति की क्रियाशीलता सुन्दर और आकर्षक लगती है; और वह मानवीय रति-संयोग के समानान्तर भी जान पड़ती है । इसी भाव-स्थिति में मालवणी ढोला से कहती है, इस प्रकृति के उल्लासमय वातावरण को छोड़ कर कौन विदेश जाना चाहेगा—'पिउ पिउ पपीहा कर रहा है; कोयल सुरंगा शब्द बोल रही है । हे प्रिय, ऐसी ऋतु में प्रवास में रहने से क्या सुख मिलेगा ?' इसमें प्रकृति का उल्लास वियोग की दुःखद स्मृति के विरोध में वर्तमान भाव-स्थिति के उद्दीपन-रूप में है । लोक-गीति की स्वच्छंद भावना में प्रकृति का कष्टप्रद रूप अपने यथार्थ में संयोग सुख की आकांक्षा को अधिक तीव्र करता है—'जिन दिनों जाड़ा कड़ाके का पड़ता है, तिलों की फलियाँ फटने लगती हैं तथा कुंझ पक्षी करुण शब्द करता है; उन दिनों कोई पाहुन होकर कहीं जाता है ?' इस कथा-गीति में प्रकृति केवल मानवीय भावों का अनुसरण ही नहीं करती; उसकी सहानुभूति के विस्तार में प्रकृति अपनी वस्तु-स्थिति के यथार्थ रूप में उपस्थित होती है। यहाँ कुंझ पक्षी का शब्द संयोगिनी नायिका

सुन रही है और अपनी सहानुभूति के कारण प्रकृति का रूप उसे वियोग की स्मृति दिलाता है। लोक-गीति की संयोगिनी भी वियोग की व्यथा से परिचित है; और तभी वह प्रकृति के आन्दोलन तथा उसकी उमड़न के प्रभाव को जानती है—चारों ओर घने बादल छाए हैं; आकाश में बिजली चमक रही है। ऐसी हरियाली की ऋतु तभी भली लगती है जब घर में सम्पत्ति और प्रिय पास हो।'[1] वस्तुतः गीत के वातावरण में गायिका अपने संयोग-सुख और अपनी वियोग-वेदना दोनों से परिचित है। साथ ही सहानुभूति के वातावरण में उसको प्रकृति अपनी सहचरी लगती है। इस कारण प्रकृति के दोनों रूपों को वह स्वाभाविक भाव-स्थिति में ग्रहण कर लेती है। केवल संयोग तथा वियोग की परिवर्तित स्थितियों में वह उन रूपों से पूर्व सम्पर्क के आधार पर भिन्न प्रभाव ग्रहण करती है। प्रकृति में उल्लास छाया हुआ है और विरहिणी अपने उल्लास से वंचित है; मारवणी इसी प्रकार विकल हो उठी है—'हे प्रिय, वर्षा ऋतु आ गई, मोर बोलने लगे। हे कन्त, तू घर आ। यौवन आन्दोलित है।' विरहिणी मारवणी प्रकृति के आनन्दोल्लास को अपनी वेदना के विरोध में पाकर विह्वल हो उठी है। यह संयोग के सुख की स्थिति को स्मरण कराने वाली प्रकृति ही तो कष्टकर हो गई है—'पावस के बरसते ही पर्वतों पर मोर उल्लास में भर उठे। वर्षा ऋतु ने तरुवरों को पत्ते दिए और वियोगिनियों को पति की याद सालने लगी।' विरहिणी अपनी अव्यक्त भावना का आरोप करके जैसे विकल है—'बादल बादल में एक-एक करके बिजलियों की चहल-पहल हो रही है। मैं भी नेत्रों में काजल की रेखा लगाकर अपने प्रियतम से कब मिलूँगी?'[1] इस गीति की प्रमुख प्रवृत्ति यही है, पर इसमें अन्य उद्दीपन सम्बन्धी रूप भी मिल जाते हैं। मारवणी प्रकृति के माध्यम से अपने भावों की उद्दीप्त स्थिति को व्यक्त करती है। इस चित्र में प्रकृति की सम-स्थिति का रूप सन्निहित है—'आज उत्तर का पवन प्रवाहित होना शुरू हो गया—प्रवासी को जाते देख प्रेमियों का हृदय फट जायगा। वह स्थल को जलाकर और आक को झुलसाकर कुमारियों का गात भस्म कर देगा।'[2] इस अभिव्यक्ति में 'हृदय फटने' तथा 'गात भस्माने' की बात व्यथा को व्यक्त करती है, पर साथ ही इसमें प्रकृति का समानान्तर रूप भी प्रस्तुत है।' इस कथा-गीति पर साहित्यिक प्रभाव भी है, इस कारण प्रकृति के एक उद्दीपक-रूप में आरोप की भावना भी है। इसका यह अर्थ नहीं है कि लोकगीतिकार आरोप करता ही नहीं है, पर आरोप का ऐसा रूपात्मक चित्र उनमें कम ही होता है—'बादलों की घटाएँ सेना है, बिजली तलवार है और वर्षा की बूँदें बाणों की तरह

१. ढोला मारूरा दूहा ; स० २५०, २८३, २६० ।
२. वही: सं० ३८, ३६, ४४।
३. वही: सं० २८६ ।

लगती हैं। हे प्रियतम, ऐसी वर्षा-ऋतु में प्यारे बिना कहो कैसे जिया जाय ?"[1]

माधवानल कामकन्दला प्रबन्ध —गुजराती परम्परा में आनेवाला गणपति कृत 'माधवानल कामकन्दला प्रबन्ध' भाषा की दृष्टि से राजस्थानी काव्यों के निकट है। साथ ही लोक-कथा-गीति के रूप में होने के कारण भी इसका यहीं उल्लेख करना उचित होगा। उद्दीपन-विभाव की दृष्टि से इसमें लोक-गीति का वातावरण है जिसकी ओर 'ढोला मारूरा दूहा' में संकेत किया गया है। वैशाख में प्रकृति विरहिणी को उद्दीप्त करती है—

> विरह हुताशनि हूँ वही, सही करूँ छंड़ राख।
> तेहवा महि तुँ तापवइ, बारु भई वैशाख॥[2]

इस ऋतु का समस्त वातावरण उसके मन को विकल करता है, उसकी विरहाग्नि में सभी कुछ दाहक है। पृथ्वी संतप्त हो उठी है, मलयाचल से आने वाला पवन तेज झोंकों में आकुल कर देता है। इसी प्रकार शरत्कालीन चन्द्रिका भी वियोगिनी के लिये विष के समान है। उसका समस्त सौन्दर्य और उल्लास उसके लिये दाहक है।[3] एक स्थल पर विरहिणी आरोप के आधार पर प्रकृति के उद्दीपन-रूप को प्रस्तुत करती है—

> हेमागिरियी हाथिणी, आवइ पवन पराणि।
> ऊंमाड़ी ऊपरि चड़ी, मारइ मन्मथ बाण॥[4]

माधव के विरह प्रसंग के बारहमासा में ऋतु सम्बन्धी आमोद का वर्णन भी विरह के विरोध में प्रस्तुत किया गया है। परन्तु यह आमोद लोक-जीवन के उन्मुक्त उल्लास से अधिक सम्बन्धित है। कवि फाग का उल्लेख इस प्रकार करता है—

> फागुण केरां फणगरां, फिरि फिर गाइ फाग।
> चंग बजावइ चंगपरि, आलवइ पंचम राग।[5]

इस प्रकार इस गीति की प्रवृत्ति स्वच्छन्द है—

वेलि क्रिसन रुकमणी री—पिछले प्रकरण में देख चुके हैं कि 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' परम्परा के अनुसार इन उल्लिखित काव्यों से अलग है। परन्तु इन काव्यों

---

१. वही : सं० २५५।
२. माधवानल कामकंदला प्रबन्ध ; गणपति ; छ० ५६६।
३. वही ; वही ; छ० ५८०—
"शरद निशाकर समसमइ, मैं मईं आविउ मेध।
जहाँ सरी तिहाँ कलीअ विमइ, विरहणीयाँ विष देय॥"
४. वही; वही ; छ० ५६६।
५. वही ; वही ; छ० १६।

का सम्बन्ध एक ही स्थान से होने के कारण कथा-गीति तथा कलात्मक कथा-काव्य की भाव-धाराओं का भेद स्पष्ट हो सकेगा। अपनी-अपनी प्रवृत्तियों के कारण इनमें प्रकृति के उद्दीपन सम्बन्धी प्रयोगों में भी भेद है। कलात्मक काव्य होने के कारण 'वेलि क्रिसन' में स्वच्छन्द भावना का अभाव है। काव्य-रूपों के प्रसंग में देखा गया है कि इसमें प्रकृति और मानवीय भावों में सामञ्जस्य नहीं स्थापित हो सका है। कुछ स्थलों पर क्रिया-व्यापारों के माध्यम से प्रकृति मानवीय जीवन का संकेत देकर उसे उद्दीप्त करती है—

नैरन्ति प्रसरि निरधरण गिरि नीझर
धरणी भर्जे धार पयोधर।
झाले बाइ किया तरु झंखर
लवली बहन कि लू लहर॥[1]

इसमें पवन का वृक्षों को झंखाड़ करने तथा लू से लताओं के झुलसने में जीवन से प्रकृति का विरोध व्यक्त होता है जो स्वयं उद्दीपक है। कहीं प्रकृति में यह व्यंजित न करके केवल अलंकार विधान में मानवीय जीवन को सन्निहित किया गया है। जिसका संकेत रति-भाव के आधार पर प्रकृति को उद्दीपन-विभाव में उपस्थित कर देता है—'गर्जन सहित घन बरस गया। हरियाली रहित पृथ्वी में स्थान-स्थान पर जल भर गया है; जैसे प्रथम सम्मिलन में रमणी स्त्री के वस्त्र उतर जाने पर आभूषण शोभा पाते हैं।' यह प्रयोग आरोप के रूप में ही माना जा सकता है। आलंकारिक आरोप के द्वारा भावों को व्यक्त किया गया है जिससे व्यापक रति स्थायी-भाव में प्रकृति उद्दीपन के अनुरूप प्रस्तुत होती है—'वचनों द्वारा बखान किया गया है ऐसी शरद् ऋतु के आने पर वर्षा ऋतु चली गई, जल-निर्मल होकर नीची भूमि में जा रहा है—रति समय लज्जा स्त्री के नेत्रों में जा रहती है।'[2] इस प्रकार हम देखते हैं गीति-काव्य में जो प्रकृति और जीवन के उन्मुक्त भाव का विषय था, इस काव्य में अलंकार तथा कल्पना का क्षेत्र हो गया है। इस काव्य में प्रकृति को पृष्ठ-भूमि में रखकर मानवीय क्रिया-व्यापारों की योजना करने की प्रवृत्ति भी है—'सूर्य ने उदय होकर संयोगिनी स्त्री के वस्त्र, मंथन-दण्ड, कुमुदिनी की शोभा को मुक्त से बन्धन में कर दिया; घर, हाट, ताल, भ्रमर और गोशालाओं को बन्धन से मुक्त कर दिया।'[3] इसमें उल्लेखों से आलंकारिक चमत्कार मात्र प्रकट किया गया है, जो 'संयोगिनी' के साथ वर्णन को उद्दीपन के रूप में प्रस्तुत करते हैं। दूसरे वर्णन में केवल मानवीय विलास-क्रीड़ाओं का उल्लेख किया गया है—

१. वेलि क्रिसन रुकमणी री ; पृथ्वीराज ; सं० १९१।
२. वही ; वही ; सं० १९७, २०६।
३. वही ; वही ; सं० १८५।

श्री खंड पंक कुमकुमौ सलिल सरि
दलि मुगता आहरण दुति।
जल क्रीड़ा क्रीड़न्ति जगपति
जेठ मास एही जुगति ॥[1]

यह संस्कृत साहित्य के अनुसरण पर सामन्ती वातावरण का प्रभाव है। आलंकारिक प्रवृत्ति आरोपवाद को अधिक बढ़ाती है। पृथ्वीराज ने वसत और मलयानिल के प्रसंग में लम्बे रूपक बाँधे हैं और अन्यत्र भी ऐसे प्रयोग अधिक किए हैं। वसंत के वर्णन में ऋतुराज के आरोप के साथ समस्त ऐश्वर्य विलास को भी प्रस्तुत किया गया है। पवन वर्णन के प्रसंग में कामदूत से प्रारम्भ करके पति तथा हाथी के आरोप किये गये हैं। पवन की कल्पना 'मेघदूत' से ग्रहण की जान पड़ती है; परन्तु यह पवन-दूत केवल उद्दीपक है, इसमें सहचरण की सहानुभूति का वातावरण नहीं मिलता। अपनी कलात्मकता के कारण इस सुन्दर चित्र में आरोप का माध्यम स्वीकार किया गया है—'वह पवन दूत (कामदेव) नदी-नदी तैरता हुआ, वृक्ष-वृक्ष फाँदता हुआ, लतिकाओं को गले लगाता हुआ दक्षिण से उत्तर दिशा को आता है, उसके पाँव आगे नहीं चलते।'[2] इस वर्णना में संश्लिष्ट योजना के माध्यम से आरोप को व्यक्त किया गया है, इस कारण चित्र सुन्दर है। आगे पवन की गति का वर्णन किया गया है—'केवड़ा, केतकी, कुंद पुष्पों की सुगन्ध का भारी बोझा कंधे पर उठाए हुए है, इसलिए गंधवाह पवन की चाल धीमी पड़ गई है, श्रमबिन्दु के रूप में वह निर्झर शीकरों को बहाता है।'[3] इसमें आरोप कहीं प्रत्यक्ष नहीं हुआ है केवल क्रियाओं के माध्यम से व्यक्त किया गया है और इसलिए उद्दीपन की भावना व्यंजनात्मक है। आगे चलकर इस काव्य में आरोप का प्रत्यक्ष आधार बढ़ता गया है—'पुष्पासव का पान करता हुआ, वमन करता हुआ उन्मत्त नायक रूपी पवन पाँव ठीक स्थान पर नहीं रखता; अंग का आलिंगन दान देता हुआ पुष्पवती (रजस्वला) लताओं का स्पर्श करना नहीं छोड़ता है।'[4] इस आरोप में मानवीकरण का उद्दीप्त रूप अधिक प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष आरोप का रूप कभी सुन्दर व्यंजना से सन्निहित हो जाता है—'पृथ्वी रूपी पत्नी और मेघ रूपी पति मिले; उमड़ कर तटों को मिलाती हुई गंगा और यमुना का संगम-स्थान त्रिवेणी ही मानों बिखरी हुई फूलों से गुथी हुई वेणी बनी।' इसमें भी भावात्मक व्यंजना शारीरिक मानवीकरण के आधार पर अधिक हुई है और क्रीड़ा विलास का रूप अधिक प्रमुख है। यह रूप

---

१. वही; वही; सं० १८६।
२. वही; वही; सं० २५६।
३. वही; वही; सं० २६०।
४. वही; वही; सं २६२।

का आरोप भी कभी मांसलता से अधिक सम्बन्धित न होकर सुन्दर लगता है—'काले-काले पर्वतों की श्रेणी मानों काजल की रेखा है; कटि में समुद्र ही मानों कटि की मेखला है........पृथ्वी ने अपने ललाट पर बीरबहूटी रूपी कुंकुम की बिन्दी लगाई है।'[1]

संत काव्य

स्वच्छंद भावना—संत साधकों ने अपनी प्रेम-भावना में विरहिणी के रूप में अपनी वियोग-व्यथा को व्यक्त किया है। कभी-कभी इसी प्रकार अपने मिलन-उल्लास को भी संयोग सुख के रूप में उपस्थित किया है। ये दोनों स्थितियाँ शृंगार के संयोग-वियोग पक्ष हैं। इनके अन्तर्गत प्रकृति का प्रयोग उद्दीपन रूप में हुआ है। इसके साधनात्मक रूप पर विचार किया गया है। इन संतों के काव्य में स्वच्छन्द वातावरण है। इस कारण विरह और संयोग सम्बन्धी प्रकृति-रूप लोक-गीतियों की भावना के अधिक निकट हैं। वस्तुतः इन साधकों ने इन स्थितियों का माध्यम अपनी साधना के लिए स्वीकार किया है; और इन्होंने लौकिकता का आश्रय भी कम लिया है। इस कारण इन प्रकृति-रूपों का प्रयोग संत काव्य में कम हुआ है। फिर भी 'विरहिन के अंगों' और वियोग सम्बन्धी पदों में ये रूप मिलते हैं। कुछ संतों ने बारहमासा या ऋतु-वर्णन भी लिखे हैं। लोक-गीतियों की नायिका के समान संतों की विरहणी बारहमासों में प्रकृति के साथ अपनी व्यथा को व्यक्त करती है—

भादौं गहर गंभीर अकेली कामिनी।
मेघ रह्यो झरलाइ चमकंत दामिनी॥
बहुत भयानक रैनि पवन चहुँदिशि बहै।
(परि हाँ) सुन्दर बिन उस पीव विरहणी क्यों रहै॥

प्रकृति के भयानक रूप से यहाँ व्यथा का तीव्र होना दिखाया गया है। आगे सुन्दर विरोध का आधार भी ग्रहण करते हैं—

दिस-दिस तैं बादल उठे बोलत चातक मोर।
और सुन्दर चकित विरहनी चित्त रहै नहिं ठोर॥[2]

इसी भावना को बुल्ला इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

देखो पिया काली घटा मो पै भारी।
सूनी सेज भयानक लागी मरी विरह की जारी॥[3]

भावों के आधार पर प्रकृति—प्रकृति के उद्दीपन-विभाव का दूसरा रूप

---

१. वही; वही; सं० १६६, २००।
२. ग्रंथा०; सुन्दर; विरह को अंग।
३. शब्दसागर; बुल्ला; प्रेम को अँग, १०।

जिसमें भावों की पृष्ठभूमि पर प्रकृति उपस्थित होती है, संतों में मिलता है। इस सहज अभिव्यक्ति में प्रकृति उन्हीं भावों को व्यक्त भी करती है जिनके आधार पर वह प्रस्तुत होती है। वियोग की पृष्ठभूमि पर सुन्दर की विरहिणी को प्रकृति में व्यापक उद्वेलन बिखरा हुआ जान पड़ता है जो अपने आप में कष्ट और वेदना छिपाए है—'मेरे प्रिय, तुम इतनी देर कहाँ भटक गए। वसंत ऋतु तो उस प्रकार व्यतीत हुई, अब वर्षा आ गई है। बादल चारो ओर उमड़-घुमड़ चले हैं, उनकी गरज तो सुनी ही नहीं जाती। दामिनी चमकती है हृदय पीड़ा से काँप जाता है, बूँदों की बौछार दुःखदायी है।'[1] इस प्रकृति के रूप में वियोगिनी की वेदना और पीड़ा मिली हुई है। वस्तुतः इस चित्र में दो रूप मिले हुए हैं; वियोग की पृष्ठ-भूमि पर प्रकृति है और फिर उसके आधार पर वेदना का रूप है। इसी प्रकार धरनीदास की विरहिणी आत्मा को—

पिया बिन नींद न आवै।
घन गरजै घन बिजुली चमकै, ऊपर से मोंहि झाँकि दिखावै।[2]

दरिया साहब (बिहार वाले) प्रिय-स्मृति के आधार पर प्रकृति को उद्दीपन के व्यंजक रूप में प्रस्तुत करते हैं—'हे अमर पति, तुम क्यों नहीं आते। वर्षा में विविध प्रकार से तेज पवन चल रहा है; बादल गरज कर उमड़ रहे हैं; अजस्र धारा से बूँदें पृथ्वी पर गिर रही हैं, बिजली चारो ओर चमक जाती है, झींगुर झनक कर झनकारता है; बिरह के बाण हृदय में लगते हैं। दादुर और मोर सघन वन में शोर करते हैं, पिया बिना कुछ भी तो अच्छा नहीं लगता। सरिताओं में उमड़-घुमड़ कर जल छाया हुआ है, और छोटी-बड़ी सभी तो प्लावित हो गई हैं।'[3] इसमें वियोग की मनःस्थिति के आधार पर प्रकृति का रूप विरोध से भावोद्दीपन की व्यंजना करता है। कबीर में आध्यात्मिक अलौकिकता और दादू में प्रेम की व्यंजना अधिक है; इस कारण साधारण प्रकृति के उद्दीपन रूपों को इनमें स्थान नहीं मिला है। जो रूप हैं उनमें आध्यात्मिक संकेत मिल जाते हैं जिनका उल्लेख किया गया है। कबीर का प्रत्येक उद्दीपन-चित्र आध्यात्मिकता में खो जाता है—

ओनई बदरिया परिगै संझा। अगवा भूल बन खंडा मंझा॥
पिय अंतै धन अंतै रहई। चौपरि कामरि माथे गहई॥
फूलवा भार न ले सकै, कहै सखियन सो रोय।
ज्यों ज्यों भीजै कामरी, त्यों त्यों भारी होय॥[4]

१. ग्रंथा०; सुन्दर० ; पद, राग म० ३।
२. शब्दा०; धरना०।
३. शब्दा०; दरिया ; मलार ३।
४. बीजक; कबीर ; रमैनी १५।

दादू इन्हीं रूपों को प्रेम की व्यापक भावना से युक्त कर देते हैं। संयोग के अवसर का रूप इस प्रकार है—

बसुधा सब फूलै फलै, पिरथवी अनंत अपार।
गगन गरजि जल थल भरै दादू जै जै कार॥

आरोप—संतों में सुन्दरदास पर साहित्यिक परम्पराओं का अधिक प्रभाव है इसीलिए इनमें प्रकृति पर आरोप द्वारा उद्दीपन का रूप उपस्थित किया गया है। इस आरोप में शृंगारिक कल्पना के द्वारा नहीं, वरन् नृप के आक्रमण के रूपक से यह काम लिया गया है—वियोगिनी के सामने उमड़ते हुए बादल हैं और कवि अपने रूपक से इस चित्र को उद्दीपक कर देता है—'हम विरहिणियों पर पावस नृप के समान आक्रमण कर रहा है·······बादल ही हस्ती है, विद्युत ही हवाइयाँ हैं और गरजन निशानों की ध्वनि है। पवन रूपी तुरंग चारो ओर नाचता है, और बूँदों के बाण चल रहे हैं। दादुर, मोर, पपीहा आदि जैसे युद्ध में ललकारते हुए 'मार-मार' कहते हैं।'[1]

प्रेम कथा-काव्य

प्रकृति और भावों का सामंजस्य—काव्य-रूपों की विवेचना में कहा गया था प्रेम कथा-काव्यों का आधार लोक कथा-गीतियां हैं, इस कारण इनमें स्वच्छन्द प्रवृत्तियों को अवसर मिल सका है। प्रकृति के उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत आनेवाले रूपों की दृष्टि से जायसी में अधिक उन्मुक्त वातावरण मिलता है। आगे के कवियों में भाव-व्यंजना के स्थान पर वेदना के बाह्य अनुभवों और विलास का क्रीड़ा-कलाप अधिक बढ़ता गया है। जायसी ने बारहमासों में ऋतु के बदलते हुए दृश्य-रूपों को विरहिणी के भावों के सम पर उद्दीपक बनाया है। इस बारहमासी में नागमती के विरह-प्रसंग को लेकर प्रकृति को सहज सम्बन्ध में उपस्थित किया गया है। विरहिणी नागमती प्रत्येक मास के परिवर्तित प्राकृतिक वातावरण के साथ अपनी विरह-वेदना को सम अथवा विरोध की स्थिति को रखकर अधिक विकल हो उठती है—'आषाढ़ मास में.... घेरती हुई घटा चारों ओर से छाती आती है; हे प्रिय बचाओ मैं मदन से पीड़ित हूं। दादुर, मोर और कोकिला शब्द कर रहे हैं.... ..बिजली गिरती है, शरीर में जैसे प्राण नहीं रुकते। ......सावन में.......मार्ग अंधकार में गम्भीर और अथाह हो उठा है, जी बावला होकर भ्रमता घूमता है; संसार जहाँ तक दिखाई देता है जलमय हो उठा है, मेरी नौका तो बिना नाविक के थक चुकी है।....भादों में....बिजली चमकती है, घटा गरज कर त्रस्त करती है, विरह काल होकर जी को ग्रस्त करता है।

१. ग्रं०; सुन्द०; प०, रा० म० ४।

मघा झकोर-झकोर कर बरसता है, मालती के समान मेरे दोनों नेत्र चूते हैं।'[1] इसी प्रकार यह सारा बारहमासा प्रकृति और भावनाओं के सामंजस्य पर चलता है। इसमें प्रकृति का स्वाभाविक रूप भावों को आधार प्रदान करता है; और भावों की सहज स्थिति प्रकृति से प्रेरणा प्राप्त करती है। साथ ही इसका सब से बड़ा सौन्दर्य यह है कि प्रकृति के क्रिया-व्यापारों में भावों की व्यंजना सन्निहित है, जबकि वियोगिनी के भावों और अनुभवों के साथ प्रकृति से तद्रूपता भी स्थापित की गई है। बादल घिरते हैं तो वियोगिनी कामपीड़ित है; अंधकार गम्भीर अथाह है तो उनका मन भ्रमता है और यदि मघा बरसता है तो उसके नेत्र चूते हैं। अन्य प्रेम कथा-काव्यों में ऐसी उन्मुक्त स्थिति नहीं है। दुखहरनदास ने बारहमासा को संयोग के अन्तर्गत रखा है, इसलिए उसमें भी यह सहज भाव नहीं आ सका है। इसमें विलास तथा क्रीड़ा की बात ही अधिक है। उसमान और आलम के बारहमासों में प्रकृति पीछे पड़ जाती है और विरह की अवस्था का वर्णन प्रमुख हो गया है। इस विरह-स्थिति के वर्णन भावस्थिति के रूप में न होकर अधिकतर क्रिया-कलापों तथा पीड़ा सम्बन्धी अनुभावों के अत्युक्तिपूर्ण चित्रण में हुए हैं। उसमान की वियोगिनी प्रकृति के सामने अपने आप में अधिक व्यस्त है—'जेठ ऐसा तपा....इस मास में तो संसार ऐसा तपा कि पुतलियों के आँसू सूख गए। विरह छिपाए नहीं छिपता, सहस्र तेज होकर उसके शरीर तपाता है।....आषाढ़ मास में...श्वेत, पीत, श्याम बादल छाते हैं, बैरी बकों की पंक्ति दिखाई देती है, लोग अपने घरों को छाते हैं, पक्षी वनों में घोंसला बनाते हैं। मेरा कन्त तो वैरागी है, मन्दिर छाकर क्या करूँगी।'[1] इस चित्र का वातावरण फिर भी स्वाभाविक है। आलम ने ऋतु के रूप को पृष्ठ-भूमि में रखा है, उसके आधार पर भावों की बात कही है पर इनमें शारीरिक क्रिया-कलाप से अधिक भावों तथा अनुभावों तक सीमित रहा गया है। यद्यपि इन वर्णनों में अत्युक्ति अधिक है—

ऋतु पावस श्याम घटा उनई लखि के घन घोर घिरातु नहीं।
धुनि दादुर मोर पपीहन की लखि के क्षरण चित्त थिरातु नहीं।
जब ते मनभावन तें बिछुरे तब ते हिय दाह सिरात नहीं।
हम कौन से पीर कहैं दिलकी दिलदार तो कोई लखात नहीं।[2]

वस्तुतः आलम प्रेम कथा-काव्य की परम्परा में होकर भी शैली की दृष्टि से रीतिकालीन प्रवृत्ति के अधिक निकट हैं। इन्होंने कुछ स्थलों पर वियोग के आधार पर

---

१. ग्रंथा; जायसी; पद०, नागमती-वियोग-खंड, दो० ४, ५, ६, ।

१. चित्रा०; उस०; ३२ पाती-खंड, दो० ४४५, ४४६।

२. विरहवारीश (माध० काम०); आलम; २६ वीं तरंग।

प्रकृति को उपस्थित किया है और ऐसे रूपों में भावों को उद्दीप्त करने की व्यंजना सन्निहित है—

रहत मयूर मानों चातक चढ़ावै चोप,
घटा घहरात तैसी चपल छटा छई।
तैसो रैनि कारी वारि बुन्द झरलाई,
भेधि झिल्लिन की तान बाढ़त बढ़ी नई।[1]

आलम में चमत्कार के साथ आरोप का रूप अधिक है—'झकझोरता हुआ प्रचंड पवन चलता है, विरही वृक्ष मूल से हिल जाता है। आकाश में घुमड़कर घनघोर घटा छा रही है, नवीन पत्तों के समान वनिता काँपती है।' इस आरोप में विरह की भाव-स्थिति को लेकर रूपक और उपमा का प्रयोग किया गया है, लेकिन अन्यत्र उद्दीपन की स्थिति को प्रस्तुत करने वाली भाव-व्यंजक वस्तुओं का आरोप भी किया गया है—

महाकाल कैधौं महाकाल कूटैं,
महाकालिका के कैधो केश छूटैं।
कैधौं धूमधारा प्रलयकाल वारी,
कैधौं राहु रूप कैधौं रैन कारी।[2]

क्रिया और विलास—जायसी में उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत केवल उल्लेख करके मानवीय भावों को व्यक्त करने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। इनमें भी जैसा कहा गया है बाह्य स्थूल प्रभावों क्रियाव्यापारों तथा विलास-क्रीड़ाओं का रूप अधिक व्यक्त होता गया है। वसंत के प्रसंग में कवि ने मानवीय उल्लास तथा विलास का वर्णन ही अधिक किया है—

फर फूलन्ह सब डार ओढ़ाई। झुंड बाँधि कै पंचम गाई।
बाजहिं ढोल दुंदुभी भेरी। मादर तूर झाँझ चहुँ फेरी।
नवल बसंत नवल सब बारी। सेंदुर बुक्का होइ धमारी।[3]

जहाँ तक ऋतु के साथ मानवीय उल्लास का प्रश्न है, यह रूप स्वाभाविक है; क्योंकि ऐसे समय सर्वसाधारण का उल्लास-मग्न होना सहज है। परन्तु इन वर्णनों के अन्तर्गत जब जायसी आनन्दोल्लास का वर्णन करते हैं, उसमें क्रिया-व्यापारों का उल्लेख भी मिलता है—

---

१. वही; वही; २७ वीं तरंग।
२. वही; वही; २७ वीं तरंग।
३. ग्रथा०; जायसी; पदमा० २० वसंत-खंड, दो० ७।

पहिरि सुरंग चोर धनि भीना। परिमल मेद रहा तन भीना।
अधर तमोर कपूर भिमसेना। चंदन चरचि लाव तन बेना।[1]

उसमान ने षट् ऋतु-वर्णन को वियोग के अन्तर्गत रखा है, परन्तु इसमें भी प्रकृति से अधिक स्थिति प्रधान हो उठी है। इन्होंने भावों से सम्बन्धित पीड़ा, जलन तथा उत्पीड़न आदि का वर्णन ही प्रमुखतः किया है—'जेठ की ज्वाला में दुःख मन से निकाला नहीं जाता, विरह की दावा देखी नहीं जाती जैसे अग्नि की ढेरी ही प्रकट हो गई हो। प्रिय पता नहीं किस तन में छिपा है।' कहीं-कहीं प्रकृति प्रत्यक्ष होकर पीड़ा तथा उत्पीड़न को बढ़ाती है—'श्याम रात्रि में जो कोकिल बोलता है, वह मानों विरह से जला-कर शरीर को झाँझर कर देता है। बिजली बढ़कर जैसे स्वर्ग में फैल जाती है, मानों चमक दिखा कर जी निकाल लेती है,[2] उसमान का ऋतु-वर्णन इन्हीं उद्दीपन-रूपों को लेकर चलता है। आगे रीति-कालीन प्रवृत्ति की विवेचना करने से प्रकट होगा कि इनमें भी प्रकृति का व्यंजक आधार लिया गया है। नूर मोहम्मद ने भी उल्लास क्रीड़ा को फाग-खंड में अधिक दिखाया है। उसमें प्रकृति परोक्ष है, विलास तथा ऐश्वर्य ही सामने आ सका है—

गली गली घर घर सकल, मानहिं फाग अनन्द।
माते सब आनन्द सों, भा फागुन सुख कन्द॥[3]

स्वतन्त्र प्रेमी कवि—इस विषय में प्रेम-काव्य के स्वतन्त्र कवियों में भी यही प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। परम्परा से स्वतन्त्र होने के कारण इनका वातावरण अधिक उन्मुक्त है। परन्तु यह भावना मानवीय भावना को लेकर है; इनके बारहमासों में प्रकृति के माध्यम से संयोग-विलास तथा वियोग की विरह-व्यथा का अधिक चित्रण हुआ है। यह रूप भाव-व्यंजक न होकर बाह्य आरोपों तथा अनुभावों को लेकर है। दुखहरनदास पूस की शीत का उल्लेख करके आलिंगन आदि का वर्णन करते हैं—

दुइतन एकै देखौ अस वै मीलै लपटाइ।
रहौ न अंतर प्रेम के बीच न रहा समाइ॥[4]

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इन्होंने प्रकृति और भावों का सामंजस्य प्रस्तुत ही नहीं किया है। श्रावण मास का वर्णन भावोल्लास के समानान्तर प्रस्तुत किया गया है—

---

१. वही; वही; वही; २८ षट्-ऋतु-वर्णन-खंड, दो० ६।
२. चित्रा०; उस० ; १८ विरह-खंड, दो० २४५-६।
३. इन्द्रा०; नूर० ; ५ फाग-खंड, दो० १।
४. पुहु०; दुख० ; सुखकर बारहमासा।

.............................। ओनई घटा बादर सभ छावा ।
बरसैं लाग मेघ दिन राती । सीतल भइ धरनी की छाती ।
हरी हरी पेलि बहु बबौरा । पपीहा पीव पीव लागैं सोरा ।[1]

इन कवियों में ऋतु-वर्णन के प्रसंगों में यह रूप अधिक मिलता है। दुखहरन ग्रीष्म के वर्णन में वेदना को व्यक्त करते हैं—'नेत्रों में प्रेम के घनघोर बादल उमड़ आए; मदन का ही बवंडर झकझोर रहा है, बगुलों की पंक्ति दुःख संतप्त हो गई है और कोकिल कुहुक कर विलाप करती है।' इसमें आरोप के माध्यम से प्रस्तुत प्रकृति में उद्दीप्त भावस्थिति व्यक्त की गई है। आगे चित्र के वर्णन में भाव-व्यंजना सन्निहित है—'बिजली चमकती है, बादल गरजता है; सेज पर अकेली विरहिणी अत्यन्त भयभीत हो रही है। चारों ओर नदी-नाले बढ़ गए हैं, विरह से उनका वार-पार कुछ नहीं सूझता।'[2] प्रकृति के रूप के साथ वियोग की स्थिति के संकेत सन्निहित करके यह व्यंजना प्रस्तुत की गई है। 'नलदमन' काव्य में भी ऋतु-वर्णनों में इसी प्रकार प्रकृति और भावों की समानान्तरता उपस्थित हुई—'ऋतु पावस में प्रेम बढ़ गया है, सावन-भादों में मेह बरसता है। स्त्री को चातक की बोली अच्छी लगती है। चातकों की वाणी को सुनकर मन को चैन होती है। कुहुक-कुहुक कर कोकिल और तोते बोलते हैं। दोनों स्त्री-पुरुष सुनकर प्रसन्न हो रहे हैं।'[3] इन काव्यों में आरोप की प्रवृत्ति कम है, क्योंकि इनका सम्बन्ध साहित्यिक परम्परा से अधिक नहीं है। दुखहरन एक स्थल पर रति-उल्लास का आरोप करते हैं—

जोबन बाहु जमुन औैर गंगा । लहरी केलि रस उठे तरंगा ।
नदी नार नीत सखी सहेली । इन्ह कह् सूठी बाढ़ति बेली ।[4]

राम-काव्य

रामचरितमानस—'रामचरितमानस' और 'रामचन्द्रिका' दोनों काव्य राम-कथा से सम्बन्धित हैं। परम्परा की दृष्टि से अलग होकर भी प्रकृति के उद्दीपन-रूप की दृष्टि से इनमें समान प्रवृत्तियाँ हैं। कारण यह है कि दोनों के सामने साहित्यिक परम्पराओं का आदर्श रहा है। साहित्यिक रूप में उद्दीपन में प्रकृति पर आरोप की प्रवृत्ति अधिक हो जाती है। कलात्मक प्रयोग में यह आरोप भाव-व्यंजक हो जाता है। परन्तु इस सीमा पर इन दोनों काव्यों में रूढ़ि का अधिक पालन है। इस कारण आरोप भी स्थूल और शारीरिक मानवीकरण के आधार पर अधिक हुआ है। प्रकृति

१. पुहु०; दुख० ; सुखकर बारहमासा ।
२. वही; वही ; छवो-रितु-रूपवंती-विरह-खंड ।
३. नल० ; ऋतु-वर्णन ।
४. पुहु०; दुख० ; सुखकर० बारहमासा ।

का स्वतन्त्र उद्दीपन-रूप इनमें नहीं मिलता। एक स्थल पर 'रामचरितमानस' में राम सीता के रूप-उपमानों में फैली प्रकृति के उल्लास के विरोध में अपनी मनःस्थिति को उद्दीप्त पाते हैं। यह स्थल कलात्मक है पर इसके मूल में आरोप की भावना है। राम सीता की स्मृति की वेदना का प्रकृति के विरोधी उल्लास में अधिक अनुभव करते हैं—

कुंद कली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहि भामिनी।
बरुन पास मनोज धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा।
श्रीफल कनक कदलि हरखाहीं। नेक न संक सकुच मन माहीं।

इसीके आगे स्वतन्त्र प्रकृति भी उद्दीपन की प्रेरणा रखती है—'संग लाइ करनी करि लेहीं। मानहुँ मोहि सिखावन देहीं।' पर इसका विस्तार अधिक नहीं है। इसके बाद कवि वसंत की रूप-योजना 'काम अनीक' के आरोप के आधार पर करता है। और इस आरोप में प्रकृति उद्दीपक ही है—'अनेक वृक्षों में लताएँ उलझी हुई हैं मानों वे ही विविध वितान ताने गए हैं। कदली और ताल ही मानों श्रेष्ठ ध्वजाएँ हैं जो उनको देखकर मोहित न हो उसका मन धीर है। नाना प्रकार के वृक्ष फूले हैं, मानों अनेक धनुर्धारी अनेक रूपों में खड़े हैं।'[1] इसी प्रकार उत्प्रेक्षाओं से यह रूपक पूरा किया गया।

रामचन्द्रिका (क)—'रामचन्द्रिका' का कवि अपनी प्रवृत्ति में अलंकारवादी है। साथ ही इसमें साहित्यिक परम्परा का अनुसरण भी किया गया है। इस कारण आरोपों के माध्यम से प्रायः प्रकृति को उद्दीपन के अन्तर्गत रखा गया है। ऐसे कुछ ही स्थान होंगे जहाँ प्रकृति मानवीय भावों के सम पर व्यंजनात्मक रूप में उपस्थित हुई हो अथवा जहाँ वह भावों के आधार पर उपस्थित की गई हो। एक स्थल पर लक्ष्मण के उल्लेख में प्रकृति का ऐसा रूप आया है जिसे व्यंजनात्मक रीति से भावोद्दीपन का रूप कहा जा सकता है—

मिलि चक्रिन चंदन बात बहै अति मोहत न्यायन हीं गति को।
मृगमित्र विलोकत चित्त जरै लिये चन्द निशाचर पद्धति को।
प्रतिकूल शुकादिक होहि सबै जिय जानै नहीं इनकी गति को।
दुख देत तड़ाग तुम्हैं न बनै कमलाकर ह्वै कमलापति को।[2]

परन्तु इस चित्र में आलंकारिक प्रवृत्ति के कारण स्वाभाविकता के स्थान पर चमत्कार अधिक है। आरोप की भावना में जहाँ आकार से अधिक भाव की व्यंजना हो सकी है वे उद्दीपन-रूप सुन्दर हैं, पर उनमें संस्कृत के कवियों का अनुकरण प्रत्यक्ष

१. राम०; तुलसी; अर०; दो० ३०, ३८।
२. रामचन्द्रिका; केशव; बा० प्र०; छं० ४८।

है—'सब पुष्प परागयुक्त हैं, चारों ओर सुगंध उड़ रही है जिससे विदेश निवासी वियोगी अंधे हो जाते हैं। पत्र रहित पलास समूह ऐसा शोभा देता है मानों बसंत ने काम को अग्निबाण दिया हो।'[1] इसमें उत्प्रेक्षा से काम के बाण की कल्पना भावात्मक है। परन्तु केशव की प्रमुख प्रवृत्ति मानवीकरण के रूप में आकार के आरोप की है। कवि शरद् का वर्णन युवती के रूप में करता है—

दंतावलि कुन्द समान मनो। चंद्रानन कुन्तल भौंर घनो।
भौंहैं धनु खंजन नैन मनो। राजीवनि ज्यौं पद पानि भनो।[2]

केशव की आरोपवादिता में रूप-व्यंजना का दृष्टिबिन्दु न रहकर अलंकृत सूझ की ही प्रधानता है।

उन्मुक्त प्रेम-काव्य

विद्यापति में यौवन का स्फुरण—मध्ययुग की स्वच्छन्द तथा उन्मुक्त प्रवृत्तियों ने आध्यात्मिक साधना तथा रूढ़ियों का आश्रय लिया है। परन्तु विद्यापति ने प्रारम्भ में उन्मुक्त वातावरण के साथ यौवन और प्रेम का काव्य लिखा है। इनमें काव्य का साहित्यिक आदर्श अवश्य मिलता है, पर रूढ़िवादिता तथा आध्यात्मिक साधना से इनका काव्य बहुत कुछ दूर रहा है। इनका प्रेम और सौन्दर्य न तो आध्यात्मिक वातावरण में नैसर्गिक हुआ है और न काव्य की रूढ़ियों का बन्दी ही। जैसा कहा गया है विद्यापति का काव्य साहित्यिक गीतियों के अत्यधिक निकट है, इस कारण इनकी भाव-धारा को कलात्मक आधार मिला है। फिर भी इन गीतियों की अभिव्यक्ति वस्तु-परक आश्रय पर हुई है। और इसलिए प्रेम और सौन्दर्य के भाव-बोध के स्थान पर इनमें यौवन का शारीरिक रूप ही प्रत्यक्ष हो जाता है। प्रकृति के उद्दीपन-रूप की दृष्टि से विद्यापति में लोक-गीतियों जैसी प्रवृत्ति मिलती है, परन्तु इसी कारण से प्रकृति तथा जीवन में भावों का प्रगुम्फन तीव्र हो उठता है। बसंत का दृश्य-जगत् अपने रूप में अधिक मादक है और उसके समानान्तर भावों का यौवन से आकुल चित्र है—

मलय पवन बह। बसन्त विजय कह।
भमर करइ रोल। परिमल नहि ओल।
ऋतुपति रंग हेला। हृदय रभस मेला।
अनंक मंगल मेलि। कामिनि करथु केलि।
तरुन तरुनि संगे। रहनि खपनि रंगे।[3]

१. वही: वही: सो० प्र०: छं० ३४।
२. वही: वही: सो० प्र०; छं० ३५।
३. पदावली; विद्यापति: पद ६१३।

आगे भावों के सम पर प्रकृति भावों को व्यंजित करती हुई उद्दीप्त करती है—'नवीन वृन्दावन में नए-नए वृक्षों के समूह हैं, उन पर नए पुष्प विकसित हैं। नवीन वसंत के प्रसार में नव मलयानिल का संचरण हो रहा है और मत्त अलियों की गुंजार होती है। नवल किशोर विहार करते हैं, यमुना तट पर कुंजों की शोभा नवीन प्रेम से आह्लादित हो रही है।'[1] विद्यापति में उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत प्रकृति के प्रयोग की यही व्यापक प्रवृत्ति है। इसके साथ प्रकृति के संकेत पर विरह की वेदना और यौवन की व्यथा का वर्णन भी प्रमुख हो उठता है—'हे सखी, हमारे दुःख की कोई सीमा नहीं है। इस भादों मास में बादल छाए हैं और मेरा मन्दिर सूना है। झम्प कर बादल गरजते हैं, संसार को प्लावित करते हैं। कन्त तो प्रवासी है, काम दारुण है, वह तीव्र बाणों से मारता है।'[2] यहाँ तो फिर भी प्रकृति सामने उपस्थित है, कुछ स्थलों पर केवल एक उल्लेख के आधार पर विरह की पीड़ा का उल्लेख किया जाता है—

गगन गरजि घन घोर। हे सखि, कलन आश्रोत बहु मोर।
उगलीन्ह पाचो बान। हे सखि, अवन बचत मोर प्राण।
करब कओन परकार। हे सखि, यौवन भेल उजियार।[3]

और कभी तो ऋतु सम्बन्धी उल्लास सामने आता है, प्रकृति विस्मृति कर दी जाती है—

नाचहु रे तरुनि तजहु लाज,
आएल बसन्त रिपु वणिक राज।
केओ कुंकुम मरदाव अंग,
ककरहु मोतिआ भल भाज मान॥

इसमें मानवीय उत्सव तथा उल्लास का रूप सामने आता है, अन्यत्र भी—

मधुर युवतीगण संग,
मधुर मधुर रसरंग।
मधुर मादव रसाल,
मधुर मधुर कर ताल॥

आरोप से प्रेरणा (क)—विद्यापति में काव्य-शिल्प की विशिष्टता के कारण उल्लास आरोप के माध्यम से अधिक व्यक्त हुआ है। परन्तु इस आरोप में भावात्मक प्रेरणा अधिक है, स्थूल आकार से मधु-क्रीड़ाओं आदि के द्वारा उद्दीपन का कार्य नहीं

१. वही; वही; पद ६०६।
२. वही; वही; पद ७१५।
३. वही; वही; पद ७०६।

लिया गया है। विद्यापति ने एक लम्बा रूपक जन्म का बाँधा है और दूसरा राजा का दिया है। जन्म के रूपक में प्रकृति-रूप इस प्रकार चलता है—

माघ मास सिरि पंचमी जजाइबि,
नवल मास पंचमहु रुआइ।
अति घन पीड़ा दुख बड़ पाओल,
बनसपती भेल धाइ हे॥

आगे इस चित्र में उल्लास इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

नाचए जुवतिगण हरषित जनम,
लोल बाल मधाइ रे।
मधुर महारस मंगल गावए,
मानिनि मौन उड़ार रे॥[1]

ऋतिपति राज का रूपक तो प्रसिद्ध है और अनेक कवियों ने इसका प्रयोग किया है। इसमें ऋतु-सम्बन्धी उमंग प्रकृति में प्रतिष्ठित की गई है—'ऋतुराज वसंत का आगमन हुआ। माधवी लताओं में अलि समूह गुंजारता है। दिनकर की किरणों में उसका यौवन है और कुसुम के केसर उसका स्वर्ण दंड है।'[2] विद्यापति के उद्दीपन सम्बन्धी प्रयोग में प्रकृति-रूप वियोग में यौवन की विरह-पीड़ा को लेकर अधिक चलता है, जबकि संयोग में उल्लास का आन्दोलन उसमें अधिक है। इसका कारण है कि विद्यापति मुख्यतः लौकिक प्रेम तथा सौन्दर्य के कवि हैं जो यौवन में अपनी अभिव्यक्ति पाता है।

मीरा की उन्मुक्त उद्दीपक प्रकृति—प्रकृति के उद्दीपन-रूप को लेकर समस्त उन्मुक्त कवियों में समान भावना है। परन्तु मीरा की पद-शैली में गीति-भावना के कारण प्रकृति से उद्दीपन की प्रेरणा स्वाभाविक है और भाव-तादात्म्य स्थापित हो सका है। विद्यापति में यह भावना थी, परन्तु साहित्यिक स्तर के कारण उनके काव्य में अन्य रूप भी हैं। अन्य मुक्तक प्रेमी कवियों पर रीति-परम्परा का प्रभाव अधिक है। स्वतंत्र रूप से प्रकृति के चित्रों में पावस का प्रमुख स्थान रहा है। मीरा की विरहिणी आत्मा पावस के उल्लास को मनःस्थिति के विरोध में पाकर अधिक व्यग्र हो उठी है—

पिया कब रे घर आवैं।
दादुर मोर पपीहरा बोलैं कोइल सबद सुणावैं।
घुमँड घटा ऊलर होइ आई दामिनि दमक डरावैं॥[3]

---

१. वही ; वही ; पद ६०१।
२. वही ; वही ; पद ६०५।
३. पद० ; मीरा ; पद १६६।

और दूसरी ओर संयोगिनी मीरा प्रकृति के पावस उल्लास से अपना सम स्थापित करके अधिक आनन्दमग्न हो उठती है—

मेहा बरसियो करे रे।
आज तो रमियो मेरे घरे रे।
नान्हीं नान्हीं बूँद मेघ घन बरसे।
सूखे सरवर भरे रे।
बहुत दिना पै प्रीतम पायो।
बिछुरन को मोहि डर रे।[1]

दुःख के बाद सुखातिरेक में दुःख की स्मृति भय बनकर रहती है, इसी स्वाभाविक स्थिति की ओर इसमें संकेत किया गया है।

अन्य कवि और रीति का प्रभाव—जैसा कहा गया है मुक्तक-शैली के प्रेमी कवियों में प्रकृति का उद्दीपन-रूप भावों के समानान्तर तो है, पर रीति के प्रभाव से उसमें बाह्य आधारों का वर्णन अधिक है। ठाकुर कवि प्रकृति के विकास-विरोध में मानिनी की रति-भावना को उद्दीप्त करते हैं—'देखो, वन में वल्लरियों में किशलय और कुसुम आ गए हैं और प्रत्येक वन तथा उपवन सुन्दर शोभा से छविमान् है। और इस कोकिल की कूक सुनकर कैसी हूक होती है, ऐसे दुःख में कोई रात-दिन किस प्रकार व्यतीत करे। ऐसे समय तो श्याम को तरसाना नहीं चाहिए; तू अपने मन में विचार कर तो देख। ऐसे समय कोई मान करता है, आम पर मंजरी है और मंजरी के भौंर पर भ्रमर गुंजारता है, ऐसा सुहावना समय है।'[2] इन कवियों में कुछ रूप इस प्रकार के पाए जाते हैं जिनमें प्रकृति के आधार पर वियोग-व्यथा को अधिक व्यक्त किया जाता है—'पावस ऋतु में श्याम घटा को उमड़ी देख कर, मन में धैर्य तो बँधता नहीं फिर इन दादुर और मोरों के शब्द को सुनकर चित्त स्थिर नहीं हो पाता। जब से प्रिय से बिछोह हुआ, वियोगिनी के हृदय की ज्वाला कम नहीं होती। उसकी कौन-सी व्यथा या उल्लास का उल्लेख किया जाय, कोई सुनने वाला और सहानुभूति रखने वाला भी नहीं दिखाई देता।'[3] इस वर्णन में प्रकृति के विरोध में सहानुभूतिपूर्ण वातावरण से भाव-व्यंजना को उद्दीप्त रूप में उपस्थित किया गया है, यद्यपि कवि कहता यही है कि कोई सहानुभूति रखने वाला नहीं मिलता। इसीके दूसरे रूप में भावों की पृष्ठ-भूमि पर प्रकृति उद्दीपक हो उठती है—

---

१. वही; वही; पद १२८।
२. शतक; ठाकुर; छं० ६१।
३. इश्क०; बोधा०; दि० १।

बटपारन बैठि रसालन में यह क्वैलिया आइ खरे ररि है।
बन फूलि हैं पुंज पलासन के तिन को लखि धीरज को धरि है।
कवि बोधा मनोज के भाजनि सो विरही तन तूल भयो जरि है।
घर कन्त नहीं बिरतन्त भटू अब कैधौं बसन्त कहा करि है।[1]

इस प्रकार इन कवियों के मुक्तकों में उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत प्रकृति का रूप लोक-गीतियों की उन्मुक्त भावना तथा साहित्यिक परम्पराओं और रूपों की मध्य की स्थिति मानी जा सकती है।

पद काव्य

भाव सामञ्जस्य—भक्त कवियों के पद-काव्य में उद्दीपन की भावना का विकास विद्यापति के आधार पर माना जा सकता है। साधना सम्बन्धी प्रकरण में भगवान् की भावना को लेकर प्रकृति की प्रभावमयी स्थिति पर विचार किया गया है। वसंत और फाग को लेकर इन कवियों में बहुत दूर तक प्रकृति का भावों से सामञ्जस्य मिलता है। कुंभनदास वसंत का भावोद्दीपक रूप इस प्रकार उपस्थित करते हैं—

मधुप गुंजारत मिलित सप्त सुर भयो है हुलास
तन मन सब जंतहि।
मुदित रसिक जन उमगि भरे है न पावत
मनमथ सुख अंतहि।[2]

चतुर्भुजदास भी इसी प्रकार कहते हैं—

फूली द्रुम बेली भाँति भाँति। नव वसंत सोभा कही न जाति।
अंग अंग सुख विलसत सघन कुंज। छिनिछिनि उपजत आनंद पुंज।[3]

गोविन्ददास का प्रकृति उद्दीपन-रूप वसंत की इस भावना से भिन्न नहीं है—

बिहरत बन सरस बसंत स्याम। जुबती जूथ गावें लीला अभिराम।
मुकलित सघन नूतन तमाल। जाई जुही चंपक गुलाल।
पारजात मंदार माल। लपटात मत्त मधुकरन जाल।[4]

इस प्रकार अनेक चित्र सभी कवियों में मिलते हैं। भक्त कवियों के इस प्रकृति-रूप में मानवीय भावों के समान उल्लास व्यक्त होता है। सूर ने इसको हिंडोला के प्रसंग में प्रस्तुत किया है, प्रकृति और जीवन समानान्तर हैं केवल यहाँ शृंगार की भावना अधिक

१. वही; वही; पृ० २।
२. श्रीपुष्टिमार्गीय पद संग्रह (भा० २); पृ० ६।
३. वही; पृ० १५।
४. वही; पृ० १८।

है—'हरि के साथ हिंडोला झूलो और प्रिय को भी झुलाओ। शरद् और उसके बाद ग्रीष्म ऋतु बीत गई, अब सुन्दर वर्षा ऋतु आई है। गोपियाँ कृष्ण के पैर छूकर कहती हैं, वन वन कोकिल शब्द करता है और दादुर शोर करते हैं। घन की घटाओं के बीच में बगुलों की पंक्ति आकाश में दिखाई देती है। इसी प्रकार विद्युत चमकती है, बादल घोर गरजन करते हैं, पपीहा रटता है और बीच-बीच में मोर बोल उठता है।' इस लम्बी चित्र-योजना में जो उल्लास की उद्दीपन भावना है वह गोपियों के संयोग-शृंगार के समानान्तर ही है—

पहरि चुनि चुनि चीर चुहि चुहि चूनरी बहुरंग।
कटि नील लहँगा लाल चोली उबटि केसरि रंग।[1]

समस्त हिंडोला प्रसंग में यही भावना है।

भावों के आधार पर प्रकृति (क)—सूरदास के बसंत-वर्णन में भावों की पृष्ठ-भूमि पर प्रकृति का उद्दीपन-रूप उपस्थित किया गया है जिसमें उल्लास की भावना निहित है—'कोकिल वन में बोली, वन पुष्पित हो गए; मधुप भी गुंजारने लगे। प्रातःकाल बन्दीजनों की जय-जयकार सुनकर मदन महीपति जागे। दव से जले हुए वृक्षों में दूने अंकुर निकल आए, मानों कामदेव ने प्रसन्न होकर याचकों को नाना-वस्त्र दान दिए। नवीन प्रीति के वातावरण में नववल्लरियाँ नव-पुष्पों में आच्छादित हुईं, जिनके सुरंगों पर नव-युवतियाँ प्रसन्न हुईं।'[2] इसी प्रकार का एक दूसरा चित्र भी है—

हिय देख्यौ बन छबि निहारि।
बार बार यह कहति नारि।
नव पल्लव बहु सुमन रंग।
द्रुम बेली तनु भयो अनंग।
भँवरा भँवरी भ्रमत संग।
यमुन करत नाना तरंग।[3]

उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत प्रकृति का यह रूप सूर में प्रमुखतः है, परन्तु अन्यत्र भी मिलता है। गोविन्ददास भावों का आधार ग्रहण कर प्रकृति को उपस्थित करते हैं—'हे कंत, नवीन शोभावाली अनुपम ऋतु बसंत आ गई, अत्यन्त सघनता से जूही, कुंद और अन्य पुष्प फूल उठे हैं; बनराजि पुष्पित हो उठी है, उनपर मदरस के मतवाले भ्रमर दौड़ते घूमते हैं।'[4] इसी प्रकार का प्रकृति-रूप कृष्णदास में भी है—

१. सूरसा०; दश०; पद २२७४।
२. वहीं; वहीं; पद २३८५।
३. वही; वही; प० २३८७।
४. श्री पुष्ट०; पृ० ६७—'कोकिल बोली बन बन फूल'।

प्यारी नवल नव नव केलि।
नवल विटप तमाल अरुझी मालती नव बेलि।
नव बसंत हसत द्रुमगन जरा जारे पेलि।
नवल बसंत विहंग कूजत मच्यो ठेला ठेलि।
तरणि तनया तट मनोहर मलय पवन सहेलि।
बकुल कुल मकरंद लंपट रहे अलिगन भेलि।'[1]

इन रूपों में पृष्ठ-भूमि की भावना भावात्मक व्यंजना के रूप में सन्निहित हो जाती है, जैसा सूर के चित्र में अधिक दूर तक हुआ है। अथवा क्रीड़ा-विलास आदि का अस्पष्ट आरोप हो जाता है, जैसा इस चित्र में है।

आरोप का आधार (ख)—सूर ने आरोप के आधार पर प्रकृति को उद्दीपन में रखा है। पत्र के रूप में बसंत की कल्पना में नवीनता है—

ऐसो पत्र पठायो ऋतु बसंत
तजहु मान मानिन तुरंत।
कागज नवदल अंबुज पात
देति कमल मसि भँवर सुगात।[2]

बसंत राज, बसंत सेना आदि के रूपक साहित्यिक परम्परा से लिए गए हैं। मदन तथा बसंत के फाग खेलने की कल्पना में आरोप सुन्दर है—

देखत नव ब्रजनाथ आजु अति उपजतु है अनुराग।
मानहु मदन बसंत मिले दोउ खेलत फाग।
केकी काग कपोत और खग करत कुलाहल भारी।
मानहु लै लै नाउँ परस्पर देत दिवावत गारी।[3]

इन सबके अतिरिक्त प्रकृति को परोक्ष में करके केवल विलास और उल्लास का वर्णन भी इनमें मिलता है—'हे सखी, यह बसंत ऋतु आ गई; मधुवन में भ्रमर गुंजारते हैं। ताली बजाकर स्त्रियाँ हँसती हैं; और केसर, चंदन तथा कस्तूरी आदि घिसी जाती हैं। ब्रज में खेल मचा हुआ है। कोई प्रातः सन्ध्या अथवा दोपहर नहीं मानता; नाना प्रकार के मुरज, बीन, डफ तथा झाँझ आदि बाजे बजते हैं और गुलाल, अबीर आदि उड़ाया जाता है।'[4] यही क्रीड़ा-कौतुक की भावना सभी क्षेत्रों में ऋतु के साथ बढ़ती

१. वही; पृ० ३४।
२. सूरसा०; दश०; पद २३८२।
३. वही; वही; पद २३६०।
४. श्रीपुष्ट०; पृ० १६—'आयो आयो री यह ऋतु बसंत।'

गई है और रीति-काल की रूढ़िवादिता तथा उक्ति-वैचित्र्य में तो इसको प्रमुख स्थान मिला है।

मुक्तक तथा रीति काव्य

समान प्रवृत्तियाँ—मुक्त कवियों और रीति परम्परा के कवियों में प्रकृति के उद्दीपन-रूप को लेकर कोई प्रवृत्ति विषयक विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। इनमें इस रूप के अनेक भेद मिलते हैं और सभी कवि समान प्रवृत्तियों से प्रभावित हैं, जो सामूहिक रूप में रीति-परम्परा से सम्बन्धित है। यह एक सीमा तक कवि की अपनी काव्य-प्रतिभा और आदर्श-भावना से भी सम्बन्धित है। जिन कवियों की रसात्मक प्रवृत्ति अधिक है उन्होंने प्रकृति को जीवन के सामञ्जस्य पर अथवा जीवन और प्रकृति में से किसी को पृष्ठ-भूमि में रखकर, दूसरे को उस भावना से आन्दोलित या प्रभावित चित्रित किया है। जिन कवियों की प्रवृत्ति अलंकारों तथा उक्ति-चमत्कार की ओर है उनमें प्रकृति का संकेत देकर या उल्लेख करके पीड़ा-जलन, विलास-क्रीड़ा का ऊहात्मक वर्णन ही प्रमुख है। इसके अतिरिक्त आरोप को लेकर भी यही भेद पाया जाता है। रसवादी कवियों ने भावात्मक व्यंजना प्रस्तुत करने वाले रूपकों का प्रयोग किया है; जबकि अलंकारवादी कवियों में चमत्कार की प्रेरणा से मानवीकरण करने की, आकार देने की प्रवृत्ति अधिक है। इन्होंने विचित्र आरोप भी प्रस्तुत किये हैं। परन्तु यह विभाजन जितना सिद्धान्त से सम्बन्धित है, उतना वास्तविक नहीं है। इस युग का काव्य सब मिलाकर ऐसी रूपात्मक रूढ़िवादिता (फ़ार्मलिज़्म) से बँधा हुआ है कि सभी कवियों में समान परिपाटी का अनुसरण मिलता है। यह कहना कठिन है किस कवि में कौन प्रवृत्ति प्रमुख है। इसलिये यह विभाजन व्यापक रूप से ही लगता है।

समानान्तर प्रकृति और जीवन—स्वच्छन्द भावना से सम्बन्धित प्रकृति का वह उद्दीपन-रूप है जिसमें प्रकृति मानवीय जीवन की दुःखसुखमयी स्थितियों तथा भावनाओं के समानान्तर प्रस्तुत होती है। और इस निकट की स्थिति से वह विरोध, संयोग, स्मृति के द्वारा भावों को व्यंजनात्मक रीति से उद्दीप्त करती है। इसीके समान प्रकृति के वे चित्र हैं जिनमें मानवीय जीवन या भावना का उल्लेख प्रत्यक्ष तो नहीं रहता, परन्तु प्रकृति में भावात्मक क्रियाओं आदि से भाव-व्यंजना का रूप उपस्थित किया जाता है। इस प्रकृति रूप का उल्लेख विभिन्न काव्य-रूपों के अन्तर्गत किया गया है। यहाँ भेद स्पष्ट करने के लिये ठाकुर कवि का पावस वर्णन प्रस्तुत किया जा सकता है—

घन घहरान लागे औंग सहरान लागे,
केकी कहरान लागे बन के बिलासी जे।

बोलि बोलि दादुर निरादर सौं आठो जाम,
 ग्रीषम की देन लागे बहुर बिदासी जे।
ठाकुर कहत देखो पावस प्रबल आयो,
 उड़त दिखान लागे बगुल उदासी जे।
दाबे से दबे से चारो ओरन छए से बीर,
 बरस रहन लागे बदरा बिसासी जे।[1]

इस वर्णन में मानवीय व्यथा सम्बन्धी अनुभावों और भावों को प्रकृति पर प्रतिघटित करके व्यंजना की है, वैसे स्वतन्त्र चित्र माना जा सकता है। यह एक प्रकार से अप्रत्यक्ष आरोप है। इसी चित्र के साथ जब भाव-स्थिति प्रत्यक्ष सामने लगती है, उस समय प्रकृति और जीवन एक दूसरे को प्रभावित करते उपस्थित होते हैं। मतिराम की विरहिणी प्रकृति के पावस-विलास के समानान्तर विरोध की मनःस्थिति लेकर उपस्थित है—

धुरवान की धावन मानों अनंग की तुंग ध्वजा फहराने लगी।
नभ मंडल ते छिति मंडल छ्वै छिन जोत छटा छहराने लगी।
'मतिराम' समीर लगी लतिका विरही बनिता थहराने लगी।
परदेस में पीय संदेस नहीं चहुँ ओर घटा घहराने लगी।[2]

यहाँ प्रकृति का आन्दोलन और वियोगिनी का अनंग पीड़ित होकर 'थहराना' साथ होता है। इस कलात्मक प्रयोग और उन्मुक्त वातावरण में स्पष्ट भेद है। मतिराम ने भावों को प्रकृति के समक्ष रखा है और फिर प्रकृति के माध्यम से व्यंजना द्वारा सामञ्जस्य भी उपस्थित किया है। फहराना, छहराना, घहराना आदि इसी भाव को व्यक्त करते हैं। सेनापति का वर्णन भी इसी प्रकार चलता है—'ऋतुराज वसंत के आगमन पर मन उल्लसित हो उठा है। सौरभमय सुन्दर मलय पवन प्रवाहित है। सरोवर का जल निर्मल होकर मंजन के योग्य है। मधुकर का समूह मंजुल गुंजार करता है; वियोगी इस ऋतु में व्याकुल है, योगी भी ध्यान नहीं रख पाते; और इसमें संयोगी विहार करते हैं। सघन वृक्ष शोभित हैं, अनेक कोकिल समूह बोलता है।'[3]

---

१. पावस० ६७ : इसी प्रकार गिरधर के वर्णन में क्रिया-व्यापारों के द्वारा भाव-व्यंजना हुई है—

"घहरि घहरि घेरि घेरि घोर घन आये
 छाये घर घर घूमेंदो घने घूमि घूमि।
डारैं जल धारैं जोर वमत अमात करैं
 ललकारैं बार बार व्योम चूमि चूमि।"

२. पावस-शतक : २७।

३. कवित्त रत्नाकर : सेनापति : तो० तरं०; छं० २।

इस प्रकृति और जीवन के समानान्तर चित्र में भाव-सामञ्जस्य उपस्थित नहीं हो सका है, इसका कारण है कवि का अलंकारवादी होना। परन्तु जहाँ प्रभावशीलता के साथ प्रकृति उपस्थित हो सकी है, वहाँ यह स्थिति अधिक भावमय हुई है—

तपै इत जेठ जग जात है जरनि जर्‌यो
तापको तरनि मानौं मरनि करत है।
इतहि असाढ़ उठै नूतन सघन घटा,
सीतल समीर हिय धीरज धरत है।
आधे अंग ज्वालन के जाल बिकराल आधे
सीतल सुभग मोद हीतल भरत है।
सेनापति ग्रीषम तपत रितु भीषम है
मानौ बड़वानल सौ बारिधि बरत है।[1]

चमत्कृत तथा प्रेरक रूप (क)—इसी रूप में कभी कवि प्रकृति का प्रभावोत्पादक चित्रण करता है, तब प्रकृति का उद्दीपन-रूप वस्तु-रूप में मन को प्रभावित करता हुआ उपस्थित होता है। यह रूप अधिकतर प्रकृति की पृष्ठ-भूमि पर अंकित हुआ है; परन्तु कभी-कभी प्रकृति में भी प्रस्तुत होता है। इन सभी कवियों में चमत्कार की प्रवृत्ति विशेष है, इस कारण यह रूप ऊहात्मक ही अधिक है। पद्माकर ने बसंत की परम्परागत योजना में यही रूप प्रस्तुत किया है—

पात बिन कीन्हें ऐसी भाँति गन बेलिन के,
परत न चीन्हे जे पे लरजत लुंज हैं।
कहैं 'पद्माकर' बिसासी या बसन्त कैसो,
ऐसे उतपात गात गोपिन के भुंज हैं।
ऊधो यह सूधो सों सँदेसो कहि दीजो भले,
हरि सों हमारे ह्याँ न फूले बन कुंज हैं।
किंशुक गुलाब कचनारन औ अनारन की,
डारन पै डोलत अँगारन के पुंज हैं।[2]

---

१. वही ; वही ; वही; छं० १६, सेनापति का एक छंद इसी प्रकार का है जिसमें वातावरण के साथ वियोग-दशा अंकित की गई है (पाव० ४२)—

"घर्रात घेहर प्रचंड खंड मंडल पै हर्रात दामिनी की दुतिदी भर्रात ।
घर्रात घन के मेघ आवे झर्रात पर्परात पानिय के बूँदन ते बर्रात ।
भर्रात भामिनि भवन माझ सेनापति हर्रात हाय हाय पीय पीय बर्रात ।
चुर्रात खिनखिनत धोरन धरन बीर नीर हीन मीन ऐसी सेज पर फर्रात ।"

२. पद्मा०; पंचा० ; वसं०, ३८० ।

इसमें भावों के सम पर जो प्रकृति का उल्लेख हुआ है वह जैसे स्वयं प्रेरक तथा उद्दीपक है जो अत्युक्ति के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। सेनापति भी जेठ की गरमी का वर्णन इसी उत्तेजक के अर्थ में करते हैं—

गगन गरद धुंधि दसो दिसा रही रूँधि,
मानों नभ भार को भस्म बरसत है।
बरनि बताई, छिति-व्योम की तताई जेठ,
आयो आततार्इ पुट-पाक सौं करत है।[1]

स्वाभाविक प्रभाव (ख)—सेनापति के विषय में कहा गया है कि इन्होंने प्रकृति को यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार सेनापति ने प्रकृति के स्वाभाविक प्रभाव तथा उसकी प्रेरणा का भी उल्लेख किया है। ऋतु का प्रभाव मानव पर पड़ता है और उसको वह सुख-दुःख के रूप में ग्रहण करता है। अन्य कवियों ने इस शारीरिक सुख-दुःख को भावों की प्रेरणा के रूप में स्वीकार कर लिया है, परन्तु सेनापति उसके सहज प्रभाव से परिचित हैं और उसे उपस्थित भी करते हैं। पिछले प्रकरण में ग्रीष्म के प्रभाव का संकेत चित्रण के अन्तर्गत किया गया था। शीत-काल में प्रकृति के इस रूप की ओर कवि संकेत करता है—

धायौ हिय दल हिम-भूधर तें सेनापति,
अंग अंग जग थिर-जंगम ठिरत है।
पैयै न बताइ भाजि गई है तताइ सीत,
आयौ आततार्इ छिति-अंबर घिरत है।

इस प्रकृति के कष्टप्रद रूप के साथ कवि इसी भावना का आरोप सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए कर देता है—

चित्र कैसो लिख्यौ तेज हीन दिनकर भयौ,
अति सियराई गयौ घाम पतराइ कैं।
सेनापति मेरे जान सीत के सताए सूर,
राखे हैं सकोरि कर अंबर छपाइ कैं।[2]

भावात्मक पृष्ठ-भूमि पर प्रकृति—जैसा प्रकरण के प्रारम्भ में कहा गया है कि उद्दीपन के रूपों में कभी भाव के संकेत पर प्रकृति उपस्थित होती है और कभी केवल प्रकृति के उल्लेख के आधार पर भावों की अभिव्यक्ति की जाती है। इस स्थिति में व्यापक वियोग की भावना के अन्तर्गत प्रकृति का प्रमुख चित्र आलम्बन के समान लगता है और इसी कारण इसका संकेत पिछले प्रकरण में किया गया है। परन्तु जिनमें

---

१. कवि : सेना० : ती० तर० : छं० १५।
२. वही : वही : वही : छन्द ५४, ५५।

वियोग की पृष्ठभूमि है, अथवा प्रिय-स्मृति के आधार पर प्रकृति रूप उपस्थित होता है, उनमें उद्दीपन की भावना प्रत्यक्ष और गहरी हो जाती है।

भाव का आधार (क)—इस रूप में केवल व्यापक भावना के प्रत्यक्ष रहने पर प्रकृति का चित्र उपस्थित होता है, जिसमें उद्दीपन की व्यंजना उसी आधार पर ग्रहण की जाती है। पद्माकर में उल्लास की भावना व्यापक होकर प्रकृति-वर्णना के माध्यम से अधिक व्यक्त होती है और इसी कारण यह रूप उद्दीपन के अन्तर्गत है—

द्वार में दिशान में दुनी में देश देशन में,
देखौ द्वीप द्वीपन में दीपत दिगन्त है।
बीथिन में ब्रज में नवेलिन में बेलिन में,
बनन में बागन में बगर्यो बसन्त है।[1]

सेनापति के इस वर्णन में आधार भावात्मक है—

बरसत घन गरजत सघन, दामिनि दिपै अकास।
तपति हरी सफली करी, सब जीवन की आस॥
सब जीवन की आस, पास नूतन तिन अनगन।
सोर करत पिक मोर, रटत चातक बिहंग गन॥
गगन छिपे रबि चंद, हरष सेनापति सरसत।
उमगि चले नद नदी, सलिल पूरन सर बरसत।[2]

भाव की स्थायी स्थिति के आधार पर प्रकृति के वातावरण का परिवर्तन विचित्र-सी अनुभूति देता हुआ उपस्थित होता है, जिनका पद्माकर इस प्रकार वर्णन करते हैं—

और भाँति कुंजन में गुंजरत भौंर भीर,
और डौर भौरन में बौरन के ह्वै गये।
औरै भाँति विहग समाज में अवाज होत,
ऐसो ऋतुराज के न आज दिन ह्वै गये।[3]

प्रत्यक्ष स्मृति (ख)—पिछले रूपों में स्थायी भाव की स्थिति के प्रत्यक्ष होते हुए भी आलम्बन का रूप स्पष्ट नहीं था। पर इसमें भाव का व्यक्त आलम्बन सामने आ जाता है। सेनापति की विरहिणी के सामने—'आवन कह्यो है मन भावन' की प्रत्यक्ष भाव-स्थिति में आलम्बन की स्मृति स्पष्ट है और इसी आधार पर पावस का दृश्य उसके सामने उत्तेजक हो उठता है—

---

१. पद्मा० पं० ; जग०, ३७८।
२. कवि० ; सेना० ; ती० त०; छन्द ३५।
३. हजारा ; हजा० ; वसं०; छन्द १८।

दामिनि दमक सुरचाप की चमक स्याम
घटा की झमक अति घोर घनघोर तें।
कोकिला कलापी कल कूजत हैं जित-तित,
सीकर ते सीतल समीर की झकोर तें।
आयौ सखी सावन मदन सरसावन ल-
ग्यौ है बरसावन सलिल चहुँ ओर तें।[1]

मतिराम भी इसी प्रकार स्मृति के आधार पर प्रकृति को उद्दीपक रूप में उपस्थित करते हैं। इस वियोगिनी को किसी प्रकार का आश्वासन नहीं है, उसे परदेसी प्रिय का सन्देश भी नहीं मिला और पावस उमड़ा आ रहा है—

धुरवान की धावन मानों अनंग की तुंग ध्वजा फहराने लगीं।
नभ मंडल तें छिति मंडल छ्वै छिन जोत छटा छहराने लगीं॥
'मतिराम' समीर लगी लतिका विरही बनिता थहराने लगीं।
परदेस में पीय संदेस नहीं चहुँ ओर घटा घहराने लगीं॥[2]

देव की वियोगिनी के लिए प्रकृति का आन्दोलन स्मृति को जाग्रत करके आत्म-विस्मृत कर देने वाला है—

बोलि उठो पपिहा कहूँ पीव सु देखिवे को सुनि के धुनु धाई।
मोर पुकारि उठे चहुं ओर सुदेव घटा घिरि के चहुँ छाई॥
भूलि गई तिय को तन की सुधि देखि उतै बन भूमि सुहाई।
साँसनि सों भरि आयो गरो अरु आँसुन सों अँखियाँ भरि आईं॥[3]

यह वर्णन कलात्मक और सुन्दर है; प्रकृति की उमड़न का रूप वियोगिनी की स्मृति की उमड़न के आधार पर प्रस्तुत किया गया है।

उत्तेजक प्रकृति (ग)—अलंकारवादी चमत्कार ने प्रकृति को नितान्त अस्वाभाविक स्थिति तक पहुँचाया है। और यह प्रवृत्ति सभी रूपों में समान रूप से क्रियाशील रही है। पिछले विभाग में वस्तु-रूप प्रेरक प्रकृति को देखा गया है। इस रूप में यह प्रवृत्ति प्रकृति को उत्तेजक रूप में प्रस्तुत करती है। इस परिकल्पना में कवियों ने इसको वस्तु-रूप में प्रभाव डालने वाली स्वीकार किया है। वस्तुतः प्रकृति भावों को प्रभावित कर सकती है, पर इन कवियों ने अत्युक्तियों के द्वारा इसका वर्णन किया है। दीनदयाल की वियोगिनी को पावस जैसे स्वयं पीड़ित कर रहा हो—

१. कवि० ; सेना० ; ती० तरं०; छन्द २६।
२. पावस-शतक ; छन्द २७।
३. भाव-विलास ; देव।

चपला चमक लगैं लूक ह्वै अचूक हिवै,
कोकिल कुहूकि बरजोर कोरबान की।
कूक मुरवान की करेजा टूक टूक करैं,
लागति है हूकि सुनि धुनि धुरवान की।[1]

इसी प्रकार श्रीपति की वियोगिनी के लिए प्रकृति का समस्त रूप उत्तेजक है—

आवते गाढ़ असाढ़ के बादर मो तन में अति आग लगावते।
गावते चाह चढ़े पपिहा जनि मोसों अनंग सो बैर बँधावते।
धावते वारि भरे बदरा कवि श्रीपति जू हियरा डरपावते।
पावते मोहि न जीवते प्रीतम जो नहिं पावस में घर आवते।[2]

सेनापति की विरहिणी 'आसाढ़ के आते' ही ऐसी-'गाढ़' में पड़ गई है।[3] और बिहारी की नायिका को उमड़ते बादलों का व्यापार इसी प्रकार दाहक लगता है—

धुरवा होंहि न अलि इहै, धुआँ धरनि चहुँ कोद।
जारत आवत जगत को, पावस प्रथम पयोद॥[4]

आशंका और अभिलाषा (घ)—प्रकृति को जिन विभिन्न भावों के आधार पर उपस्थित किया गया है, उनमें रति के अन्तर्गत आशंका और अभिलाषा प्रमुख हैं। इनमें प्रकृति के उत्तेजक रूप की कल्पना ही निहित है। ऊपर श्रीपति के उदाहरण में आशंका की भावना थी। देव के इस प्रकृति-चित्र में अभिलाषा का आधार है—और इसमें प्रकृति से सम्बन्धात्मक निकटता की व्यंजना छिपी है—

आई रितु पावस न आये प्रान प्यारे यातें,
मेघन बरज आली गरजन लावैं ना।
दादुर हटकि बकि बकि कैं न फोरैं कान,
पिक न फटकि मोहि कुहुकि सतावैं ना।

---

१. ग्रंथा०; दीन० : ऋतुवर्णन, छं० २११।

२. पावस-शतक; छं० १२।

३. कवि०; सेना० : ती० तरं०; छं० २१—
"सुनि घन घोर मोर कूकि उठे चहुँ ओर,
दादुर करत सोर भोर जामिनीन कौं।
काम धरे बाढ़ तरवारि तेर जम-डाढ़,
आवत असाढ़ परी गाढ़ बिरहीन कौं।"

४. सतसई; बि० : दो० ५८२, इसी प्रकार दो० ५३०—
"भौ यह ऐसौ ही समय, जहाँ सुखद दुख देत।
चैत चाँद की चाँदनी, अग जग किए अचेत॥"

विरह बिथा तें हौं तौ ब्याकुल भई हौं देव,
जुगुनु चमकि चित चिनगी उठावें ना।
चातक न गावें मोर सोर न मचावें घन,
घुमरि न छावें जौलों लाल घर आवें ना।[1]

परन्तु इस रूप में भी प्रकृति का उत्तेजक चित्र उपस्थित हुआ है।

भावों की पृष्ठ-भूमि में प्रकृति—इस सीमा तक प्रकृति का स्थान चित्रण की दृष्टि से प्रमुख रहा है। इसके आगे के रूपों में प्रकृति का केवल उल्लेख है, और भावों की व्यंजना प्रमुख हो जाती है। रीति परम्परा के कवियों में केवल भाव-व्यंजनाओं को व्यक्त करने वाले चित्र कम हैं। इनके काव्य में जैसा पहले उल्लेख किया है, भावों को अनुभावों अथवा अन्य स्थूल आधारों पर व्यक्त किया है। इसके अतिरिक्त पीड़ा-कष्ट तथा आनन्दोल्लास को अधिक उपस्थित किया गया है। और इन रूढ़िवादिता की चरम परिणति में ऋतु आदि वर्णनों के अवसर पर राजा और रईसों के ऐश्वर्य-विलास का वर्णन प्रमुख हो उठा है। यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि भावात्मक व्यंजना सम्बन्धी भेदों की अधिक स्पष्ट रेखा इन तीनों प्रमुख रूपों में नहीं की जा सकती, जिनकी विवेचना की गई है।

व्यथा और उल्लास (क)—संयोग और वियोग की स्थिति के अनुसार प्रकृति का उल्लेख मात्र करके विरह-व्यथा तथा आनन्दोल्लास को प्रकट करने की परम्परा रही है। इस काल में इसको अधिक रूढ़िवादी रूप मिला है। प्रकृति के संकेत पर भाव-व्यंजना अधिकतर इन कवियों ने सामञ्जस्य के आधार पर की है, क्योंकि उसमें उक्ति-निर्वाह के लिए अवसर रहता है। इस कवित्त में ग्रीष्म के आधार पर कवि पीड़ा का रूप उपस्थित करता है—

चलति उसास की झकोर घोर चहूँ ओर,
नहीं है समीर जोर मुखा कहैं लोग है।
सोचन की लहरें न ठहरें सकोचन ते,
रविकर होय नहीं स्याम है घुसोग है।[2]

इसी प्रकार सेनापति पौष मास के वर्णन में व्यथा का उल्लेख ही अधिक करते हैं—

बरसै तुषार बहै सीतल समीर नीर,
कंपमान उर क्योंहू धीर न धरत है।

---

१. पावन०; छं० १५
२. हजारा०; ह्राकि० ; ग्री०, छं० १८।

राति न सिराति बिथा बीतत न बिरह की,
मदन अराति जोर जोबन करत है ।[1]

देव वियोग में व्यथा के अनुभावों का वर्णन प्रकृति को पृष्ठभूमि में रखकर करते हैं—

साँसनि ही सो समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि ।
तेज गयो गुन लै अपनों अरु भूमि गई तनु की तनुता करि ।
देव जियै मिलिबे ही की आस कि आसुहू पास अकास रह्यो भरि ।
जादिन तैं मुखि फेरि हरै हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि ।[2]

इस चित्र में केवल अनुभावों का रूप सामने आया है । बिहारी पावस की घटा के माध्यम से नायिका के हाव-भाव का वर्णन आलंकारिक चमत्कार के साथ करते हैं—

छिनकु चलति ठठकति छिनकु, भुज-प्रीतम गर डारि ।
चढ़ी अटा देखति घटा, बिज्जुछटा-सी नारि ।।[3]

इसमें लुप्तोपमा के द्वारा कवि ने प्रकृति का रूप भी समान-चित्र में व्यंजित कर दिया है ।

विलास और ऐश्वर्य (ख)—रीति काल के कवियों ने ऋतु-वर्णनों को दो प्रकार से अधिक अपनाया है । पहले तो इन्होंने प्रकृति को उत्तापक और उत्तेजक रूप में उद्दीपन माना है, जिसका उल्लेख किया गया है । और दूसरे ऋतु के अवसर पर विलास तथा ऐश्वर्य सम्बन्धी क्रिया-कलापों की योजना की गई है । इससे प्रकृति का कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह जाता । जैसा कहा गया है वैचित्र्य की प्रवृत्ति इन सब रूपों के आधार में क्रियाशील रही है । इसके कारण देव और सेनापति जैसे कवियों में भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है । देव की नायिका वसंत के भय से विहार नहीं करने जाती—

देव कहै बिनकन्त बसन्त न जाउँ कहूँ घर बैठि रहौं री ।
हूक हिये पिक कूक सुनै बिष पुंज निकुंजनी गुंजत भौंरी ।।[4]

देव में फिर भी प्रकृति अपनी प्रभावशीलता के साथ उपस्थित है, परन्तु सेनापति ने विलास और ऐश्वर्य का अधिक वर्णन किया है । इनमें कहीं ग्रीष्म ऋतु में गर्मी से बचने के उपायों का वर्णन है—

सेनापति अतर गुलाब अरगजा साजि,
सार तार हार मोल लै लै धारियत हैं ।
ग्रीषम के बासर बराइबे को सीरे सब,
राज-भोग काज साज यौं सम्हारियत हैं ।।

---

१. कवि०; सेना०; ती० तरंग, छं० ४८ ।
२. भाव०; देव० : ३ ।
३. सत०; बि० : दो० ५६६ ।
४. भाव०; देव : ३ ।

और कहीं ऐश्वर्यवानों के क्रिया-कलापों का उल्लेख किया जाता है—

काम कौं प्रथम जाम बिहरें उसीर धाम,
साहिब सहित बाम धाम बितवत हैं।
नेंक होत साँझ जाइ बैठत सभा के माँझ,
भूषण बसन फेरि और पहिरत हैं।

कहीं ऐश्वर्य का वर्णन ही कवि करता है—

सुन्दर बिराजें राज-मंदिर सरस ताके,
बीच सुख-देनी सैनी सीरक उसीर की।
उछरैं सलिल जल-जंत्र ह्वै बिमल उठें,
सीतल सुगंध मद लहर समीर की।[1]

इसी प्रकार अन्य ऋतुओं में भी विलास आदि का वर्णन चलता है। सेनापति के समान रीतिकालीन बाद के कवियों ने इस प्रकार के वर्णन अधिक किए हैं। पद्माकर तक के अन्य अनेक कवियों ने इन वर्णनों में अपना कौशल दिखाया है। पद्माकर भी इसी प्रकार वर्णन करते हैं—

अगर की धूप मृगमद को सुगन्ध वर,
बसन बिसाल जाल अंग ढाँकियतु हैं।[2]

यहाँ अन्य कवियों के वर्णनों को प्रस्तुत करना व्यर्थ है, क्योंकि प्रस्तुत विषय से इस रूप का विशेष सम्बन्ध नहीं है।

आरोपवाद—प्रकृति को उद्दीपन-विभाव में प्रयुक्त करने का एक माध्यम आरोप कहा गया है। यह आलंकारिक प्रयोग है जिसमें उपमा, रूपक अथवा उत्प्रेक्षाओं आदि का आश्रय लिया जाता है। अन्य रूपों के समान आरोप के क्षेत्र में भी रीति परम्परा के कवियों की प्रकृति स्थूलता तथा वैचित्र्य की ओर अधिक है। जिन आरोपों में साम्य भाव-गम्य होता है, उनमें उद्दीपन-रूप सुन्दर है। देव प्रकृति पर नायिका का आरोप करते हैं—

झिल्लिनि सों झहनाइ को किंकिनी बोले सुकी सुक सों सुखदैनी।
कोमल कुंज कपोत के पोत लौं कूकि उठे पिकलौं पिक बैनी॥[3]

इसमें ध्वनि के आधार पर आरोप किया गया है। अगले चित्र में रूपात्मक योजना है—

---

१. कवि०; सेना०; ती० तरंग, छं० १०, १४, १७ और इस प्रकार २०, ४३, ४४ भी हैं।

२. हजारा: हाफिज : हेम०, छं० २ इसी प्रकार अन्य कवियों के शिशिर १६, १५, १३, १८, (ग्वाल), ११, १० (ग्वाल); २०१ (दिवाकर); शरद ११ (नन्दराम); ८ (मंजु)।

३. भाव०; देव ३४।

नील पट तनु पै घटान सी घुमहि राखीं,
दन्त की चमक सौं छटा सी बिचरति हैं ।
हीरन की किरनैं लगाइ राखै जुगुनूसी,
कोकिला पपीहा पिकबानी सौं डरति हैं ।[1]

कभी कवि पूरी परिस्थिति का रूपक प्रस्तुत करता है । दीनदयाल पावस पर ऐसा ही आरोप करते हैं—

पावस मैं नीर दै न छोड़ै छन दामिनी हूं,
कामिनि रसिक मनमोहन को क्यों तजै ।
अचला पुरानी पुलकावली को आनी उर,
धाय रजवती सरि सिंधु संग को तजै ।[2]

इसी प्रकार का आरोप सेनापति शरद् के पक्ष में वियोगिनि की स्थिति से करते हैं—

परे तैं तुसार भयो भार पतझार रही,
पीरी सब डार सो बियोगी सरसति है ।
बोलत न पिक सोई मौन ह्वै रही है आस,
पास निरजास नैन नीर बरसति है ।[3]

इन आरोपों के अतिरिक्त वसंत का ऋतुराज के ऐश्वर्य में रूपक तथा बादलों का मस्त हाथी का रूपक आदि परम्परा गृहीत आरोपों का प्रयोग इन कवियों ने किया है । इन आरोपों में भी यही उद्दीपन का भाव है । सेनापति ऋतुराज का रूपक इस प्रकार आरम्भ करते हैं—

बरन बरन तरु फूले उपवन बन
सोई चतुरंग संग दल लहियत है ।[4]

इनमें कोई नवीनता प्रकृति के प्रयोग को लेकर नहीं है । दीनदयाल भी इसी प्रकार कहते हैं—

ललित लता के नव पल्लव पताके सजैं,
बजैं कोकिलान कै सु कलगान के निसान ।[5]

इन समस्त वर्णनों में ऐसी रूढ़िवादिता है कि प्रत्येक कवि लगभग समान चित्र उपस्थित करता है । भेद उनके प्रस्तुत करने के उक्ति-वैचित्र्य को लेकर है, इस कारण इस विषय में केवल प्रवृत्ति का संकेत कर देना पर्याप्त है ।

---

१. बखारा; हाफ़िज ; पावस, ६ ।
२. ग्रंथा०; दीन०; ऋतु-वर्णन; छं० २१२ ।
३. कवि०; सेना०; तो० तरंग, छं० ५६ ।
४. वही; वही०; वही०, छं० १ ।
५. अन्या०; दीन०; ऋतु-वर्णन से ।

नवम प्रकरण

उपमानों की योजना में प्रकृति

उपमान या अप्रस्तुत—प्रथम भाग के अन्तिम प्रकरण में भाषा की व्यंजना-शक्ति में प्रकृति उपमानों के प्रयोग पर संक्षेप में विचार किया है। यहाँ व्यंजना का अर्थ ध्वनि से सम्बन्धित न मानकर व्यापक अर्थ में लेना उचित है। पिछली विवेचना में शब्द के ध्वनि-बिम्ब और रूप-बिम्ब आदि पर विचार किया गया है। और साथ ही यह भी संकेत किया गया है कि प्रकृति का समस्त रूपात्मक सौन्दर्य मानवीय भाव-स्थितियों से सम्बन्धित है। यही कारण है कि काव्य के प्रस्तुत विषय को बोध-गम्य तथा भाव-गम्य कराने के लिए कवि जब अपनी भाषा में अप्रस्तुत का आश्रय लेता है तो उसे प्रकृति के अपार विस्तार की ओर जाना पड़ता है। इस अप्रस्तुत की योजना के माध्यम से जब कवि प्रस्तुत का वर्णन करता है तो वह आलंकारिक शैली कही जाती है। इस सीमा पर संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य की चिन्ता किए बिना ही अलंकारों को व्यापक व्यंजना के अर्थ में लिया जा सकता है। वस्तुतः जब तक अलंकारों में कल्पना की अतिरंजना, ऊहात्मक प्रयोग और उक्ति वैचित्र्य को प्रश्रय नहीं मिलता, वे प्रस्तुत को उसके रूप, क्रिया तथा भाव की विभिन्न स्थितियों के साथ अधिक प्रत्यक्ष और व्यक्त करते हैं। इन्हीं प्रकृति के अप्रस्तुत रूपों को यहाँ उपमान के रूप में स्वीकार किया गया है। प्रस्तुत वर्ण्य विषय को जिस संयोग तथा साम्य की आदर्श सादृश्य भावना के आधार पर अप्रस्तुत प्रकृति-रूपों से व्यंजनात्मक बनाया जाता है, उसे 'उपमान' शब्द से अधिक व्यक्त किया जा सकता है।

प्रकृति में स्थिति (क)—इन अप्रस्तुत उपमानों की स्थिति प्रकृति का व्यापक विस्तार है। प्रथम भाग के चतुर्थ प्रकरण में प्रकृति के सौन्दर्य के विषय को स्पष्ट किया गया है। उसीके आधार पर कहा जा सकता है कि प्रकृति-सौन्दर्य में मानवीय दृष्टि अपने जीवन के अनुरूप, क्रिया तथा भावों का संयोग स्थापित कर लेती है। इसके लिए कवि अथवा कलाकार को विशेष भावस्थिति की ही आवश्यकता नहीं है।

साधारण व्यक्ति भी अपने मन की अवचेतन स्थिति में इन संयोगों को स्थापित कर लेता है। प्रकृति की दृश्यात्मक सीमा में रूप-रंगों की कल्पनाएँ सन्निहित हैं, साथ ही आकार-प्रकार का अनुपात भी विभिन्न प्रकार से फैला हुआ है। उनमें व्यापारों का अनेक परिस्थितियों में विस्तार है और उसकी चेतना और गति में मानवीय भावों की समानान्तरता है। इसके अतिरिक्त मानव ने अपने जीवन के सम्पर्क से प्रकृति के विभिन्न छायातपों को अपनी विषम भाव-स्थितियों के संयोग पर उपस्थित किया है। इन समस्त स्थितियों के विकास पर प्रथम भाग में विचार किया गया है। यही समस्त प्रकृति के अप्रस्तुत-विधान की स्थिति है। प्रकृति के उपमान अपनी इस स्थिति में अनेक संयोगों में उपस्थित हैं जो मानवीय जीवन से सादृश्य रखते हैं। वस्तुतः इस क्षेत्र में साम्य का 'सादृश्य' अर्थ लिया जा सकता है।

काव्य में योजना (ख)—प्रकृति के सम्बन्ध में कवि की विशेष दृष्टि का उल्लेख भी किया गया है। इसी शक्ति से कवि प्रकृति-सौन्दर्य की वस्तु-स्थितियों, क्रिया-स्थितियों तथा भाव-स्थितियों से परिचित है और अपने काव्य में इनको संयोग-सादृश्य के आधार पर प्रयुक्त भी करता है। जब प्रकृति अप्रस्तुत है, उस समय प्रस्तुत वर्ण्य मानव की परिस्थिति तथा भावस्थिति होगी। कवि अपनी कल्पना से इन सादृश्य-रूप प्रकृति उपमानों की योजना करता है। लेकिन इस अभिव्यक्ति के व्यापार में कवि की कल्पना प्रधान है, इसलिए उपमानों का यह प्रदर्शन एक योजना के रूप में आता है। इस काल्पनिक अथवा कलात्मक योजना का अर्थ है प्रकृति-उपमानों को व्यंजक और प्रभावशील स्थिति में प्रस्तुत करना। परन्तु कवि उन उपमानों की योजना में आगे बढ़ता है, स्वतःसम्भावी आधार का अतिक्रमण कर अपनी प्रौढ़ोक्ति का आश्रय लेता है। परन्तु इस सीमा पर भी आलंकारिक प्रयोगों में उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक आदि में उपमानों की योजना सुन्दर और भाव-व्यंजक हो सकती है। लेकिन जब कवि का वर्ण्य-विषय वैचित्र्य ही होगा, उसके लिए अलंकार ही प्रधान हो उठेगा तो उपमानों में कवि-कल्पना का सादृश्य-धर्म उपस्थित नहीं हो सकेगा। वस्तुतः प्रकृति उपमानों की योजना का आदर्श सादृश्य है, इसी सीमा तक कवि को अपनी अभिव्यक्ति में प्रकृति का साम्य और संयोग सौन्दर्य प्रदान करता है। जब कवि इन उपमानों को प्रकृति के वास्तविक सौन्दर्य से अलग करके अपनी विचित्र कल्पना में, कार्य-कारण शृंखला, हेतुओं और सम्बन्धों की योजना में प्रस्तुत करता है, उस समय उपमानों की सादृश्य-भावना कुंठित हो जाती है। ऐसे प्रयोगों में उपमान का वाचक शब्द केवल वस्तु का संकेत करता है, किसी प्रकार का बिम्ब नहीं ग्रहण करता। प्रकृति से अलग किए उपमान अपनी किसी भी योजना में काव्य के उत्कर्ष का कारण नहीं हो सकते।

उपमान और रूपात्मक रूढ़िवाद—प्रकृति से ग्रहीत उपमानों के मूल में निश्चय

ही सादृश्य की भावना रही है। इन उपमानों का इतिहास मानव और प्रकृति के सम्बन्धों का इतिहास है। परन्तु जिस प्रकार काव्य में अन्य परम्पराएँ प्रमुख कवि के अनुसरण करने वाले कवियों में चलती रहती हैं, यही स्थिति इनके विषय में भी है। इस परम्परा के प्रवाह में प्रकृति के उपमान अपनी प्रस्तुत स्थिति के आधार से हटकर केवल अप्रस्तुत होते गये हैं। इस रूढ़िवाद में उपमानों की सादृश्य-भावना भी कम होती गई, क्योंकि उपमानों का प्रकृति से सीधा सम्बन्ध न रहकर रूढ़ि और परम्परा से हो गया। इसके साथ ही अलंकारों के वैचित्र्य-कल्पना सम्बन्धी विकास में ये उपमान अपने मूल स्थान से और भी दूर पड़ते गए। परिणामस्वरूप उपमानों की योजना रूपात्मक और भावात्मक सौन्दर्य उपस्थित करने के स्थान पर एक रूपात्मक रूढ़ि (formal) का प्रयोग रह गई जिससे अधिक अंशों में ऊहा और वैचित्र्य की प्रवृत्ति को तोष मिलता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि बाद के सभी कवि इन उपमानों का प्रयोग इसी परम्परा के अनुसार करते हैं। प्रकृति में स्थित सौन्दर्य रूपों का प्रसार तो सदा ही रहता है और कवि इन रूपों तथा स्थितियों के आधार पर नवीन कल्पनाएँ कर सकता है और करता भी है। परन्तु नवीन उपमानों की कल्पना की प्रवृत्ति प्रायः प्रतिभा-सम्पन्न कवियों में भी कम रही है; इसका भारतीय साहित्य में एक कारण रहा है। उपमानों की योजना के लिए तीन प्रमुख बातों की आवश्यकता है: कवि की अपनी प्रकृति सम्बन्धी कल्पना, युग विशेष की प्रकृति के सम्बन्ध की सीमा और पाठक की प्रकृति से सम्बन्धित मनःस्थिति। इन तीनों का उपमानों के प्रयोग के विषय में महत्त्व है। वस्तुतः इसी आधार पर भारतीय आदर्श ने प्रसिद्ध उपमानों को ही स्वीकृत किया है। और यही कारण है संस्कृत के विशाल साहित्य में उपमानों की संख्या सीमित की गई है; परन्तु प्रसिद्ध उपमानों की योजना करने के लिए कवि स्वतन्त्र रहे हैं। प्रतिभा-सम्पन्न कवि अपनी स्वानुभूति के आधार पर इनका सुन्दर प्रयोग करता है; परन्तु अन्य कवि इन्हींके माध्यम से वैचित्र्य कल्पनाएँ प्रस्तुत करते हैं।

मध्ययुग की स्थिति—इसी भाग के द्वितीय प्रकरण में कहा गया है कि हिन्दी साहित्य के मध्ययुग के काव्य में स्वच्छंदवादी प्रवृत्तियों का समावेश हुआ है और साथ ही प्रतिक्रियात्मक शक्तियों ने इसके विकास का मार्ग अवरुद्ध किया है। इसी आधार पर हम इस युग के काव्य में प्रयुक्त उपमान-योजना पर विचार कर सकते हैं। जिस सीमा तक इस काव्य में उन्मुक्त वातावरण है, उस सीमा तक उपमानों की योजना के विषय में भी कवियों की प्रवृत्ति स्वतंत्र है और इस स्वतन्त्रता का उपयोग कवियों ने दो प्रकार से किया है। जो कवि पूर्ण रूप से उन्मुक्त हैं, उनमें प्रकृति उपमानों की नई उद्भावना भी मिलती है, यद्यपि पूर्ण रूप से साहित्यिक प्रभाव से मुक्त काव्य हमारे सामने नहीं है। इस परम्परा में लोक कथा-गीतियों, प्रेम कथा-काव्यों तथा संत-काव्य को हम ले सकते

है। पिछली विवेचनाओं में कहा गया है कि इनमें भी किसी न किसी प्रकार की रूढ़ियों का अनुसरण अवश्य है; इस कारण इनमें साहित्यिक तथा साधनात्मक रूढ़ियों से सम्बन्धित उपमानों की योजना भी अधिक मिलती है। परन्तु इसके मध्य में स्वतन्त्र उपमानों की योजनाओं को स्थान मिल सका है और परम्परागत उपमानों का प्रयोग नवीन उद्भावना के साथ किया गया है। इन काव्यों में लोक कथा-गीति 'ढोला मारूरा दूहा' का वातावरण सबसे अधिक मुक्त है। दूसरी प्रकार की स्वतन्त्रता प्रचलित उपमानों की योजना को स्वानुभूति के आधार पर करने की है। इसका प्रयोग ऊपर की परम्पराओं में तो मिलता ही है, (वैष्णव) भक्त कवियों में भी पाया जाता है। इन वैष्णव कवियों पर साहित्यिक आदर्श का अधिक प्रभाव है, पर इनमें सूर तथा तुलसी जैसे प्रतिभावान् कवियों ने अपनी स्वानुभूति से उपमानों को प्रस्तुत किया है। लेकिन इनके काव्य में साहित्यिक परम्पराओं का रूप बहुत अधिक है। इस कारण समस्त काव्य में एक विरोधात्मक विचित्रता पाई जाती है। एक कवि के काव्य में ही कहीं सुन्दर स्वाभाविक प्रयोग हैं, तो कहीं केवल रूढ़ि-पालन। परन्तु इनकी परिस्थिति को समझ लेने से यह प्रश्न सरल हो जाता है। इन परम्पराओं के अतिरिक्त उपमानों के प्रयोग के विषय में एक तीसरी परम्परा रीति सम्बन्धी है। इस परम्परा में रूढ़ि का रूप अधिक प्रमुख है, साथ ही इसमें प्रकृति उपमानों को त्यागने की प्रवृत्ति भी बढ़ती गई है। संस्कृत काव्य के उपमानों सम्बन्धी रूढ़िवाद को प्रमुखतः केशव और पृथ्वीराज ने अपनाया है। अन्य रीति काव्य के कवियों में एक परम्परा रसवादियों की है जिसने अधिकतर मानवीय भावों, अनुभावों और हावों में अपने को उलझाए रखा है। इनके लिए प्रकृति के उपमानों का प्रयोग अधिक महत्त्व नहीं रखता है, कारण यह है कि इन भावों के विषय में इनकी प्रवृत्ति स्वाभाविकता से अधिक चमत्कार की रही है। भावों की व्यंजना के स्थान पर इन कवियों में अनुभावों तथा हावों का अधिक आकर्षण है, इसलिए भाव-व्यंजना के लिए प्रकृति का प्रयोग यत्र-तत्र ही हुआ है। दूसरी परम्परा अलंकारवादियों की है और इनमें जैसा कहा गया है प्रमुख प्रवृत्ति उक्ति-वैचित्र्य की है। इसके कारण प्रकृति उपमानों का प्रयोग इन कवियों में अपनी सादृश्य-भावना से दूर पड़ गया है।

विवेचन की सीमा—वस्तुतः अप्रस्तुत के रूप में उपमानों का विषय अलंकार का है। मध्य युग के काव्य के व्यापक विस्तार में इस विषय के विवेचन का अपने आप में पूर्ण क्षेत्र है। संस्कृत काव्य के प्रयोगों से तुलनात्मक अध्ययन तथा आलंकारिक प्रवृत्ति के विकास में इसका रूप निर्धारित करने के लिए अधिक खोज की आवश्यकता है। प्रस्तुत कार्य की सीमाओं में इस प्रकार की विवेचना के लिए न तो स्थान है और न वह आवश्यक ही है। इस कारण यहाँ उपमानों के विचार से विभाजित काव्यों के

प्रकृति उपमानों की योजना का रूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इस प्रस्तुतीकरण में इस बात का ध्यान रखा गया है कि काव्यगत उपमानों की विशेष प्रवृत्तियों का रूप स्पष्ट हो सके। साथ ही इस विवेचना के आधार पर उपमानों के प्रयोग की दृष्टि से विभिन्न काव्य-परम्पराओं का भेद भी स्पष्ट हो सकेगा।

स्वच्छन्द उद्भावना

सामान्य प्रवृत्ति—जिन काव्यों में उपमानों के प्रयोग की दृष्टि से उन्मुक्त वातावरण मिला है, उनमें लोक कथा-गीति, प्रेम कथा-काव्य और संतों का काव्य आता है। लोक कथा-गीति 'ढोला मारू' में वातावरण साहित्यिक आदर्शों से अधिक स्वतन्त्र है इस कारण इसमें उपमानों के अधिक नवीन प्रयोग हुए हैं। प्रेम कथा-काव्यों में यहाँ जायसी के 'पद्मावत' को ही ले रहे हैं। जायसी इस परम्परा के प्रमुख कवि हैं, इस कारण इनके माध्यम से इसकी प्रवृत्ति का अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है। जायसी का कथानक स्वच्छन्द रहा है, परन्तु उन्होंने अनेक साहित्यिक आदर्शों तथा रूढ़ियों को स्वीकार किया है। प्रकृति के उपमानों की योजना के विषय में यह सत्य है। जायसी ने यदि उपमानों की उद्भावना मौलिक स्वच्छन्द प्रवृत्ति से की है, तो उनके प्रयोगों का बड़ा भाग परम्परा से ग्रहीत है। इन प्रसिद्ध उपमानों की योजना में कवि ने अधिक सीमा तक अपने अनुभव से काम लिया है। लेकिन 'पद्मावत' में अनेक रूढ़िवादी प्रयोग हैं। संतों ने प्रेम तथा सत्यों का उल्लेख करने के लिए प्रकृति से उदाहरण तथा रूपक प्रस्तुत किए हैं। इन प्रयोगों में अनुभव के साथ कुछ स्थलों पर मौलिकता जान पड़ती है।

इन काव्यों के उपमानों की विशेष प्रवृत्ति भावात्मक व्यंजनों और सत्यों के दृष्टान्तों को प्रस्तुत करने की है। इनमें रूपात्मक चित्रमयता को स्थान नहीं मिल सका। संतों के विषय में रूप का कोई प्रसंग नहीं उठ सकता। प्रेमी कवियों की सौन्दर्य कल्पना में इसी बात की ओर संकेत किया गया है। इनमें रूपात्मक उपमानों का प्रयोग अधिकतर परम्परा ग्रहीत है और उनके माध्यम से भावात्मक व्यंजनाएँ प्रस्तुत की गई हैं। 'ढोला मारूरा दूहा' के उपमानों के विषय में भी यही बात लागू है। इसमें उपमानों का प्रयोग रूपात्मक वस्तु-स्थिति के लिए नहीं हुआ है। इस व्यापक प्रवृत्ति का एक कारण है। इन काव्यों के उन्मुक्त वातावरण में भावात्मक अभिव्यक्ति के अवसर अधिक हैं। लोक-गीति की अभिव्यक्ति में, कहा गया है, वस्तु तथा स्थितियों का आधार सूक्ष्म रहता है। इसलिए इनमें किसी वस्तु-स्थिति को प्रत्यक्ष करने की आवश्यकता कम पड़ती है। इनमें नायक तथा नायिका एक दूसरे के सामने इतने व्यस्त रहते हैं कि उनके रूप की स्थापना करने की आवश्यकता लोक-गीतिकार को नहीं होती। संतों का

आराध्य अव्यक्त है, उनका सम्बन्ध भावात्मक है, उनके लिए वस्तु-स्थिति की सीमाएँ अमान्य हैं; फिर उनको भी उपमानों की रूपात्मक योजना की आवश्यकता नहीं हुई। प्रेम कथाकार की रूप-कल्पना के विषय में आध्यात्मिक साधना के प्रसंग में विस्तार से कहा गया है और वस्तु-स्थिति उत्पन्न करने के स्थलों पर भावात्मक व्यंजना प्रस्तुत करने की उनकी प्रवृत्ति आध्यात्मिकता के साथ ही लोक-भावना के अनुरूप है। इन्हीं कारणों से इन काव्यों के उपमानों की स्वच्छंद उद्भावना में भावात्मक व्यंजना ही अधिक हुई है।

ढोला मारूरा दूहा—इस कथा-गीति में, जैसा कहा गया है, रूपात्मक प्रकृति उपमानों का अभाव है। यदि एक दो स्थानों पर इस प्रकार के प्रयोग किए गए हैं तो वे भी भावात्मक व्यंजना से सम्बन्धित हैं। वियोगिनी की वेणी को यदि नागिन कहा गया है तो प्रिय को स्वाति जल मानकर भावात्मक सम्बन्ध की कल्पना कर ली गई है।[1] प्रेयसी के लिए मुरझाई कमलिनी और कुमुदिनी के रूपक देकर कवि रूप से अधिक भाव को व्यक्त करता है और सूर्य-चन्द्र से उनका सम्बन्ध स्थापित करने में यही भाव है। एक स्थल पर नायिका की गरदन की उपमा कुंझ के बच्चे की लम्बी गरदन से दी गई है, परन्तु इसमें प्रतीक्षा का कारण सन्निहित किया गया है।[2] रूप-वर्णन के प्रसंग में परम्परागत उपमानों का उल्लेख मात्र कर दिया गया है, उसमें किसी प्रकार की चित्रात्मक योजना नहीं है।[3] स्वतन्त्र प्रकृति के कारण इस काव्य में उपमानों की योजना सरल अलंकारों तक सीमित है। रूपक तथा उपमा का प्रयोग अधिक हुआ है, एक दो स्थलों पर उत्प्रेक्षा का प्रयोग मिलता है। इनके अतिरिक्त प्रेम आदि को व्यक्त करने के लिये प्रकृति से दृष्टान्त चुने गये हैं जो कभी-कभी प्रतिवस्तूपमा तथा अर्थान्तरन्यास में प्रस्तुत हुए हैं।

मौलिक उपमानों की कल्पना (क)—यहाँ मौलिक से यह अर्थ नहीं लिया जा सकता है कि ऐसी कल्पना अन्यत्र नहीं मिलती है, क्योंकि जब तक समस्त काव्य सामने उपस्थित न हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसका अर्थ यह है कि साहित्यिक परम्परा में उनका प्रयोग प्रचलित नहीं रहा है, साथ ही वे लोक-गीति के वातावरण

---

१. ढोला० ; दो० १२५।

२. वही : दो० १२६, १३०, २०४।

३. इन उपमानों की सूची इस प्रकार है—अधर; मूँगा : कटि: सिंह, बर्र : गति; हाथी, हंस : जंघा: कदली : दंत: हीरा, दाड़िम : नासिका: कीर : नेत्र ; खंजन; कबूतर के समान लालिमा (डोरे) : भ्रुकुटि ; भ्रमर, बंक चन्द्र : मस्तक: चन्द्रमा : मुख ; चन्द्र, सूर्य (कान्ति) : रंग: कुंकुम, कुंझ के बच्चे का : वाणी ; वीणा ध्वनि, कोकिल, द्राक्षा (मधुर बोल) : हस्त ; कमल : पूर्ण आकार: विलुब्ध सिंह, सरोवर में हंस ; और कुम्हलाने का (भाव), केले का गूदा (कोमलता)।

के उपयुक्त है। इनमें से कुछ का प्रयोग भावों के शारीरिक अनुभावों तथा अन्य आचारों को व्यक्त करने के लिये हुआ है। इस चित्र में मौर और कलियों से यौवन के विकास का रूप दिया गया है—

डाढी, एक सँदेसड़उ ढोलइ लगि लइ जाइ।
जोबन-चांपउ मउरियउ कली न चुट्टइ आइ॥[1]

दूसरे स्थान पर कुँझों के शब्द से विरहिणी के नयनों में आँसुओं का सरोवर लहरा जाता है। इसमें सरोवर के माध्यम से उमड़ते अश्रुओं के साथ उच्छ्वसित हृदय का भाव भी है।[2] परन्तु इस काव्य में भावों को व्यक्त करने के लिये प्रकृति के अप्रस्तुत रूपों का अधिक प्रयोग हुआ है। राजस्थानी गायक ने कुरर पक्षी का विशेष नाम लिया है; उसके माध्यम से वह प्रेम और स्मरण को व्यंजित करता है—'कुँझ चुगती है और फिर अपने बच्चों की याद करती है, चुग-चुग कर फिर याद करती है। इस प्रकार कुँझ अपने बच्चों को छोड़कर दूर रहते हुये उनको पालती है।' अगले चित्र में लुप्तोपमा से भाव-व्यंजना की गई है—

ढोला बलावयउ हे सखी भी...ो ऊडइ खेह।
हियड़उ बादल छाइयउ नयण टबूकह मेह॥

इसमें वेदना का बादल है और अश्रु मेह है। एक स्थान पर प्रकृति सम्बन्धी क्रियाओं का आरोप भाव के साथ हुआ है—'जो मनोरथ सूखे थे वे पल्लवित होकर फल गये।'[3] इसी प्रकार दृष्टान्त आदि के माध्यम से प्रकृति भाव-स्थितियों का संकेत देती है—'फूलों में फलों के लगने पर और मेहों के पृथ्वी पर पड़ने पर प्रतीति होती है, उसी प्रकार हे परदेशी, तुम्हारे मिलन पर ही मैं पतियाऊँगी।' इसमें मिलन-प्रतीति के द्वारा विकलता की व्यंजना है। इसी प्रकार प्रेम-निर्वाह का दृष्टान्त है—'जिस प्रकार मेंढ़क और सरोवर, एवं पृथ्वी तथा मेघ स्नेह निभाते हैं, उसी प्रकार हे प्यारे, चंपकवर्णी प्रेयसी के साथ स्नेह निभाइए।'[4]

परम्परा की सुन्दर उद्भावना (ख)—'ढोला मारूरा दूहा' में परम्परा के प्रसिद्ध उपमानों का प्रयोग भी स्वच्छन्द भावना के साथ किया गया है, इसी कारण इनमें रूढ़ि के स्थान पर स्वाभाविकता अधिक है। कवि प्रसिद्धि के अनुसार चातक

---

१. दो० १२० [हे ढाढी, एक संदेसा ढोला तक ले जाओ—यौवन रूपी चंपा मौर-युक्त हो गया है। तुम आकर कलियाँ क्यों नहीं चुनते।]

२. वही : दो० ५४ और १३५ में इसी प्रकार विरहिणी को कनेर की छड़ी के समान सूखी हुई बताया गया है।

३. वही : दो० २०२, ३६०, ५३३।

४. वही : दो० १७२, १६८।

का प्रेम प्रख्यात है, पर कवि उत्प्रेक्षा देता है कि 'मारवणी ही मर कर चातक हो गई है और 'पिउ-पिउ' पुकारती है।' एक स्थान पर मछली के अप्रस्तुत-विधान से कवि भाव-व्यंजना करता है—'ढाढियों ने रात्रि भर गाया और सुजान साल्ह कुमार ने सुना—छिछले पानी में तड़पती हुई मछली की तरह तड़पते हुए उसने प्रभात किया।' एक स्थल पर एकान्त प्रेम को प्रस्तुत किया गया है—'कुमुदिनी पानी में रहती है और चन्द्रमा आकाश में, परन्तु फिर भी जो जिसके मन में बसता है वह उसके पास रहता है।'[1]

भाव-व्यंजक उपमान—प्रेम कथा-काव्य में जैसा कहा गया है उपमानों के स्वतन्त्र तथा रूढ़िवादी दोनों रूप मिलते हैं। रूप-वर्णन के विषय में प्रयुक्त उपमानों की योजना पर विचार आध्यात्मिक प्रसंग में किया गया है और उनकी प्रभावशीलता का भी उल्लेख हुआ है। उन काव्यों में भाव-व्यंजना के लिये उत्प्रेक्षाओं, उपमाओं तथा रूपकों का अधिक प्रयोग हुआ है, या सत्य कथन के लिए दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास आदि के रूप में। पहले प्रयोग में प्रकृति रूपों और स्थितियों में सन्निहित मानवीय भावों के समानान्तर भाव-व्यंजना का आश्रय लिया गया है और दूसरे में कार्य-कारण तथा परिणाम आदि का आधार है। जायसी प्रेम-समुद्र का रूपक प्रस्तुत करते हैं—

परा सो प्रेम-समुद्र अपारा। लहरहिं लहर होइ बिसँभारा।
बिरह-भौंर होइ भाँवरि देइ। खिन खिन जीउ हिलोरा लेइ।[2]

इसमें समुद्र, लहर, भँवर आदि की अप्रस्तुत-योजना से भावाभिव्यक्ति हुई है, इनमें रूपात्मक सादृश्य का कोई आधार नहीं है। अन्यत्र एक योजना व्यापक होने के कारण आध्यात्मिक प्रेम को प्रस्तुत करती है, परन्तु नेत्रों का कौड़िल्ला नामक पक्षी का रूपक मौलिक तथा स्वाभाविक है—

सरग सीस धर धरती, हिया सो प्रेम-समुन्द।
नैन कौड़िया होइ रहे, लेइ लेइ उठहिं सों बुन्द॥[3]

इसमें भावों को व्यंजना के लिये अर्थव्यापार्थ का आश्रय लेना पड़ता है। नेत्र जो प्रेम के आलम्बन से सौन्दर्य का रूप ग्रहण करते हैं, यहीं वे उसे हृदय के प्रेम में पाते हैं। नागमती-वियोग प्रसंग में वियोग और प्रेम को व्यक्त करने के लिए कवि ने सहज जीवन से सम्बन्धित उपमानों को लिया है—

१. वहीं; दो० ३७, १६२; २०१।

२. ग्रन्थ; जायसी: पद० ११ प्रेम-खंड, दो० १।

३. वही; वही, वहीं १३ राजा-गजपति-संवाद-खंड, दो० ४, इसी प्रकार 'घिरनी परेवा' का प्रयोग ३० नागमती-वियोग-खंड, दो० १३ में है।

सरवर-हिया घटत निति जाई। टूक टूक होइ कै बिहराई।
बिहरत हिया करहु पिउ टेका। डीठि-दवगरा मेरवहु एका।
कँवल जो बिगसा मानसर, बिनु जल गएउ सुखाइ।
अबहुँ बेलि फिरि पलुहै, जौ पिउ सींचै आइ।[1]

इस रूपकात्मक योजना में सरोवर का घटना, उसका 'बिहराना', दँवगरा (प्रथम वर्षा) तथा पलहाना (नवांकुरित होना) आदि प्रकृति की क्रिया से सम्बन्धित उपमान है। इन स्वतन्त्र उपमानों की योजना से कवि ने प्रेम, विरह, व्यथा तथा मिलनाकांक्षा की व्यंजना एक साथ की है। एक स्थल पर जायसी यौवन के आन्दोलन को समुद्र के माध्यम से व्यक्त करते हैं—

तोर जोबन जस समुद हिलोरा। देखि देखि जिउ बूड़े मोरा।

इसमें विभावना के द्वारा अत्यन्त आकर्षण की बात कही गई है। अन्य अनेक उत्प्रेक्षाओं का उल्लेख रूप-वर्णन के अन्तर्गत हुआ है जिनसे अनन्त सौन्दर्य तथा प्रेम आदि व्यक्त किया गया है। यहाँ तो केवल इस बात को दिखाने का प्रयास किया गया है कि जायसी ने उपमानों की स्वतन्त्र उद्भावना की है और इनमें उपमानों के क्षेत्र में उन्मुक्त वातावरण मिलता है।

दृष्टान्त आदि (क)—जायसी ने प्रेम तथा अन्य सत्यों के लिए प्रकृति से दृष्टान्त आदि प्रस्तुत किए हैं। इन प्रयोगों में रूप अथवा भाव का आधार तो नहीं रहता परन्तु प्रकृति की विभिन्न स्थितियों के सम्बन्ध की कल्पना होती है। इस कारण इनको भी उपमानों के अन्तर्गत स्वीकार किया जा सकता है। इस क्षेत्र में जायसी में स्वतन्त्र प्रवृत्ति मिलती है, यद्यपि परम्परा और साधना का प्रभाव इन कवियों पर पूर्णतः है। जायसी परम्परा-प्रसिद्ध मीन और जल के प्रेम का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

बसै मीन जल धरती, अंबा बसै अकास।
जौं पिरीत पै दुवौ महँ, अंत होहिं एक पास॥[2]

एकान्त प्रेम को कमल और सरोवर के द्वारा प्रस्तुत करते हैं—

सुभर सरोवर हंस चल, घटतहि गए बिछोह।
कँवल न प्रीतम परिहरै, सूखि पंक बरु होय॥[3]

इस प्रकार अन्य रूपों का उल्लेख साधना के प्रसंग में किया गया है। जायसी तथा इस परम्परा के अन्य अनेक कवियों ने रूढ़िवादी रूपों का प्रयोग अधिक किया है, वरन् इन पर फ़ारसी ऊहात्मक वैचित्र्य कल्पनाओं का प्रभाव रहा है। इसका प्रभाव इन कवियों

१. वही; वही; वही: ३० नागमती-वियोग-खंड, दो० १४।
२. वही; वही; वही; १९ पद्मावती-सुआ-भेंट खंड, दो० ८।
३. वही; वही; वही, ३५ चित्तौर-आगमन-खंड, दो० १०।

पर इनकी स्वतन्त्र प्रवृत्ति के कारण अधिक नहीं पड़ सका, परन्तु रीति कालीन कवियों ने इसे अधिक ग्रहण किया है।

संतों के प्रेम तथा सत्य सम्बन्धी उपमान—संत साधकों पर किसी प्रकार का साहित्यिक प्रभाव नहीं था, और न इन्होंने अपनी अभिव्यक्ति में किसी सीमा का प्रतिबन्ध स्वीकार किया है। फिर भी प्रचलित अनेक उपमानों को रूपकों, दृष्टान्तों और उपमाओं में इन्होंने ग्रहण किया है। इन सब का प्रयोग इन्होंने किसी परम्परा की रूढ़ि के रूप में न करके स्वतन्त्र किया है। साधना सम्बन्धी विवेचना में इनका संकेत किया गया है। साथ ही इन सभी संतों ने लगभग एक प्रकार के उपमानों को लिया है। इस कारण यहाँ गिना देना ही पर्याप्त है। संतों ने प्रेम के लिए बादल, बेल, कुंभ पक्षी, पपीहा, मीन, सरिता, कमल, भ्रमर, सूर्य, चन्द्र, कुमुदिनी, कस्तूरी मृग, सागर, चातक, लहर, हंस आदि के विभिन्न प्रयोग किए हैं। सत्यों को प्रस्तुत करने के लिए कोयल, तारा-सूर्य, तरुवर-छाया, खजूर, हाथी, कौआ, बगुला-छीलर, पतंग आदि का उपयोग किया गया है। यह कोई विभाजन की रेखा नहीं है, केवल प्रमुख रूप से प्रयोग की बात है।

कलात्मक योजना

वैष्णव भक्त कवियों की उपमान-योजना सम्बन्धी प्रवृत्ति का उल्लेख किया गया है। इन कवियों में कवित्व प्रतिभा के साथ प्रकृति सौन्दर्य-स्थितियों का निरीक्षण भी था। इन्होंने प्रकृति उपमानों की अनेक नवीन योजनाएँ प्रस्तुत की हैं, इससे इनकी कलात्मक प्रवृत्ति का पता चलता है। इन कवियों में प्रमुख विद्यापति, सूरदास तथा तुलसीदास माने जा सकते हैं, क्योंकि बाद के कवियों में विशेष प्रतिभा नहीं है। साहित्यिक आदर्श इनके सामने हैं, परन्तु इन्होंने उपमानों की योजना अपनी प्रतिभा तथा अनुभूति के माध्यम से प्रस्तुत की है। परम्परा तथा रूढ़ि का रूप भी इनमें अधिक है, परन्तु इनकी प्रमुख प्रवृत्ति आदर्श कलात्मक योजना कही जा सकती है। रूप-वर्णन के सम्बन्ध में इन कवियों की उपमान योजनाओं पर विचार किया गया था। उसमें उत्प्रेक्षा के माध्यम से वस्तु-रूप तथा क्रीड़ात्मक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति पर विचार हुआ है। यहाँ इन तीनों कवियों के कुछ उदाहरण अन्य स्थलों से प्रस्तुत करना उचित होगा।

विद्यापति (क)—विद्यापति के सौन्दर्य तथा यौवन चित्रण के विषय में उपमानों का संकेत किया गया है। एक सौन्दर्य स्थिति कवि इस प्रकार व्यक्त करता है—'हथेली पर रखा हुआ मुख ऐसा लगता है जैसे अपने किशलय से कमल मिला हुआ है।' यह रूपात्मक स्थिति सौन्दर्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। स्फुरित यौवन सौन्दर्य को कवि इस प्रकार प्रस्तुत करता है—'अंक में सोती हुई राधा का जब कृष्ण आलिंगन करते हैं, तो लगता है मानों नवीन कमल पवन से आकुल होकर भ्रमर के पास हो।' इस

उत्प्रेक्षा में भी एक स्थिति का क्रीड़ात्मक चित्र प्रस्तुत है। व्यापार-स्थिति का इसी प्रकार दूसरा चित्र है—'नायिका नायक के पास नहीं-नहीं करती काँप उठती है, जिस प्रकार जल में भ्रमर के झकझोरने से कमल हिल जाता है।' कवि सौन्दर्यमय 'शरीर की झलक को बिजली तरंग का रूप देता है।'[1] कवि भावात्मक व्यंजना के लिए भी उपमानों का आश्रय लेता है।—'उसके शरीर को देख कर मन कमल-पत्र हो गया', इसमें रूप-सौन्दर्य से भावात्मक व्यंजना की गई है। कंप अनुभाव को प्रस्तुत करने के लिए कवि कहता है—'रस प्रसंग में वह काँप-काँप उठती है, मानों बाण से हरिणी काँप उठी हो।' प्रकृति उपमानों की सौन्दर्य योजना से प्रेम-व्यंजना करना इस प्रकार के काव्य का चरम है। हम देख चुके हैं कि इस क्षेत्र में प्रेम कथा-काव्य का नाम लिया जाता है; वैसे मध्ययुग की यह प्रवृत्ति नहीं है। विद्यापति भी एक स्थल पर कहते हैं—'मन में कितने-कितने मनोरथ उठते हैं, मानों सिंधु में हिलोर उठती हों।'[2] विद्यापति दृष्टान्त स्वाभाविक ही देते हैं—'जिस प्रकार तेल का बिन्दु पानी पर फैलता जाता है, उसी प्रकार तुम्हारा प्रेम है।' आगे फिर प्रेम विकास की बात कही गई है। 'यह प्रेम-तरु बढ़ गया है इसका कारण कुछ भी नहीं है; शाखा पल्लव आदि होने पर कुसम होते हैं और उसकी सुगन्ध दशों दिशाओं में फैल जाती है।'[3]

सूरदास (ख)—सूर की सौन्दर्योपासना में अनेक प्रकृति-उपमानों के प्रयोगों के विषय में विचार किया गया है। इस कारण विस्तार में जाना व्यर्थ है। इनकी प्रवृत्ति स्पष्ट है। एक स्थिति को कवि इस प्रकार प्रत्यक्ष करता है—

रथते उतरि चक्रधरि कर प्रभु सुभट हि सम्मुख धाए।
ज्यों कंदर ते निकसि सिंह झुकि गज यूथनि पर धाए॥

दूसरी स्थिति की उद्भावना भी कवि इस प्रकार करता है—'धनुष के टूटने से राजा इस प्रकार छिप गए जैसे प्रातः तारागण विलीन हो जाते हैं।' सूर मन की अभिलाषा को तरंग के समान कहते हैं।[4] एक स्थल पर सूर सुन्दर भाव-व्यंजना प्रस्तुत करते हैं—

जीवन जन्म अल्प सपनों सौ,
समुझि देखि मन माहीं।
बादर छांह धूम धौरहरा,
जैसे थिर न रहाहीं॥[5]

---

१. पदा०; विद्या०; पद ६६२, २०६, १४८, ५५।
२. वही; वही पद ६१, १६५, २५७।
३. नवम; वही : पद ७०४, ४३६।
४. सूरसागर; नवम; पद ६१, पद १५४, नवम; पद ३१, प्रथम; पृ० ३६।
५. वही; प्रथम; पद १६६।

सूर प्रकृति के माध्यम से सत्यों का कथन भी अच्छे ढंग से करते हैं—'समय पाकर वृक्ष फलता-फूलता है; सरोवर भर जाता है और उमड़ता है, और फिर सूख जाता है, उसमें धूल उड़ने लगती है। द्वितीया का चन्द्रमा इसी प्रकार बढ़ता-बढ़ता पूर्ण हो जाता है और घटता-घटता अमावस्या हो जाता है। इस कारण संसार की संपदा तथा विपदा दोनों में किसी को विश्वास नहीं करना चाहिए।'[1] सूर ने प्रेम के दृष्टान्त में प्रकृति के प्रचलित रूपों को प्रस्तुत किया है—

भौंरा भोगी बन भ्रमैं मोद न मानै ताप।
सब कुसमनि मिलि रस करैं कमल बँधावैं आप॥
सुनि परमित पिय प्रेम की चातक चितवन पारि।
घन आशा दुख सहै अन्त न याचै बारि॥
देखो करनी कमल की कीनो जल सो हेत।
आशा तजो प्रेम न तजो सुख्यो सरदि समेत॥
मीन वियोग न सहि सकै नीर न पूछै बात।
सुभर सनेह कुरंग को श्रवनन राच्यो राग॥
धरि न सकत पग पछमनो सर सनमुख उर लाग॥[2]

इसमें भ्रमर कमल चातक-स्वाति, सरोवर-कमल, मीन-जल तथा कुरंग-राग को प्रेम के उदाहरण में प्रस्तुत किया गया है। ये अप्रस्तुत प्रसिद्ध हैं पर सूर ने इनको मानवीय जीवन के आरोप के साथ अधिक व्यंजक बना दिया है।

तुलसीदास (ख)—रूप-सौन्दर्य सम्बन्धी उपमानों की विवेचना साधना के अन्तर्गत हुई है। सूर के समान उत्प्रेक्षाओं का आश्रय तुलसी ने भी लिया था। प्रौढ़ोक्ति का प्रयोग तुलसी ने अधिक किया है। साथ ही उपमानों की योजना में तुलसी और सूर में एक भेद है। सूर ने गम्योत्प्रेक्षा का प्रयोग अधिक किया है और तुलसी ने वस्तु तथा फल सम्बन्धी उत्प्रेक्षाएँ अधिक की हैं। वैसे दोनों में सभी प्रयोग मिल जाते हैं। इसके अतिरिक्त तुलसी की उपमान योजना को हम कलात्मक स्वीकार कर सकते हैं। उन्होंने उपमानों को परम्परा से ग्रहण करके भी अपने अनुभव के आधार पर प्रयुक्त किया है। यह प्रवृत्ति की बात है। सांग रूपक बाँधने में तुलसी सर्वश्रेष्ठ हैं; प्रकृति से सम्बन्धित रूपकों में राम-कथा और मानस, राम-भक्ति तथा सुर सरिता के रूपक विस्तृत हैं। इसी प्रकार आश्रम तथा शांत-रस के सागर का रूपक चित्रकूट के प्रसङ्ग में है—

१. वही: प्र०, पद १४५।
२. वही: प्र०; पद २०५।

आश्रम सागर सांत रस पूरन पावन पाथु ।
सेन मनहुँ करुना सरित लिए जाहिं रघुनाथ ॥[1]

इसके आगे भी रूपक चलता है, यहाँ रूपक उत्प्रेक्षा से पुष्ट है। इन रूपकों का निर्वाह सुन्दर है लेकिन भाव, रूप तथा सम्बन्ध आदि का एक साथ प्रयोग किया गया है। तुलसी परिस्थिति के अनुरूप कल्पना सुन्दर करते हैं—

लता भवन तें प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ ।
निकसे जनु जुग विमल बिधु जलद पटल बिलगाइ ॥[2]

इस उत्प्रेक्षा के अतिरिक्त एक और भी परिस्थिति के अनुरूप है—

उदित उदयगिरि मंच पर रघुबर बाल पतंग ।
बिकसे संत सरोज जनु हरषे लोचन भृंग ॥[3]

वस्तु-स्थितियों के समान परिस्थितिगत भाव-स्थितियों को उपमान-योजना से तुलसी सफलतापूर्वक व्यक्त करते हैं। आह्लाद का भाव विभिन्न व्यक्तियों में दिखाने के लिए तुलसी इस प्रकार कहते हैं—

सीय सुखहि बरनिय केहि भाँती । जनु चातकी पाइ जल-स्वाती ।
रामहि लखन बिलोकत कैसे । ससिहि चकोर किसोरकु जैसे ।[4]

भावों को भी अनुभावों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है; तुलसी प्रौढ़ोक्ति सम्भव उत्प्रेक्षा से इसी प्रकार नेत्रों की व्यग्रता को प्रकट करते हैं—

प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि राजत लोचन लोल ।
खेलत मनसिज मीन जुग जनु बिधु मंडल डोल ।[5]

कवि चकित होने के भाव को 'जनु सिसु मृगी सभीता' से व्यक्त करता है, व्यग्रता का 'विलोक मृग सावक नैनी' से प्रकट करता है।[6] कहा गया है प्रकृति-रूपों के दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, अर्थान्तरन्यास आदि के सम्बन्धात्मक प्रयोग से सत्य प्रस्तुत किए जाते हैं। इन प्रयोगों में सम्बन्ध तथा क्रम का विचार होता है। तुलसी ने इस प्रकार के कलात्मक प्रयोग किए हैं। दोहावली में प्रसिद्ध उपमान सुन्दर रूप में प्रयुक्त हुए हैं। महान् व्यक्ति छोटों को आश्रय देते हैं, इसके लिए प्रकृति से दृष्टान्त लिए गए हैं—

१. रामच०; तुलसी; अयो०; दो० २७५ ।
२. वही; वही; बा०; दो० २३२ ।
३. वही; वही; वही; दो० २५४ ।
४. वही; वही; वही; दो० २६३ ।
५. वही; वही; वही; दो० २५८ ।
६. वही; वही; वही; दो० २२६, २३२

बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं। गिरि निज सिरनि सदा तृन धरहीं।
जलधि अगाध मौलि बह फेनू। संतत धरनि धरत सिर रेनू ॥[1]

रूढ़िवादी प्रयोग

१०—यहाँ हम उपमानों के प्रयोग के विषय में केवल प्रमुख प्रवृत्ति के आधार पर विचार कर रहे हैं। यही कारण है कि केवल उल्लेख के रूप में संकेत किया गया है। रीति-कालीन परम्परा में उपमानों का प्रयोग रूढ़ि का केवल अनुसरण रह गया। प्रतिभा-सम्पन्न कवियों में कुछ प्रयोग सुन्दर मिल सकते हैं, परन्तु इनके सामने से प्रकृति का रूप हटता गया है। इन्होंने उपमानों को केवल सम्बन्धात्मक शृंखला में समझा है और साथ ही इनके लिए उपमान केवल शब्द के रूप में रह गए, उनकी सजीवता का स्पन्दित स्वरूप सामने से हट गया। इस प्रकार की प्रवृत्ति भक्त कवियों में भी है। प्रमुख कवियों को छोड़कर अन्य कवियों ने अनुसरण मात्र किया है। इन समस्त परम्परा पालन करनेवाले कवियों के दो भेद किए जा सकते हैं। एक परम्परा में केशव और पृथ्वीराज आते हैं, जिन्होंने संस्कृत काव्य का अनुसरण किया है। दूसरी परम्परा में रीति काल के समस्त कवि हैं जिनके सामने मानवीय भावों का विषय रस के विभाजित भावों और अनुभावों तक सीमित हो गया है और स्थिति तथा परिस्थिति की कल्पनाएं केवल अतिशयोक्ति, अत्युक्ति आदि अलंकारों के चमत्कार तक सीमित रह गईं।

संस्कृत का अनुसरण (क)—केशव की 'रामचन्द्रिका' तथा पृथ्वीराज की 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' का उल्लेख किया गया है। इनमें उपमानों के विषय में प्रवृत्ति संस्कृत काव्य के अनुकरण की है। अनुसरण का अर्थ यह नहीं माना जा सकता है कि इन कवियों ने संस्कृत कवियों के प्रयोग सर्वत्र ले लिए हैं। वस्तुतः इसकी विवेचना तुलनात्मक आधार पर की जा सकती है। लेकिन यहाँ इसका अर्थ यह है कि संस्कृत में जिस प्रकार रूपात्मक सौन्दर्य का प्रमुख आधार है, उपमानों के विषय में इन कवियों में वही प्रवृत्ति मिलती है। जिस प्रकार इनके सामने संस्कृत का साहित्य था, उसीके अनुसार उपमानों के विभिन्न स्तर के प्रयोग इनमें मिलते हैं।

पृथ्वीराज (i)—रसवादी होने के कारण इनमें उपमानों का प्रयोग भावों का ध्यान रखकर किया गया है। इस कारण प्रयोग सुन्दर हो सके हैं। कवि मुख पर यौवन की लीला के लिए उत्प्रेक्षा देता है कि मानों सूर्योदय के समय पूर्व दिशा की लाली छा गई है। आगे शारीरिक विकास के लिए कवि रूपक प्रस्तुत करता है—'अवयव समूह ही पुष्पित होकर विमल वन है; नेत्र ही कमल दल हैं, सुहावना स्वर

१. वही; वही; वही; दो० १६७।

कोकिल का कंठ है; पुलक-रूपी पंखों को नई रीति से सँवार कर भौंह रूपी भ्रमर उड़ने लगता है।'[1] युद्ध प्रसंग में वर्षा का लम्बा रूपक है। आगे एक स्थल पर कवि ने लता की कल्पना सुन्दर की है—

तिणि तालि सखी नलि स्यासा नेही
मिली भमर भारा जु माहि।
वलि ऊभी थई घणा घाति बल
लता केलि अवलंब लहि।[2]

काव्य समाप्त करते समय बेलि का रूपक है। इनके अतिरिक्त, 'नगरवासियों का कोलाहल, पूर्णिमा के चन्द्र-दर्शन से समुद्र का आन्दोलन', 'उड़ी हुई धूल में सूर्य ऐसा जान पड़ा जैसे वात-चक्र के शिखर पर पत्ता', 'मन्दिर के पार्श्व में सेना इस प्रकार लगती है मानों चन्द्रप्रभा मेरु पर्वत पर चारों ओर नक्षत्र माला' आदि अनेक प्रयोग पृथ्वीराज ने किए हैं।[3]

केशव (ii)—पृथ्वीराज के विपरीत केशव अलंकारवादी हैं। इस कारण सामूहिक रूप से इनमें उपमानों का प्रयोग काल्पनिक चमत्कार के लिए हुआ है। अधिकांश स्थलों पर केशव ने वस्तु, परिस्थिति सम्बन्धी उपमान योजना में भाव और वातावरण का ध्यान नहीं रखा है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि केशव ने ऐसे प्रयोग किए ही नहीं। जनकपुर में बरात के स्वागत के लिए उत्प्रेक्षा के द्वारा सागर तथा नदियों की कल्पना उचित है। इसी प्रकार सौन्दर्य को लेकर यह रूपक भी सुन्दर है—

अति बदन शोभ सरसी सुरंग। तहँ कमल नैन नासा तरंग।
जनु युवती चित्त बिभ्रम बिलास। तेइ भ्रमर भँवत रसरूप आस।

रावण के वश में पड़ी हुई सीता के विषय में संदेहमूलक उपमान-योजना भी सुन्दर है—'वह धूम समूह में अग्निशाखा है, या बादल में चन्द्रकला है, या बड़े बवण्डर में कोई सुन्दर चित्र है।' इसमें रावण की 'बगरूरे' से उपमा मौलिक जान पड़ती है। इसी प्रकार एक स्थल पर उल्लेखों में सीता की उपमा स्वाभाविक है—

भौंरनी ज्यों भ्रमत रहति बन बीथिकानि,
हंसनी ज्यों मृदुल मृणालिका चहति है।

---

१. बेलि०; पृथ्वी०; छं० १६, २०।

२. वही; वही; छं० १७७ [भ्रमरों के बोझ से पृथ्वी से मिली हुई लता कदली का सहारा पाकर बहुत सा बल डालकर फिर खड़ी हो जाती है, उसी प्रकार उस समय, रुक्मिणी सखी का सहारा लेकर उठ खड़ी हुई]

३. वही; वही; छं० १४१, ११५, १०६।

हरिनी ज्यों हेरति न केहरि के काननहिं
केका सुनि ब्याली ज्यों बिलीन ह्वै चहति है।"[1]

अन्तिम प्रयोग में उक्ति का वैचित्र्य अधिक है। सीता की अग्निमग्न मूर्ति को लेकर जो सन्देहात्मक उपमानों की योजना हुई है, उनमें कहीं-कहीं कोई सुन्दर कल्पना भी है। परन्तु प्रवृत्ति के अनुसार कवि ने योजना प्रस्तुत करने का ही प्रयास अधिक किया है। आगे की उत्प्रेक्षा में कल्पनात्मक चमत्कार है—'कोई नीलाम्बर धारण किए हुए स्त्री मन मोहती है, मानों बिजली ने मेघकान्ति को अपने शरीर पर धारण किया है। किसी स्त्री के शरीर पर बारीक साड़ी है, वह ऐसी शोभा देती है मानों कमलिनी सूर्य किरण समूह को शरीर पर धारण किए हो।' आगे राम, सीता और लक्ष्मण को लेकर इसी प्रकार की उत्प्रेक्षा है—'मेघ मंदाकिनी चारु सौदामिनी रूप रूरे लसैं देहधारी मनो।' इसी प्रकार राम की सेना के प्रस्थान के समय कवि उपमान योजना करता है—'जब सेना उछल कर चलती है, पृथ्वी और आकाश सभी धूर से पूर्ण हो जाता है, मानों घन समूह से सशक्त होकर वर्षा आ गई है।.......पाताल का पानी जहाँ-तहाँ पृथ्वी के ऊपर आ जाता है और पृथ्वी पुरइन के पत्ते के समान काँपने लगती है।'[2] इन थोड़े से प्रयोगों से केशव की प्रवृत्ति का अनुमान लग सकता है।

रीति-काल की प्रमुख भावना (ख)—आरम्भ में रीति-काल के कवियों की उपमान-योजना के विषय में उल्लेख किया गया है। इस काल में कवि नायक-नायिकाओं के हाव-भाव, ऐश्वर्य-विलास के वर्णन में व्यस्त रहा है या अलंकार-ग्रन्थों में उदाहरण प्रस्तुत करने का प्रयास करता रहा है। इन दोनों बातों का इनके प्रकृति सम्बन्धी प्रयोग पर प्रभाव पड़ा है। पिछले प्रकरणों में हम देख चुके हैं कि इन कवियों में प्रकृति का किसी प्रकार का सुन्दर रूप नहीं मिल सका है। उपमानों का प्रयोग प्रकृति सौन्दर्य से ही सम्बन्धित है, बिना उसकी अनुभूति के उपमानों का प्रयोग सुन्दर नहीं हो सकता, उसमें कला के स्थान पर रूढ़ि आ जाती है। उपमानों के क्षेत्र में रीति-वादी कवियों में उनके प्रयोग की प्रवृत्ति भी कम हो गई है। पहले कवियों ने उपमानों की योजना की है, चाहे वह अनुसरण तथा परम्परा के अनुसार ही की हो। पर इन कवियों में प्रयोगों की भी कमी दिखाई देती है। इसका कारण इस युग के काव्य में रस और अलंकार के उदाहरण प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति है। सेनापति जैसे प्रतिभावान

१. रामचन्द्रिका; केशव; छ० प्रका० ४, ५० वाँ प्र० २०, चौ० प्र० ३६।
२. वही; वही; आठ० प्र० १२, नवाँ ३५, चौ० प्र० ३७।

कवियों ने अपनी कल्पना का प्रयोग श्लेष जुटाने में किया है।[1] इनमें उपमानों के सौन्दर्य-बोध का रूपात्मक अथवा भावात्मक प्रयास कहाँ तक हो सकता है, यह प्रत्यक्ष ही है। इन समस्त कवियों में ऐसे स्थल कम हैं जिनमें उपमानों से भाव-व्यंजना के लिए सहायता ली गई हो। बिहारी कहते हैं—

रही भौन के कोन में सोन जुही सी फूल।[2]

इसमें कवि का ध्यान कदाचित् उल्लास या गर्व से अधिक यौवन के सौन्दर्य को व्यक्त करने की ओर है। इसी प्रकार मतिराम ने उत्कंठित नायिका के प्रतीक्षा तथा उत्सुकता में व्यग्र नेत्रों के लिए इस प्रकार की योजना की है—

एक ओर मीन मनो एक ओर कंज-पुंज,
एक ओर खंजन चकोर एक ओर हैं।

इसमें विभिन्न भाव-स्थितियों के लिए विभिन्न उपमानों का प्रयोग लगता है और इस दृष्टि से यह प्रयोग बहुत सुन्दर माना जा सकता है। लेकिन ऊपर के वातावरण के अनुरूप उपमानों को जुटाने का प्रयास भी सम्भव हो सकता है, क्योंकि उस प्रकार के अन्य प्रयोग मतिराम अथवा किसी अन्य रीतिकालीन कवि में नहीं मिले हैं। इस विषय में बिहारी की एक विशेषता उल्लेखनीय है। अपनी आलंकारिक प्रवृत्ति में भी इनमें प्रकृति के रंग-प्रकाश का प्रयोग अच्छा है, यद्यपि वह संस्कृत कवि बाण तथा माघ की तुलना में नहीं ठहर सकते। एक पूर्णोपमा इस प्रकार है—

सहज सेत पच तोरिया पहिरे अति छबि होत।
जल चादर के दीप लौं जगमगाति तन जोति॥

इसी प्रकार एक उत्प्रेक्षा है—

१. सेनापति ने कुछ श्लेष प्रकृति के आधार पर उपस्थित किए हैं—द्र० तरं० (११) राम तथा पूर्णचन्द्र; (१२) घनश्याम तथा स्यामघन, (१३) नववारी और मदनवारी, (३१) बाला तथा नवप्रबाल, (४२) गोपी वियोग तथा सागर, (५१) वर्षा तथा शिशिर, (५३) ग्रीष्म तथा वर्षा, (५५) रामकथा और गंगाधार, (७४) हरि, रवि, अरुण तथा तमो, (८४) बनविरहिणी तथा हरिणी।

२. सत०; बिहारी; दो० ३२१।

३. रसराज; मतिराम; छं० १६३—

"जमुना के तीर बहै सीतल समीर तहाँ,
मधुकर करत मधुर मंद सोर है।
कवि 'मतिराम' तहाँ छवि सौं छबीली बैठी,
अंगन तें फैलत सुगन्ध के झकोर हैं।
पीतम बिहारी की निहारिबे को बाट ऐसी,
चहुँ ओर दीरघ दृगन करी दौर है।"

छप्यो छबीलो मुख लसै नीले आँचर चीर।
मनो कलानिधि झलमलै कालिंदी के तीर॥

एक और भी वस्तूत्प्रेक्षा है—

सखि सोहत गोपाल के उर गुंजन की माल।
बाहर लसति मनो पिये दावानल की ज्वाल॥[1]

इन सभी में कवि की कल्पना में रंग और प्रकाशों का सामञ्जस्य अच्छा है। इस प्रकार अनेक प्रयोग बिहारी में मिलते हैं। इनकी प्रवृत्ति इसमें प्रत्यक्ष है।

अलंकारों के प्रयोग में परम्परा के प्रचलित उपमानों को जमा भर दिया गया है। मतिराम मालोपमा का उदाहरण इस प्रकार देते हैं—

रूप-जाल नंदलाल के परि करि बहुरि छुटैं न।
खंजरीट-मृग-मीन-से ब्रज बनितन के नैंन॥[2]

यहाँ कवि को किसी प्रस्तुत को सामने प्रत्यक्ष करना नहीं है, वरन् मालोपमा का प्रयोग करना है और इसलिए इन उपमानों का सम्बन्ध नैंन से अधिक रूप-जाल से है। इस माध्यम से इसमें किसी भाव का संकेत मिल भी जाता है, परन्तु पद्माकर की मालोपमा का प्रमुख उद्देश्य अपने आप में पूर्ण है—

घन से तम से तार से, अंजन की अनुहारी।
अलि से मावस से बाला तेरे बार॥[3]

इसके अतिरिक्त जब कवि अन्य अलंकारों में उपमानों को प्रस्तुत करता है, तब उसका ध्येय चमत्कार प्रदर्शन अधिक रहता है। प्रेम-पयोनिधि का रूपक अनेक कवियों ने कहा है, परन्तु पद्माकर की उक्ति ने उसको विचित्र बताया है—

नैनन ही की घलाघल कै घन घावन कों कछु तेल नहीं है।
प्रीति पयोनिधि में धँसि कै हँसि कै चढ़िबो हँस खेल नहीं है॥[4]

मुस्कान को सरद-चाँदनी कहना सुन्दर उक्ति है, इसमें भावात्मक सादृश्य है, पर मतिराम की उक्ति ने उसे विचित्र कर दिया है—

---

१. सत०; बिहारी; दो० १२१, ११६, ६, इनके अतिरिक्त दो० ११३ में रंग के साथ कोमलता का भाव है—

"पग पग मग अगमन परति, चरन अरुन दुति झूल।
ठौर ठौर लखियत उठे, दुपहरिया के फूल॥"

२. ललित ललाम; मतिराम ; छं० ५०।

३. पद्माभरण; पद्माकर; छं० २३।

४. जगद्विनोद; वही; छं० ३५३।

सरद-चंद की चाँदनी, जारि डार किन मोहि ।
या मुख की मुसक्यानि सों, क्यों हूँ कहौं न तोहि ॥[1]

इसी प्रकार देव भी मुख और नेत्रों के लिए सौन्दर्य बोध के स्थान पर वैचित्र्य कल्पना का आश्रय लेते हैं—

कवि देव कहै कहिए जुग जो जलजात रहे जलजात में ध्वै ।
न सुने तबौ काहू कहूँ कबहू कि मयंक के अङ्कु में पकंज द्वै ॥[2]

× × ×

मध्ययुग की इन समस्त उपमान-योजना सम्बन्धी प्रवृत्तियों के अतिरिक्त दो बातों का उल्लेख कर देना आवश्यक है। इस युग में उपदेशों के लिए प्रकृति से दृष्टान्त आदि प्रस्तुत करने की व्यापक प्रवृत्ति रही है। इसका मूल भारतीय साहित्य की व्यापक परम्परा में है। तुलसी, कबीर, रहीम, गिरधर, दीनदयाल आदि कवियों ने प्रमुखतः इनका प्रयोग किया है। इनमें अन्योक्ति, समासोक्ति का आश्रय भी लिया गया है। दूसरी उल्लेखनीय बात, प्रकृति से सम्बन्धित क्रिया-पदों का मानवीय सम्बन्धों में प्रयोग है।[3] इस युग में सरसाना, चमकना, महकना, डहडहाना, लहलहाना, पियराना, ललाना, भीजना, चमकना, झिलमिलाना, मुरझाना, दमकना आदि अनेक प्रकृति-क्रियाओं का प्रयोग मानवीय भावों तथा अनुभावों के विषय में हुआ है। इनका प्रयोग बाद के रीति-कालीन कवियों तक में बराबर मिलता है।

---

१. दोहा०; मति०; दो० ३२१।

२. भाव०; देव : २।

३. रस०; मति ६७,१७३ में 'मुसक्यान के लिए महमही; 'मुराइ' के लिए गहगही, तथा 'दीपति' के लिए लहलही का प्रयोग है।

परिशिष्ट—(१)

ईरानी सूफ़ी कवियों की प्रकृति-परिकल्पना

सैद्धान्तिक दृष्टि से सूफ़ी इसलाम की कुरान द्वारा प्रतिपादित एकेश्वरवादी भावना को स्वीकार करते हैं, परन्तु उनकी व्याख्या इसको सर्वेश्वरवाद के रूप में स्थापित करती है। यद्यपि सनातनपंथियों के समान सूफ़ी भी मानते हैं कि परमात्मा अपनी सत्ता (जात), गुण (सिफ़त) और कर्म में निरपेक्ष और अद्वितीय है, पर वे उनके समान परमात्मा को सृष्टि के सभी पदार्थों से भिन्न न मान कर उसे इस दृश्यमान जगत् में परिव्याप्त एक मात्र सत्ता स्वीकार करते हैं। और यही सर्वेश्वरवादी दृष्टि भी है। 'हम्मा अज ओस्त' अर्थात् 'सब ईश्वर से है' के ईश्वरी सृष्टिवाद की अपेक्षा 'हम्मा ओस्त' अर्थात् 'सब ईश्वर है' की सर्वेश्वरवादी भावना के निकट सूफ़ी अपने को अधिक पाता है। यह सर्वेश्वरवादी दृष्टि भी दो प्रकार की हो सकती है। एक दृश्यमय जगत् को देख कर उसके ईश्वरत्व की कल्पना करता है, जिसे प्रकृतिवादी सर्वेश्वरवादी कहा जा सकता है; और दूसरा ईश्वर के प्रस्थानबिन्दु से प्रारम्भ करता है और सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् में उसी का रूप देखता है, जिसे आध्यात्मिक सर्वेश्वरवादी कहा जायगा। प्रथम प्रकार के सर्वेश्वरवाद में प्रस्थानबिन्दु जगत् की अनन्तता और विचित्रता है जिसके माध्यम से जगत् की एक व्यापक एकता का आभास मिलता है। कभी इस एकता का ईश्वर नाम दिया जाता है, पर यह ईश्वर मात्र अमूर्त प्रत्यय है, वह सत् रूप नहीं है।

व्यापक रूप से सूफ़ियों में भी दो सिद्धान्त माने जाते हैं, 'वहदतुलवजूद' के सिद्धान्त पर चलने वाले वुजूदिया और 'वहदतुश्शहूद' सिद्धान्त को मानने वाले शुहूदिया। मुहिउद्दीन इब्नुल अरबी ने कहा 'हमाओस्त' अर्थात् 'सब कुछ वही है' और इस प्रकार उसके अनुसार सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् उसी परम सत्ता की अभिव्यक्ति है। इसका सिद्धान्त अद्वैत की विशिष्टाद्वैती व्याख्या जैसा है। इनके अनुसार जीव चेतन (सिर्र) है, पर अपने सीमित ज्ञान के कारण वह परम सत्ता के आंशिक चैतन्य को ही प्रकट

कर पाता है, इस दृष्टि से जीव सत्य तो है, पर आंशिक सत्य है एक मात्र सत्य नहीं है। साथ ही 'अनल हक्' अर्थात् 'मैं परम सत्य हूँ' के आधार पर अद्वैतवादी विचार-धारा भी मिलती है। शेख़ करीमे जीली ने जीव की सत्ता को परम सत्ता की अपेक्षा रखने वाला माना है, और उनके अनुसार परमात्मा अपनी सत्ता को अपने गुणों में जगत्प्रपंच रूप में अभिव्यक्त करता है। उसकी अभिव्यक्ति सम्पूर्ण सत्ताओं में अन्त-र्निहित है और वह सृष्टि के प्रत्येक अणु-परिमाणु में अपनी पूर्णता को व्यक्त करता है। वह विभाजित नहीं है, सृष्टि के पदार्थ उसकी पूर्ण सत्ता के कारण हैं। जीली जल और बरफ़ के रूपक में अपनी बात स्पष्ट करता है, परम सत्ता जल के समान है और बरफ़ उसी की सृष्टि है।

इस प्रकार सूफ़ियों के अनुसार परम सत्ता अनन्त सौन्दर्य और विभूति के रूप में सृष्टि में अपने को अभिव्यक्त करती है, यह जगत् अंशतः उसी सौन्दर्य की अभि-व्यक्ति है। प्रकाश का ज्ञान जिस प्रकार अन्धकार द्वारा होता है, सूफ़ियों के अनुसार असत् के दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर परम सत्ता सृष्टि में प्रतिघटित हो जाती है। इन्होंने प्रायः सूर्य और जल में उसके प्रतिबिम्ब से परम सत्ता और सृष्टि की व्याख्या की है या आँख की पुतली के समान सृष्टि को कहा है जो असत् के दर्पण पर प्रति-बिम्बित परम तत्व की छवि है। वस्तुतः सूफ़ी रहस्यवादी अनुभूतिप्रवण साधक है, वह अन्ततः अपने व्यक्तिपरक अनुभवों के माध्यम से सर्वेश्वरवाद तक ही पहुँचता है। इसी प्रकार प्रकृतिवादी कवि और विचारक जगत् की महानता, सुन्दरता, विराटता, गतिशीलता, अनन्तता, विचित्रता आदि के माध्यम से किसी परम तत्व की परिव्याप्ति का आभास पाता है। कल्पना के माध्यम से वह सर्वेश्वरवाद की सीमा में प्रवेश करता है, और कभी उसको यह व्यापक सत्ता किसी ईश्वर रूप का स्मरण भी दिलाती है।

प्रकृतिवादी सर्वेश्वरवाद का आधार प्रकृति की गतिशीलता और परिवर्तन-शीलता है। वस्तुतः यह सर्वचेतनवादी दृष्टि का ही परिणाम है। प्रकृति की विभिन्न स्थितियाँ, उसका नाना प्रकार का रूपरंग, अनेकानेक ध्वनियाँ और नाद तथा उसका विराट और कोमल हृदयबोध हमारी सौन्दर्य भावना को विकसित करने में युग-युग से सहायक होते आये हैं। मानव के चारो ओर प्रकृति फैली हुई है, अतः प्रकृति का रूपात्मक सौन्दर्य मनुष्य के मानस पर प्रतिबिम्बित रहा है और प्रकृति की चेतना ने मानस-चेतना को ग्रहण किया है। यह सारा व्यापार मनुष्य के मानसिक सम पर चलता रहा है। इस समानान्तरता के कारण तथा मानव की सहज सहानुभूति के वातावरण में प्रकृति सचेतन और सप्राण हो उठती है। इसी सहज भावना की सौन्द-र्यानुभूति प्रकृति के साथ सम स्थापित करके सर्वचेतनावादी आनन्द और उल्लास को व्यंजित करती है। यह आनन्दोल्लास सर्वेश्वरवाद की भावभूमि भी है, सर्वचैतन्यमयी

प्रकृति के उल्लास में परम तत्त्व की व्यंजना सन्निहित हो जाती है। इस आत्मचेतना के प्रसार में प्रकृति सर्वात्मभाव से हमारी ही चेतना का एक रूप और अंश लगने लगती है।

प्रकृति के इस सर्वचेतनवादी (प्रकृतिवादी सर्वेश्वरवादी) दृष्टिकोण में मानव की भावानुभूति उससे ऐसा सम स्थापित करती है कि मानव मन को उसके प्रति जिज्ञासु, प्रश्नशील अथवा आश्चर्यचकित होने का अवसर नहीं मिलता। यही कारण है कि कवि सर्वचेतनवादी सृष्टि के स्रष्टा और सर्जन के सूत्रधार के प्रति अपना आग्रह प्रकट नहीं करता। वह प्रकृतिवादी कवि अपनी सीमाओं में अनीश्वरवादी ही रहता है। पर सूफ़ी कवि आध्यात्मिक सर्वेश्वरवादी हैं, उनका सर्वचेतनवाद आत्म तत्त्व की स्वीकृति पर निर्भर है। ईरानी सूफ़ी कवि प्रेमी है, प्रेम का मार्ग ही उसकी साधना है। प्रेमी के प्रेम का आलम्बन पूर्व निश्चित होता है। उसके प्रेम का आधार व्यक्तिगत सम्बन्धों में इसलामी एकेश्वरवाद के समान लगता है, पर साधना की व्याप्ति तथा उसकी गहन अभिव्यक्ति में वह सर्वेश्वरवादी है, क्योंकि वह आलम्बन रूप में व्यापक सत्ता को ग्रहण करता है। प्रेम साधना के आलम्बन के निश्चित हो जाने पर सूफ़ी कवि के सामने मुक्त सर्वचेतनवादी कवि की दृष्टि नहीं रह जाती है।

× × ×

सूफी कवि के सामने प्रेमिका के, साधक प्रेमी के प्रेम के आलम्बन रूप में प्रत्यक्ष रहने पर भी, उसकी दृष्टि प्रकृति रंग-रूपों के साथ उलझती है। प्रेमी अपने प्रिय की खोज में भी उसकी उपेक्षा करके आगे बढ़ नहीं सका है। वह भावना के आधार पर जिस प्रकृति सौन्दर्य और परिवर्तन में चेतना का प्रसार देखता है, उसीमें उसको अपने प्रिय का आभास मिलने लगता है। प्रेमी साधक के भावों का आलम्बन अन्यत्र होने के कारण वह अपने प्रिय की अन्तर्निहित व्यंजना के साथ तार्किक शैली में प्रश्नशील हो उठता है। वह प्रकृति के सौन्दर्य के प्रति जिज्ञासु भाव से तर्कना करता है—

> **आकाश में रहने वाले चाँद और तारों को प्रकाश दान कौन करता है? गुलाब की कली के समान नाभि को कस्तूरी से और गुलाब की सुन्दर झाड़ी को गुलाबी मणियों से युक्त कौन करता है? बसन्त की नवविवाहिता को सुन्दर शृंगारदान कौन करता है? निर्झरिणी के किनारे खड़े हुए चिनार को महान् पवन द्वारा ऐश्वर्य के साथ मुकुट धारण करना कौन सिखाता है?** (जामी)

यहाँ प्रकृति के प्रकाश, रूपरंग, गंध, ऐश्वर्य और शृंगार को देखकर कवि किसी व्यापक सत्ता की जिज्ञासा से प्रश्नशील हुआ है। उसकी यही जिज्ञासा पक्षियों के सुन्दर शृंगार और उनके संगीत के प्रति भी है—

पपीहे को मधुर स्वर में राग अलापना कौन सिखाता है ? और कौन चकोर को इतने सुन्दर वस्त्रों में शृंगार करना सिखाता है ? (सनाई)

सूफ़ी कवि विचार करता है कि यदि प्रकृति इतने विविध और अनेक दृश्यमय रूपों में अंकित है तो उसका कोई चितेरा भी अवश्य होगा। यहाँ कवि के मन में दृश्य जगत् के सर्जक की खोज और जिज्ञासा प्रधान है—

यदि कहा जाय कि प्रकृति-रचना में किसी कलाकार का हाथ नहीं है, तो इन फूलों के खिलने के ढंग क्यों अलग-अलग हैं ? ये अपनी बहार भिन्न-भिन्न रूपों में क्यों दिखाते हैं ? (सनाई)

कवि प्रकृति के प्रति, उसकी दृश्यमयता के प्रति इस प्रकार प्रश्नशील होकर उसकी गति और विभिन्नता में किसी व्यापक सत्ता का संकेत ग्रहण करना चाहता है और वह संकेत उसे रहस्यात्मक परम तत्व की ओर अग्रसर करता है। इस संकेत ग्रहण करने की प्रक्रिया में वह पृथ्वी की वैविध्यपूर्ण रचना के प्रति प्रश्न करता हुआ प्रस्तुत होता है—

ये अनेक वस्तुएँ क्यों उत्पन्न हो गयीं ? ये गुलाब, बेला, चमेली और नरगिस आदि फूल क्यों खिलते हैं ? ये सब पृथ्वी से उत्पन्न होते हैं, पानी से सींचे जाते हैं, फिर भी इनमें से किसी का रंग सफ़ेद, किसी का पीला, किसी का लाल और किसी का काला क्यों है ? (सनाई)

कवि का आश्चर्य और कौतूहल प्रकृति के दृश्यमय रूपविधान तक ही सीमित नहीं है, वह प्रकृति की विभिन्न स्थितियों का पर्यवेक्षण कर उनके गुणों की विभिन्नता पर भी विचार करता है। उसके सामने एक ओर रुपहले झंडे के समान हवा में फहराते हुए पंखों पर उड़ता हुआ बाज पक्षी और दूसरी ओर सुनहली नौका के समान अपने पंखों को फैलाकर तैरती हुई मुर्गाबी है ! उसके मन में दोनों को देखकर प्रश्न उठता है—

एक ही हवा में रहने वाले इन दोनों पक्षियों की रचना में यह भेद किसने डाल दिया है ? एक पक्षी शिकार के लिए आसमान में चक्कर लगाया करता है और दूसरा उसके भय से नदी में छिपा रहता है। (सनाई)

प्रकृति के निर्माण क्रम में विभिन्नता और विषमता है, पर उसके परिवर्तन के चक्र में विध्वंस और विघटन का रूप तथा तत्व भी छिपे हुए हैं। अनेक बार ये सूफ़ी कवि प्रकृति के दो विरोधी चित्रों के माध्यम से यह व्यंजना करते हैं—

घास का सुन्दर फर्श बिछा था, मनोहर कलियाँ चित्र को आकर्षित बना रही थीं, गुले लाला मस्ती से झूम रहे थे। फिर जहाँ उपवन के फूल खिले देखे गये थे, जहाँ बुलबुलों का राग सुनाया गया था, वहाँ अब चील-कौओं का जमघट

था—स्वर्ग नरक में परिणत हो गया था; उस सुन्दर उपवन का शृंगार अर्थात् पुष्प नष्ट हो चुके थे। (निज़ामी)

और सूफ़ी कवि इस ध्वंस और परिवर्तन को भी जिज्ञासु भाव से देखता है। इसके बीच वह अपने प्रश्न को सन्निहित कर देता है—वह कौन शक्ति है जो चुपचाप यह सब करती रहती है ? वस्तुतः इस जिज्ञासा का समाधान इन कवियों की भावना में बहुत निकटता से आहट देता है। प्रकृतिवादी के समान ये कवि प्रकृति के प्रति अपनी जिज्ञासा और प्रश्न में ही सौन्दर्यानुभूति का आधार ग्रहण नहीं कर पाते। अपने प्रश्न का उत्तर सूफ़ी कवि को स्वयं ही मिल जाता है—

निस्सन्देह इस अनुपम जगत् का कवि ईश्वर है, जिसने मनुष्य मात्र की बिना सहायता के, केवल अपनी इच्छा-शक्ति (शब्द) के द्वारा सर्जन विस्तार किया है। (सनाई)

यहाँ तक इन ईरानी सूफ़ी कवियों में प्रमुखतः एकेश्वरवादी भावना का स्वरूप ही व्यंजित हुआ है। यह सारी जिज्ञासा और ये समस्त प्रश्न प्रकृति में एक व्यापक चेतना का आभास तो देते हैं, पर प्रकृति के पीछे एक नियामक, सर्जक और स्वामी की परिकल्पना भी इनमें स्वीकृत है।

जहाँ तक इन कवियों ने प्रकृति के विविध रूपों में ईश्वरीय शक्ति का प्रसार देखा है, इनका दृष्टिकोण इसलामी एकेश्वरवाद से अधिक प्रभावित है। प्रकृति को स्फुरित चेतनामय अथवा परम तत्व की व्यापक चेतना से व्याप्त रूपों में ये साधक विवेचन और प्रतिपादन की सीमा में स्वीकार नहीं कर सके हैं। इस दृष्टि से इन्होंने सम्पूर्ण जगत् का रचयिता ईश्वर को माना है। कवि अपने विश्वास को व्यक्त करता है—

ईश्वर के अतिरिक्त पत्थर में आग किसने छिपा रखी है ? उसकी शक्ति के सिवाय काली मिट्टी में से लाल रंग के फूल किसने उत्पन्न किए हैं ? नदी में सीपियाँ और जंगल में हिरन उसीने उत्पन्न किए हैं—दोनों अपने-अपने स्थान पर आराम से रहते हैं और भागते फिरते हैं। उसी परमात्मा ने बरसा के पानी की बूंद से सीप का मुँह भरवाया और जंगल के हिरन की नाफ़ में मुश्क पैदा की। वह कौन है जिसने अपनी शक्ति से चन्द्रमा को आकाश में चमकाया है और उसे घटाता-बढ़ाता रहता है ? पर्वत को स्वर्ग के समान नाना रंग के फूलों से कौन सजाता है और उपवन को विविध प्रकार के पौधों और फूलों से कौन सजाता है ? (सनाई)

इस प्रकार इनकी दृष्टि में प्रकृति के समस्त उपकरणों को बनाने वाला और व्यापारों को नियोजित करने वाला ईश्वर है। उपर्युक्त उद्धरणों में ईश्वर बहुत कुछ एक

अलग सत्ता के रूप में परिकलित है, पर जिन स्थलों पर प्रकृति ईश्वरीय प्रकाश से उद्भासित है, वहाँ भी ईश्वर प्रकृति चेतना से अभिन्न रूप नहीं है, वह सर्वोपरि सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित है। प्रकृति के सौन्दर्य में और उसकी चेतना में ईश्वरीय सौन्दर्य और चेतना का तादात्म्य नहीं हो सका है। कवि अपनी चेतना में प्रकृति को ईश्वरीय प्रकाश से उद्भासित देखता है—

> जब सूर्य अपनी किरणों से जाज्वल्यमान हो उठता है, पृथ्वी के प्रत्येक कण में उसीका प्रकाश पड़ता है। प्रकाश की एक किरण गुलाब को सौन्दर्य दान देती है और बुलबुल का हृदय आवेग-पूर्ण हो जाता है। उसीकी अग्नि से दीपक अपने आप जल उठता है और उसमें सैंकड़ों पतंगों की आहुति हो जाती है। इस प्रकाश के प्रवाह में कमल ने अपना सिर ऊपर कर लिया है।
>
> (जामी)

यहाँ सूर्य का प्रकाश ईश्वरीय वैभव है और प्रकृति उसीसे सुन्दर और सचेतन हो उठती है।

× × ×

ईरानी सूफ़ी कवि प्रेम का साधक है। उसके प्रेम का आधार लौकिक है, पर उसका प्रेम एक अव्यक्त सत्ता के प्रति है। जैसा कहा गया है कि स्थापना की दृष्टि से सूफ़ी इसलामी विचारधारा को मानकर चलते हैं, उनका मौलिक अन्तर साधना के क्षेत्र में है। यहीं उनकी दृष्टि सर्वेश्वरवादी है। इसी क्षेत्र में वह दृश्यमान जगत् को परम सत्ता की अभिव्यक्ति मानता है अथवा सर्वत्र एक परम तत्व को प्रतिघटित देखता है। प्रेम की अभिव्यक्ति के क्षेत्र में सूफ़ी कवि विभिन्न प्रकार से प्रकृति की परिकल्पना करता है। प्रकृति का राशि राशि सौन्दर्य उसको ईश्वरीय सौन्दर्य का भास कराता है। प्रेमाख्यानों में नायक और नायिका के सौन्दर्य में प्रकृति सौन्दर्य का आश्रय लिया गया है, प्रकृति के अप्रस्तुत-विधान को प्रस्तुत रूप में ऐसे स्थलों पर लिया गया है। और इस प्रकार प्रकृति-सौन्दर्य के माध्यम से ईश्वरीय सौन्दर्य की व्यंजना हो सकी है। कवि युसुफ़ का सौन्दर्य अंकित करता है—

> चांद—चांद नहीं, ऐश्वर्य के चरम का प्रकाशमान सूर्य—उसके सौन्दर्य के सामने महान् सौन्दर्य भी फीका था—जिस प्रकार सूर्य की किरणों के सामने तारक मंडल विलीन हो जाता है।
>
> (जामी)

इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप में भी सौन्दर्य प्रकृति के माध्यम से व्यक्त किया गया है। कहा गया है कि सौन्दर्य किसी परदे में नहीं छिपाया जा सकता, प्रकृति के सौन्दर्य का छोटा-सा छोटा रूप अपने आप में सहज और आकर्षक होता है—

> बहार के मौसम में ट्यूलिप को देखा! किस मधुरिमा से वह पहाड़ियों पर

खिलता है—किसी चट्टान की दरार में उसकी कली प्रस्फुटित हो जाती है—और इस प्रकार वह अपने सरल सौन्दर्य को प्रकट करता है। (जामी)

प्रेम की व्यापकता को व्यंजित करने के लिये कवि कभी अपने भावों को प्रकृति में प्रतिबिम्बित देखता है। इस स्थिति में कभी कवि अपनी प्रेम-भावना में प्रकृति को मग्न चित्रित करता है—

हे सुन्दर राग अलापने वाले बुलबुल और सदा से चलने वाले कबक तू प्रेम में मस्त रह। इस प्रेम रूपी मदिरा से तेरे पैरों में उड़ने की शक्ति सदा बनी रहेगी। (सनाई)

प्रेम-साधना की विभिन्न परिस्थितियों को कभी कवि प्रकृति की अनेक स्थितियों में प्रतिघटित करके अपने प्रेम की व्यंजना को अधिक प्रत्यक्ष और मार्मिक बनाता है—

अभी पुष्प परदे से निकला भी नहीं था कि प्रभातकालीन पक्षी उपवन में आ उपस्थित हुआ। (हाफ़िज)

यदि प्रेम की वेदना का रूप प्रकृति में व्यंजित है तो प्रेम की तृप्ति भी उसमें निहित की गयी है—

बुलबुल फूल के प्रेम में चारो ओर चिल्लाता है और व्याकुल होता है—परन्तु यदि फूल के प्रेम का किसी ने मज़ा चखा है तो वह प्रभातकालीन पवन है। पवन ने फूल के घूंघट को हटा दिया, संबुल की अलकों को बिखेर दिया और कलियों को चिटखा दिया। (हाफ़िज)

सूफ़ी कवि अपने आध्यात्मिक प्रणय के भावोद्वेलन को प्रकृति में व्याप्त देखता है और उसके प्रतीकों और रूपकों के माध्यम से उसे व्यंजित करता है—

उपवन पुष्पों के विकास से शोभित है और लाल गुलाब के खिलने से बुल-बुल उसके प्रेम में मतवाला हो उठा है। (हाफ़िज)

प्रकृति में पुष्पों की यह भावना कभी-कभी वियोग और संयोग के रूप में उपस्थित होती है। इस स्थिति में प्रेमी साधक के वियोग की छाया प्रकृति ग्रहण करती है और प्रकृति पर अपने भावों का आरोप कर कवि अपने को सामने से हटा लेता है—

रात्रि अपने वक्षस्थल पर सहस्रों तारों को धारण कर मानों सहस्रों दीप जलाती है—ऐसा भी हो सकता है कि आकाशी दीप आह की हवा लगने से कहीं बुझ गया हो। (अत्तार)

अपनी साधना की प्रक्रिया में प्रेमी कवि अपने प्रिय से आंख-मिचौनी प्रकृति के माध्यम से खेलता है। यहाँ कवि प्रकृति रूप होकर ही उसे पाना चाहता है, उसे उसी में अपने प्रिय का आभास मिलता है। कभी कवि प्रिय को प्रकृति में खोज कर हैरान होता है और कभी स्वयं प्रकृति रूप होकर उसका आत्मानुभव प्राप्त करने का उपक्रम

करता है। प्रकृति के नाना रूपात्मक दृश्यविधान और सौन्दर्यबोध के बीच वह अपने प्रिय को खोजता है और प्रिय उसे कैसे निराले, विविध रंगों-रूपों में दिखाई देता है और मिलने के लिये न जाने कितने बहाने करता है। चित्र रूप में सदैव सारी सृष्टि में वर्तमान है, पर प्राणों के मार्ग से सदा अदृश्य हो जाता है। यदि वह आकाश में उसकी खोज करता है, तो वह चाँद बनकर नीचे पानी में झलकने लगता है। पर जैसे ही वह उसे देखने के लिये पानी में झाँकता है, वह फिर आकाश में विचरने लगता है। यहाँ इस स्तर पर सूफ़ी कवि में आध्यात्मिक कोटि का सर्वचेतनवाद (सर्वेश्वरवाद ही) मिलता है—

> **मैं वायु के समान संचरण करता हूँ, उसीके समान फूलों का प्रणयी हूँ। (ईश्वर) मैं उस पुष्प के समान हूँ जो पतझड़ के मौसम में, (वियोग) के डर से उपवन छोड़कर भाग जाता है।**
> (रूमी)

प्रेम साधना की भावात्मक अभिव्यक्ति के लिए इन कवियों ने प्रकृति के प्रतीकों का माध्यम स्वीकार किया है। साधक की मानसिक भावस्थितियों के समानान्तर प्रकृति के चित्र संयोग और वियोग की मनःस्थितियों के अनेक छायातप हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। प्रेम की भावानुभूति में प्रेमी का हृदय प्रकाशित हो उठता है—

> **चाँद प्रेम के प्रकाश से संसार के अन्धकार को रात में दूर करता है।**
> (जामी)

प्रेम की वियोग-जन्य पीड़ा को कवि तूफ़ान के रूप में चित्रित करता है और उसके द्वारा प्रेम की गम्भीर अभिव्यक्ति का रूप सामने आता है—

> **प्राण ! तुझे यह प्रेम तूफान में फँसा देगा। क्या तू समझता है कि जिस प्रकार बिजली अपनी क्षणिक आभा दिखला कर आकाश में विलुप्त हो जाती है, उसी प्रकार तू भी इस तूफ़ान के चक्कर में पड़कर विलीन हो जायगा।**
> (हाफ़िज)

इस प्रकार अपने आपको विलीन करने में प्रेमी के चिर मिलन का संकेत व्यंजित हुआ है। सूफ़ी कवि प्रेम के विकास में वियोगजन्य पीड़ा और अश्रु को बहुत महत्व देते हैं। वियोग व्यथा के चरम क्षणों में मिलन की अनुभूति जाग्रत हो जाती है। इस पीड़ा और अश्रु की कल्पना सूफ़ी कवि बिजली और वर्षा के रूप में करता है। प्रेमी के हृदय की कसक बिजली के रूप में कौंधती है और उसके आँखों का अश्रु-प्रवाह वर्षा के रूप में बह चलता है। इस कसक और अश्रु-प्रवाह के बिना प्रेम की चरम परिणति सम्भव नहीं है। इस प्रेम के चरम क्षणों का आनन्द स्वप्न बिना वर्षा और बिजली के (पीड़ा और अश्रु) अभिव्यक्ति ग्रहण नहीं करता। इस आनन्द कल्पना का स्वरूप कवि प्रकृति

परिकल्पना के माध्यम से व्यंजित करता है। कवि कहता है कि बिना वर्षा और बिजली के—

हृदय में मिलन आनन्द के कुंज कैसे निर्मित होंगे और उससे किस प्रकार स्वच्छ जल के निर्झर निकलेंगे ? वायलेट और चम्पा किस प्रकार मित्रता करेंगे ? एक साधारण वृक्ष अपनी पत्तियां प्रार्थना में कैसे खोलेगा ? प्रेम अनिल के झोंके में वृक्ष किस प्रकार अपने सिर को हिलायेगा ? बसन्त में फूल अपनी पंखुड़ियों के अर्घ्य को किस प्रकार समर्पित करेंगे ? ट्यूलिप का मुख किस प्रकार स्वर्ण के समान चमकेगा ? किस प्रकार गुलाब अपनी जेब से सोना निकालेगा ? बुलबुल किस प्रकार गुलाब का सुगन्ध लेगा और पड़की खोजी के समान किस प्रकार कू-कू करेगी ? (रूमी)

उपर्युक्त प्रकृति के चित्रों में प्रेम के संयोगात्मक आनन्द का संकेत है जो वियोग की चरम स्थिति में ही सम्भव माना गया है। इस स्थिति में सूफ़ी साधक प्रेम की व्यंजना के उस स्तर पर संचरण करता है जहाँ सर्वेश्वरवाद की अद्वैत भावना की सीमा मानी जाती है। अपने प्रेम में प्रेमी अपने प्रियपात्र से अभिन्न हो जाता है और प्रेममयता की यही अभिव्यक्ति है—

अस्तित्वहीन बूंद समुद्र में मिल गया और उसने अपनी जीवन रूपी सरिता की सैर भी कर ली। (जामी)

कई स्थितियों में इन कवियों ने आत्म तत्व को व्यापक परम तत्व के रूप में उससे अभिन्न माना है और उसकी अनुभूति को प्रेम की चरम स्थिति के रूप में व्यक्त किया है—

अपने अस्तित्व को खोकर बूंद समुद्र के विभिन्न रूपों में आनन्दमयी लहर के समान सर्वत्र अपने ही को पायेगा। (जामी)

प्रेम की तन्मयता में सूफ़ी साधक के अनुसार वह अपने को भूल कर प्रेमीमय हो जाता है। यह भक्तों की एकान्त भावना की तन्मयासक्ति कही जा सकती है—

यदि तू अपने हृदय में फूल का विचार करेगा। तो तू फूल हो जायगा।
और यदि तू प्रेमी बुलबुल में ध्यान लगायेगा तो बुलबुल हो जायगा। (जामी)

शीत और ताप वाला संसार समाप्त हो जायगा—न तो तुम्हें आकाश दिखाई देगा, न तारे, न कोई प्राणी। कुछ भी नहीं दिखाई देगा—केवल एक ईश्वर, सजीव और प्रेममय रह जायगा। (जामी)

प्रेम की अनुभूति अपने चरम क्षणों में सांसारिक उपकरणों और प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्त नहीं हो सकती। और ऐसी स्थिति में इन कवियों ने विरोधी गुणों का आरोप करके प्रकृति के माध्यम से इस भावानुभूति को व्यक्त करने का प्रयास किया

है। अभिव्यक्ति का यह रूप संतों की उलटबासियों की शैली के समान है, परन्तु इसमें अलौकिक वैचित्र्य के स्थान पर अलौकिक सौन्दर्य ही अधिक है। कवि कहता है—

मैं अग्नि से कहूँगा—'जाओ, गुलाब का उपवन बनो', मैं समुद्र से कहूँगा—'अग्निमय हो जाओ', मैं पर्वतों से कहूँगा—'ऊन के समान हलके हो जाओ'। मैं कहूँगा—'ये सूर्य, चन्द्रमा से मिलो'। हम अपनी कला से सूर्य के फव्वारों को सुखा देंगे और खून के फव्वारे को कस्तूरी में बदल देंगे। (रूमी)

  

प्रकृति के चित्रों के अतिरिक्त काव्य में प्रकृति परिकल्पना का एक दूसरा रूप उपमान-योजना है जिसमें प्रकृति के अनेकानेक उपकरण अप्रस्तुत-विधान के अन्तर्गत आते हैं। प्रकृति के प्रत्येक रूप और स्थिति के साथ हमारे मनोभावों का संयोग रहता है। इस कारण प्रकृति की नाना स्थितियाँ और परिस्थितियाँ उपमान के रूप में काव्य में प्रयुक्त होती हैं। सूफ़ी कवियों ने प्रकृति के इन अप्रस्तुतों का सुन्दर प्रयोग किया है और मानवीय जीवन की विभिन्न प्रकार की स्थितियों और परिस्थितियों को तथा भावों को व्यंजित करने के लिये प्रकृति के व्यापक क्षेत्र से उपमानों की योजना प्रस्तुत की है। इन उपमानों का प्रयोग अधिकतर रूपक, अप्रस्तुतप्रशंसा, दृष्टान्त, उत्प्रेक्षा और उदाहरण के रूप में हुआ है। इस अप्रस्तुत-योजना को दो रूपों में देखा जा सकता है। पहले रूप में प्रेम सम्बन्धी दृष्टान्तों आदि का प्रयोग है जिसमें प्रेम की व्यापकता, दृढ़ता, गम्भीरता, एकनिष्ठा आदि को प्रकृति के अप्रस्तुतों के द्वारा व्यक्त किया जाता है। दूसरे रूप में जीवन के विषय में अन्य सत्यों का उल्लेख आता है। जिनमें विभिन्न प्रकार की शिक्षाओं को प्रकृति के माध्यम से दृष्टान्तों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

प्रेम के विषय में जिस व्यक्ति का हृदय जितना अधिक परिष्कृत होगा उतना ही वह साधना के मार्ग में आगे बढ़ सकेगा। कवि इस सत्य को इस प्रकार व्यक्त करता है—

कभी पर्वत प्रतिध्वनि करते हैं और कभी मौन रहते हैं—कुछ पर्वत प्रतिध्वनि को द्विगुणित कर देते हैं और कुछ तीन गुना भी बढ़ा देते हैं। (रूमी)

प्रेम के विकास में बुद्धि का स्थान नहीं है, यह सभी प्रेम के साधक जानते हैं। इस सत्य को कवि इस प्रकार प्रस्तुत करता है—

प्रेम अग्नि है और बुद्धि केवल धुआँ है—जैसे ही प्रेम प्रज्वलित हो जाता है धुआँ विलीन हो जाता है। (अत्तार)

ईश्वर और उसके प्रेम के विषय में कवि चश्मों और झरनों का रूपक बाँधता है—

जब तक चश्मा रहेगा नालियाँ उनमें से निकलती रहेंगी। तू चिन्ता न कर, नालियों का पानी पिये जा। चश्मों में अथाह पानी भरा है। (रूमी)

यहाँ नालियों का अर्थ प्रेम प्रवाह के रूप में मानव जीवन से लिया जा सकता है। प्रेम चिरन्तन है, क्योंकि वह चिरन्तन ईश्वर का रूप है—

जो वस्तु बहार में उत्पन्न होती है, पतझड़ के समय मिट जाती है—परंतु प्रेम की फुलवारी बहार से सम्बन्ध नहीं रखती—वह स्वयं सदाबहार है। (रूमी)

सांसारिक प्रेम में स्थायित्व नहीं है, सूफ़ी कवि इस सत्य को स्वीकार करता है—

फूल में वादा पूरा करने और वचनों पर चलने का कोई लक्षण नहीं है। ऐ प्रेमी बुलबुल, तू इस बात की शिकायत कर सकता है। (हाफ़िज़)

अन्त में कवि प्रेम और विरह को अवर्णनीय बताता है—

मैं प्रेम वाटिका का पक्षी हूँ—विरह का वर्णन करने में मौन हूँ और यह भी नहीं कह सकता, मैं इस आपत्ति में कैसे पड़ा ? (हाफ़िज़)

यहाँ पक्षी की मूक वाणी के द्वारा प्रेम और विरह की सुन्दर व्यंजना की गयी है। और कवि अपने आराध्य को पाकर कह उठता है—

ये मेरी कस्तूरी की नाफ़, तुम्हीं ने मुझको अपनी सुगन्ध के लिए काफ़ से काफ़ (पर्वत की विभिन्न चोटियों पर) दौड़ाया था। (जामी)

अन्त में दूसरी प्रकार की अलंकार-योजना में प्रयुक्त प्रकृति अप्रस्तुतों के कुछ उदाहरण देना उचित होगा। जैसा कहा गया है इन सबका संकेत जीवन के साधनात्मक पक्ष से है। बिना उचित अवसर और स्थान के कोई काम नहीं होता—

गुलाब की कली वसंत के बिना पुष्पित नहीं होती। (जामी)

उचित अवसर प्राप्त कर और सज्जन का साथ होने पर फल उत्तम और कल्याणप्रद ही होता है—

पृथ्वी पर जब वसंत मित्र का प्रवेश होता है, तब वह सहस्रों फूलों से आच्छादित हो जाती है। (जामी)

दुष्ट साथी से कोई लाभ नहीं होता—

शरद् में पृथ्वी अपना मुख ढक लेती है। (जामी)

जब असज्जनों की अधिकता होती है, सज्जन और गुणीजन मौन रहते हैं—

जब कौआ जाड़े में अपना डेरा डालता है, तब बुलबुल छिप जाता है और मौन हो जाता है। (जामी)

कथा का बाह्य अर्थ उसके आन्तरिक अर्थ को स्पष्ट करता है—

समुद्र फेन को फेंककर एक सीमा बनाता है— फिर उसको अन्दर खींचकर अपने प्रसार में प्रवाहित होता है। (जामी)

सज्जन दूसरों के लाभ और उपकार के लिए ही कर्म करता है—

सरिता तल स्वयं जल नहीं पीता, लेकिन उसपर से पीने वालों के लिए जलप्रवाहित होता है। (जामी)

* * *

इन समस्त विवेचना में ईरानी सूफ़ी कवियों की व्यापक प्रकृति परिकल्पना को ध्यान में रखा गया है। यहाँ सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत करने अथवा विभिन्न कवियों के दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का उद्देश्य नहीं रहा है।

परिशिष्ट—(२)

प्रकृति परिकल्पना और लोकगीत

मानव के सौन्दर्य-बोध के विकास में प्रकृति की विभिन्न परिकल्पनाओं का योग रहा है, और इस दृष्टि से काव्य के संस्कार में प्रकृति का गहरा स्थान माना जायगा। प्रकृति के रंग-रूपों, आकार-प्रकारों की विचित्रता, विविधता, विराटता, निर्जनता, भयानकता, रहस्यमयता और इसके साथ उसकी कोमलता, शान्ति, उल्लास, आनन्द आदि ने मनुष्य के मानसिक विकास को प्रेरित और संघटित किया है, और इसी आधार पर कवि और कलाकार प्रकृति की परिकल्पनाओं का आश्रय अपनी कला-कृति के सौन्दर्य-सर्जन में लेता है। परन्तु लोक-गीत लोक-मानस की अभिव्यक्ति के रूप में साहित्य की मौलिक प्रवृत्ति से अलग पड़ते हैं। साहित्य सर्जन है, लोक-साहित्य अपने अभिव्यक्त रूप में भी जीवन की प्रक्रिया का अभिन्न अंग है। इस दृष्टि से लोकगीतों में काव्य के सौन्दर्य-बोध के स्थान पर जीवन-बोध प्रधान है, और उनमें सौन्दर्य की परिकल्पना उसी सीमा तक आती है जिस सीमा तक वह जीवन की प्रक्रिया का भी अंग है। यही कारण है कि लोक-गीतों में प्रकृति की प्रमुख दृष्टि सौन्दर्य-बोध की न होकर लोक-जीवन में उसकी स्थिति से सम्बन्धित है।

समग्र लोक-साहित्य लोक-जीवन के 'जीने की प्रक्रिया' का अंग होकर गतिशील होता है, इस कारण उसमें वस्तु, स्थिति, परिस्थिति, पात्र, चरित्र, मनोभाव तथा संवेदनाएँ जीवन के सीधे संदर्भ में उपस्थित होती हैं। इसमें साहित्य के अभिव्यक्तिपरक साधारणीकरण के स्थान पर लोक-मानस के स्तर पर जीवन का साधारणीकृत रूप प्रतिघटित होता है। अतः लोक-गीतों में रसनिष्पत्ति की आनन्दपरक स्थिति सौन्दर्यानुभूति के स्थान पर जीवन की भावावेगपूर्ण सहज भाव-स्थिति का रूप रहता है। इस स्थिति में लोक-गीतों की प्रकृति किसी रस की भूमिका में न आलम्बन है, न उद्दीपन, न उसके मानवीकरण की आवश्यकता है, न मानवीय भावारोप (उल्लास, आशा, निराशा आदि की मनःस्थिति में) की, न वह मानव सहचरी के रूप में अंकित होती है,

और न कवि को जीवन की अनन्त प्रेरणा देने वाली शक्ति के रूप में। यहाँ प्रकृति उसी सीमा तक आती है, जहाँ तक वह लोक-जीवन का अंग है।

लोक-जीवन प्रकृति के सम्पर्क में प्रवाहित है, उसमें नागरिक कृत्रिमताएँ अधिक विकसित नहीं हुई हैं, इस कारण उसका प्रकृति का परिचय धूमिल नहीं पड़ा है। वरन् वह सम्पर्क और परिचय इतना घनिष्ट है कि प्रकृति के किसी उपकरण अथवा परिस्थिति का उल्लेख करते ही लोक-गायक के सामने स्वतः प्रकृति के उस हृदय की सारी रूपमयता, समस्त वातावरण और सदर्भ व्यंजित हो जाता है। वातावरण की सृष्टि के लिए उसे सम्पूर्ण रेखाओं को व्यक्त रूप देने अथवा संश्लिष्ट ढंग से रंगों को भरने की आवश्यकता नहीं होती। इसका एक महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि लोक-गायक की जीवन-प्रक्रिया में उसका गीत और प्रकृति दोनों एक साथ उसके अंग के रूप में उपस्थित होते हैं। प्रकृति उसके सामने प्रत्यक्ष है, फिर अपने गीत में वह केवल संकेतों का आधार ग्रहण करता है। यही कारण है कि लोक-गीतों में प्रकृति का सांकेतिक चित्रण भर मिलता है, चाहे पृष्ठभूमि के रूप में उसका प्रयोग किया गया हो अथवा वातावरण निर्माण के लिए, चाहे भावात्मक व्यंजना की दृष्टि से हो अथवा सहचरण भावना की दृष्टि से। वस्तुतः प्रयोग के रूप में लोक-साहित्य में प्रकृति की परिकल्पना का प्रश्न नहीं आता। यहाँ प्रकृति जीवन-स्तर पर ही उपस्थित है, अतः वह प्रत्यक्ष पृष्ठभूमि है, वातावरण है, साक्षात् भावानुप्रेरित और सहचरी है। किसी स्थिति में उसके सांगोपांग, संश्लिष्ट, अथवा काव्यात्मक दृष्टि से व्यंजक चित्रण की अपेक्षा ही नहीं है। लोक-गायक तथा लोक-मानस यह सब जीवन के प्रत्यक्ष संदर्भ में स्वतः ग्रहण कर लेता है।

जिस प्रकार पर्वतीय लोकगीतों में चोटियों, घाटियों और उनमें खिलने वाले फूलों का संकेत सम्पूर्ण पृष्ठभूमि और वातावरण को प्रस्तुत करने में सहायक होता है, और मरु-प्रदेशीय लोकगीतों में टीलों, रेतीले प्रदेश, करील, बबूल, खेभड़ आदि के संकेत में यह कार्य सम्पादित होता है, मैदान के लोकगीतों में वही कार्य वन, उपवन तथा विविध वृक्षों के संकेत करते हैं। मैदान की प्रकृति नागरिक संस्कृति के विकास के साथ संकुचित होती गयी है। खेती के विस्तार के साथ वनों का विस्तार समाप्त-प्राय है। फिर भी लोकगीतों में वनों की स्मृति रक्षित है। वनों या उपवनों के सांकेतिक उल्लेख या तो किसी कथा, घटना अथवा स्थिति की पृष्ठभूमि के रूप में हुये हैं अथवा किसी परिस्थिति के वातावरण के निर्माण के लिए। फूल तोड़ने जाने वाली एक स्त्री के कथा-गीत में भूमिका रूप से वन की कल्पना है—'किस बन में सुपारी

फूलती है, किसमें नारियल और किसमें पलाश फूलता है, मैं फूल चुनने जाऊँगी।"[1] इसी प्रकार किसी स्त्री के सुरत-संभोग की उद्दीपक भूमिका के रूप में उपवन का वर्णन है—'आम-महुआ के उपवन के बीच में से एक रास्ता लगा हुआ है, आम के लम्बे-लम्बे पत्ते हैं और इनके बीच में टिकोरा लटक रहे हैं।'[2] यहाँ यद्यपि आगे का वर्णन शृंगारमय है, पर भूमिका रूप में यह संकेत-चित्र सहज जीवन का अंग है, उद्दीपन-विभाव की काव्यात्मक योजना नहीं। कभी-कभी यह संकेत और भी संक्षिप्त उल्लेख के माध्यम से व्यंजित हो जाता है—

एक बन डाँकिन दूसर बन डाँकिन तिसरे बिन्द्राबन।
देवरा एक बूँद पनिया पिअउतेउ पिअसिया से व्याकुल॥[3]

जिस प्रकार इसके पूर्व के उद्धरण में सुपारी और नारियल के बनों की कल्पना दूरवर्ती बनों की आदर्श-भावना के आधार पर है, क्योंकि गीत-विशेष के क्षेत्र में ऐसे जंगल नहीं होते हैं, उसी प्रकार बनों में वृन्दावन की कल्पना भी अनेक पूर्वी क्षेत्रों के गीतों में मिल जाती है।[4]

कभी-कभी इस प्रकार के संकेत-चित्रों में प्रसंग के अनुसार वातावरण प्रस्तुत करने में व्यंजना भी सन्निहित हो जाती है। पहली परिकल्पना से प्रस्तुत प्रकृति चित्र में किंचित ही अन्तर है। प्रथम संकेत-चित्र बहुत कुछ कथा-प्रसंग से निरपेक्ष पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हैं। पर प्रस्तुत रूप में कथा से सम्पृक्ति जान पड़ती है। लक्ष्मण द्वारा त्यागी हुई सीता—'वन में डहडहाये हुये सघन पत्तों वाले छोटे से ढाक के पेड़ के नीचे खड़ी होकर मन ही मन चिन्ताकुल हो रही है।'[5] एक अन्य स्थल पर प्रसंग की पवित्रता, संकल्प तथा एकान्त-निष्ठा आदि भावों के अनुकूल वातावरण प्रस्तुत करने वाला प्रकृति चित्र है—

---

१. कृष्णदेव उपाध्याय ; भोजपुरी ग्रामगीत ; सोहर ३ ; १—
कवन बने फूलेला सुपरिया, त कवना बने नरियर हो।
आरे कवना बने फूलेला पलसवा, लोढ़न हम जाइबि हो॥

२. वही ; वही ; गोंड के गीत ; ७ ; १—
आमवा महुअवा के बाग ताहि रे बीच राह लगी।
आमवा के लामे लामे पात टिकोरवा लटकि रही॥

३. रामनरेश त्रिपाठी ; ग्राम-साहित्य ; सोहर ६६, १४।

४. वही ; वही ; सोहर ७, १६।

५. वही ; वही ; सोहर २० ; १—
छापक पेड़ छिउलिया त पतवन बन बन।
ते हो ओहि तरे ठाढ़ी सीतल देई
मनहीं बिसोह करैं हो॥

ये जेंवने बन सिकिया न डोलै भँवरा न गुंजरइ ।
ये तेवने बन पैंठत कवन राम पराल डंडा तोरैं ॥[1]

यहाँ पिता बटु के लिये ऐसे वन से पलास-दंड लाने जाता है, जो रहस्यमयी आध्यात्मिक व्यंजना कर रहा है। कभी लोक-गायक वातावरण में भावना के अनुकूल पृष्ठभूमि व्यंजित करता है। बेटी के विवाहोत्सव के बीच सोनार का लड़का लौंग के जिस बाग में उतरता है वह इसी प्रकार का है—'मेरे पिछवाड़े लौंग की बगिया है, लौंग आधी रात गये फूलती है। उस लौंग से शीतल हवा बहती है और बड़े सवेरे खूब महकती है।'[2] लौंग के बाग की कल्पना यहाँ आदर्श रूप में है और उसका आधी रात में फूलकर प्रातः महकना व्यंजक है, क्योंकि वास्तव में सोनार का लड़का पति रूप में ही स्मरण किया गया है।

मैदान के जीवन में नदियों का बहुत आकर्षण है। इन नदियों के सहज आकर्षण के कारण लोक-मानस में इनके प्रति पवित्रता की भावना का विकास हुआ है। विशेष पर्वों पर विभिन्न नदियों में स्नान करने का महत्त्व है। लोक-गीतों में नदियों के तट जीवन की विविध स्थितियों और भावनाओं से संवेदित हैं। एक गीत में वन्ध्या नारी की वेदना और करुणा की पृष्ठभूमि में यमुना तट है—'सखियो, यमुनाजी चलें। यमुना का पानी निर्मल प्रवाहित है, चलो घड़ा भर लायें।'[3] इसी यमुना के पनघट पर सखी कहती है—

ना मोहें सास-ससुर दुःख ना नेहर दूरि देस ।
बहिनी ! ना मोरा पिया परदेस कोखि दुःख रोवऊँ हो ॥[4]

इस जीवन के उल्लास और भावाकुलता के अनुकूल इन स्थलों पर प्रकृति का चित्र है। कृष्ण और गोपियों की रास-लीला की रंगस्थली यमुना तट है, इस परम्परा के प्रभाव से सरिता-पुलिन प्रायः लोकगीतों में क्रीड़ास्थली के रूप में अंकित होता है। यह अवश्य है कि लोक-भावना के अनुकूल ये संकेत चित्र सारी परिस्थिति के अभिन्न अंग हैं। यमुना तट पर रुक्मिणी हिंडोला झूल रही है—'गहरी प्रवाहित यमुना के पुलिन पर

१. वही ; वही ; जनेऊ के गीत १७ ; १ ।
२. वही ; वही ; विवाह के गीत ३३ ; १ ।
मेरे पिछुवरवाँ लवँगिया कै बगिया लवँग फूलै आधी रात रे ।
बहि लवँगिया कै शीतल बयरिया महँकै बड़े भिनुसार ॥
३. वही ; वही ; सोहर २ ; १—
चलहु न सखिया सहेलरि जमुनहिं जाइब हो ।
जमुना के निर्मल नीर कलस भरि लाइब हो ॥
४. वही ; वही ; सोहर २ ; ४ ।

चन्दन का गहगहा रुख है और उसकी डाल पर हिंडोला पड़ा हुआ है।'[1] यहाँ यमुना-तट पर रुक्मिणी की अवतारणा लोक-कल्पना के अनुकूल है, क्योंकि लोक-भावना में देश-काल-इतिहास सभी उसकी मुक्त प्रकृति के आधार पर ग्रहण होता है। ब्रज की मनिहारी लीला के संकेत पर एक लोकगीत में यमुना का चित्र है—

जात जमुनवा के भरि झिलि पनिया;
आवत जमुनवा अथाह सुन रे गोरिया।[2]

लगता है कि यह, वसुदेव जब नवजात शिशु को नन्दग्राम ले जा रहे थे, उस समय की यमुना का स्वरूप वर्णन है, पर इसके माध्यम से मनिहार रूपी प्रेमी (अर्थात् कृष्ण) के प्रसंग में प्रेम की गहनता की व्यंजना की गयी है।

इसी प्रकार नारी के विकसित यौवन-उन्माद की भूमिका रूप में गंगा-यमुना के बीच की रेती का संकेत है—'इस पार गंगा है, उस पार यमुना है और दोनों के बीच में रेत पड़ गयी है। उस रेत पर एक योगी बैठता है जिसने मुझे बिलमा लिया है।[3] किंचित संकेतों से लोक-गीतों की व्यंजना मार्मिक हो उठती है, क्योंकि उसको जीवन के यथार्थ संदर्भ में लिया जाना संगत है। एक अन्य गीत में साधारण संकेतों से गंगा की बाढ़ का दृश्य प्रत्यक्ष होता है, और साथ ही एक युवती की अपने प्रिय से मिलने की उत्कंठा उस बाढ़ की आशंका के साथ व्यंजित है। स्त्री गंगा से प्रार्थना करती है—'गंगा तो मेरी माँ है, केवट मेरा भाई है। किंचित अपनी एक लहर को सकोर लो, पार उतर जाऊँगी।'[4] यह विनय भावविह्वल हृदय से वह अपने प्रिय से मिलने के लिए कर रही है। गंगा भी स्वजन की ममता से उत्तर देती है—

कइसे में लहरि सकारौं, आइलि रितु मोर।
तोरा स्वामी हउवे पँवरकिया, उतरि जइहें पार।[5]

---

१. वही ; वही ; सोहर ५५ ; १—
गहरी जमुनवाँ के निरवाँ चनन गछ रुखवा हो।
तिन डरिया परे हैं हिंडोलवा झूलहिं रानी रुकुमिनि हो॥

२. कु० उ० ; भो० ग्रा० ; झूमर २७, १।

३. वही ; वही ; विवाह ४ ; १—
एह पार गंगा रे ओह पार जमुना ;
बिचवा में परि गइले रेत रे।
ताहि रंगरेतवा पर जोगी एक बइठेले ;
जोगिया लिहले बेलमाइ ए॥

४. वही ; वही ; बहुरा के गीत ४ ; १—
गंगा त हईं मोर माई, केवट मोर भाई।
रचि एक लहरि सकोर, उतरि जाइबि पार॥
और २।

गंगा का संकोच अपनी ऋतु (वर्षा की यौवन ऋतु) के कारण है, पर वह नारी के भाव को अपनी भाव-स्थिति के आधार पर समझ रही है, इसी कारण आश्वासन भी देती है।

मैदान के जीवन में खेती के प्रसार के साथ वन समाप्त होते जा रहे हैं, और अब वृक्षों का अंकन सम्यक् महत्वपूर्ण भूमिका और वातावरण प्रस्तुत करता है। इन वृक्षों में आम, जामुन, इमली, पाकड़, महुआ, बाँस, ढाक, नारंगी, चम्पा, तुलसी का स्थल-स्थल पर उल्लेख है। चन्दन आदर्श कल्पना के रूप में इन वृक्षों के साथ स्थान-स्थान पर प्रस्तुत हो जाता है। ये वृक्ष लोक-जीवन को वस्तुपरक आधार देने की अपेक्षा उसके स्पन्दन और स्फुरण के अधिक निकट हैं। ये उसीके साथ आते हैं, बढ़ते हैं, गहगहाते हैं और सूख भी जाते हैं। ये इस प्रकार लोक-जीवन की भावना में सजीव हैं। इनके साथ लोक-गायिका निकटता का अनुभव करती है। अनेक बार इनके विकास के साथ लोक-जीवन की परिस्थितियाँ और भावनाएँ जुड़ी रहती हैं। पुत्री ने आंगन में झाड़ू लगाकर जो कूड़ा द्वार पर लगा दिया है, उसपर एक आम उग आया है और—

जब-जब अमावा में भइले दुइ पतवा रे।

नउवा ले आवेला निआर ; ए बाबा के तोर फेड़ बासी ॥'[1]

कन्या की बढ़ती हुई आयु की सूचना यह आम का वृक्ष देता है और कन्या की उसके प्रति ममता भी व्यंजित हुई है—'बाबा, तुम्हारा कौन इसको सींचेगा।' कालिदास की शकुन्तला की उक्ति में यही प्रेरणा कार्य कर रही है। कहीं केवल ये स्थिति के आधार भर प्रस्तुत करते हैं—हजारा नामक फूल से सेज बिछाकर युवती अपने पति की प्रतीक्षा—'आम और इमली के वृक्ष के नीचे खड़ी होकर कर रही है।'[2] भाव-संयोग के माध्यम से ये वृक्ष कहीं-कहीं गहन भाव-व्यंजना की पृष्ठभूमि के समान अंकित हैं—

आम महुअवा के घनी रे बगिया;

ताहि बिचे राह लागि गईले हो राम।

यहाँ इस आम-महुआ के घने वृक्षों के बीच से चले गये रास्ते की भावना उसके नीचे विदेशी पति की प्रतीक्षा में खड़ी हुई सोहागिन नारी के ढरते हुए आँसुओं की पृष्ठभूमि में ग्रहण की जा सकती है।'[3] इन वृक्षों के साथ विभिन्न भावों का संयोग रहता है, एक प्रौढ़ा स्त्री पुत्र के जनेऊ के अवसर पर स्वामी की प्रतीक्षा—'सघन छाया वाले

---

१. वही; वही ; पिड़िया के गीत १४ ; १, २।

२. वही ; वही ; पिड़िया के गीत ३ ; ६—

फूल हजारी के सेज डसवली।

सेजिया के लेके महुइया तर खड़ी, इमिलिया तर खड़ी।

३. वही ; वही ; रोपनी के गीत ५ ; १, २।

इमली के वृक्ष के नीचे खड़ी होकर कर रही है।[1] आम-महुआ के साथ भावोद्वेलन का सम्बन्ध है पर इमली की सघनता सुस्थिरता का प्रतीक मानी जा सकती है।

पाकड़ का पेड़ अपने ठूंठ रूप में, स्थिति विशेष में जीवन के प्रत्यक्ष स्तर पर अधिक सजीव आधार बन सका है—

मोरा पिछुवरब, ठूंठ पाकरि ए राम।
राम ताहि बढ़ि जोगी बंसी नजावेला ए राम॥[1]

योगी और उसकी प्रेम-साधना के संदर्भ में 'ठूंठ पाकर' उचित भूमिका प्रस्तुत कर सका है। इसी प्रकार शिरिष वृक्ष की कल्पना वन्ध्या नारी के क्लेश की पृष्ठभूमि है—'मेरे घर के पिछवाड़े शिरीष का पेड़ है जो रात-भर हवा में हहर-भहर करता है। मेरा छरहरा पति उसीके नीचे सोता है, पर उसे रात भर नींद नहीं आती।'[2] यहाँ पति के नींद न आने का कारण शिरीष की हहराहट से अधिक निस्संतान होने का क्लेश है, और वृक्ष तो उसकी इस भावना की पृष्ठभूमि में नारी के मानसिक उद्वेलन को व्यंजित करता है। वास्तव में शिरीष के पुष्प की कोमलता और सौन्दर्य साहित्य में प्रतिष्ठित है, पर लोकगीत में इसके पेड़ की विषण्णता को स्वीकार किया गया है। उसकी सूखी फलियाँ सूखे पत्तों के साथ ऐसी ही हहर-भहर करती हैं। उसके साथ ढाक वृक्ष को भी लिया जा सकता है। यह बहुत सम्मानित पेड़ नहीं है और लोक-साहित्य की करुण-भावना की भूमिका में ही इसका अंकन हुआ है। ढाक के वन का भी उल्लेख किया गया है। हरिनी करुण भाव से हरिन की प्रतीक्षा 'एक छोटे-मोटे ढाक के पेड़ के नीचे कर रही है, जिसके पत्ते लहलहा रहे हैं।'[3] इनके मन में चिन्ता और उदासी है। परित्यक्ता सीता अपनी विपदा में ढाक के पेड़ के नीचे खड़ी है—

ढाषक पेड़ छिउल कर पतवन घनबिन हो।
जिहि तर ठाढ़ी सीता बेई बहुत विपत में हो॥[4]

उनके मन में भी सोच और संकोच है। पूरब में बाँस बहुत होता है। इस गीत में उसका सजीव चित्र है—

---

१. वही; वही; बहुरा के गीत ५; १।

२. वही; वही; जतसार ५; १—

ऐ राम मोरा पिछवरवा सिरिसिया; हहर-भहर करे हो राम।
ऐ राम ताहि तरे सोवे पियवा पातर; निनियो ना आवेला हो॥

३. रा० त्रि०; ग्रा० सा०; सोहर १२; १—

छोट मोट पेड़वा ढेकुलिया त पतवा रे लहलही हो।
रामा ताही तरे ठाढ़ि हो हरिनिया हरिनवा बाट जोहइ हो॥

४. वही; वही; सोहर ४५; १।

मोर पिछुआरावा घनी रे बँसवरिया ;
बिनु पुरुआ घहराई ।

परन्तु यह बिना पुरवा के निनादित बाँस का झुरमुट बाल-पति की युवती पत्नी की पायजेब की समकक्षता में प्रस्तुत है, क्योंकि उसका पति भीरु है। पर यहाँ 'बंसवरिया' की घहराहट में युवती की भावना व्यंजित है।[1]

सौभाग्य-सूचक अथवा पुण्य अवसर के वातावरण के लिए चंदन, चंपा तथा तुलसी जैसे वृक्षों के संकेत-चित्र मिलते हैं। इनमें चन्दन आदर्श कल्पना है, क्योंकि चन्दन के वृक्ष इस क्षेत्र में नहीं होते। पुत्र-जन्म के अवसर पर प्रसूता अपने 'आँगन में लगे हुए चन्दन के पेड़ तथा चंपा की डाल का उल्लेख करती है।'[2] इसी प्रकार अपने पौत्र के जन्म के अवसर पर देवी पितामही—

चनन कै बिरछा हरेर तौ देखतै सुहावन।
तेहि तर ठाढ़ि ....देवी मनावैं ॥[3]

नदी के तट पर कदम्ब का उल्लेख और उस पर चढ़कर कृष्ण के वंशी बजाने का प्रसंग पश्चिम के (व्रज क्षेत्र के विशेष रूप से) लोकगीतों में पाया जाता है। पूरबी गीतों में यह कदम्ब कभी चन्दन हो जाता है—'नदी के तट पर चन्दन का छोटा-सा सघन पेड़ है, जिस पर चढ़कर कृष्ण बाँसुरी बजा रहे हैं।'[4] कदम्ब हिंडोला झूलने के प्रसंग में बहुत बार उल्लिखित हुआ है। अन्यत्र विवाह के लिए कृतसंकल्प वर देव को भी चुनौती देता है कि चाहे जितना गरजो बरसो वह दूसरे की कन्या ब्याहने जायगा, पर उसे संभवतः तुलसी के आशिष का भरोसा है—

मोरे के आंगना तुलसिया रे अरे पतवन झालरि रे।
तेहि तर ठाढ़ दुलह रामा देवा मनावइं रे ॥[5]

वस्तुतः तुलसी के प्रति लोक-नायिका के मन में देवी-तुल्य श्रद्धा है और उसीसे यह विश्वास है। बिरहिणी नारी के संदर्भ में चन्दन कोमल करुण भावना की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत है—

ननदी का अँगना चननवा के गछिया हो रामा।
ताही तर कगवा बोलिला सुलछन हो रामा ॥[6]

---

१. कु० उ० ; भो० ग्रा० ; बिरहा ४८ ।
२. रा० त्रि० ; ग्रा० सा० ; सोहर ३२ ; १ ।
३. वही ; वही ; अनेक के गीत १३ ; १ ।
४. कु० उ० ; भो० ग्रा० ; चेता ३ ; १ ।
५. रा० त्रि० ; ग्रा० सा० ; विवाह के गीत ५३ ; १ ।
६. कु० उ० ; भो० ग्रा० ; चैता २१ ; १ ।

इस गीत में 'ननदी का आँगन' कहने से चंदन वृक्ष की स्थिति अधिक व्यंजक हो गयी है और 'काग' के उल्लेख से आत्मीयता का वातावरण प्रस्तुत हुआ है।

लोक-जीवन में तालाबों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है, ज्यों ज्यों पूरब की ओर बढ़ें तालाबों की संख्या अधिक होती जाती है। वर्षा के समय ये अधिक भरे-गहरे होकर लहराने लगते हैं और लोक मन को उल्लसित करते हैं। तालाब से चकवा का भी सम्बन्ध है। राम सीता के विषय में जब चकवा से पूछते हैं, वह कहता है—'मैं तालाब के बीच में रहता हूँ और आकाश में उड़ता हूँ।'[१] पर घर के पीछे अथवा गाँव में लहराते हुए तालों की कल्पना अधिक प्रत्यक्ष है। युवती कन्या अपने वर को अपने घर के पीछे के ताल पर देखती है और यह ताल उसके यौवन के समान लहराता है—

मोरा पिछुवरवा रे तालाब बहुत बा,
पुरइन मारेले हिलोर ए।
ताहि पइसि कवन दुलहा सुनारा रे ;
धोतिया कचारे ले, पूछेली कवन सुहवा बात ए ॥[२]

अपनी यौवन की उमंग में जैसे उसमें प्रिय कामना जागती है। उसीके दूसरे रूप में बाबा के ताल में 'पुरइन हालर' दे रही है।[३]

काल के विविध रूप तथा ऋतु परिवर्तन के संकेत मात्र लोक-गीतों में मिलते हैं। लोक-जीवन काल और ऋतुओं के साथ अपने सारे क्रम को परिचालित और भावनाओं को स्पंदित पाता है। वे उसके साथ अभिन्न हो गयी हैं, इसी कारण उनके संकेत मात्र से इस जीवन की भूमिका प्रस्तुत हो जाती है। चिड़िया बोलने के संकेत से प्रातः की भूमिका हो जाती है ; रात की सघन अँधेरिया के उल्लेख से सावन-भादों के मेघाच्छादित आकाश की कल्पना सन्निहित हो जाती है, गर्मी और तपन के माध्यम से जेठ की पृष्ठभूमि प्रस्तुत हो जाती है और वन में मोर की कूजन तथा आम की शाखा पर कोयल की कूक से वसन्त का वातावरण उपस्थित हो जाता है।[४] इस प्रदेश में वर्षा और वसन्त दो ऋतुएँ अधिक आकर्षक हैं ; इनमें भी वर्षा भावमय पृष्ठभूमि के रूप में अधिक उपस्थित होती है और वसन्त भावोद्वेल के उद्दीपन रूप में अधिक प्रस्तुत

---

१. वही ; वही ; भजन ८, ४ ।

२. वही ; वही ; विवाह १ ।

३. रा० त्रि० ; विवाह के गीत ७, १—

पुरुब पछिम मोरे बाबा क समरवा पुरइनि हालर देइ ।
तेहि घाटे दुलहे धोतिया पसारैं पूछैं दुलहिन देइं बात ॥

४. रा० त्रि० ; ग्रा० सा० ; सोहर ७ ; १ ; ५,१ ; ३, २ ; कृ० उ०; भो० ग्रा० ; होली, ५ ; १ ।

होता है। वर्षा का प्रभाव इतना व्यापक है कि लोक-गीत में यह ऋतु दृश्यमय भी हो सकी है—

> बरिसे लागत भगवनवा ; बरखा खूबे होली ना।
> रातमें बरिसे दिनहू में बरिसे ; बरिसे लगले ना॥
> बादल गरजे, बिजुरी चमके ; दम-दम दमके ना॥
> बरिसे लागत भगवनवा, बरखा खूबे होला ना॥[1]

इस चित्र में लोक-जीवन का वर्षा विषयक उल्लास निहित है, यद्यपि यहाँ पर अन्य किसी भाव का आलम्बन प्रस्तुत नहीं है। परन्तु अन्यत्र इस प्रकार के प्रकृति संकेत प्रत्यक्ष भाव की पीठिका, भूमिका या वातावरण प्रस्तुत करते हैं। कहीं भावज ननद से सावन मास में घिरे हुए बादलों को देखकर कहती है—'कजली खेलने कैसे जाऊँ', कहीं कोई प्रोषितपतिका सावन मास की वर्षा की झड़ी लगी देखकर नदी तीर पर बछड़ों को चराने वाले देवर की सुधि करती है और कहीं पुत्रवती पूर्वी हवा की सुहावनी लहरों का अनुभव करती हुई उल्लसित होकर अपने शिशु की क्रीड़ाओं की कल्पना करती है।[2]

× × ×

अभी तक प्रकृति की विविध परिकल्पनाओं का पृष्ठभूमि और व्यापक वातावरण के रूप में विवेचन किया गया है। यद्यपि इस प्रकार के प्रकृति संकेतों और चित्रों में अनेक बार कोई न कोई व्यंजना सन्निहित हो गयी है। पर जीवन से अभिन्न होकर प्रस्तुत होने के कारण प्रकृति के विविध उपकरणों, पात्रों, स्थितियों और दृश्यों में मानवीय जीवन और भावना की प्रत्यक्ष व्यंजना अधिक मार्मिक रीति से सन्निहित हो गयी है। प्रकृति के कुछ रूपों में प्रसंग की व्यंजना अन्तर्निहित है—'ओह राम, उस यमुना की चिकनी मिट्टी पर चलते पाँव बिछलता है। और उस यमुना का काला पानी है, जिसको देखकर मन घबराता है।'[3] यहाँ यमुना में कृष्ण के अन्तर्निहित हो

---

१. कु० उ० ; भो० ग्रा० ; कजली ८।

२. कु०उ०; भो०ग्रा०; झूमर ४; १—

कइसे खेले जाइबि हम सावन में कजरिया;
बब बदरिया घेरि अइले ननदी।

निरगुन ४; १—नदिया के तीरे देवरू चरावेले।
कि ओहि मेरे रामा, सावनवाँ रे झड़ी लागेला ए राम।

रा०त्रि०; सोहर ५०; ८—वै पुरवइया पवन भल डोलइ हो।
लालन खेलिहैं बरोठवा दुनौ जन देखब हो॥

३. कु०उ०; भो०ग्रा०; चैता १३; २, ३।

जाने की परिस्थिति की अनुकूलता व्यंजित है, पर यह प्रयोग पिछली प्रकृति परिकल्पना से अधिक भिन्न नहीं है। यही गोपियों के वियोग की व्यंजना इन नदियों की धाराओं में निहित है—'इस पार गंगा है, उस पार यमुना है और बीच में सरयू बहती है, अपने कन्हैया पार उतर गये पर मुझसे कुछ नहीं कहा।'[1] जब गायिका आम से पूछती है—'कि गुन अमवा बउरलैं' तब आम के उत्तर में एक भाव-सत्य व्यंजित होता है—

> **नाहीं मोके मलिया जो सींचला नहीं हम अपने गुन।**
> **रिमकि झिमकि देव बरसैं उनके जो बुन्द परे॥**[2]

क्योंकि इसीकी समता में पुत्रवती ने सास के धर्म से सुन्दर शिशु (होरिल) पाया है।

कभी प्रकृति के दृश्य-विधान के माध्यम से जीवन के व्यापक अर्थ की व्यंजना हुई है—'आम की डाल पर कोयल बोलती है और वट की डाल पर सुग्गा बोलता है। पर आम मुरझा गया, सेमर उकठ गया और वट की डाल भी सूख गयी।'[3] इस प्रकृति के परिवर्तन में जीवन की नश्वरता की व्यंजना है। कभी किसी निश्चित भाव की व्यंजना प्रकृति के संकेत चित्र में निहित रहती है—'नदी बहुत गहरी है उसमें अथाह जल प्रवाहित है, पिया परदेश को चले और छाती विदीर्ण होती है। दह में चकवा-चकवी रोते हैं।'[4] इस चित्र में विरहिणी के मन का उद्वेलन इस प्रकार व्यक्त किया गया है। वातावरण की समता के आधार पर भाव-स्थिति का संकेत निहित रहता है—'पानी रिमझिम बरस रहा है, मेरे आँगन में कीचड़ हो रहा है। मेरी सास, अपने कन्हैया को बरजो, जो मेरे आँगन में कीच कर रहा है।'[5] यहाँ प्रकृति-रूप के समान लोक-प्रिया का मन भी मथित और उद्विग्न हो उठा है। पर कभी विरोधी

---

१. वही; वही; भजन १५; १।

२. रा०त्रि०; ग्रा०सा; सोहर २१; २।

३. कु०उ०; भो०ग्रा०; बिरहा ६५—

अमावा के बढ़िया बोलेले कालिया,
सुगा बरवा के बोले डाढ़ि।
अमावा मऊरा गइलें, सेमर उकठि गइले,
बरवा के सूखि गइले डाढ़ि॥

४. वही; वही; जतसार १८; १, २—

गहरी नदिया अगम बहे पनिया।
पिया चलेले परदेसवा, बिहरेला राम छतिया॥
दह रोवे चकवा चकइया॥

५. वही; वही; सोहर १२, १—रीमि झिमि देव बरिसे, अँगनवा मोरे कीच करे हो
मोरी सासु बरजहु आपन कन्हैया, अँगनवा मोरे कीच करे हो॥

मनःस्थिति में भी प्रकृति चित्र उपस्थित होता है—

जउ मैं जनतेउँ पे लवँगरि एतनी मँहकबिउ।
लवँगरि रँगतेउँ छयलवा के पाग सहरवा में गमकत।
बाउ बहइ पुरवइया त पछुवाँ झकोरइ।
बहिनी दिहेउ केवड़िया ओठँगाइ सोवउँ सुख नींदरि॥[1]

यहाँ लौंग की तीखी सुगंध और पुरवइया के झोंके विरहिणी के मनस्ताप को बढ़ा रहे हैं, पर यह व्यंजना से ग्रहण किया गया है, अतः उद्दीपन रूप से भिन्न प्रयोग माना जायगा।

प्रकृति के संकेत चित्रों में जो दृश्य-विधान अथवा वातावरण कुछ प्रतीकों के आश्रय पर प्रस्तुत होता है उसमें भी भाव-व्यंजना सन्निहित रहती है। कुछ वृक्ष, फल तथा पक्षी आदि लोक-साहित्य के स्वीकृत और व्यापक प्रतीक हैं, जिनकी चर्चा अन्यत्र की जायगी। यहाँ वातावरण और व्यंजना के लिए जहाँ प्रतीकों को भी सम्मिलित कर लिया गया है, उनसे तात्पर्य है। इनमें प्रायः कोई जीवन की व्यापक परिस्थिति अथवा कोई विशिष्ट भाव-स्थिति व्यंजित होती है—'प्रिय क्या तुम आम पर लुभा गये हो, या बाट ही भूल गये हो ?'—'हे रानी मेरी प्रिय, मैं न आम पर लुभाया हूँ और न बाट भूला हूँ। मेरे बाबा के बाग में एक कोयल बोल रही है। मैं उसी की बोली सुन रहा हूँ।'[2] यह 'आम' तथा 'कोयल' का प्रतीकात्मक प्रयोग है जो इस वातावरण में एक भाव-स्थिति सन्निहित कर देता है कि नायक किसी अन्य नायिका पर मुग्ध है। अन्यत्र ऐसे ही प्रतीक निहित चित्र में सामान्य भाव व्यंजित किया गया है—

केकरा हो नदिया रे झिलमिल पनिया,
अरे केकरा हो नदिया सेवार ए।
केकरा हो नदिया चल्हवा मछलिया,
कवन बुनहा लावेला जाल ए॥[3]

इस चित्र के माध्यम से परिवार में कन्या की स्थिति और उससे सम्बद्ध संवेदन व्यंजित है। इसी प्रकार 'पति द्वारा लगाई हुई दो नारंगी के वृक्षों के पति के विदेश चले जाने के बाद सूख जाने के उल्लेख के द्वारा पत्नी की वेदनाजन्य मनःस्थिति का पता

१. रा०त्रि०; ग्र०सा०; सोहर १५; १, ३।
२. वही; वही; विवाह के गीत २०, १,२—
दुलहिन रानी न अमवा लुभाने न गये बटिया भुलाइ।
बाबा के बगिया कोइलि
एक बोले कोइलि सबद सुनी ठाढ़॥
३. कु० उ०; भो० ग्रा०; विवाह ३ : १।

चलता है।[1] पक्षियों के प्रतीकात्मक प्रयोग से प्रकृति का ऐसा वातावरण भी प्रस्तुत किया गया है जिसके माध्यम से जीवन की एक निश्चित स्थिति व्यक्त की गई है—'सुआ कहता है–हे कोयल देवी, हमारे देश चलो, आनन्द-बन छोड़ दो। कोयल कहती है—हे सुआ, मैं तुम्हारे देश तो चलूँ, पर मुझे तुम क्या सुख दोगे ? मैं आनन्द-बन छोड़ दूंगी। सुआ कहता है—हमारे देश में आम पक रहे हैं। महुआ टपक रहा है। डाल पर बैठ कर सुख भोगो। आनन्द-बन छोड़ दो।'[2] इसके द्वारा कन्या के वधू के रूप में पति द्वारा आमंत्रित किये जाने की भाव-स्थिति को व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है। हमारे लोक-समाज में परिवारों में कन्या का जो भावात्मक स्तर का महत्व है उसकी मार्मिक-व्यंजना को अभिव्यक्त करने वाला प्रस्तुत प्रकृति-चित्र है—

आधे तलवा माँ हंस चुनें आधे माँ हंसिनि।
तब हूँ न तलबा सोहावन एक रे कमल बिन रे॥
आधे बगिया माँ आम बौर आधे माँ इमली बौरे हों।
तबहूं न बगिया सोहावनि एक रे काइल बिन रे॥
आधी फुलवरिया गुलबवा आधी माँ केवड़ा गमकइ।
तबहूँ न फुलवा सोहावन एक रे भँवर बिन रे॥[3]

इसमें सारी प्रकृति-योजना अप्रस्तुत-विधान के रूप में भी मानी जा सकती है, पर लोक-साहित्य में जीवन की सन्निकटता के कारण यह प्रतीकात्मक चित्र है जिसमें आगे का पारिवारिक प्रसंग व्यंजित हो गया है। तालाब, बाग और फुलवारी कमल, कोयल और भौंरा के बिना सूने हैं, पर इसी तरह परिवार बिना कन्या (ननद) के सूना है। एक गीत में एक स्त्री स्वप्न में अनेक प्रकृति के प्रतीकों को दृश्य रूप में देखती है जिनकी व्याख्या धन-संतति आदि के अर्थ मे की गयी है—'मैंने एक सुन्दर अजब स्वप्न देखा। धान में टूँड़ और कपास में ढोंढिया निकलते देखा। द्वार पर हाथी खड़ा है, जिस पर राजा दशरथ सवार थे। गंगा जी में लहरें उठ रही थीं, सरयू में बाढ़ आ गयी थी, त्रिवेणी में पैठ कर नहा रही थी और गोद में गजाधर थे।'[4]

× × ×

अभी तक प्रतीकों की चर्चा सामान्य अर्थ में की गयी है। इस रूप में बहुत

---

१. वही ; वही ; जतसार १ ; २।
२. रा० त्रि० ; ग्रा० सा० ; विवाह के गीत ४० ; १, २, ३।
३. वही ; वही ; विवाह के गीत ४७ ; १, २, ३।
४. वही ; वही ; सोहर २८ ; २, ३।

कुछ ये अप्रस्तुतों अथवा उपमानों के समान है जिनका सांकेतिक रूप से प्रयोग किया गया है। लोक-जीवन से अभिन्न प्रकृति अपने इस अप्रस्तुत-विधान में नितान्त प्रत्यक्ष, प्रस्तुत और सजीव है तथा उसके साथ जीवन भी अपनी विभिन्न स्थितियों में अंकित हुआ है। दोनों रूप इस प्रकार एक साथ प्रस्तुत होकर अपनी आत्मीय निकटता के कारण समान सत्य और भावना की व्यंजना करते हैं। परंतु इस प्रकार के प्रयोगों के साथ लोक-साहित्य में जीवन के स्तर पर ही प्रकृति के कुछ उपकरणों को मान्य अथवा विशिष्ट प्रतीकों के रूप में स्वीकार कर लिया गया है, ये प्रतीक प्रायः अपने व्यापक संदर्भ के साथ एक ही व्यंजना सदा देते हैं।

भौंरा रसिक प्रेमी के रूप में लिया गया है जो दूसरी स्त्रियों में अनुरक्त है। यह भौंरा अपने पिता के वन में फूली हुई सुपारी और भइया के वन में फूले हुए नारियल को चुनने का बहाना करने वाली युवती का आँचल पकड़ता है।[1] नारंगी का प्रतीक सदा नारी के यौवन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उसके मूल में स्तनों के उपमान होने की भावना निहित है।[2] इस प्रश्न में निहित नारंगी कन्या के युवती होने की व्यंजना के लिए है—

के मारे नौरँगिया लगावे तो चलहवा बन्हावै।
के रे नौरँगी रखवार त के मोरे चोरी करे॥[3]

चम्पा के फूल को भी यौवन (युवती नारी) का प्रतीक माना गया है, पर इस प्रसंग में संयम की अपेक्षा उच्छृंखलता अधिक है।[4] कुँआ और डोरी संभोग-सुख के लिए प्रतीक हैं—

पातर तोरी कुइयाँ ए बालम, रेसम लागलि डोर।
एक फूलवा फूले ए बालम, देहिया रे घाहाराइ॥[5]

फूल उसकी उपलब्धि संतान की संभावना के रूप में इस प्रतीक को अधिक

---

१. कु० उ० ; भो० ग्रा० ; सोहर ६ ; ३—
आरे फूल पर के लाल भंवरवा ; अँचलवा धर बिलमावेला हो।
२. वही ; वही ; बहुरा के गीत ६ ; १०—
तोहरा त बाटे सँवरो दुठे नौरँगिया ;
हमरा के आहि मैं से दान प हरी॥
३. रा० त्रि० ; ग्रा० सा० ; सोहर ३३ ; १।
४. कु० उ० ; भो० ग्रा० ; जतसर ४ ; १—
मोर सिहुआरावा ननदी, चम्पा के फूलवा नु रे जी।
चम्पा के फुलवा प ननदी रहेला गरमवा नु रे जी॥
५. वही ; वही ; झूमर ३४ ; १, २।

व्यक्त कर देता है। सुआ पति है, पर परदेश जाने का संकल्प करने वाला।[1] वैसे प्रिय के सामान्य अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। फल न देने वाली सोने जैसी लता वन्ध्या का प्रतीक है। इसमें लता स्त्री के लिए सामान्य उपमान के रूप में भी मानी जा सकती थी, पर लता अपने व्यक्तित्व के साथ उपस्थित है। राजा दशरथ यहाँ इस लता को संबोधित करके पूछते हैं—

बेइली ! पतवा कंचन अस तोर तो फल कैसे निरफल हो।[2]

और लता राजा का ध्यान कौशल्या के वन्ध्या होने की ओर आकर्षित कर देती है।

जँभीरी नीबू लोक-कल्पना में वीर्यवान यौवन का प्रतीक हो गया है। प्रसूता युवती अपने ससुर के द्वार पर लहराते और महर-महर महकते हुए जँभीरी नीबू के वृक्ष के नीचे भीगने की बात कहती है, जिसका भाव है कि वह संतानवती होकर अपने प्रिय के संभोग-सुख की स्मृति से आर्द्र हो रही है।[3] कोयल प्रेमी और विरहिणी नारी के रूप में प्रस्तुत हुई है पर कभी-कभी उसको अपने घर को त्यागकर पति के घर चली जाने वाली विवाहिता कन्या के रूप में चित्रित किया गया है।[4] कभी-कभी एक पूरा प्रकृति-चित्र किसी सत्य के प्रतीक रूप में प्रस्तुत हुआ है—

बहि गइले पुरवैया, मारेल हिलोर।
करेला करेजा, अब त हिड़ोर॥[5]

यहाँ नदी की हिलोर के साथ पुरवैया के झोंकों को संसार के रूपक के समान माना जा सकता है, पर यह दृश्य लोक-गायक की भावना में प्रत्यक्ष प्रस्तुत है और आगे 'नाव के मझधार में पड़ने' तथा 'चारो ओर अन्धकार दिखाई देने' आदि के उल्लेखों से जो सांसारिकता का बोध कराया गया है, उसकी असहायावस्था की व्यंजना इसीके माध्यम से की गयी है।

× × ×

लोकगीतों में व्यापक रूप से प्रकृति जीवन की सघन सम्पृक्ति में उपस्थित रहती है। वास्तव में जिस प्रकार वह अप्रस्तुत अथवा सौन्दर्य-बोध के स्तर पर साहित्य में अंकित अथवा व्यंजित होती है, लोक-साहित्य के प्रत्यक्ष जीवन के स्तर पर उनकी

---

१. वहा ; वहा ; विविध ४ ; १—
कहवाँ से चलि भइले रातुल सुगवा रे ;
कहवाँ ही लेले बसेर रे॥
२. रा० त्रि० ; ग्रा० सा० ; सोहर ६ ; १।
३. वही०; वही०; सोहर ४८, १।
४. वही; वही; विवाह ४४, १।
५. कृ० उ० ; भो० ग्रा० ; भजन १२, १, २।

स्थिति स्वीकृत नहीं हो सकती। इसी कारण प्रकृति से सम्बन्धित सहचरण की भावना बहुत ही यथार्थ और सक्रिय रूप में इन गीतों में पाई जाती है। एक विरहिणी अपने पति द्वारा खिलौना रूप में दिये गये सुवा को बड़े प्रेम से रखती है और वक्ष में छिपाकर सोती है; फिर वह सन्देश लेकर पति के पास भी जाता है।[1] इन गीतों की भावना में पक्षी बिल्कुल आत्मीय जन की भाँति सन्देश, निमन्त्रण तथा पत्रिका आदि ले जाने और समाचार लाने का कार्य सम्पादित करते हैं। कभी कोयल से घर के पहले विवाह के अवसर पर सम्बन्धियों को न्योतने के लिये प्रार्थना की जाती है। इस आह्वान में कोयल के प्रति जो स्नेह और सम्मान व्यक्त किया गया है, वह कालिदास के 'मेघदूत' का स्मरण दिलाता है—

अरी डारी काली कोइलि तोर जतिया भिहावन रे।
कोइलारि कोलिया बोलउ अनमोल त सब जग मोहै रे॥

लोक-गीतों में यथार्थ का पुरुष पक्ष भी विद्यमान रहता है, पर इस प्रकार जगमोहने वाले मीठे बोलों की चर्चा करके कोयल को लोक-गायिका बहुत आत्मीय रीति से आँगन में बुलाती है।[2] अन्यत्र विवाह का निमन्त्रण भेजने का कार्य भौंरा को और विवाह ठीक करने का कार्य सुआ को सौंपा जाता है। सुआ को बड़े सत्कार के साथ भेजा जाता है और यहाँ उसके जाने की विधि भी बताई गयी है—

उड़त-उड़त तू जायो रे सुगना बैठेउ डरिया ओनाय।
डरिया ओनाय बैठा पखना फुलायउ चितया नजरिया घुमाय॥[3]

यहाँ सुआ के प्रति आत्मीयता और निकटता का वह भाव निहित है जिसके काव्यात्मक सौन्दर्य-बोध का उत्कर्ष 'मेघदूत' में यक्ष की मेघ के प्रति उक्ति में मिलता है। इसी प्रकार आँगन में लहलहाते हुये चन्दन वृक्ष पर सुहावनी बोली बोलने वाले कौवे से जब ग्रामवधू नैहर या प्रीतम का सन्देश जानने की प्रार्थना करती है, वह नवें मास पुत्र जन्म की भविष्यवाणी करके उसे आह्लादित करता है।[4] यहाँ अपनी निकटता में प्रकृति मानवीय जीवन से समान स्तर पर सम्बन्धों और भावों का आदान-प्रदान करती हुई प्रस्तुत है। कौवा के उड़ जाने से प्रियतम का आगमन होता है, यह लोक विश्वास है। इसी के आधार पर महल के ऊपर सुहावने बोल सुनाने वाले कौवा से विवाहिता बहन अपने भाई के आगमन की आकांक्षा से प्रार्थना करती है—

१. वहीः वही; पूर्वी ३।
२. रा० त्रि० ; विवाह के गीत ४६, १, २।
३. वहीः वही; विवाह के गीत ४६; १, २ ; १, २।
४. वहीः वही ; सोहर १७।

उड़ो न कागा तुम्हें दिहूँ धागा,
सुनवा मढ़इयौं तोरी चोंच।
जो रे बीरन घर आवेरे रूपा मढ़इयौं तोरी पाँख ॥[1]

इस आत्मीय निकटता की भावना से प्रेरित होकर लोक की नववधू अपनी सुहाग रात के आनन्दोल्लास को अबाध रखने के लिए प्रकृति पात्रों से सहायता की प्रार्थना करती है—'आज सुहाग की रात है, चंदा तुम उगना, तुम निश्चय ही प्रकाशित होना। पर सूरज तुम न उदय होना। हे मुर्गे, तुम आज न बोलना, बोलकर मेरा हृदय विरस मत करना। हे पौ, तुम आज न फटना, कहीं मेरी छाती न फट जाए।'[2] अपनी भावना और आकांक्षा के इतने निकट लाकर इन प्रकृति रूपों को सम्बोधित किया गया है कि लगता है वे लोक-जीवन के अभिन्न पात्र हों। विरह की स्थिति में भी नायिका इसी आत्मीयता से काली घटा से प्रिय के देश में बरसने की प्रार्थना करती है।[3] एक विरहिणी स्त्री अपने परदेसी बनजारे प्रिय को मना लाने केलिए श्यामा पक्षी से निवेदन करती है, और स्नेह की स्वीकृति के रूप में यह पक्षी उसकी चिट्ठी बनजारे प्रिय तक पहुँचा भी देती है।[4] यह प्रकृति का आत्मीय संवेदन लोक-गीतों के वातावरण में ही संभव है। इस प्रसंग में सम्बोधन की मार्मिकता के कारण आत्मीय सहचरण का भाव अधिक सघनता से संवेदित हुआ है। एक वन्ध्या नारी के प्रति गंगा की सहानुभूति मानवीय स्तर पर व्यक्त हुई है। स्त्री अत्यन्त करुणा से कहती है—

गंगा ! अपनी लहर हमें देतउ मैं मँझधार डूबित हो।

उसके वास्तविक दुःख को जान कर गंगा आन्तरिक सहानुभूति के साथ आश्वासन देकर उसे विदा करती है—

जाहु तेवइया घर अपने हम न लहर देवइ हो।
तेवई ! आजु के नवएँ महिनवाँ होरिल तोर होइहैं हो ॥[5]

लोक-मानस के स्तर पर प्रकृति और जीवन एक साथ प्रवाहित हैं। इस अभिन्न स्थिति में दोनों सहानुभूति और संवेदन के एक ही स्तर पर हैं। साहित्य की अभिव्यक्ति

---

१. वही: वही : विवाह के गीत ७७; १, २।
२. वही: वही: विवाह के गीत ६६; १,२।
३. वही: वही: सोहर १५;२।
४. वही: वही: सोहर ८—
अरे अरे श्यामा चिरइया झरोखवै मति बोलहु।
मोरी चिरई ! अरी मोरी चिरई ! सिरकी भितर बनजरवा,
जगाइ लइ आवउ, मनाइ लइ आवउ ॥
५. वही: वही: सोहर १।

में प्रकृति पर जो मानवीय रूपाकार, जीवन अथवा भावनाओं का आरोप होता है, वह लोक-साहित्य की प्रकृति के अनुकूल नहीं। लोक-गायक को प्रकृति को अपने जीवन के संदर्भ में सजीव अथवा सप्राण अनुभव करने की आवश्यकता भी नहीं होती। उसके लिए प्रकृति अपने आप में सजीव और सप्राण है, वह अपने ही रूपाकार में प्रस्तुत है, वह उसके लिए पात्र है, व्यक्तित्व है, चरित्र है। इसी कारण वह अपने समान धरातल पर प्रकृति को सम्बोधित ही नहीं करता, वरन् उसको अपनी सुख-दुःख, आह्लाद-अवसाद, प्रेम-करुणा आदि भावनाओं में भी मग्न पाता है। साहित्य में व्यंजित भावों के प्रक्षेपण से इस प्रकृति की भावमग्नता में अन्तर है, क्योंकि यहाँ प्रकृति स्वतन्त्र पात्र और चरित्र के रूप में प्रस्तुत है। जो भाव-साम्य या संवेदन की एकरूपता का आधार है, वह आत्मीय निकटता अथवा सहचरण के कारण है।

हरिन-हरिनी की कथा के माध्यम से प्रकृति के जीवन की करुणा का सजीव चित्र लोक-गायिका प्रस्तुत करती है—'एक छोटे-मोटे लहलहे पत्तों वाले ढकुलिया (ढाक) के पेड़ के नीचे खड़ी हरिनी हरिन की बाट जोहती है। वन से निकलकर हरिन हिरनी से पूछता है—हे हरिनी, तुम्हारा बदन (मुख) मलीन और पीला क्यों है। —मैं राजा के द्वार पर गयी थी, वहाँ से सुन आई हूँ कि आज छोटे राजा बहेलिये से हरिन को मरवायेंगे।'[1] इस कथा-प्रसंग में सीता के गर्भवती होने के कारण हरिन के मारे जाने की बात कही गयी है और हरिनी की प्रार्थना से कौशल्या हरिन के दोनों सींगों को सोने से मढ़ाने और तिल-चावल खिलाने का वचन देती हैं। इस प्रकार हरिन-हरिनी की इस कथा में मानवीय जीवन की गहरी व्यंजना है और जो उनको मानवीय पात्रता देने के कारण ही सम्भव हो सकी है। हरिन-हरिनी की दूसरी कथा में प्रकृति के सहज जीवन के प्रति मानव की कठोरता और उपेक्षा को व्यक्त करके परिस्थिति को मार्मिक करुणा से अभिभूत कर दिया गया है—'छिउल के गहवर पत्तों वालों छोटे पेड़ के नीचे हरिनी अनमनी खड़ी है। चरते ही चरते हरिन ने हरिनी से पूछा—हरिनी क्या तेरा चेहरा मुरझा गया है या पानी के बिना तू मुरझ रही है।—न मेरा चेहरा मुरझा गया है, न मैं पानी के बिना मुरझा रही हूँ। हरिना, आज राजा जी के यहाँ छट्ठी है, और तुमको मार डालेंगे।...माची पर बैठी हुई रानी कौशल्या से हरिनी अरज करती है—रानी, माँस तो रसोई में सीझ रहा है, खाल तो हमको देतीं। पेड़ से खाल टाँगकर मन समझाऊँगी, जैसे हरिन जीता हो।—हरिनी, अपने घर जाओ। खाल नहीं दूँगी। इस खाल से खँजड़ी मढ़वाऊँगी जिससे मेरे राम खेलेंगे।' और इस प्रकार पति-वियुक्ता हरिनी को रानी की क्रूरता के कारण इतना

१. वही; वही; सोहर १३।

भी सुख नहीं मिल सका, अब—

जब-जब बाजइ खँजड़िया सबद सुन अनकइ हो।
हरिनी ठाढ़ि ढकुलिया के नीचे
हरिन का बिसूरइ हो।[1]

हरिन की खाल की खँजड़ी के शब्द को सुनकर हिरनी का 'अनकना' और हरिन के लिए 'बिसूरने' में कितनी मार्मिकता और करुणा है। इससे लोक-गायिका की प्रकृति के साथ सहचरण की व्यापक और गहन भावना का पता चलता है।

लोक-गीतों में यथार्थ एक स्तर पर सदा बना रहता है। प्रकृति और लोक-जीवन एक दूसरे के प्रति सहानुभूतिशील है, तो उपेक्षाशील और निरपेक्ष भी। राम-लक्ष्मण सीता की खोज में चले जा रहे हैं और मार्ग में चकवा पक्षी से पूछते हैं—'ये चकव', तुम बात सुनो। क्या तुमने सीता को इस बाट जाते देखा है?' चकवा निरपेक्ष भाव से उत्तर देता है—'मैं तालाब के बीच में रहता हूँ, आकाश में उन्मुक्त उड़ता हूँ, मैंने सीता को जाते नहीं देखा।' उसके इस अभिमान के कारण राम ने लक्ष्मण को उसे मार डालने की आज्ञा दी।[2] यहाँ चकवा जैसे रावण के पक्ष का माना गया हो। अन्यत्र एक स्त्री कोयल को सपत्नी के रूप में मान कर कहती है—

रामा अगिया लगाइबि कोइलरि तोहरी ही बोलिया।
जरी से कटाइबि घनि बगिया हो रामा॥[3]

× × ×

लोक-गीतों के सहज जीवन की एक सक्रिय प्रेरणा के रूप में प्रकृति उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत भी स्वीकार की जा सकती है। लोक-मानस प्रकृति को अपने भावावेश के स्तर पर सर्वत्र ग्रहण करता है, पर अन्यत्र प्रकृति के प्रति उसका भाव समकक्षता अथवा सहचरण का रहा है। इसी स्तर पर वह लोक जीवन को अनेक भावात्मक क्षणों में उद्दीप्त भी करती है। अधिकतर ऋतु अर्थात् काल सम्बन्धी परिवर्तनों और रूपों से मानवीय भावों को उत्प्रेरित और अधिक संवेदित अंकित किया गया है। लोक-साहित्य में ऋतुओं के वर्णन के स्थान पर बारहमासों का प्रचलन अधिक है, तथा होली-हिंडोल-कजली आदि ऋतु विषयक प्रसंगों को भी लिया गया है। बारहमासों की परम्परा में प्रमुखतः आषाढ़ तथा चैत मास से वर्णन आरम्भ करने की है। इस प्रदेश में वर्षा और वसन्त दोनों ही उल्लास की ऋतुएँ हैं, दोनों में प्रकृति शृंगार करती है और इसी कारण मानवीय भावों को उद्दीप्त करने में इनका अधिक

१. वही; वही: सोहर २६।
२. कु० उ० ; भो० ग्रा० : भजन ८।
३. वही : वही ; चैता २८॥

सहयोग है। परन्तु इनके अतिरिक्त बारहमासों का आरम्भ सावन, फागुन, कातिक और माघ से भी होता है।[1] अधिकतर तो सामान्य विरहिणी की भावना के साथ मासों का प्रत्यावर्तन अंकित है, इनमें कुछ में विरहिणी की उक्ति परदेसी पति के प्रति है, कुछ में सखी से अपनी वेदना और कष्टों का वर्णन है और कुछ में स्वतः अपनी वेदना को व्यक्त किया गया है। कभी तो परदेस जाते हुए पति से प्रवत्स्यपतिका स्त्री का कथन भी मासों के माध्यम से है।[2] गोपियों के प्रसंग को लेकर भी बारहमासा हैं, जिनमें कुछ में गोपी विरहिणी के रूप में कृष्ण को लक्ष्य करके कहती है, कुछ में विरहिणी गोपी की उद्धव के प्रति उक्ति है।[3] राम-कथा के संदर्भ को लेकर चलने वाले बारहमासों में कुछ का सम्बन्ध लंका-युद्ध के अवसर पर लक्ष्मण के शक्ति लगने से है और कुछ का राम के वनवास प्रसंग से है।[4] एक स्थल पर माँ अपने होने वाले शिशु को लक्ष्य करके बारहमासों का उल्लेख करती है।[5]

'आषाढ़ मास में बादलों के दल उमड़ते आ रहे हैं, और पति छोड़कर विदेश गया है। इस मास में असाढ़ी नामक घास लगती है, इसको काट कर लोग अपना घर छवाते हैं। चुरगुन नामक पक्षी उसे चीरकर अपना घोंसला बनाता है, ऐसे समय पति परदेस विराजते हैं। आषाढ़ का पहिला महीना बीत गया, कृष्ण नहीं लौटे। प्रियदर्शन बिना यह मास कैसे बीते ? यह मास चढ़ आया, आकाश में बादल गरजते हैं, बादलों में बिजली चमकती है, मैं विरहिणी चिहुँक-चिहुँक कर चकित होकर मन में सोच करती हूँ। अब बूँदों की झड़ी लगी हुई है, निष्ठुर कृष्ण इस मास में नहीं लौटे। आषाढ़ मास में स्त्री (मैंने) ने सिंदूर से माँग भरी, पर पति विदेश चला गया। सखी, यह मास आ गया, नदी-नाले भर गये, पति नहीं आया। आषाढ़ में मोर बोलता है, पति कुबरी कुलटा के बस में है। बादल घिर आने से विरहिणी दुःख रूपी जल में डूब रही है।' राम-कथा के प्रसंग में विरह की भावना का यह रूप नहीं है—'आषाढ़ में बादल जोर से गरजते हैं, मेघनाद युद्ध में शक्ति लगाता है। चारों ओर से बादल गरजते हैं, पपीहा 'पी-पी' करता है, अयोध्या में कौशल्या सोच-सोचकर रो रही हैं कि वन में राम-लक्ष्मण कहाँ भीग रहे होंगे।....राम का स्मरण कर हनुमान ने धवलागिरि के लिए

१. वही; वही ; बारहमासा १, ३, ५, ६, ११, १४ तथा १५ में असाढ़ से : ८, १२ में चैत से : ९ में कातिक से : ४, १० में सावन से : ७ में माघ से प्रारम्भ है। रा० त्रि० ; सोहर ४० में फागुन से प्रारम्भ है।

२. वही ; वही ; बारहमासा १,४,५,१०,११,१३,१४,१५,६।

३. वही ; वही ; बारहमासा २,३,६।

४. वही ; वही ; बारहमासा ७,१२, ८।

५. रा० त्रि०; ग्रा० सा० ; सोहर ४१।

प्रयाण किया, तब आषाढ़ का महीना चढ़ गया और काली-काली घटाएँ घिर आईं।' अन्यत्र माँ कहती है—'बेटा आषाढ़ में जन्म न लेना, गली-गली बादल गरजते हैं, पास-पड़ोस की स्त्रियाँ सोहर गाने कैसे आयेंगी।'[1]

इसी प्रकार अन्य मासों के कालगत परिवर्तन का संकेत देकर अपने मन की पीड़ा अथवा उल्लास का वर्णन किया गया है—'सावन मास सुहावना है जिसमें पति प्रसन्न करता है, पर मेरा पति तो घर ही नहीं आता। जल लबालब भरा है, स्त्रियाँ कुसुम्भी रंग के वस्त्र छोड़कर अन्य रंगों के कपड़े पहनती हैं, झूला झूलती हैं। गीत गाती हैं, पर पति बिना सब विपरीत लगता है। सुहावना और मंगलमय है, सखियाँ झूला झूलतीं और पति के साथ क्रीड़ा करती हैं। सावन मेरे लिये वैरी हो गया है। पति ने मुझे छला है और कुबरी से प्रेम किया है। इन्द्र रिमझिम-रिमझिम वर्षा करते हैं। बूँदों की झड़ी है, मोर चारो ओर चकित बोलता है, मेढ़क टर्र-टर्र करते हैं। बूँदें पड़ती हैं और मैं परदेसी के लिए पिया-पिया रट रही हूँ. सुहावने मौसम में पति की भेजी हुई आगरे की छींट पहनी है। सावन चढ़ आया, दोनों आँखें फड़क रही हैं। पुरवैया हवा बह रही है। देव गरज कर डरा रहा है, पपीहा चारो ओर बोलता है, मोर और मेढ़क भी शब्द सुनाते हैं।' राम-कथा के प्रसंग में—'सावन में भयंकर लड़ाई शुरू हुई।···· सावन में ताल-तलैया और नदियाँ जल से भर गयी हैं, सीता-राम वन में भीगते होंगे। वर्षा के कारण जमीन पर गोजर-साँप फिरते हैं और राम, लछमण तथा सीता वन में घूमते हैं।····सुहावने मास में अँधेरा होने के कारण संजीवनी बूटी दिखाई नहीं देती, दिशाएँ ही दिखाई नहीं देतीं, हनुमान क्रुद्ध हो गये हैं।' माँ अपने पुत्र से कहती है—'सावन में जन्म न लेना, सब सखियाँ झूला झूलेंगी, मैं कैसे जाऊँगी।'[2]

'भादों मास में सेज डसाती हूँ, पपीहा और मोर बोलता है, सेज घनेरी सालती है। जोर से पानी बरसता है, नदियों में जल उमड़ आया है, बिजली चमक कर प्रकाश कर रही है, स्त्री समझती है मेरा पति आ गया है। रात भयानक है, हृदय डरता है, चारो ओर बिजली चमकती और बादल गरजता है। इस मास घर नहीं भाता। जीना कठिन है, आँगन में मेढक बोलते हैं, मेरी विरहाग्नि में वृन्दावन के तालाब सूखे पड़े हैं, मैं कोयल बनकर घूम रही हूँ। भयानक रात, उसपर अँधेरा पाख, मेरे असली दुःख का कारण विदेश जाने वाला मेरा पति है। बादल गरजते हैं, किसकी शरण जाऊं'। भादों चढ़ आया, पर पति का समाचार नहीं मिला, ताल-तलैया

---

१. कृ० उ० : भो० ग्रा० : बारहमासा १;१:२;१ : ३,१ : ४;४ : ५;१ : ६;१ : ११;१ : १३;१ : १४;१ : १५;१ । ७;६ : ८;४ : १२;४ । रा० त्रि०; ग्रा० सा०; सोहर ४०;५ ।

२. वही: वही; बारहमासा १; २ : २; १० : ३; २ : ४; १ : ५; २ :६; २; १०; १: ११; २: १४ ;१: १५; २ । ७; ५ : १२; ५ । रा० त्रि०; ग्रा० सा०; सोहर ४१; ६ ।

भर जाने से रास्ता नहीं दिखाई पड़ता है। गगन गम्भीर है, जलधर घिर आये हैं, किसकी शरण जाऊँ।' राम-कथा के प्रसंग में—'अपार बरसा होती है, लोग घर छवाते हैं, बड़े-बड़े बूँद पानी बरसता है, सीता-राम भीगते होंगे।··· जिस तरह रात में बादल जोरों से गरजते हैं, हनुमान गरज और तड़प रहे हैं। चारो ओर अँधेरा है, दिशा दिखाई नहीं पड़ रही, राम का स्मरण कर हनुमान चल पड़े।' माँ की भावना में—'भादों में बिजली चमकेगी, स्त्रियाँ कैसे आयेंगी।'[१]

'क्वारमास भी चला आया प्रिय नहीं आये, मैं तो विष खाकर मर जाऊँगी। बन में मोर बोल रहा है, गोरी तुम्हारा पति आ गया, उठो। इस मास में बड़ी आशंका बनी हुई है, किसका अवलम्ब गहूँ। यह मास अच्छा नहीं लगता। कृष्ण का कोई समाचार नहीं मिला। नन्दलाल कहाँ चले गये, क्या केले के वन में घूम रहे हैं या कुबरी के साथ क्रीड़ामग्न ? बहुत खराब मौसम है, बिजली चमकती है, मन डरता है, किसकी शरण जाऊँ ? महीना चढ़ आया है, कुँवारा देवर भुजवा में हाथ डालता है। कड़ी धूप में शरीर व्याकुल हो जाता है। पति के आने की आशा लगी है, प्रतीक्षा करते सारी रात बीत गई, सवेरा हो गया।' राम कथा के प्रसंग में—'क्वार में धर्म का राज है, राम होते तो ब्राह्मण भोज कराते।···क्वार महीने में लक्ष्मण का बेहाल हो गया, राम गोद में लेकर रो रहे हैं।··· पति के मरने पर मन्दोदरी रोती है।' माँ की भावना के अनुसार—'बेटा, इस मास में जन्म न लेना, पितर आयेंगे और दुःख पायेंगे।'[२]

'कातिक मास में मैं रक्त के आँसुओं की स्याही से पत्र लिखती हूँ, ये कौआ तुम मेरा दुःख पति से समझा कर कहना। इस मास में अहीर अपनी गायों को चराते और नाचते घूमते हैं, पर मेरा पति व्यापार करने परदेस गया है। पवित्र मास है, मंदिरों में सखियाँ पूजा करती हैं। पति परदेस चला गया, मैं पछता रही हूँ। मैं प्रिय के साथ जोगिनी बनने को तैयार हूँ, कृष्ण के साथ दुःख-सुख भोगती और आकाश में दीपक जलाती। जाड़ा लगने लगा है, सब सखियाँ गंगा-स्नान कर रही हैं, मैं किसके साथ गंगा नहाऊँ ? आँगन में ओस गिर रही है, सखी, झूला ओस से भीग गया है। चारों दिशाओं में दीपक जलाये जाते हैं। यदि पति होता तो साथ सुख दुःख भोगती और आकाश में दीप जलाती।' राम-कथा प्रसंग में—'सब सखियाँ दीपक जला रही हैं, मेरी अयोध्या राम बिना अँधेरी है।···आशा बँध गई है कि संजीवनी-बूटी शीघ्र ही आ जायगी।···

१. कु० उ०; भो० ग्रा०; बारहमासा १; ३ : २; ११ : ३; ३ : ४; १ : ५; ३ : ६; ३ : ११; ३ : १३; ३ : १४; १ : १५; ३ । ८; ६ : ७; ८ : १२; ६ । रा० त्रि०; ग्रा० सा०; सोहर ४०; ७।

२. कु० उ०; भो० ग्रा०; बारहमासा १; ४ : २; १२ : ३; ४: ४; १ : ५; ४ : ६; ४ : ११; ४ : १३, ४ : १४; २ : १५; ४ । ८; ७ : १२, ७ : ७; ६ । रा० त्रि०: ग्रा० सा०: सोहर ४० ; ८।

जामवन्त ने देवताओं को प्रणाम कर लंका पर चढ़ाई की।' माँ कहती है—'पुत्र, कार्तिक में जन्म न लेना, सब सखियाँ तुलसी की पूजा करने जायेंगी, मैं कैसे जाऊँगी।'[1]

'अगहन मास में मेरी सेज सूनी है, पति की प्रतीक्षा कर रही हूँ। सखियाँ गवने में ससुराल जा रही हैं। बड़ा जाड़ा लगने लगा है, पति होता तो सुख-दुःख उसके साथ भोगती। पति आने को कह गया था, पर सारे मास नहीं आया। रात अगम्य हो गयी है। धान की बाली फूटती है, यह महीना अगम हो रहा है। लगन का समय आ गया, अब मेरा पति मेरा गौना ले जायगा। बड़ा दुःख है, किससे कहूँ? ये सखी, अगहन में बेल फूलता है और धान में बाली आती है।' राम-कथा प्रसंग में—'अगहन में कोई सुन्दरी शृंगार करती है, और राम पीताम्बर पहने हैं।··· यह मास गहन दुःखदायी है, हनुमान पहाड़ लेकर वापस आ गये हैं।···· राम-सीता सहित अयोध्या वापस लौटे।' माँ कहती है—'इस मास सब सखियाँ गौने जायेंगी, मैं उन्हें देखने और भेंटने कैसे जाऊँगी।'[2]

'पूस मास में पाला गिरता है, पति-वियोग कष्ट देता है, पति गोद में भरे तभी मेरा जाड़ा छूटेगा। जोर का पाला पड़ रहा है। जाड़े के मारे सब अंग काँप रहे हैं, स्तन काँपते हैं, लोटा का पानी हिलता है मानों काँप रहा हो, सुन्दरी की सेज कम्पित है, पति के बिना उसका हृदय चलायमान है। कुहरा पड़ते समय काल का बोध नहीं होता, सभी अपनी स्त्री अथवा पुरुष में मन लगाते हैं। ऐसे ही पूस का सारा महीना बीत गया। ओस में लम्बे बाल भीगते हैं, प्रिय कृष्ण! मेरा सिन्दूर और काजल तुम्हारे साथ है। बहुत छोटा मास है, जौ में बाली फटती है। पूस चढ़ आया है, चूहा मेरे झूले को बिल में ले गया। यह मास जीव का जंजाल हो गया है।' राम-कथा प्रसंग में—'पूस मास में तलवार की धार के समान कष्टदायी पाला पड़ता है, कुश के आसन पर राम कैसे सोयेंगे?···· पूस का पाला कुठार के घाव के समान है, हनुमान ने बूटी पिलाकर लक्ष्मण को होश में किया।··· बारह महीने समाप्त हो गये और राम अयोध्या वापस आ गये, सब लोग प्रसन्न हुए।' माँ कहती है—'पूस में जन्म मत

१. कु० उ० ; भो० आ० ; बारहमासा १ ; ५ : २ ; १ : ३ ; ५ : ४ ; १ : ६ ; ५ : ११ ; ५ : १३ ; ५ : १४ ; २ : १५ ; ५ । ८ ; ८ : १२ ; ८ : ७ ; १० । रा० त्रि० ; आ० सा० ; सोहर ४० ; ६ ।

२. कु० उ० ; भो० आ० ; बारहमासा १ ; ६ : २ ; २ : ३ ; ६ : ४ ; २ : ६ ; ६ : ११ ; ६ : १३ ; ६ : १४ ; ३ : १५ ; ६ । ८ ; ९ : १२ ; ९ : ७ ; ११ । रा० त्रि० ; आ० सा० ; सोहर ४० ; १० ।

लेना, पाला पड़ता है, मुझे जाड़ा बहुत लगेगा।'[1]

'माघ मास में आम बौरता है, मैं विरह में पागल होकर मर रही हूँ, प्रिय बिना हृदय को कौन विकसित करेगा। हे शिव, मेरा व्रत सफल करो, इस मास तुम्हारा व्रत होता है। उनका धन्य भाग्य है जो माघ में अंग से अंग मिलाकर सिरहाने प्रिय का हाथ रखकर सोती हैं। मैं यौवन माती हूँ, मन में कैसे आशा बाँधूँ। सखि, माघ मे ठरन होती है, शरीर को कष्ट होता है, छोटी आयु में पति परदेस चला गया, किस हाल से जिऊँगी। दिन बड़ा होने लगा है, तुषार सहित जाड़ा पड़ता है, पति बिना जाड़ा नौ मन रुई की रजाई में भी कहाँ जाता है। अब कौवा मेरे आँगन में बोल रहा है, मेरे आँचल में आग लग गयी है। माघ में बिना पिया के जाड़ा नहीं जाता। माघ महिने में दामिनी के समान कामिनी को पिय छोड़कर चला गया, अब कलियों से डसाई सेज भी दुःखद है।' राम-कथा के प्रसग में—'माघ में बसन्त ऋतु आ गयी, मैं राम के बिना कैसे जिऊँ। ....इस मास में बसंत पंचमी होती है, सखियाँ शृंगार करती हैं। राम सीता बिना उदास हैं, अपने दुर्बल शरीर को देखते हैं।.... हे प्रिय (रावण), माघ में वसंत आ गया, तुम जानकी को वापस कर दो.... ।' माँ कहती है—'इसी मास में पुत्र-जन्म लेना, सुख से रहूँगी।'[2]

'फागुन मास में अनेक रंग बनाये जाते हैं, प्रिय के बिना मैं रंग अबीर के समान उड़ नहीं सकी। फागुन में फागुनी बयार से पेड़ों के पत्ते झर रहे हैं, पत्तों के झर जाने से रूख पत्र-हीन हैं; प्रिय तुम कितना दुःख दोगे। सखियाँ होली खेलती हैं, रंग से शरीर भीजता है। मेरी आँख फड़क रही है, प्रिय के आने की संभावना है। लोग फाग खेलते हैं, सखियाँ मजाक करती हैं, मेरा हृदय विदीर्ण होने लगता है। फाग मची है, राधा के हाथ में पिचकारी है, पर वह पछता रही है। इस मास में यौवन में वृद्धि हुई; सखि पति कब आयेगा? होली किससे खेलूँ? सखियाँ गुलाल छिड़क कर होली खेलती हैं।' राम-कथा प्रसंग में—'काम सैं उमंगित मास आ गया, सब अपनी देह पर चोआ चन्दन छिड़क रही हैं, भरत ने अबीर घोला है, मैं राम के बिना किस पर छिड़कूँ?.... होली खेलने और गुलाल उड़ाने के इस मास में राम ने

१. कु० उ० ; भो० ग्रा० ; बारहमासा १ ; ७ : २ ; ३ : ३ ; ७ : ४ ; २ : ६ ; ७ : ११ ; ७ : १३ ; ७ : १४ ; ३ : १५ ; ७ । ८ ; १० : १२ ; १० : ७ ; १२ । रा० त्रि० ; ग्रा० सा० ; सोहर ४० ; ११ ।

२. कु० उ० ; भो० ग्रा० ; बारहमासा १ ; ८ : २ ; ४ : ३ ; ८ : ४ ; २ : ६ ; ८ : ११ ; ८ : १३ ; ८ : १४ ; ३ : १५ ; ८ । ८ ; ११ : १२ ; ११ : ७ ; १ । रा० त्रि० ; ग्रा० सा० ; सोहर ४० : १२ ।

रावण-वध करके सीता सहित समुद्र पार किया और घर वापिस लौट आये।...... लंका पर आक्रमण करने वाली फ़ौज से इतनी धूल उड़ी कि मानों फागुन में अबीर उड़ रहा हो।' माँ की भावना है, 'फागुन में सब सखियाँ फाग खेलने जायेंगी, मैं कैसे जाऊँगी, बेटा, तुम इस मास जन्म मत लेना।'[1]

चैत मास में चन्दन शीतल लगता है। टेसू फूलता है, गोरी सन्देश भेजती है, कि विरह की अग्नि मुझसे सही नहीं जाती। चैत में मन चंचल रहता है, भाग्य से पति प्राप्त होता है। कोयल आम की डाली पर बोलने लगती है, उसका शब्द सुनकर नींद नहीं आती, झंखते सबेरा हो जाता है। इस मास में कँइत फलता है, पलाश बन फूलता है, सब सखियाँ पलाश के रंग में रूमाल रंगती हैं, राधा मन में पछताती है। इन कँइत के फूलने-फलने का तथा चैता गाने का समय आ गया। सखि, मदन सताता है। टेसू और गुलाब फूल रहे हैं, लाज छोड़कर पति को परदेस जाने से मना कर दो।' राम-कथा के प्रसंग में—'चैत मास में राम ने अयोध्या में जन्म लिया, कौशल्या ने चन्दन के लेप से घर लिपवाया।...चैत मास में राम को घर छोड़ना पड़ा, वन में विपत्ति पड़ी।...ये हनुमान, वन में फूल खिले हैं, तुम रात में संजीवनी ले आओ।' माँ का कहना है कि पुत्र इस मास में जन्म न लेना, सब सखियाँ कुसुम चुनने जायेंगी, मैं कैसे जाऊँगी ?[2]

बैसाख मास में घाम लगता है, व्याकुल होकर मर रही हूँ, हाल किससे कहूँ। मंगलाचार हो रहा है, गीत गाये जा रहे हैं, पर पति बिना सब दुःखदायी है। सखियाँ प्रसन्न होकर झूमर गाती हैं। पति आने वाला हो तो स्वागत में सेज फूलों से ढक दूँ। मैं अपना बंगला छवाऊँगी, उस हवादार बंगले में पति सोयेगा और मैं पंखा झलूँगी। ये सखि, पति के आने की कुछ आशा है, धीरे-धीरे बाँस काटकर पंखा बनाऊँगी और पति के पास धीरे-धीरे झलूँगी। हे सखि, पति के आने की कब तक आशा करूँ ? बैसाख की धूप सही नहीं जाती। बहुत गर्मी लगती है, चन्दन के लेप से शान्ति मिलती है, पति का क्या दोष ? दोष तो मेरे कर्मों का है।' राम-कथा का प्रसंग—'बैसाख विष के समान है, आसमान और धरती तलफ रही है, जिस प्रकार जल बिना मीन, उसी प्रकार कैकेयी ने मुझे किया है।...इस मास में राम के धूप और लू लगने से पसीना बह चला, इसी समय सीता का हरण हुआ, पिता का मरण हुआ, विपत्ति में विपत्ति पड़ी।...दिन-रात शरीर तपता है, लक्ष्मण बिना हमारी फ़ौज उदास है,

---

१. कु० उ० ; भो० ग्रा० ; बारहमासा १ ; ६ : २ ; ५ : ३ ; ६ : ४ ; ३ : १३ ; ६ : १४ ; ४ : १५ ; ६ । ८ ; १२ : १२ ; १२ : ७ ; २ । रा० वि० ; ग्रा० सा० : सोहर ४० ; १ ।

२. कु० उ० ; भो० ग्रा० ; बारहमासा १ ; १० : २ ; ६ : ३ ; १० : ६ ; १० : ११ : १० : १३ ; १० । ८ ; १ : १२ ; १ : ७ ; ३ । रा० वि; ग्रा० सा० सोहर ४० ; २ ।

आधी रात बीती कंत नहीं आया, अब मैं भी हरताल खाकर मरूँगा। 'माँ कहती है कि बैसाख में घर घर विवाहोत्सव होते हैं, मैं देखने कैसे जाऊँगी ?'

'अन्तिम मास जेठ आ पहुँचा। इस महीने में वर की चर्चा होती है, विवाहित स्त्रियाँ श्रृंगार करती हैं, पर क्या करूँ ? कृष्ण घर वापस आये, प्रिय ने मन की आशा पूरी की। पति बिना व्याकुल हूँ। हे सखि, इस मास पति से समागम हुआ, सारी आशाएँ पूरी हो गयीं। और ऊँचा बँगला छवाकर घर में दीपक जलाकर मैंने सेज डसाया। जेठ मास में तेज लू चलती है, साड़ी का भार सहा नहीं जाता, कौन-सा उपाय करूँ ?' रामकथा प्रसंग में कौशल्या कहती हैं—'राम-लक्ष्मण वन जाते होंगे, जेठ के महीने में लू अँगों को झुलसाती है। राम के पैर तप्त धूल में कष्ट पाते होंगे, धरती आसमान ग्रीष्म ताप से जल रहे हैं।''''इस मास में लक्ष्मण को शक्ति लगी और बूटी से जीवन रक्षा हुई।''''लक्ष्मण फिर युद्ध के लिये तत्पर हुये।' माँ कहती है—'रतनारे लाल, जेठ में जन्म न लेना, जेठ की दुपहरी की ज्वाला मुझसे कैसे सही जायगी।'[२]

इन बारहमासों में विभिन्न मासों में घटित होने वाले ऋतु-परिवर्तन के साथ लोक-जीवन के मंगलाचार, उत्सव तथा प्रमुख कृत्यों का वर्णन प्रमुखतः मिलता है। और इस सारे वर्णन में लोक-गायिका की भावना का उद्वेलन अन्तर्निहित रहता है। परन्तु इनमें लोक-जीवन की मुक्ति, स्वच्छन्दता और ताजगी सर्वत्र मिलती है। काव्यात्मक प्रयोग के स्तर का उद्दीपन-रूप यहाँ प्रकृति का नहीं है, क्योंकि इन गीतों में ऐसा नहीं लगता कि प्रकृति मात्र मानवीय भावों को उद्दीप्त करने के लिये प्रस्तुत है। प्रकृति का अपना प्रभाव क्षेत्र भी है, वह अपने सहज और स्वाभाविक संकेत-चित्रों में अंकित होकर प्रायः मानवीय भावों के समानान्तर अपने स्वतन्त्र अस्तित्व में उपस्थित हुई है। यह लोक-गीतों की मुक्त-भावना के कारण सम्भव हुआ है। फिर भी यह भावना गीतों में विद्यमान है कि इन ऋतुओं (मासों) में विरहिणी प्रिय के लिये व्याकुल है, संभोग-सुख की आकांक्षा से मथित है। प्रकृति अपने मानवीय रूपाकार अथवा भावनाओं के आरोप के कारण इस भाव को उद्दीप्त नहीं करती, वरन् अपने कठोर, विषम, उत्तप्त, शीत, आप्लावित रूप के कारण स्थायी मनःस्थिति को प्रेरित और उत्तेजित करती है।

× × ×

---

१. कु० उ०; भो० गी०; बारहमासा १; ११ : २; ७ : ३; ११ : ४; ३ : ६; ११ : ११; ११ : १३; ११ : १४; ४ : १५; ११। ८; २ : १२; २ : ७; ४। रा० त्रि०; गी० सा० सोहर ४०; ३।

२. कु० उ०; भो० गी०; बारहमासा १; १२ : २; ८ : ३; १२ : ४; ४ : ६; १२ : ११; १२ : १४; १२। ८; ३ : १२ : ३ : ७; ५। रा० त्रि०; गी० सा०; सोहर ४० : ४।

लोक-जीवन के विश्वास अन्धविश्वास का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इसकी परिधि में प्रकृति के विभिन्न रूपों-उपकरणों का आना स्वाभाविक है। वैदिक काल के प्रकृति देवता सूर्य, पवन, अग्नि, इन्द्र (वर्षा देव) आदि से लेकर आदिम संस्कारों के अन्तर्गत आने वाली वृक्ष-पूजा तक इसमें मिलती है। और इनका प्रभाव लोक-गीतों में भी देखा जा सकता है। एक स्त्री सूर्य को सुन्दर पुत्र की कामना से प्रणाम करती है, पचरा का गायक पूर्व में उदित होने वाले सूर्य और पश्चिम की ज्योति चन्द्रमा का स्मरण करता है, सन्तान कामना से स्त्री सूर्य-देव की प्रार्थना करती है—

ये मोरे सुरुज हम पर होउ दयाल सजन बोली बोलई।[1]

जनेऊ के अवसर पर माँ वर्षा-देव को मानती है कि 'तुम गरजो बरसो नहीं, मेरे स्वामी आते होंगे।'[2] तुलसी के चौरा को छूकर शपथ खाने अथवा मरने आदि के सन्दर्भों में उसमें स्थापित देवत्व की व्यंजना है। देवी के प्रसंग में अड़हुल तथा चम्पा के पुष्पों की पवित्रता का उल्लेख है।[3] फिर भी कहा जा सकता है कि भावात्मक प्रकृति के कारण ऐसे सन्दर्भ लोक-गीतों में बहुत कम हैं।

× × ×

लोक-साहित्य में मुक्त प्रकृति और स्वच्छंद अभिव्यक्ति के कारण काव्य-कौशल और शिल्पगत विशेषताओं का महत्व नहीं होता। अलंकारों का प्रयोग अभिव्यक्ति की शैली और शिल्प से सम्बद्ध है, इस कारण लोक-गीतों में न तो अलंकारों का सचेष्ट और शिल्पगत प्रयोग मिलेगा और न इस रूप में प्रकृति के विविध उपमानों का प्रयोग ही। जो आलंकारिक प्रयोग आ जाते हैं वे सहज भावाभिव्यक्ति के अंग के रूप में हैं। यही कारण है कि सादृश्यमूलक अथवा उसके अन्तर्गत गम्यौपम्याश्रय अलंकारों का रूप देखा जा सकता है। प्रकृति के उपमानों का क्षेत्र काव्य में भी प्रधानतः यही है, क्योंकि प्रकृति के विभिन्न रूपों तथा स्थितियों की सादृश्य-भावना से ही उपमान ग्रहण किये जाते हैं। प्रकृति उपमानों का सबसे व्यापक प्रयोग उपमा के रूप में हुआ है। लोक-गीतों में 'स्त्री को पान के समान पतली, फूल के समान सुन्दर' कहकर रूप और भाव दोनों स्तर के सौन्दर्य-बोध को व्यंजित किया गया है। उसके 'दाँत बिजली के समान, ओंठ काटे गए पान के समान हैं' (उपमा)। लोक-नायिका के 'नेत्र खंजन हैं और उसका मुख शरत्काल का चन्द्रमा है' (रूपक)।[4] अन्यत्र प्रसूता-स्त्री के रूप चित्रण के लिए भी प्रकृति-उपमानों का आश्रय लिया गया है—'उसके केश जैसे रेशम के

---

१. कृ० उ०; भो० ग्रा०; सोहर १३ : पचरा १ : रा० त्रि०; ग्रा० सा०; सोहर ४४, ६।

२. वही: वही: जनेऊ के गीत २; २।

३. कृ० उ० : भो० ग्रा०; रोपनी ४ : पचरा ११ : १२।

४. कृ०उ०; भा०ग्रा०; सोहर १; १: बिरहा ३:४। होली १२;१,२

लच्छे हों, मस्तक जैसे चन्दन घिसने का होरसा हो, नेत्र जैसे आम की फाँक सुन्दर हों, नाक ऐसी सुन्दर है जैसे तोता की चोंच, दाँत ऐसे सुन्दर हैं जैसे अनार के दाने, ओंठ सुन्दर हैं जैसे अनार की कली, जाँघ ऐसे हैं जैसे केले के खंभ, अंगुलियाँ सुन्दर हैं जैसे केले की फलियाँ'[1] (उपमा)। यहाँ एक प्रसूता स्त्री का रूप सौन्दर्य वर्णन काव्य-परम्परा की प्रवृत्ति के बहुत अनुकूल नहीं है, इसके अतिरिक्त उपमानों के चयन में भी मुक्त प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। लोक-नायक का रूप उपस्थित करने में भी यही प्रवृत्ति है। परदेस जाते हुए पति का वर्णन पत्नी करती है—'तुम्हारा मुँह सूर्य की ज्योति है, आँख आम की फाँक है, नाक सुआ की ठोर, भौंह चढ़ी कमान है, ओंठ कतरे हुए पान हैं, पेट पुरइन का पत्ता है, पैर केले के खम्भे हैं।' (रूपक)।[2] कभी-कभी लोक-जीवन की यथार्थ उपमाएँ बहुत सुन्दर बन पड़ी हैं—'ललाट में लगी हुई टिकुली तालाब में चमकती हुई चाल्हा मछली जैसी है।' कहीं-कहीं उपमाएँ बहुत यथार्थ हैं, जैसे बालक की पत्नी अपने पति को चूहे की तरह और देवरों को चीलर जैसे कहती है। इन अप्रस्तुतों से उसके मन की घृणा व्यंजित है।[3]

लोक-गीतों में उपमानों तथा अप्रस्तुतों की योजना किसी काव्यात्मक दृष्टि से न होने के कारण अलंकारों की स्थिति अनेक बार अस्पष्ट रहती है। जहाँ तक प्रकृति सम्बन्धी उपमानों के आधार पर ये प्रयोग हुए हैं उनमें सादृश्य, साधर्म्य और बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव प्रधान है, अतः अर्थान्तरन्यास और उदाहरण के स्थान पर दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा की स्थिति अधिक झलकती है। कभी आवृत्ति की प्रवृत्ति के कारण बिम्बप्रतिबिम्बोपमा जैसा प्रयोग प्रतिवस्तूपमा के निकट पहुँच जाता है—

चकवा मरल दह हो गइल सून, रावन के मरले लंका जेइसे सून।

यहाँ यदि 'चकवा मरने से दह सूना हुआ जिस प्रकार रावण मरने से लंका' होता तो प्रयोग उपमा ही होता, पर दो वाक्यों में उपमेय-उपमान की स्थिति है, और एक ही साधारण धर्म की दो बार स्थिति है। लेकिन यह कथन अलग-अलग शब्दों में नहीं है, जैसा प्रतिवस्तूपमा में होना चाहिए, अतः उदाहरण है, क्योंकि वाचक भी है। यहाँ बिम्बप्रतिबिम्ब भाव के साथ वाचक नहीं है, अतः दृष्टान्त है—

चानावा का घेरेले का काली बदरिया।
तीन सौ साठि सखी घेरेले कन्हैया॥

१. रा०त्रि०; ग्रा०सा०; सोहर ६५।
२. कृ०उ०; भो०ग्रा०; जतसार १८; बिरहा ३७—
तालावा में चमकेला चाल्हा मछरिया
लिलारा पर टिकुली लमोरि॥ (चारों पंक्तियों में दीपक है)
३. रा०त्रि०; ग्रा०सा०; विवाह के गीत ६७; १।

निम्नलिखित प्रयोग में उपमेय और उपमान वाक्यों में शब्द-भेद द्वारा समान-धर्म कथन है।

साथ ही फुलले बेइलिया, साथ ही फूले कँवल हो।
रानी साथ ही जन्मले होरलवा, साथ ही उठे सोहर हो॥

यहाँ उपमान-उपमेय वाक्यों में एक ही साधारण धर्म को 'फुलले', 'जन्मले' तथा 'उठे' भिन्न शब्दों से कहा गया है, अतः प्रतिवस्तूपमा कहा जा सकता है। पर यहाँ उपमान-उपमेय वाक्यों में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव व्यंजित नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, यद्यपि समान धर्म का कथन अलग-अलग रीति से नहीं है। इस भाव-व्यंजना के अंतर्गत दृष्टान्त का बिम्बप्रतिबिम्ब भाव का आधार लिया गया है—

जइसहि ए अमवा गंगा न छछेलो रे ना।
ओइसहि ए अमवा रोएलि बहिनिया रे॥

यहाँ समर्थन के वाचक शब्द की स्थिति से उदाहरण का भाव प्रधान है। इस भाव-व्यंजना में भी उदाहरण है—

जइसेहि घमवासे बेइलि सुखेले रे ना।
ओइसहि ए सुखेले बहिनियाँ रे ना॥

पर साधारण धर्म का दो बार कथन आवृत्ति मात्र होने से उपमा की स्थिति भी सिद्ध हो सकती है। साधारणतः सामान्य विशेष के समर्थन की स्थिति में भी उपमेय-उपमान का बिम्ब-भाव अधिक व्यंजित रहता है। यहाँ 'उहे गति' और 'तलफेल' समान धर्म के अलग कथन माने जाँय तो प्रस्तुत प्रयोग दृष्टान्त कहा जायगा—

जइसे जल बिना तलफेल मीन;
उहे गति मोर केकई कीन।[1]

मात्र सामान्य समर्थन की दृष्टि से उदाहरण कहा जायगा। एक वाक्य मानने से केवल उपमा होगी।

विशेष से विशेष के समर्थन के भाव की प्रधानता से पिता की इस उक्ति में दृष्टान्त माना जायगा—

बड़ ही घर देखि बेटी बिअहलीं, ना जानि छोट न बड़ ए।
हरी-हरी जानि देखिलें ककरी के बतिया, न जानि तीत कना मीठ ए॥

इसी प्रकार—'आम की बगिया में कोयल बोलती है, कचनार पर भौंरा बोलता है और दूल्हा ससुर जी के बाग में बोलता है' में उपमान-उपमेय वाक्यों में समान साधारण धर्म का कथन एक शब्द की आवृत्ति से किया गया है और वर्ण्य तथा अवर्ण्य के समान

१. कु० उ० ; भो० ग्रा० : भजन ८, ६ : बिरहा ३४ : सोहर १४ ; ६ : जोग ३ ; १४ ; १३ ; बारह ८, २।

धर्म 'बोलना' होने से दीपक माना जा सकता है। अन्यत्र किसी वस्तु के बिना दूसरे के अशोभित होने से बिनोक्ति का प्रयोग माना जायगा—'एक सौ ग्राम लागये, सवा सौ जामुन, पर एक कोयल बिन बगिया सुहावन नहीं लगती। सेज कैसी डसाग्रो, प्रिय बिन कहाँ सुहावनी लगती है।" परन्तु दोनों वाक्यों में बिम्ब भाव की व्यंजना भी है। लोक-गीतों में अन्योक्ति की व्यापक प्रवृत्ति मिलती है, और कुछ अन्योक्तियों में प्रकृति के सुन्दर उपमानों की योजना भी हुई है—

उड़ली चिरिइया झुरे झांग बइठलि ;
राम नामवा के गोहराई।
निचवा जो घूमत बाटे पापी रे बहेलिया,
ऊपर बजवा रे मड़राई ॥[2]

इन प्रयोगों में ज्ञाताओं के कारण भेद के 'सर्प से डसे हुए पति' और 'अदृश्य कृष्ण' भिन्न रूपों में वर्णित हैं—

आहो रामा तोरा लेखे ननवी भइया अलसइले हो रामा।
मोरा लेखे; चानका छपित भइले हो रामा ॥

अथवा

ओहो रामा तोरा लेखे ग्वालिन मानिक हेरहले।
मोरा लेखे, चान छपितवा हो रामा ॥

परन्तु यहाँ उल्लेख के साथ आरोप का भाव प्रधान है, अतः मालारूपक भी हो सकता है। 'परन्तु यहाँ प्रस्तुत में अप्रस्तुत की भावना' का भाव मुख्यतः व्यंजित है, और, 'मोर लेखे' को वाचक स्वीकार कर इसे वस्तूत्प्रेक्षा कहना भी संगत लगता है। वैसे उत्प्रेक्षा जैसे कलात्मक प्रयोग लोक-गीतों की प्रकृति से अलग पड़ते हैं।

---

१. वही ; वही ; विवाह ४ ; ५। रा० वि ; ग्रा० सा० ; विवाह ६२ ; १ : सोहर ७३।
२. कृ० उ० ; भो० ग्रा० ; बिरहा ३८।
३. वही ; वही ; चैता ४ ; ६ : १३ ; ४।

परिशिष्ट—3

काव्य की आधुनिक दृष्टि में प्रकृति

प्रकृति की समस्त परिकल्पनाओं में मानव भावबोध के विकास की समस्त स्थितियाँ इस प्रकार सम्बद्ध रही हैं कि उनके माध्यम से उसके सांस्कृतिक संचरण के इतिहास का अध्ययन किया जा सकता है। परन्तु युग विशेष की प्रकृति सम्बन्धी परिकल्पना को उस युग के काव्य और विभिन्न कलाओं के माध्यम से ही जाना जा सकता है, इस कारण विभिन्न देशों और युगों के काव्य तथा कलाओं में जिस रूप में प्रकृति को ग्रहण किया गया है, उसके माध्यम से उनके दृष्टिकोण और संस्कार के अन्तर का विवेचन किया जा सकता है। योरप और भारत के काव्य और कलाओं में स्वीकृत प्रकृति परिकल्पनाओं के आधार पर उनकी सांस्कृतिक प्रवृत्ति के मौलिक अन्तर को समझा जा सकता है। यूरोप में प्रकृति अपने सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में जिस यथार्थ अनुकरण के स्तर पर परिकल्पित की गयी है, उससे उसकी भौतिकवादी यथार्थ पर प्रतिष्ठित जीवन-दृष्टि का इतिहास सम्बद्ध है। इसी प्रकार भारत में प्रकृति काल्पनिक आकार-प्रकार, रूप-रंगों में जिस आदर्श सादृश्य रूप में परिकल्पित है, उससे उसकी शाश्वतवादी आध्यात्मिक तथा आदर्शमूला जीवन दृष्टि का विकास क्रम परिलक्षित होता है।

हमारे सम्पूर्ण जीवन की दृष्टि से आधुनिक युग बहुत महत्वपूर्ण रहा है। पश्चिम के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक गहरे सम्पर्क ने हमारी जीवन की पद्धतियों, संस्कारों, विचारों और यहाँ तक संवेदन के स्तर तक को बहुत दूर तक प्रभावित किया है। हमारा आधुनिक साहित्य इस नव-विकसित जीवन-दृष्टि से व्यापक रूप से स्फुरित और संवेदित है। एक प्रकार आधुनिक काव्य के विकास-क्रम में हम अपनी संगठित और विकसित होती दृष्टि के स्वरूप को देख सकते हैं। काव्य में प्रकृति का स्थान किसी न किसी रूप से सदा रक्षित रहा है, और उसकी विभिन्न परिकल्पनाओं के काव्य-गत विकास-क्रम का सहारा आधुनिक सांस्कृतिक आन्दोलन के विकास के अध्ययन

के लिए लिया जा सका है। भारतेन्दु-युग से लेकर वर्तमान नयी कविता के युग तक की चेतना के विभिन्न स्तरों का प्रभाव इनकी प्रकृति सम्बन्धी परिकल्पना पर भी पड़ता रहा है।

भारतेन्दु-युग के काव्य की भाषा ब्रज थी, गद्य साहित्य के विभिन्न रूपों के विकास में इस युग के लेखकों की स्वच्छन्द और मुक्त मनोवृत्ति का परिचय अवश्य मिलता है। इस युग में सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक चेतना का व्यापक विस्तार और प्रसार होना आरम्भ हो गया था, और इस युग के लेखक में इसकी गहरी सम्पृक्ति देखी जा सकती है। अपने युग के बन्धनों, रूढ़ियों और परम्पराओं के प्रति सजग होकर भी इनमें विद्रोह की वह सक्रिय भावना और व्यक्ति की मुक्ति का आग्रह नहीं पाया जाता जो रोमांटिकों की विशेषता होती है। सुधार, परिष्कार उनकी प्रधान दृष्टि है, इसीसे भारतेन्दु-युग के लेखकों में स्वच्छन्दता और मुक्ति के स्थान पर मौज और उल्लास अधिक है। यही कारण है कि यदि वे विचारों की मुक्ति की दृष्टि से आधुनिक मनोवृत्ति के अधिक निकट हैं तो भावना और स्वभाव में वे सामन्ती भाव-भूमि पर अधिक जान पड़ते हैं। काव्य में ब्रजभाषा के प्रयोग का मूल कारण भी यही है।

भारतेन्दु के काव्य में प्रकृति की परिकल्पना में सामन्ती युग की भावना अन्तर्निहित है। उनकी प्रकृति कहीं रीति के उद्दीपन-विभाव के रूप में; कहीं भक्तिकालीन प्रभु की भावना से प्रतिभासित या आन्दोलित, और कहीं-कहीं संस्कृत साहित्य की चित्रमत्ता के साथ प्रस्तुत हुई है,[1] पर रोमांटिक भावावेग, कल्पना, सौन्दर्य और प्राणवेग के साथ अंकित नहीं किया गया है। कहीं-कहीं प्रकृति अपने सहज रूप में आ गयी है—

'देख, भूमि चारो ओर हरी-भरी हो रही है। नदी-नाले, बावली-तालाब सब भर गये। पच्छी लोग पर समेटे पत्तों की आड़ में चुपचाप सकपके से होकर बैठे हैं। बीरबहूटी और जुगनूँ पारी-पारी रात और दिन को इधर-उधर बहुत दिखाई पड़ते हैं। नदियों के करारे धमाधम टूट कर गिरते हैं।'[2] इस चित्र में लेखक ने प्रकृति का स्वतन्त्र रूप अंकित किया है। पर यह दृष्टि व्यापक प्रकृति के रूप में परिलक्षित नहीं होती। इसके अतिरिक्त यह गद्य में वर्णित है और अन्ततः—'वियोगियों को तो मानों छोटा प्रलय-काल ही आया है', की भावना से सम्बद्ध है। भारतेन्दु में प्रकृति-वर्णन की व्यापक प्रवृत्ति रीतिकालीन उक्ति-वैचित्र्य अथवा आलम्बन-सम्बन्धी भाव-व्यंजना की है।

तरनि तनूजा-तट तमाल तरुवर बहु छाए।
झुके कूल सों जल-परसन-हित मनहुँ सुहाये॥

---

१. श्री चन्द्रावली; हरिश्चन्द्र; अंक २,३।

२. वही; वही; अंक २।

किधौं मुकुर में लखत उझकि सब निज-निज सोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा॥[1]

भारतेन्दु-युग के बाद हिन्दी-काव्य में महावीर प्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व में खड़ी बोली का प्रयोग काव्य में प्रचलित हुआ। इसके साथ हिन्दी काव्य की प्रकृति में आमूल परिवर्तन घटित हुआ। काव्य की प्रतिष्ठा में पुनरुत्थान-युग की भावना के अनुरूप काव्य की प्राचीन परम्परा और प्रतिमानों का महत्व स्वीकृत हुआ। प्राचीन काव्य के रूप तथा आदर्शों को प्राचीन गौरवशाली महान चरित्रों के साथ स्वीकार किया गया, पर उनकी सम्पूर्ण योजना के माध्यम से नयी परिस्थिति, भावनाओं तथा आदर्शों को नये संदर्भों के साथ व्यंजित करने का प्रयत्न किया गया। इस स्थिति का प्रभाव द्विवेदी युग के प्रमुख कवियों, अयोध्या सिंह उपाध्याय, रामचरित उपाध्याय तथा मैथिलीशरण गुप्त की प्रकृति परिकल्पना पर भी देखा जा सकता है। इन कवियों ने संस्कृत का अनुसरण एक सीमा तक ही किया है। इनके काव्य में प्रकृति के स्थल प्रस्तुत होते हैं, पर कथा-वस्तु की अनिवार्य भूमिका के रूप में, केवल वर्णन-सौन्दर्य तथा कौशल के लिए नहीं। इस युग के कवियों में कथात्मक योजना का संस्कार पाश्चात्य साहित्य से ग्रहीत है, यद्यपि उनकी शैली तथा शिल्प भारतीय महाकाव्यों के आदर्श पर स्वीकृत है। इस कारण जहाँ तक 'प्रियप्रवास' तथा 'साकेत' जैसे काव्यों में प्रकृति के स्थान का प्रश्न है, प्रकृति कथा के नितान्त अंग के रूप में उपस्थित हुई है। इनमें कहीं भी केवल वर्णन-सौन्दर्य की दृष्टि से प्रकृति का अंकन नहीं हुआ है।

प्रायः इन महाकाव्यों अथवा कथा-काव्यों में प्रकृति देश-काल की कथागत परिस्थितियों को प्रस्तुत करने के लिए अंकित है और इस प्रकार अपने वर्णनात्मक रूप में प्रकृति वस्तु-परक आधार है।[2] कभी-कभी प्रकृति के सम्पर्क से पात्र उसके प्रति सजग भाव से उन्मुख भी होते हैं, लेकिन ऐसी स्थिति में किसी आन्तरिक भाव से उद्वेलित होने के स्थान पर उनमें कौतुक की भावना अथवा शिक्षा की दृष्टि उभरती है।[3] इनमें अनेक स्थलों पर प्रकृति-वर्णना के माध्यम से कथा की घटनाओं और चरित्रों के मनोभावों का प्रतिबिम्बन, प्रसरण अथवा प्रतिछाया व्यंजित की जाती है। ऐसा अनुकूल और प्रतिकूल दोनों दृष्टियों से हुआ है, और कभी यह व्यंजना प्रकृति की भूमिका में निहित हुई है तथा कभी सम्मुख फैली हुई प्रकृति के माध्यम से।[4]

---

१. वही; वही; अंक ३।

२. प्रियप्रवासः अयोध्यासिंह उपाध्यायः सर्ग १,२ आदि।

३. साकेतः मैथिलीशरण गुप्तः सर्ग ५, यमुना-तटः ८ पर्णकुटी।

४. साकेतः सर्ग ८। प्रियप्रवासः सर्ग ५।

परन्तु इस प्रकार की व्यंजना प्रकृति के अपने स्वतन्त्र जीवन के प्रत्यक्ष आरोप के द्वारा हुई है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत काव्य की परम्परा के आधार पर प्रकृति के स्वतन्त्र सौन्दर्य को स्वीकार किया है। पर उनके लिए प्रकृति का सौन्दर्य वस्तुपरक चित्रांकन से अधिक नहीं रहा है। रामचन्द्र शुक्ल ने रीतिकालीन प्रकृति के मात्र उद्दीपन रूप के विरोध में उसके आलम्बन रूप की स्थापना की है। इस दृष्टि से उन्होंने प्रकृति के स्वतन्त्र जीवन को रोमांटिक भावना के अनुसार ग्रहण किया है, यद्यपि अपनी दृष्टि में मूलतः संस्कारवादी होने के कारण वह प्रकृति के स्वतन्त्र जीवन की ओर उन्मुख तो हुए—

कविता, वह हाथ उठाए हुए, चलिए कविवृन्द ! बुलाती वहाँ।[1]

पर उसके प्रति उनकी दृष्टि स्वच्छंद और मुक्त नहीं हो सकी। अपनी 'हृदय का मधुर भार' नामक कविता में वह प्रकृति के प्रति आकर्षित होकर भी उसका मात्र वर्णन प्रस्तुत कर सके हैं, इस वर्णनात्मकता में उपदेश वृत्ति का परिचय ही मिलता है। परन्तु जिस प्रकार द्विवेदी जी की प्रेरणा के आधार पर लिखे गये काव्यों में प्रकृति काव्य की कथात्मक योजना का अंग होकर उपस्थित हुई, उसी प्रकार शुक्ल जी के इस आह्वान का प्रभाव रोमांटिक मनोभाव के कवियों पर देखा जा सकता है।

जिन कवियों का उल्लेख किया गया है उनमें भी रोमांटिक भाव की झलक एकदम न मिलती हो, ऐसा नहीं है। समस्त वर्णनात्मकता के बीच प्रकृति का अपने रंग-रूपों में स्वतन्त्र रूप कई स्थलों पर प्रस्तुत हो गया है जो इस भावना से एक स्तर पर सम्बद्ध माना जा सकता है। परन्तु इस युग की अन्तर्वर्ती रोमांटिक काव्यधारा में प्रकृति का रूप अपेक्षाकृत अधिक मुक्त है और उसमें भावोल्लास, भावविभोरता तथा आत्मतल्लीनता आदि की प्रवृत्ति इसी स्तर की है। श्रीधर पाठक में प्रकृति के प्रति इस दृष्टि का विकास सर्वप्रथम मिलता है।[2] जिस प्रकार उन्होंने प्रेम के व्यापक और आदर्श रूप की अभिव्यक्ति स्वच्छन्द रूप में की है, उसी प्रकार प्रकृति को भी उन्होंने उसके स्वतन्त्र रूप में स्वीकार किया है।[3] उन्होंने प्रकृति को साधारण और सहज स्थितियों में भी स्वीकार किया। काव्य में खड़ी-बोली रूप के प्रयोग की प्रारम्भिक स्थिति के कारण श्रीधर पाठक में व्यंजना शक्ति का विकास नहीं हो पाया था, इस कारण उनके प्रकृति चित्रण में रोमांटिक भावोल्लास आदि की व्यंजना ऊँचे स्तर की

१. रामचन्द्र शुक्ल; आमंत्रण।

२. एकान्तवासी योगी और स्वर्गीय बीणा में।

३. गुनवन्त हेमन्त तथा सान्ध्य अटन में।

नहीं हो सकी है। उल्लेखात्मक वर्णन शैली के साथ कहीं-कहीं प्राचीन ढंग के आलंकारिक प्रयोग मिलते हैं, पर इस सहज वर्णन में पर्यवेक्षण, वातावरण-निर्माण तथा भाव-ग्रहण की शक्ति अवश्य व्यक्त होती है—

उस बिमल बिम्ब से अनति ही दूर, उस
समय एक व्योम में बिन्दु सा लख पड़ा
स्याह था रंग कुछ गोल गति डोलता
किया अति रंग में भंग उसने खड़ा;
उतरते उतरते आ रहा था उधर
जिधर को शून्य सूनसान थल था पड़ा।[1]

इसमें भाषा और छन्द का मुक्त प्रयोग भावानुकूल है। प्रकृति के प्रति व्यापक मानवीय सहानुभूति और संवेदनशीलता की दृष्टि से रोमांटिक भावना का प्रारम्भिक रूप लोचनप्रसाद पाण्डेय तथा रूपनारायण पाण्डेय जैसे कवियों में मिलने लगता है।[2]

रामनरेश त्रिपाठी में भाषा और व्यंजना की दृष्टि से इस भावना का अगला चरण परिलक्षित होता है। इनके खण्ड-कथा-काव्यों में आदर्श प्रेम का काल्पनिक स्वच्छन्द रूप है और उसीके अनुरूप प्रकृति का मुक्त भावाकुल सौन्दर्य भी।[3] इनके काव्य में प्रकृति के सौन्दर्य के प्रति सहज जिज्ञासा और आकर्षण का रोमांटिक भाव सर्वत्र व्याप्त है। इनके आदर्श प्रेमियों में प्रकृति के सौन्दर्य के प्रति अनन्त आकर्षण है, उसके राशि-राशि बिखरे हुए सौन्दर्य के सम्मुख वे आनन्दोल्लसित होकर भावातिरेक की मनःस्थिति में सब कुछ भूल जाना चाहते हैं। वे वास्तव में रोमांटिक भाव के प्रकृति-प्रेमी कहे जा सकते हैं। इस प्रकृति-सौन्दर्य के प्रेम में सहचरण की भावना भी अन्तर्निहित है। इनमें प्रकृति के साथ रहने की, उसके सौन्दर्य के साक्षात्कार की तथा आत्मविस्मृत होकर उसके सहचरण की अदम्य भावना पायी जाती है। जैसे प्रकृति-सौन्दर्य के उपभोग की कामना से मनुष्य उससे एकरस होना चाहता है—

प्रतिक्षण नूतन वेष बनाकर रंग बिरंग निराला,
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिद माला।
नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर नील गगन है,
घन पर बैठ बीच में बिचरूँ यही चाहता मन है॥[4]

यहाँ प्रकृति का सौन्दर्य व्यापक विश्व-प्रेम के आलम्बन के समान है। कथा-काव्य होने

१. सान्ध्य-अटन; श्रीधर पाठक।
२. मृगी-दुःखमोचन; लो० पा०। वनविहंगम और दलित कुसुम; रू० पा०।
३. मिलन; पथिक; स्वप्न।
४. पथिक; विश्व-सुषमा।

के नाते इन काव्यों में प्रकृति भावों से प्रसरित और प्रतिबिम्बित अंकित हुई है; इस प्रकार के प्रयोग में उद्दीपन या आरोप के स्थान पर भावोद्वेलन की स्थिति है। ऐसी स्थितियों में प्रकृति मानवीय संवेदना के प्रति गहन सहानुभूति के साथ व्यंजित हुई है—

अर्द्ध निशा में तारागण से प्रतिबिम्बित अति निर्मल जलमय।
नील झील के कलित कूल पर मनोव्यथा का लेकर आश्रय॥
नीरवता में अंतस्तल का मर्म करुण स्वर लहरों में भर।
प्रेम जगाया करता था वह विरही विरह-गीत गा-गाकर॥

परन्तु सौन्दर्य तथा प्रेम की इस विश्व-व्यापी भावना से इन काव्यों में कर्तव्य का पथ (राष्ट्र प्रेम, लोक-प्रेम) ही प्रशस्त होता है। प्रकृति का समस्त सौन्दर्य और प्रेम इन काव्यों के नायकों में अन्ततः देश-प्रेम की प्रेरणा बन जाता है और वे दीन-हीन जनता की मुक्ति के लिए प्रयत्नशील होते हैं।[1] वस्तुतः इन खण्ड-काव्यों में प्रेम, स्वाधीनता तथा प्रकृति आदि की दृष्टियों से शुद्ध रोमांटिक भावना की अभिव्यक्ति मिलती है।

द्विवेदी-युग की इस अन्तर्वर्ती धारा का प्रवाह छायावादी काव्यान्दोलन के अन्तर्गत चलता रहा है और गुरुभक्त सिंह, मुकुटधर पाण्डेय तथा सियारामशरण गुप्त जैसे कवियों के काव्य में उसको देखा जा सकता है। इन कवियों में प्रकृति के मुक्त जीवन के प्रति गहन सहानुभूति है। इस कारण प्रकृति के रूपों, उपकरणों तथा जीवों के प्रति सहज जिज्ञासा और आत्मीय संवेदन इनके काव्य में मिलता है। इनके काव्य में प्रकृति मानवीय भावों के साथ अनेक सूक्ष्म संकेतों और व्यंजनाओं में प्रस्तुत हुई है। पिछले कवियों में भावोल्लास, सौन्दर्याकर्षण और भावातिरेक के क्षणों में भी प्रकृति कथा का आधार या पृष्ठभूमि थी, पर इनमें प्रकृति और जीवन एक-दूसरे में अन्तर्घटित और सन्निविष्ट हैं, दोनों एक ही मनःस्थिति, एक ही भावोद्वेलन से स्फुरित होते हैं। गुरु भक्तसिंह की मूल प्रवृत्ति कथात्मक शैली में अपने को व्यक्त करने की है, पर उनके प्रबन्ध-काव्यों में भी प्रगीत्यात्मक संवेग और सघनता है। इस कवि में भाषा, शैली और भाव-व्यंजना की दृष्टि से पूर्ण रोमांटिक उत्कर्ष देखा जा सकता है, केवल प्रगीति काव्य की आत्माभिव्यक्ति तथा मनसपरकता का पूर्ण विकास इनके

१. स्वप्न; प्रेम-वेदना; द्विविधा—

निस्सहाय निरुपाय जहाँ हैं
बैठे चिन्ता-मग्न दीन जन;
उनके मध्य खड़े हरि के पद
पंकज के मिलते हैं दर्शन॥

काव्य में नहीं हो सका है। इनके काव्य में प्रकृति और जीवन एक-दूसरे से अभिन्न होकर प्रस्तुत हुए हैं—

पर्वत के चरणों में लिपटी वह हरी भरी जो घाटी है,
जिसमें झरने की झर झर है, फूलों ही से जो पाटी है।
उसके तट से सुरम्य भू पर, झाड़ी के झिलमिल घूँघट में।
है नयी कली इक झाँक रही लिपटी घासों के ही पट में॥[1]

प्रकृति अपने जीवन में मुक्त, स्वच्छन्द और आवेगपूर्ण है तथा उसके इस जीवन में कवि के मन का उल्लास और आन्दोलन व्यंजित है। इस समता या समानान्तरता को मानव जीवन के आरोप के रूप में नहीं लिया जा सकता। यह प्रकृति का अपना जीवन है, सौन्दर्य है, स्पन्दन है जो मनुष्य को उत्सुक, जिज्ञासु और उद्वेलित करता है—

हरियाली से भरी हुई है घाटी की गहराई
जिसमें खग कूजन की धारा फिरती है लहराई।
शिलाखंड में मूर्ति बनाती, धार वारि छेनी से
मग में कुछ कुछ कह लेती है, भोली मृगनयनी से।[2]

इस कवि में प्रकृति की कोमल कल्पना और भावना का उचित सामंजस्य भी परिलक्षित होने लगा है।[3] सियारामशरण गुप्त के काव्यों में प्रकृति का निर्भर सौन्दर्य, आनन्द और उसकी भावाकुलता है, साथ प्रकृति के प्रति सहचरण की भावना भी पाई जाती है—

किन्तु प्रिये, धारा यह निर्झरित
हर्षावेग उद्वेलित
कैसी बही जाती है!
ऊपर से टूट टूट,
प्रस्तर कठोर भुज-बन्धनों से छूट छूट,
विषम धरा में सम नृत्य कर गाती है।[4]

मुकुटधर पाण्डेय के साथ सियारामशरण गुप्त में प्रकृति के प्रति प्रगीति-भावना के आत्मानुभव के साथ स्वच्छंद मनोभावों का अभिव्यक्तीकरण मिलता है। इन्होंने प्रकृति

---

१. नूरजहाँ; गु० सि०: मेहर का शैशव।

२. वहीं: शैलबाला।

३. उदाहरणार्थ—अम्बुधि कुमार।

४. सि० गु०: मंजुघोष। कविता-संग्रहों में—दूर्वादल, आर्द्रा, मृण्मयी आदि में प्रकृति संबंधी कविताएँ हैं।

के चर-अचर रूपों के साथ अपनी निजी सहानुभूति को व्यंजित किया है, और आत्मीयता के वातावरण में उनका भावपूर्ण अंकन किया है। मुकुटधर पाण्डेय ने सम्भवतः प्रकृति के इस रोमांटिक भाव को सर्वप्रथम प्रगीति मन:स्थिति में स्वीकार किया है—

बता मुझे ये विहग विदेशी ! अपने जी की बात,
पिछड़ा था तू कहाँ, आ रहा जो कर इतनी रात ?
इस नीरव घटिका में उड़ता है तू चिन्तित गात,
पिछड़ा था तू कहाँ हुई क्यों तुझको इतनी रात ॥ (कुररी के प्रति)

× × ×

इस सीमा तक विकसित हो जाने पर भी रोमांटिक आन्दोलन अब तक पूर्णतः संघटित नहीं हो पाया था। परम्पराओं से विद्रोह, आत्मानुभव की अभिव्यक्ति, कल्पना की स्वच्छंदता, जीवन और जगत् के प्रति नवीन आकर्षण, सूक्ष्म सौन्दर्य-बोध आदि ऐसे तत्व हैं जिनका समावेश छायावादी काव्य में ही सर्वप्रथम हुआ। प्रगीति भावना तथा मननपरकता का विकास भी इसी काव्य में देखा जाता है। इसी कारण छायावादी काव्य में प्रकृति अपने जीवित और स्पंदित रूप में मुक्त और स्वच्छंद चित्रित है। वस्तुतः छायावादी कवियों ने व्यक्ति-स्वतन्त्रता, सौन्दर्य की उपासना, दिव्यता तथा महानता जैसे अपने आदर्शों को प्रकृति की परिकल्पना में सिद्ध करने का उपक्रम किया है। प्रारम्भ में प्रकृति के भावमय, कोमल तथा गतिशील सौन्दर्य के प्रति कवि प्रश्नशील और जिज्ञासु हुआ है। सुमित्रानन्दन पंत में प्रकृति के प्रति यह भावना विशेष रूप से पायी जाती है। इस जिज्ञासा अथवा प्रश्नशीलता में प्रकृति सहज रूप में आकर्षित करती है, किसी रहस्य भावना से नहीं—

शांत सरोवर का उर
किस इच्छा से लहरा कर
हो उठता चंचल, चंचल ?[1]

छायावादी कवि कल्पनाजीवी और स्वप्नदर्शी है, इस कारण उसके लिए समस्त प्रकृति उसकी मुक्त कल्पना का क्षेत्र रही है और उसने उसमें अपने स्वप्नों के छायाबिम्बों को अंकित किया है। पिछले रोमांटिक भाव से प्रभावित कवियों ने प्रकृति को अपने सहज जीवन तथा भावों के स्तर पर ग्रहण किया था, पर इन कवियों ने प्रकृति को जिस व्यापक चेतना से उद्भासित अंकित किया है, वह कल्पनात्मक सौन्दर्यबोध से अनुप्राणित है।

१. जिज्ञासा, मौन-निमंत्रण, काला बादल जैसी कविताओं में ; जिज्ञासा से।

मुख्यत: प्रगीत्यात्मक काव्य होने के कारण छायावादी काव्य में प्रकृति का चित्रमय दृश्य-विधान, पृष्ठभूमि रूप में अंकन अथवा स्वतन्त्र आलम्बन रूप बहुत कम मिलता है। 'कामायनी' जैसे महाकाव्य में प्रकृति-चित्रण का यह रूप यत्र-तत्र ही अंकित है, यद्यपि उसकी समस्त रंगस्थली प्रकृति ही है। ये वर्णन बहुत संक्षिप्त हैं, प्रारम्भ में हिमालय का वर्णन और इसी प्रकार मनु श्रद्धा आदि की यात्रा के प्रसंग में भी हिमालय का चित्रण है—

नीचे जलधर दौड़ रहे थे
सुन्दर सुरधनु माला पहने
कुंजर कलभ सदृश इठलाते
चमकाते चपला के गहने।[1]

परन्तु इन चित्रणों में प्रकृति के सहज रूप के स्थान पर अलंकृत आदर्श-रूप है। प्रसाद में प्रकृति के स्वच्छंद रूप का अभाव है, उन्होंने मानवीय भावों के सूक्ष्म सौन्दर्य को व्यंजित करने के लिए प्रस्तुत रूप में व्यापक प्रकृति का प्रतीक विधान किया है। वह 'कामायनी' के 'श्रद्धा', 'काम', 'वासना', तथा 'लज्जा' आदि सर्गों के प्रतीक-विधान में देखा जा सकता है। सर्ग के सर्ग में भावों की कोमल और सूक्ष्म सौन्दर्य व्यंजना के लिए प्रकृति प्रतीकों की प्रस्तुत रूप में योजना की गयी है—

नव नील कुंज हैं झीम रहे,
कुसुमों की कथा न बन्द हुई,
है अन्तरिक्ष आमोद भरा
हिम कलिका ही मकरन्द हुई।[2]

इस प्रकार की भाव-व्यंजना के लिए प्रकृति-प्रतीकों का प्रस्तुत-विधान अन्य छायावादी कवियों में भी मिलता है। पंत की 'अनंग', 'उच्छ्वास', 'आँसू', तथा 'मधुवन' जैसी कविताओं में ऐसा ही प्रयोग है, पर पंत का बिम्बविधान प्रसाद के समान जटिल नहीं है, उसमें सीधी भावव्यंजना हो सकी है और व्यापक संवेदन को प्रकृति के माध्यम से व्यक्त किया गया है। उसका प्रमुख कारण है कि पंत की इन कविताओं में भी एक ओर प्रकृति प्रत्यक्ष और प्रस्तुत है तथा दूसरी ओर भावों का आधार सदा परोक्ष में

---

१. कामायनी : रहस्य। इसी प्रकार 'दर्शन' छंद में।

२. वही : काम। पंत की 'अनंग' कविता तुलनीय है, उदा०—

फूट पड़ा कलिका के उर से
सहसा सौरभ का उद्गार,
गंध मुग्ध हो अंध समीरण
लगा थिरकने विविध प्रकार।

नहीं रहा है। इसी कारण इन प्रकृति रूपों में रोमांटिक भावना की स्वच्छंदता है। कवि ने प्रकृति की सौन्दर्य-कल्पना के अनेक प्रतीक-चित्रों को मुक्त रूप से प्रस्तुत किया है और बीच-बीच में अपने भावों को रखकर उनको उन्हीं की व्यंजना से सन्निहित कर दिया है—

सिसकते, अस्थिर मानस से
बाल बादल-सा उठकर आज
सरल, अस्फुट उच्छ्वास।
अपने छाया के पंखों में
(नीरव घोष भरे शंखों में)
मेरे आँसू गूंथ, फैल गंभीर मेघ-सा,
आच्छादित कर ले सारा आकाश।[1]

छायावादी कवि ने प्रकृति को अपने जीवन के अंग के रूप में स्वीकार किया है, प्रकृति उसके लिए अनुभव या संवेदन की वस्तु-रूप आलम्बन मात्र नहीं है, वरन् उसका व्यापक कल्पना-क्षेत्र है। अनुभूति के स्तर पर वह कवि के जीवन से अभिन्न होकर उपस्थित हुई है। प्रकृति की समस्त सौन्दर्य-कल्पना में कवि का सूक्ष्म-भाव निहित रहता है—

आह्लाद, प्रेम औ' यौवन का
नव स्वर्ग, सद्य सौन्दर्य सृष्टि,
मंजरित प्रकृति, मुकुलित दिगंत,
कूजन गुंजन की व्योम वृष्टि।[2]

कभी रूप और भाव की व्यंजना के आधार पर प्रकृति चित्र अपने समस्त वातावरण की सजीवता के साथ प्रस्तुत होता है। पंत की 'संध्या', तथा 'चाँदनी' जैसी कविताओं में और निराला की 'संध्या-सुन्दरी' कविता में यद्यपि मानवीय रूप और भाव का आरोप एक सीमा तक प्रकृति पर किया गया है, फिर भी प्रकृति का चित्र अधिक भाव-मय रूप में सामने आता है। निराला की कविता में वर्ण-मैत्री तथा प्रतीक-योजना से संध्या का वातावरण अपनी समस्त भाव-स्थितियों के साथ अंकित हो गया है—

अलसता की-सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली
सखी नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह
छाँह-सी अम्बर-पथ से चली।

१. पल्लविनी: पंत: उच्छ्वास।
२. वही: वही: अल्मोड़े का वसन्त।

परन्तु प्रकृति के इस प्रकार के भागवत सौन्दर्य-चित्रों की अपेक्षा इन कवियों में मानवीय रूपाकार, भाव-स्थितियों तथा मधु-क्रीड़ाओं को प्रकृति पर आरोपित करने की प्रवृत्ति अधिक मिलती है। ऐसा अवश्य है कि यह आरोप स्थूल और परम्परागत न होकर सूक्ष्म कल्पनात्मक प्रतीकों, संकेतों और भाव-व्यंजनाओं के आधार पर हुआ है। वस्तुतः छायावादी काव्य शिल्पगत संस्कारों के प्रति अत्यधिक सजग रहा है, इस कारण उसमें भावात्मक मुक्ति के स्थान पर कलात्मक वैचित्र्य का आग्रह प्रारम्भ से आ गया है और लाक्षणिक व्यंजना, नये अलंकरण, नये प्रतीक-विधान का विशेष विकास हुआ है। इससे भाषा की व्यंजक शक्ति तो बढ़ी ही, पर रोमांटिक मनोभाव का वैसा विकास नहीं हो सका। इन कवियों की अनेक कविताओं में मानवीय शरीर का, मधु-क्रीड़ाओं का तथा संवेगों का सांगोपांग आरोप प्रकृति पर हुआ है। ऐसा अवश्य है कि इस प्रकार के आरोपों में कवि की व्यापक भावभूमि के कारण रूप-चित्र के स्थान पर भावोद्वेलन की व्यंजना प्रमुख हो गयी है। निराला की 'जुही की कली' में प्रकृति की ऐसी ही सांगोपांग योजना हुई, जिसमें भावावेग के कारण नया सौन्दर्य-बोध है। पंत ने 'बसंत' और 'वीचि विलास' में इसी प्रकार की कल्पनाएं की हैं। प्रसाद में यह प्रवृत्ति अत्यधिक पायी जाती है।[1] इस आरोप की वृत्ति के कारण अनेक बार प्रकृति लाक्षणिक तथा प्रतीक-शैली में वर्ण्य-विषय मात्र रह जाती है, जब कि रोमांटिक कवि प्रकृति को मनुष्य के जीवन तथा भावनाओं में स्वतःस्फुरण की भावस्थिति में अंकित करता है।

कभी-कभी कल्पना का अतिरेक और लाक्षणिक वैचित्र्य का आग्रह विस्तृत प्रकृति-चित्रों की योजना में प्रकट हुआ है। पंत की 'संध्या-तारा' और 'नौका-विहार' जैसी कविताओं में प्रकृति के भावमय वातावरण, काल्पनिक सौन्दर्य तथा बिम्बमय चित्र-विधान के साथ यह प्रवृत्ति भी परिलक्षित होती है। परन्तु इनमें कवि के आध्यात्म सत्यों को निहित करने के मोह ने प्रकृति के जीवन तथा सौन्दर्य को, जो सामान्यतः कविता में प्रस्तुत है, अप्रस्तुत प्रतीक-विधान के समान अप्रमुख करके कविता की भावात्मक व्यंजना को हल्का कर दिया है। इन कविताओं के आरम्भ में प्रकृति का सजीव और भावमय चित्र है—'नीरव प्रशांत संध्या में तारा वन प्रान्त हुआ है। पत्रों के आनत अधरों पर वन का निखिल मर्मर सो गया, जैसे वीणा के तारों में स्वर सो जाय।' इसी प्रकार—'शांत, स्निग्ध और ज्योत्स्ना से उज्ज्वल तथा अपलक अनन्त नीरव भूतल पर ग्रीष्म से विरल गंगा दुग्ध धवल सैकत शय्या पर श्रांत, क्लांत तथा निश्चल लेटी है।' दूसरे चित्र में आरोप की भावना अधिक है, पर दोनों में प्रकृति का रूप और भाव दोनों सघनता से व्यंजित हैं। जहाँ तक जीवन और भावना की समा-

१. प्रसाद; बती विभावरी जाग री, लाज भरा सौन्दर्य, मलयानल तथा नीरद आदि।

नान्तर व्यंजनाएँ हैं कल्पना का सौन्दर्य अभिवृद्ध ही हुआ है—

दुर्लभ रे दुर्लभ अपनापन, लगता यह निखिल विश्व निर्जन,
वह निष्फल इच्छा से निर्धन !

अथवा

वह कौन विहग ? क्या विकल कोक, उड़ता, हरने निज विरह शोक ?
छाया की कोकी को विलोक ;[1]

परन्तु अन्ततः 'आत्म', 'जग दर्शन', 'अस्तित्व-ज्ञान', 'शाश्वत जीवन' और 'अमरत्व दान' आदि के दार्शनिक चिन्तन से काव्यात्मक अनुभूति बोझिल हो उठी है।

जिन कविताओं में प्रकृति के साथ व्यापक भाव-व्यंजना है उनका वातावरण अधिक सहज और मुक्त है। पंत की 'हिलोरों का गीत,' 'प्रथम रश्मि' तथा 'बादल' आदि प्रगीतियों में प्रकृति मानव जीवन के साथ संचरण करती हुई अनुप्राणित है। उनकी क्रीड़ा, गति, संचरण, स्पंदन, संतरण, स्फुरण आदि कवि की कोमल कल्पनाओं को जीवन के साक्षात्कार से संवेदित करते हैं। यह अवश्य है कवि ने जिस प्रकार यथार्थ से दूर अपने जीवन को कल्पना-लोक में रखा है, उसी स्तर पर उसने प्रकृति के सौन्दर्य को भी स्वीकार किया है। निराला ने अपने 'बादल राग' में प्रकृति की शक्ति और गति के आधार पर जीवन के कठोर यथार्थ का आवाहन किया है—

इस मरोर से—इसी शोर से—
सघन घोर, गुरु, गहन रोर से
मुझे गगन का दिखा सघन वह छोर !
राग अमर ! अम्बर में भर निज रोर ![2]

यह कवि के व्यक्तित्व की इस रूप में अभिव्यक्ति है। पर पंत का व्यक्तित्व अपनी कोमलता में कल्पनाओं में विचरणशील रहा है। जीवन और प्रकृति का परिवर्तनशील और कठोर यथार्थ रूप कवि के सम्मुख कभी ही प्रस्तुत हुआ है, और 'परिवर्तन' तथा 'द्रुत झरो' जैसी कविताओं में उसका बदला हुआ यह मनोभाव व्यंजित हुआ है। परन्तु कवि परिवर्तन तथा पतझर की कामना नये जीवन की सम्भावना के आधार पर कर सका है—

कंकाल जाल जग में फैले
फिर नवल रुधिर,—पल्लव लाली !

१. पल्लविनी: पंत: संध्या तारा, नौका विहार।
२. परिमल: निराला: बादल राग।

प्राणों के मर्मर से मुखरित
जीवन की मांसल हरियाली ![1]

पंत में प्रकृति-सहचरण की भावना भी मिलती है, यह उनके प्रकृति के साहचर्य का परिणाम है। कवि 'विहग कुमारी' से उसके 'सोने के गान' के विषय में प्रश्नशील होता है और 'विहग बाला' को 'सखी' के समान सम्बोधित करता है। परन्तु इस साहचर्य में कवि के मन का प्रकृति के सौन्दर्य के प्रति आकर्षण और कौतूहल ही व्यक्त हुआ है और वह प्रकृति के समान अपने जीवन को भी कल्पनाओं से अनुप्राणित करता है।[2]

छायावादी काव्य में प्रकृति की रोमांटिक परिकल्पना में इस युग के नव्य अध्यात्मवाद का व्यापक प्रभाव परिलक्षित हुआ है। फलस्वरूप प्रकृति की रोमांटिक सर्वचेतनावादी परिकल्पना के साथ छायावादी कवियों में प्रकृति के जीवन-प्रवाह में आध्यात्मिक भाव-बोध के प्रतीक और अर्थ के संकेत प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति विकसित हुई है। साधना तथा व्यक्तिगत ईश्वर सम्बन्धी विश्वास के अभाव में इस आध्यात्मिक व्यंजना को सर्वेश्वरवादी अथवा रहस्यवादी कहना संगत नहीं है, पर रोमांटिक प्रकृतिवाद से इसका अन्तर स्पष्ट है। छायावादी जब प्रकृति की चेतना, कल्पना और सौन्दर्य में किसी व्यापक सत्ता का (जो प्रकृति से अतिरिक्त है) आभास पाता है, रोमांटिक कवि से उसका अन्तर हो जाता है, क्योंकि उसकी स्वच्छन्द भावना में प्रकृति उसके अपने जीवन के समान अनुभूत, संवेद्य तथा साक्षात्कृत है। पंत में इस भावभूमि की प्रारम्भिक स्थिति मिलती है। वे प्रकृति के प्रति जिज्ञासु और कौतुक भाव से यह संकेत ग्रहण करते हैं।[3] कभी प्रकृति पर अव्यक्त प्रिय के आरोप से यह भाव व्यंजित हुआ है। निराला में ऐसे प्रयोग हैं,[4] पर प्रसाद में यह प्रवृत्ति बहुत व्यापक है।[5] महादेवी के काव्य में प्रकृति या तो व्यापक अव्यक्त सत्ता के संकेत ग्रहण कराने के भाव से प्रस्तुत हुई है या उस अव्यक्त प्रिय के व्यक्तित्व को उसके माध्यम से व्यक्त किया गया है अथवा मधु-क्रीड़ाओं के प्रतीकों के रूप में उसका उपयोग किया गया है।[6]

---

१. पल्लविनी; पंत; द्रुत भरो।

२. वही; वही; सोने का गान, विहग बाला के प्रति।

३. वही; वही; मौन निमंत्रण।

४. परिमल; निराला; जागो फिर एक बार, मौन रही हार।

५. झरना; प्रसाद; खोलो द्वार; सम्पूर्ण 'आंसू' को लिया जा सकता है।

६. यामा; महादेवी; मुसकाता संकेत भरा नभ, धीरे धीरे उतर क्षितिज से, लय गीत मदिर, गति ताल अमर।

छायावादी काव्य के अन्तर्गत राष्ट्रीय चेतना कई स्तरों पर अभिव्यक्त हुई है। राष्ट्रीय भावना का दैवीकरण भारत-माता की कल्पना में हुआ। इस रूप में सम्पूर्ण भारत की कल्पना मैथिलीशरण गुप्त (मातृभूमि) तथा जयशंकर प्रसाद (देश हमारा, भारतवर्ष) आदि कवियों ने की है। स्वाधीनता की इच्छा-आकांक्षा की अभिव्यक्ति प्रकृति के माध्यम से की गयी है, उदा०—माखनलाल चतुर्वेदी की 'कैदी और कोकिला' अथवा सुभद्राकुमारी चौहान की 'वीरों का कैसा हो वसन्त ?' आदि कविताएँ। इसी प्रकार राष्ट्रीय संघर्ष, विदेशी शक्ति के प्रति विद्रोह तथा विप्लव आदि की भावना, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' तथा रामधारी सिंह 'दिनकर' आदि ने प्रकृति चित्रों में व्यंजित की है।

पिछले छायावादी कवियों में रोमांटिक भावावेग की निराशा, अवसाद तथा नियतिवाद की भावना मिलती है, साथ ही कुछ में अराजकता, उच्छृंखलता तथा ऐन्द्रिकता का आग्रह विशेष दिखाई देता है। संसार की नश्वरता और क्षणिकता के प्रति सजग बच्चन में प्रकृति के सौन्दर्य के प्रति यही निराशा, अवसाद की भावना प्रमुख है। कवि जीवन के हास-विलास में मग्न रहना इसीलिए चाहता है कि—

ऐसा चिर पतझड़ आयेगा,
कोयल न कुहुक चिर पायेगी,
बुलबुल न अँधेरे में गा-गा
जीवन की ज्योति जगायेगी,
अगणित मृदु-नव पल्लव के स्वर
'मर मर' न सुने फिर जायेंगे ॥

प्रणय-प्रेम के उल्लास में कवि संसार को विस्मृत कर देना चाहता है, पर उसका क्षणिकता में उसे अपना प्रणय-विलास भी नश्वर लगता है और इसी भावना से वह अवसादग्रस्त जान पड़ता है—

कितनी बार गगन के नीचे
अटल प्रणय के बन्धन टूटे,
कितनी बार धरा के ऊपर
प्रेयसि-प्रियतम के प्रण टूटे।
चांद-सितारे मिलकर बोले।[1]

उसने प्रकृति के बीच का हाहाकार, विध्वंस और उसकी नश्वरता को उसके सौन्दर्य के साथ देखा है। नरेन्द्र शर्मा ने 'आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे' में इसी भावना

१. कवि-भारती ; बच्चन ; इस पार—उस पार।

को व्यक्त किया है—'मधुमास आयेगा, श्यामल घटा घिरेगी, पर मैं न आऊँगा।'[1] इसमें प्रकृति के चिरन्तन क्रम के समक्ष अपनी नश्वरता को रखकर देखा गया है। नरेन्द्र शर्मा ने प्रकृति के कठोर रूप के साथ जीवन के यथार्थ को भी प्रस्तुत किया है।[1] अंचल में प्रेम की भावाकुलता और ऐन्द्रिकता प्रकृति के माध्यम से व्यंजित हुई है।[2] आगे चलकर गीतकारों और प्रयोगशील कवियों में प्रकृति के प्रति नव्य स्वच्छन्दवादी भावना मिलती है। कुछ गीतकार कवियों ने प्रकृति के प्रति यह भावना लोक-गीतों से ग्रहण की है। इन कवियों ने व्यक्तिगत सुख-दुःख, पीड़ा-व्यथा, प्रेम-वियोग तथा आशा-निराशा की लौकिक स्तर पर अभिव्यक्ति की है। अनेक स्थितियों में प्रकृति का सौन्दर्य मनःस्थितियों के साथ व्यंजित हुआ है, और उसने कवि के मनोभावों को अधिकाधिक प्रभावित भी किया है। इनकी प्रकृति जीवन की गहन आकांक्षा और ऐन्द्रिक सौन्दर्य-बोध की आकुलता से व्याप्त है।[3]

× × ×

प्रयोग-युग में कवि की दृष्टि युग-जीवन के यथार्थ से अधिकाधिक सम्पृक्त होती जा रही है। अतः आज के कवि की प्रकृति सम्बन्धी परिकल्पना की आधार-भूमि असम्पृक्त यथार्थ है। युग-जीवन की इस गहन सम्पृक्ति के कारण वह प्रकृति के समस्त सौन्दर्य-विस्तार में रोमांटिक भाव के स्थान पर अन्ततः अपनी परिस्थिति के व्यंग को ग्रहण करता है। रोमांटिक कवि काल्पनिक प्रत्यक्षीकरण के माध्यम से आत्मानुभव करता है और वह अपने जीवन की आन्तरिक अनुभूति और भावशीलता को एक क्रम में ग्रहण करता है। आज का कवि जीवन को इतनी संघटित योजना और सार्थक संगति के रूप में नहीं देखता। वह प्रत्येक स्थिति को जीता है, प्रत्येक स्थिति को संवेदित करता है। वही उसकी यथार्थ अनुभूति है। संगति, व्यवस्था और क्रम जीने और भोगने वाले की दृष्टि नहीं है, वह तो इतिहास का क्रम मात्र है। अतः आज का कवि अपने अनुभूत को सर्जन मानता है, और इस प्रकार प्रकृति के जीवन के प्रति वह असम्पृक्त भी रह पाता है।

प्रकृति अन्ततः कवि के लिए वस्तु-तत्व है, रोमांटिक भावावेश के साथ वह प्रकृति का साक्षात्कार नहीं कर पाता। कवि प्रकृति के संवेदन को अपने व्यक्तित्व के प्रसार में समाहित कर लेता है और अपने व्यक्तित्व के सामाजिक परिवेश की अनेक विषम परिस्थितियों का व्यंग करता है। अज्ञेय 'हवाई यात्रा' में प्रकृति-चित्रण के साथ

---

१. वही ; नरेन्द्र ; फागुन की आधी रात, ज्येष्ठ का मध्याह्न।

२. वही ; अंचल ; शारदी संध्या ; वर्षान्त के बादल।

३. शिवमंगल सिंह 'सुमन' तथा शम्भूनाथ सिंह आदि की प्रकृति विषयक कविताओं में।

नागरिक सभ्यता के व्यंग को उभारते हैं।[1] नया कवि प्रभावात्मक शैली में प्रकृति के साथ जब सामाजिक जीवन को एक साथ ग्रहण करता है, उस समय प्रकृति के चित्रों में विशृंखलता और भाव-बोध की उलझन बढ़ जाती है, पर इससे व्यंजना की मार्मिकता भी बढ़ती है। यह व्यंग प्रकृति-चित्रण के लिए चुने गये विचित्र अप्रस्तुतों से अधिक उभरा है—

पश्चिम की गगन खिड़की के उन नीले धुले शीशों पर
आज की बीमार, बुझी
साँझ की ये रोशनियाँ—
पीले टिंचर की तरह
फैल रहीं, फैल गयीं।
आज तो बीमार सभी,
बेहोश सभी।[2]

आज के काव्य में प्रकृति संबंधी इस दृष्टि के कारण कवि मुक्त भाव से उसके सौन्दर्य और सहचरण का उपभोग नहीं कर पाता है। इनमें कुछ कवि नव्य-स्वच्छंदवादी भावधारा से प्रभावित हैं और वे प्रकृति के संपर्क में रोमांटिक मनोभावों से, उसके ऐन्द्रिक सौन्दर्य-बोध और काल्पनिक प्रत्यक्षीकरण से प्रेरित हैं। लेकिन उनपर भी आधुनिकता का प्रभाव इस सीमा तक है कि कवि इस भावावेग को स्वतः एक स्थिति के रूप में अपने से असम्पृक्त कर लेता है या अन्ततः वस्तु-निष्ठ दृष्टि से प्रकृति में जीवन के व्यंग्य को उभारने में समर्थ होता है। कवि प्रकृति के सम्पर्क में रोमांटिक मनो-भावों से आन्दोलित अवश्य होता है, पर वह उसकी यथार्थ दृष्टि को आविल नहीं करता, वह युग की विषमता के प्रति जागरूक हो जाता है—

हवा को फाड़ने जाते
उड़न बम घर बड़े बममार
लगाने सभ्यता में आग
कि जिनकी चील सी छाया
लिये है सब गगन काला
खिंची है एशिया औ हब्श
योरप शांत सागर पार।[3]

---

१. बावरा अहेरी : अज्ञेय : हवाई यात्रा।

२. बन पाखी सुनो : नरेश मेहता ; बीमार साँझ के किनारे।

३. धूप के धान : गिरिजाकुमार माथुर ; धूप के धान।

रोमांटिक मनोभाव प्रकृति के प्रति कवि को आकर्षित करता है, पर यह सारा सौन्दर्य-बोध द्विविधा तथा उदासी में बदल जाता है। वह शुद्ध मनःस्थिति के स्तर पर प्रकृति और कवि का सहसंवेदन मात्र रह जाता है जो प्रकृति के बिम्ब, प्रभाव तथा संकेत-चित्रों में व्यंजित होता है। जिन कवियों में प्रकृति के प्रति रोमांटिक मनोभाव अधिक है, उनमें प्रेम और मुक्ति के क्षणों की मनःस्थिति में प्रकृति का सहचरण मिलता है।[1] पर युग के संदर्भ ने कवि को अधिकाधिक यथार्थ दृष्टि दी है और प्रकृति सौन्दर्य की माया के बीच यह भाव कवि व्यक्त करता है—

आज इस वेला में
दर्द ने मुझको और दुपहर ने तुमको
तनिक और भी पका दिया
शायद यही तिल तिल कर पकना रह जायगा
सांझ हुए हंसों की दुपहर पाँखें फैला
नीले कोहरे की झीलों में उड़ जायगी।[2]

रोमांटिक कल्पनाशीलता और भावावेग नयी कविता से पूर्णतः बहिष्कृत नहीं है। प्रकृति के सहसंवेदन सम्बन्धी प्रभाव-चित्रों में यह मनोभाव तथा सौन्दर्य-बोध का आरोप बिखरे हुए अथवा प्रभाव रूप में अंकित होता है। कवि 'सागर के किनारे' उसके 'रहस्य क्रोड़ से निकली हुई नीली रुपहली परियों की झिलमिलाती माया की जो विलासमयी रंगरेलियां देखता है, उससे उसके मन में सौन्दर्य-समर्पण की एक निष्काम स्मृति-जगमगाहट मीठे स्वप्न के बोझ की अनुभूति भर' रह जाती है। और वस्तुतः बाद में (कल) उसकी मनःस्थिति में इस प्रकृति का आभास रह जायगा—

जब ये मिचमिचाती लहरें चकित सी जायेंगी···
जब इनके गुलाबी चेहरों की चटखती ताजगी में
मुस्करायेंगी छिपी प्रेम लीलाएँ।[3]

आज कवि अपने सारे अस्तित्व के साथ जो उपलब्ध करता है उसीको सम्प्रेषित करता है, अतः उसके काव्य में प्रेम और सौन्दर्य व्यापक संदर्भ में प्रस्तुत होते हैं, जिससे उसमें रोमांटिक व्यक्तिगत सीमाओं का अतिक्रमण हो जाता है। इसके साथ ही मनः-स्थितियों के बदलते हुए रूपों के साथ भाव की क्रमिकता नहीं बनी रहती, अनेक विचार भूमियां तथा संवेदनाएं एक दूसरे में उलझ जाती हैं। व्यक्तित्व की समग्रता में

---

१. वही : वही : रात हेमन्त की। सात गीत वर्ष : धर्मवीर भारती : फागुन की शाम ; बसन्ती दिन।
२. सात गीत वर्ष : भारती : नवम्बर की दोपहर।
३. चक्रव्यूह : कुँवर नारायण ; सागर के किनारे।

प्रकृति प्रेम और सौन्दर्य के भिन्न स्तर ग्रहण कर लेती है, कवि की अस्तित्व को उपलब्ध करने की आकांक्षा में उसकी सारी व्यंजना बदल जाती है—

दो मुझे :
वह मंत्र
जिससे यह तुम्हारा सरल, पहला लहर
तल को काट दे,
गहरा बना दे,
और मुझको सोख ले।
यह तुम्हारा छलछलाता, प्रखर, निर्मल प्यार,
और मेरा डूब जाने को उमगता ज्वार।[1]

आज कवि प्रकृति का वर्णन नहीं करता, वह उसे अपने जीवन और संवेदन के साथ ग्रहण नहीं करता और न उससे प्रभावित मनःस्थितियों को उसके साथ अभिव्यक्त करता है। वह केवल जीवन अथवा अपने अस्तित्व के प्रसार में प्रत्येक अनुभूत क्षण की संवेदना को प्रेषणीय बनाता है। इसी कारण वह प्रभाव-चित्रों और बिम्ब-चित्रों का सर्जन करता है जिनमें उसकी संवेदना के साथ बाह्य प्रकृति एक रूप हो जाती है। इस प्रकृति परिकल्पना की सीमा व्यापक है। कहीं प्रकृति का यह अंकन दृश्य-विधान मात्र प्रस्तुत करता है, उसका अनलंकरण या नयी अप्रस्तुत-योजना इस नयी काव्य-रुचि के अनुकूल पड़ती है—

तालों के जाल
घने, कहीं लदे–छदे
कहीं ठूंठ तने, केलों के कुंज
बने, सीसल की मेंड़ बंधे।[2]

इस प्रकार के दृश्य-विधान में कवि की आन्तरिक संवेदन की गहराई झलक भर जाती है। परन्तु नयी कविता की मौलिक प्रवृत्ति के अनुसार दृश्य-विधान असंपृक्त वस्तु-परक खण्ड-चित्रों में उपस्थित होता है, साथ ही उसमें भावात्मक मनःस्थितियाँ व्यंजित होती हैं। विविधता के बावजूद कविता में प्रभाव की समग्रता बनी रहती है और अन्ततः जीवन की गहन व्यंजना अन्तर्निहित हो जाती है।[3]

कभी कवि प्रकृति और भावस्थितियों को एक ही बिम्ब-रूप में ग्रहण करता है। रोमांटिक काव्य में प्रकृति कवि के लिए कितनी ही व्यक्तिगत अनुभूति का विषय

१. तीसरा सप्तक : विजयदेव नारायण साही : दोपहर नदी स्नान।
२. बावरा अहेरी ; अज्ञेय ; मालाबार का एक दृश्य।
३. निकष (३); श्याममोहन श्रीवास्तव; वृत, यमुना पर।

हो, वह उसके अस्तित्व का अभिन्न अंग नहीं हो पाती, यद्यपि प्रकृति के प्रति कवि में गहरी सम्पृक्ति होती है। नयी कविता में प्रभावात्मक बिम्ब तथा प्रतीक शैली में प्रकृति का दृश्य-रूप और चेतना एक ही स्तर पर संवेदन के एक ही बिम्ब में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। दृश्य-बोध तथा मनःस्थितियों का संवेदन-बिम्ब एक ही अनुभूति-क्षण को संवेदित करते हैं। इस प्रकार के बिम्ब-चित्रों में रूपात्मक अंकन की पूर्णता रहती है, तथा निर्वैयक्तिक रूप से जीवन की व्यंजना सन्निहित रहती है, निर्वैयक्तिक इसलिए कि कवि स्वयं उपभोक्ता रूप में प्रस्तुत न होकर अपने अनुभूत उपलब्ध को असम्पृक्त भाव से संप्रेषित करता है। 'भोर' के बिम्ब-चित्र में कवि अपने अनुभूत कोमल भाव को अन्तर्निहित कर देता है—

धरती पर,
नदियों के जल में,
गिरि तरु के शिखरों से ढर ढर कर
सब सेंदुर फैल गया।[1]

इस प्रकार रूपात्मक चित्रों में कवि केवल दृश्य-विधान प्रस्तुत नहीं करता, वरन् अपने आपको कहीं किसी स्तर पर व्यक्त करना चाहता है।

सहज और परम्परागत अप्रस्तुतों के स्थान पर जब अपरिचित और नये उपमान या रूपक प्रयुक्त होते हैं तो बिम्ब-विधान अपने वैचित्र्य में अधिक व्यंगपूर्ण हो जाता है।[2] जीवन के व्यापक संदर्भ में बिम्ब तथा प्रभाव चित्रों में अधिक गहराई तथा मार्मिकता आ जाती है। इस दृश्य-विधान के भावात्मक चित्रण में विशेष अर्थ की व्यंजना निहित होती है। अज्ञेय की 'सूर्यास्त' तथा 'दूर्वांचल' नामक कविताओं में प्रकृति के साथ कवि की भावात्मक उपलब्धि का असम्पृक्त बिम्बांकन है—

पार्श्व गिरि का नम्र, चीड़ों में
डगर चढ़ती उमंगों सी।
बिछी पैरों में नदी, ज्यों दर्द की रेखा।
विहग-शिशु मौन नीड़ों में
मैंने आँख भर देखा।[3]

यहाँ कवि प्रकृति के सारे दृश्य-विधान को आत्मोपलब्धि के रूप में स्वीकारता है, वह

१. काठ की घंटियाँ : सर्वेश्वर दयाल : भोर।
२. धुएँ की लकीरें : लक्ष्मीकान्त : आइना।
३. इन्द्र धनु रौंदे हुए : अज्ञेय : दूर्वांचल।

दृश्यबोध के साथ कुछ क्षणों के लिए प्रकृति चेतना से जैसे अभिन्न हो गया हो। पर आज का कवि व्यापक रूप से न प्रकृति के साथ सहचरण कर पाया है और न उसके सौन्दर्य का उपभोग करता है। उसके अभिभूत करने वाले सौन्दर्य के सम्मुख कवि को, वेदनाशून्य मन की तर्कातीत स्वीकारने की मनःस्थिति से सिहरकर कहना होता है—'नहीं, फिर आना नहीं होगा।'

प्रकृति के भावमय और आत्मलीन बिम्ब-चित्रों को प्रस्तुत कर कवि भावोद्रेक से अविभूत भी होता है तथा उसकी जो मनःस्थिति पहले प्रकृति-बिम्ब में समाहित थी वही प्रत्यक्ष हो जाती है—

> कामना,
> कुछ व्यथा,
> भावों की, सुनहली उमस,
> चंचल कल्पना,
> यह रात और एकान्त······[1]

ऐसी कविताओं में प्रारम्भिक बिम्ब निरपेक्ष जान पड़ते हैं, पर कवि की मनःस्थिति अन्ततः चित्र में प्रतिघटित हो जाती है। आज के कुछ कवियों में बिम्ब-चित्रों की पूर्णता और शिल्प-विधान (अप्रस्तुत योजना) की ऐसी सजगता परिलक्षित होती है कि अपने कलात्मक कौशल के कारण ही उनके प्रयोग आधुनिक बिम्ब-विधान से अलग जान पड़ते हैं।[2] अनेक बार प्रभावात्मक बिम्ब ग्रहण में चित्र-खंडों के स्वतंत्र-संयोग, बदलती हुई मनःस्थिति और नवीन अप्रस्तुत योजना के कारण वैचित्र्य का आग्रह जान पड़ता है। यह वैचित्र्य नयी कविता की मौलिक प्रवृत्ति में, अपनी प्रकृति सम्बन्धी परिकल्पना की विशिष्ट स्थिति के कारण है। इस वैचित्र्य के माध्यम से कवि अपनी मनःस्थिति की उलझन तथा जटिलता, युग-जीवन की विषमता और अपनी निर्वैयक्तिक अनुभूति को व्यंजित करना चाहता है।[3]

क्रमशः आधुनिक कविता में प्रकृति अपने प्रत्यक्ष-बोध और काल्पनिक प्रत्यक्षीकरण की दृष्टि से महत्वहीन होती जा रही है। उसके रूप-रंग, स्थिति-परिस्थिति, गति-संचरण अथवा क्रम-योजना की संश्लिष्टता का अर्थ नहीं रह गया है। प्रकृति के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि के विकास से प्रकृति का प्रत्यक्ष और उसकी भावसंकुलता अयथार्थ हो गयी है। प्रकृति अपनी स्वतंत्र स्थिति में हमारे प्रत्यक्ष-बोध के यथार्थ से

---

१. चक्रव्यूह ; कुँवरनारायण ; ओस-न्हाई रात।

२. नदी के पाँव ; जगदीश ; सिंदूरी सवेरा।

३. निकष (२) ; अनाम ; तिलमिलाती संध्या। धुएँ की लकीरें ; लक्ष्मीकान्त ; मूँज का चाँद ;

भी भिन्न है। अतः आज का कवि और चित्रकार अपने सर्जन में केवल रचना-विधान की प्रक्रिया में उसकी संगतियाँ ढूँढने का उपक्रम करता है जिनमें उसके लिए अपनी कला-कृति से प्रकृति के यथार्थ की समता या भिन्नता महत्वहीन हो चुकी हो। इसी कारण कवि प्रकृति के नये रूपाकारों, रंगों, स्थितियों की विचित्र योजनाएँ करता है और उसमें पाठक के सक्रिय सहभोग के लिए कुछ अनकहा छोड़ता है या under-statement करता है।[1]

१. विपिन के कुछ प्रकृति-चित्रों को देखा जा सकता है।

परिशिष्ट—४

प्रमुख सहायक पुस्तकें

प्रथम भाग

प्रथम प्रकरण

१. एन आउटलाइन ऑव इन्डियन फ़िलासफ़ी; हिरियन्ना
२. इन्डियन फ़िलासफ़ी; एस० राधाकृष्णन्
३. नेचुरलिज्म ऐन्ड एग्नास्टिसिज्म; जेम्स वार्ड (१८६६ ई०)
४. परसेप्शन ऑव फ़िजिक्स एन्ड रियल्टी; सी० डी० ब्राड (१६०५ ई०)
५. माइन्ड ऐन्ड इट्स प्लेस इन नेचर; सी० डी० ब्राड
६. माइन्ड एन्ड मैटर; स्टाउट (१६३१ ई०)
७. हिस्ट्री ऑव इन्डियन फ़िलासफ़ी; दास गुप्ता
८. हिस्ट्री ऑव यूरोपियन फ़िलासफ़ी; फ़ाल्कन बर्ग
६. एवोल्यूशन ऑव रिलिजन; केअर्ड

द्वितीय प्रकरण

१. एक्सपीरियन्स ऑव नेचर; जे० डिवी (१६२६ ई०)
२. दि कलर सेंस; कार्ल ग्रास (१८७६ ई०)
३. थियरी ऑव माइथालोजी; स्पेंस (१६२१ ई०)
४. नेचर, इन्डिविजुअल ऐन्ड दि वर्ल्ड; जे० र्‌वाएस
५. दि प्ले ऑव मैन; कार्ल ग्रास (१६०१ ई०)।
६. मेटॅफ़िजिक्स ऑव नेचर; सी० रीड (१६०५ ई०)
७. दि वर्ल्ड ऐन्ड दि इन्डिविजुअल; जे० र्‌वाएस (१६१२ ई०)
८. स्पेस, टाइम एन्ड डियटी; अलेकजेन्डर

तृतीय प्रकरण

१. दि एमोशन एन्ड दि विल; ए० बेन (१८६५)
२. एनालिटिक साइकॉलजी; जी० एफ़० स्टाउट

३. दि क्रिएटिव माइन्ड; हेन्री बर्गसाँ
४. जेनरल साइकॉलजी; गिलीलेन्ड, मार्गन, स्लोक्स (१९३० ई०)।
५. दि प्रिन्सपिल्स ऑव साइकॉलजी; डब्लू० जेम्स
६. ए मैनुअल ऑव साइकॉलजी; जी० एफ़० स्टाउट (१९२९ ई०)
७. साइकॉलजी ऑव इमोशनस्; रिबोट (१९११ ई०)

चतुर्थ प्रकरण

१. दि एसेन्स ऑव एस्थिटिक; क्रोचे (१९२१ ई०)
२. एस्थिटिक्; क्रोचे (डुग्लोस एन्सली द्वारा अनुवादित, १९२९ ई०)
३. एस्थिटिक इक्सपीरियन्स ऐन्ड इट्स प्रीसपोजिशनस्; मिल्टन सी० नाइम (१९४२ ई०)।
४. एस्थिटिक प्रिन्सिपल; आर० मार्शल (१९२० ई०)
५. ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑव माडर्न एस्थिटिक्स; अर्ल ऑव लिस्टोवेल (१९३३ ई०)
६. टाइप्स ऑव एस्थिटिक् जजमेंट; ई० एम बर्टलेट (१९३७ ई०)
७. दि थियरी ऑव ब्यूटी; केरिट (१९२३ ई०)
८. दि फ़िलासफ़ी ऑव फ़ाइन आर्ट; हेगल (१९२० ई०)
९. दि फ़िलासफ़ी ऑव दि ब्यूटीफुल; डब्लू० ए० नाइट (१९१६ ई०)
१०. फ़िलासफ़ीज ऑव ब्यूटी, केरिट (१९३१ ई०)
११. ब्यूटी एन्ड अदर फ़ार्म्स ऑव वैल्यू; एस० अलेकजेन्डर (१९२७ ई०)
१२. माडर्न पेंटर्स, रस्किन
१३. साइकॉलाजिकल एस्थिटिक्स, ग्रान्ट एलन (१८८७ ई०)
१४. दि सेन्स ऑव ब्यूटी; सन्टायन (१८९६ ई०)
१५. ए स्टडी इन कान्टस् एस्थिटिक्स; डन्हम (१९३४ ई०)
१६. ए हिस्ट्री ऑव एस्थिटिक्स; बोसांकेट (१९३४ ई०)

पंचम प्रकरण

१. आक्सफ़र्ड लेक्चर्स ऑन पोएट्री; ब्रेडले
२. ए डिफ़ेन्स ऑव पोइट्री; पी० बी० शेली
३. ए प्रिफ़ेस टू दि लिरिकल बैलेड्स; वर्ड्सवर्थ
४. फ्रेंच प्ले इन लन्डन; मैथ्यू आर्नल्ड
५. लेक्चर्स ऑन इंगलिश पोएट्स; डब्लू० हैजलिट
६. दि हीरो ऐज़ ए पोएट; कार्लाइल

द्वितीय भाग

१. दि आइडिया ऑव दि होली; रोडल्फ ओटो
२. इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑव दि हिन्दू डॉक्ट्रिन; रेना ग्यूनॉन (१६४५)
३. इनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन एन्ड एथिक्स (गॉड्स, हिन्दू)
४. ए कॉन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑव उपनिषदिक फ़िलासफ़ी; आर० डी० रानाडे (१६२६)
५. ट्रान्सफ़ारमेशन ऑव नेचर; कुमार स्वामी (१६२४)
६. दि निर्गुण स्कूल ऑव हिन्दी पोइट्री; पी० डी० बड़थ्वाल (१६३१)
७. नेचुरल ऐन्ड सुपरनेचुरल; जान ओमन (१६२७)
८. नेचुरलिज़्म इन इंगलिश पोइट्री; स्टफ़ोर्ड ब्रोक (१६२४)
६. दि भक्ति कल्ट इन एन्शेन्ट इन्डिया; भागवत कुमार शास्त्री
१०. मिस्टीसिज़्म; इवीलेन अन्डरहिल (१६२६)
११. वर्शिप ऑव नेचर; जे० जी० फ्रेज़र
१२. दि सिक्स सिस्टम्स ऑव इन्डियन फ़िलासफ़ी; मैक्स मूलर
१३. दि सोल इन नेचर; हान क्रिश्चियन
१४. हिंदू गॉड्स ऐन्ड हीरोज़; लियोनल डी० बार्नेट (१६२२)
१५ हिंदू-मिस्टीसिज़्म, महेन्द्रनाथ सरकार (१६३४)

संस्कृत काव्य-शास्त्र

१. संस्कृत पोइटिक्स; एस० के० डे
२. अलंकारसूत्र; वामन
३. काव्य प्रकाश; मम्मट (भं० ओ० सि०)
४. काव्य मीमांसा; राजशेखर (गायकवाड़ ओरि० सि०)
५. काव्यादर्श; दण्डी
६. काव्यानुशासन; हेमचन्द्र (काव्यमाला)
७. काव्यानुशासनवृत्ति; वाग्भट्ट (काव्य०)
८. काव्यालंकार; रुद्रट (काव्यमाला)
६. नाट्य-शास्त्र; भरत
१०. प्रतापरुद्रयशोभूषण; विद्यानाथ (बाम्बे संस्कृत प्राकृत सिरीज़)
११. रसार्णव; श्रीशिङ्ग भूपाल (अ० सं० ग्र०)
१२. वक्रोक्ति जीवित; कुन्तल (क० ओ० सि०)
१३. साहित्य दर्पण; विश्वनाथ (वे० श्री०)

मध्ययुग के अध्ययन के आधारभूत प्रमुख ग्रन्थ—

१. इन्द्रावती; नूरमोहम्मद (ना० प्र० स०)
२. कबीर ग्रन्थावली; सं० श्यामसुन्दर दास (ना० प्र० स०)
३. कवित्त-रत्नाकर-सेनापति; सं० उमाशंकर शुक्ल (हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय)
४. कीर्तन संग्रह, (अहमदाबाद, लल्लूभाई छगनलाल देसाई)
५. चित्रावली; उसमान, सं० जगन्मोहन वर्मा (ना० प्र० स०)
६. जायसी ग्रन्थावली; सं० रामचन्द्र शुक्ल (ना० प्र० स०)
७. ढोला मारूरा दूहा; (ना० प्र० स०)
८. तुलसी रचनावली, सं० बजरंग (बनारस; सीताराम प्रेस)
९. नंददास ग्रंथावली, सं० उमाशंकर शुक्ल (प्रयाग, विश्व०)
१०. नलदमन काव्य, (पांडुलिपि, ना० प्र० स०)
११. पद्माकर-पंचामृत, सं० नंददुलारे वाजपेयी (रामरतन पुस्तक भवन, काशी)
१२. पावस-शतक, सं० हरिश्चन्द्र (खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर)
१३. पुष्टिमार्गीय पद संग्रह (बम्बई; जगदीश्वर प्रेस)
१४. बिहारी सतसई; सं० बेनीपुरी
१५. बीजक; कबीरदास; पाखंड खंडिनी टीका (वे० श्री०)
१६. मतिराम-ग्रन्थावली; सं० कृष्णबिहारी मिश्र (गंगा पुस्तक माला)
१७. मीरापदावली; सं० विष्णुकुमारी
१८. रसिक प्रिया; केशव, सरदारकृत टीका (वे० श्री०)
१९. रामचन्द्रिका; केशव, सं० लाला भगवानदीन (काशी, साहित्य-सेवा सदन) और टीका० जानकी प्रसाद (वे० श्री०)
२०. राम-चरितमानस (गीताप्रेस)
२१. विद्यापति पदावली; सं० नगेन्द्रनाथ गुप्त (इं० प्रे०)
२२. वेलि क्रिसन रुकमणी री; पृथ्वीराज (हि० ए० प्रयाग)
२३. सुन्दर-ग्रन्थावली
२४. सुन्दरी-तिलक; सं० हरिश्चन्द्र (खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर)
२५. सूरसागर (बम्बई, खेमराज प्रेस)
२६. हजारा: हाफ़िज़ खाँ (लखनऊ; नवलकिशोर प्रेस)

प्रमुख पारिभाषिक शब्द

अध्यन्तरित	Transferred
अनुकरणात्मक	Imitative
अन्तर्वेदन	Organic ensiation
अन्तःसहानुभूति	Empathy
अभावात्मक तत्व	Non-Being
अभिव्यक्तिवाद	Expressionism
आइडिया	Platonic idea
आत्म-तल्लीनता	Rapture
आत्म-हीन भाव	Inferiority complex
आत्मानुकरण	Self-imitation
आह्लाद	Ecstasy
इन्द्रिय वेदन	Sensation
इन्द्रियातीत	Transcendental
कल्पन, कल्पना	Imagination
काल	Time
क्रीड़ात्मक अनुकरण	Playful imitation
केन्द्रीकरण	Centralization
गमन	Motion
चिकीर्षा	Volition
जीवन-यापन	Preservation
तत्त्ववाद	Metaphysics
तोष	Pleasure
दर्शन	Philosophy
दिक्	Space
नैसर्गिक वरण	Natural selection
परप्रत्यक्ष	Concept
परम तत्व	Ultimate reality
परम सत्य	Absolute reality
परावर	Transcendent

परिणामवाद	Principle of causality
पीड़ा	Pain
पोषण	Nutrition
प्रकृतिवाद	Naturalism
प्रतिबिंब	Reflection
प्रतिभास	Phenomenon
प्रत्यक्ष बोध, प्रत्यय	Percept
प्रभावात्मक	Impressive
प्रयोगवाद	Empericism
प्रयोजनात्मक	Purposive
प्राथमिक	Primary
बोध	Cognition
भौतिक तत्त्व	Matter
भौतिकवाद	Materialism
भौतिक विज्ञान	Physical science
मन, मानस	Human mind
मनस	Mind
माध्यमिक	Secondary
मानवीकरण	Anthropomorphism
युक्तिवाद	Rationalism
राग	Conation
रूपात्मक रूढ़िवाद	Formalism
वंश विकसन	Propagation of Species
विकलन	Disintegration
विचार	Thought
विषमीकरण	Differentiation
विज्ञान	Idea
विज्ञानवाद	Idealism
शोषण	Absorption
संकलन	Integration
संवेदन	Feeling
संस्कारवाद	Classicism

सचेतन	Animated
सचेतन प्रक्रिया	Animated interaction
सर्जनात्मक विकास	Creative Evolution
सर्वेश्वरवाद	Pantheism
सहज बोध	Common Sense
सहज वृत्ति	Instinct
सहानुभूति (साहचर्य) भावना	Sympathy
स्वचेतन (आत्मचेतन)	Self-conscious
स्वच्छंदवाद	Romanticism
स्वानुभूति	Intuition

अनुक्रमणिका

S